श्रीः ।

पंचदशी

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य-

श्रीविद्यारण्यस्वामिविरचित ।

मुजफ्फरप्रांतांतर्वर्तितिलौंखग्रामनिवासिश्रीपंडित-

रामरक्षांगजश्रीमत्पंडित **मिहिरचंद्रकृत-**

भाषाटीकासमेत ।

वही

मुमुक्षुजनोंके हितार्थ,

खेमराज श्रीकृष्णदासने

बंबई

निज "**श्रीवेङ्कटेश्वर**" स्टीम्-मुद्रणयन्त्रालयमें

मुद्रित कर प्रसिद्ध किया ।

अनादिमायया भ्रांता जीवेशौ सुविलक्षणौ ।

मन्यन्ते तद्व्युदासाय केवलं शोधनं तयोः ॥ १ ॥

संवत् १९८२, शके १८४७.

इस पुस्तकको खेमराज श्रीकृष्णदासने बम्बई खेतवाडी ७ वीं गली खम्बाटा लेन, निज
"श्रीवेङ्कटेश्वर" स्टीम् प्रेसमें अपने लिये छाप कर यहीं प्रकाशित किया।

प्रस्तावना।

प्रगट हो कि, संस्कृत जाननेवाले जिज्ञासुओंको ब्रह्मआत्माकी एकता निश्चयरूप यथार्थ अपरोक्ष ज्ञानप्राप्तिके प्रयोजनसे परम दयालु सर्ववेत्ता सर्वज्ञ श्रीमद्विद्यारण्य स्वामीजीने कराल कलिकालसे मोक्षार्थ पंचदशप्रकरणरूप **"पञ्चदशी"** ग्रंथ निर्माण किया। इसमें "तत्त्वविवेक, द्वैतविवेक, महावाक्यविवेक, कूटस्थदीप, नाटकदीप, योगानन्द, आत्मानन्द" आदि प्रकरणोंकरके वेदान्त मार्ग दर्शाया है। यह ग्रंथ ऐसा कठिन है कि, संस्कृत टीका होनेसे भी सर्व सामान्यको स्पष्ट रीतिसे इसके भावका बोध नहीं होता था और संस्कृत न्यूनाभ्यासी मुमुक्षुओंको तो अलभ्य ही था। अतएव हम सर्व साधारणके विना प्रयास संसारसागर तरनेका नौकारूप तथा मुमुक्षुजनोंके हृदयाब्जको अखण्डमार्त्तण्डवत् प्रकाश करनेवाला इसको धर्मशास्त्र वेदान्तादिके अखण्डज्ञाता श्रीयुत पं० मिहिरचन्दजीके द्वारा यथार्थ भाषानुवाद कराय शुद्धतापूर्वक मुद्रित कर सज्जनोंके दृष्टिगोचर करते हैं। अबकी बार यह ग्रंथ शास्त्रियोंद्वारा मूल व टीका दोनोंको अत्यन्त शुद्ध कराय मुद्रित किया है फिर भी मनुष्यस्वभावानुरूप यदि कहीं दृष्टिदोषसे भूल चूक रह गयी हो तो सज्जनगण क्षमाकर सुधार लेवें इति।

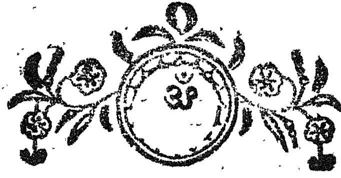
सज्जनोंका कृपाभिलाषी–

खेमराज श्रीकृष्णदास,

"श्रीवेङ्कटेश्वर" स्टीम् मुद्रणयन्त्रालयाध्यक्ष-बंबई.

अथ पञ्चदशीप्रकरणानुक्रमः ।

इति पंचदश प्रकरणानि ।



अथ

पञ्चदशी।

भाषाटीकासमेता।

तत्त्वविवेकप्रकरणम् १.

श्रीगणेशाय नमः।

नमः श्रीशंकरानंदगुरुपादांबुजन्मने ॥
सविलासमहामोहग्राहग्रासैककर्मणे ॥ १ ॥

मायाकल्पितसंसृतेरपगमं यद्बोधसाध्यं विदु-
र्नत्वा ब्रह्म मुमुक्षुमुक्तिकरणं तत्पंचदश्युद्धृतिः।
तुर्गीर्या मिहिरादिचंद्रविदुषा भाषाप्रियप्रीतिदा
संतेने भवभीतिर्भीतजनुषा विज्ञेषु कः साहसी ॥ १ ॥

प्रारंभ किये ग्रंथमें विघ्ननिवृत्तिके लिये इष्टदेव और गुरुके नमस्कार रूप मंगलको ग्रंथकी आदिमें लिखते हैं—कि संपूर्ण जगत्को आनंदरूप सुखकारी जो परमात्मा क्योंकि वही 'ब्रह्म सबको आनंद करता है' यह श्रुतिमें लिखा है और सबसे उत्तम प्रेमरूपका आश्रय होनेसे परमात्मारूप जो प्रत्यगात्मा (जीव) अर्थात् जीवसे अभिन्न जो परमात्मा (ब्रह्म) वही जो गुरु—अर्थात् 'जिनके मल पक गये हैं उनके मलोंको दूरीकरणार्थ श्रेष्ठ उपदेशसे परमतत्त्व (ब्रह्म) में आचार्यकी मूर्तिमें टिककर युक्त करने (मिलाने) वाला ब्रह्मरूप गुरु है' इस वेदके वाक्यसे जीवसे अभिन्न परमात्माके समान जो अणिमा आदि सिद्धियोंसे युक्त, गुरु अथवा लक्ष्मीसे सुखके कर्ता जो आनंदरूप गुरु क्योंकि 'दाताका परम आश्रय दान ही है' यह श्रुतिमें लिखा है—ऐसे पूर्वोक्त गुरुके उन कम-

१ 'एष एवानंदयतिइति श्रुतेः। २ 'परिपक्वमला ये तानुत्सादनशक्तिपातनेन योजयति परे तत्त्वे स दीक्षयाचार्यमूर्तिस्थः। ३ 'रातेर्दातुः परायणम्'।

लरूपी चरणारविंदोंको हम प्रणाम करते हैं जो पृथिवी आदि कार्योंके समूहसे युक्त महामोहरूप ग्राह अर्थात् अविद्यारूप मूल अज्ञान रूपमें जो अपने वशमें आयेको मकरके समान दुःखका दाता जो संसार उस ग्राहके ग्रास (भक्षण वा नाश) कर्ता हैं। भावार्थ यह है कि पृथिवी आदि संसार सहित अविद्यारूप ग्राहके नाशक, जो जीवसे अभिन्न ब्रह्मरूप गुरुके कमलरूप चरणारविंद-उनको हम नमस्कार करते हैं यहां जीव और ब्रह्मकी एकताके वर्णनसे अद्वैत इस ग्रंथका विषय है-और जीवको ब्रह्मरूपकी प्रकटता वा अविद्या आदि अनर्थकी निवृत्ति प्रयोजन हैं और इस ग्रंथसे वे जाने जाते हैं और ग्रंथ उनको जनाता है यह प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावरूप सम्बंध है-और अद्वैतका अभिलाषी मुमुक्षु इस ग्रंथका अधिकारी है। ये चारों विषय, प्रयोजन, संबंध, अधिकारी (जो ग्रंथोंकी आदिमें होते हैं) इस श्लोकसे सूचित किये समझने ॥ १ ॥

तत्पादांबुरुहद्वंद्वसेवानिर्मलचेतसाम् ॥
सुखबोधाय तत्त्वस्य विवेकोऽयं विधीयते ॥ २ ॥

अब अवांतर (मध्यके) प्रयोजनोंके कथनपूर्वक ग्रंथके आरंभकी प्रतिज्ञा करते हैं कि उस पूर्वोक्त गुरुके कमलरूप दोनों चरणोंकी सेवा (स्तुति-नमस्कार) से राग द्वेष आदिसे रहित (निर्मल) है अंतःकरण जिनका उनको अनायास (विना परिश्रम) से तत्त्वोंके ज्ञानार्थ इस (वक्ष्यमाण) विवेकको करते हैं अर्थात् नहीं है कहीं आरोप (भ्रम) जिसका जैसा रज्जुमें सर्पका होता है-ऐसे तत्त्वमसि आदि महावाक्योंसे जानने योग्य अखंड सच्चिदानंदरूप परब्रह्मका उसी उक्त परब्रह्ममें आरोप किये (माने) पंचकोशरूप जगत्से विवेक (भेद) को करते हैं अर्थात् जगत्के विकारोंसे रहित परब्रह्मका जिससे ज्ञान होजाय ऐसे प्रकरणका आरंभ करते हैं क्योंकि जैसे रज्जुके ज्ञान विना आरोप किये सर्पसे पैदा हुए शरीरकंप आदिकी निवृत्ति नहीं होती ऐसे ही ब्रह्मरूप अधिष्ठानके ज्ञान विना सुख दुःख आदि संसारके अनर्थोंकी भी निवृत्ति नहीं होती इससे यह विवेक मुमुक्षुका परम उपयोगी है। भावार्थ यह है कि गुरुके चरणारविंदोंकी सेवासे निर्मल बुद्धियोंको सुखपूर्वक बोधके लिये यह तत्त्व (ब्रह्म) का विवेक करते हैं ॥ २ ॥

शब्दस्पर्शादयो वेद्या वैचित्र्याज्जागरे पृथक् ॥
ततो विभक्ता तत्संविदैकरूप्यान्न भिद्यते ॥ ३ ॥

जीव ब्रह्मकी एकतारूप विषयकी संभावनाके लिये जीवको सत्य ज्ञान आदि स्वरूप दिखानेके अभिलाषी ग्रंथकार प्रथम ज्ञानके अभेद (एक) के कथनसे ज्ञानकी नित्यताको सिद्ध करते हैं और उसमें भी भली प्रकार स्पष्ट व्यवहार हैं जिसमें ऐसी जागरण अवस्थामें ज्ञानकी एकताको कहते हैं कि इंद्रियों (नेत्र आदि) से रूप आदि विषयोंका जिसमें ज्ञान हो ऐसी जाग्रत् अवस्थामें ज्ञानके विषय (जो जाने जायँ) जो शब्द स्पर्श आदि आकाश आदि भूतोंके गुण और इन गुणोंके आश्रय आदि विचित्रतासे अर्थात् गौ अश्व आदिके समान विलक्षण होनेसे परस्पर भिन्न हैं और बुद्धिसे किया है विवेक (विचार) जिसका ऐसा इन शब्द स्पर्श आदिका ज्ञान एकरूप (ज्ञान २) होनेसे अर्थात् एक आकारसे प्रतीत होनेसे आकाशके समान भिन्न नहीं है निदान शब्दका ज्ञान स्पर्शका ज्ञान इत्यादि ज्ञानोंमें शब्द आदि संबंधियोंके भेदसे ज्ञानका भेद प्रतीत होता है वस्तुतः ज्ञान एक है और परमार्थ अवस्थामें जब शब्द आदिके मिथ्यत्वका निश्चय होता है तब ब्रह्मरूप ज्ञान ही शेष रहता है इससे ज्ञान एक रूप है । यहां यह प्रयोग (अनुमान) है कि विवादकी आस्पद जो संवित् (ज्ञान) वह स्वाभाविक भेदसे शून्य है उपाधिके ज्ञान विना अज्ञात है भेद जिसका ऐसी होनेसे आकाशके समान-अथवा शब्दकी संवित्से स्पर्शकी संवित् भिन्न नहीं है संवित् होनेसे स्पर्शसंवित्के समान–इस प्रकार अनुमान करनेसे एक ही ज्ञानके उपाधिसे प्रतीत हुए भेदसे भिन्न व्यवहारकी सिद्धि होनेपर वास्तविक भेद माननेमें गौरव मानना पडेगा अर्थात् अनेक ज्ञान मानने पडेंगे । अनुमानमें चार वस्तु होते हैं पक्ष, साध्य, हेतु, दृष्टांत, जिसम साध्यका संदेह हो उसे पक्ष, और जो सिद्ध किया जाय उसे साध्य, और जिससे सिद्ध किया जाय उसे हेतु, और जिसमें हेतुसे साध्यका निश्चय प्रतीत हो उसे दृष्टांत कहते हैं–जैसे–पर्वतो वह्निमान् धूमात् महानसवत– यहां पर्वत पक्ष वह्नि साध्य धूम हेतु महानस दृष्टांत है इसी प्रकार अन्य अनुमानोंमें भी समझना । भावार्थ यह है कि जानने योग्य शब्द स्पर्श आदि विषय गौ अश्व आदिके समान विलक्षणतासे परस्पर भिन्न २ हैं और बुद्धिसे विचारा हुआ उनका ज्ञान एकरूप होनेसे भिन्न २ नहीं है अर्थात् एक है ॥ ३ ॥

तथा स्वप्नेऽत्र वेद्यं तु न स्थिरं जागरे स्थिरम् ॥
तद्भेदोऽतस्तयोः संविदेकरूपा न भिद्यते ॥ ४ ॥

इसी उक्त रीतिको स्वप्नमें दिखाते हैं कि जैसे जाग्रत् अवस्थामें विषयोंकी विचित्रतासे घट पट आदिका भेद और ज्ञानका अभेद है इसी प्रकार स्वप्नमें भी भेद और अभेद है इंद्रिय अपने २ विषयोंको छोड दें और जाग्रत् अवस्थाके संस्कारसे जिसमें विषय सहित ज्ञान पैदा होता है उसे स्वप्न कहते हैं उसमें भी विषयोंका है

भेद है ज्ञानका नहीं वह तो जाग्रत् अवस्थाके समान स्वप्नावस्थामें भी एक ही है यादि विषय और ज्ञानके भेद और अभेदसे स्वप्न और जाग्रत् ये दोनों एकरूप ही हैं तो स्वप्न जाग्रत् यह भिन्न २ व्यवहार किससे होता है इस शंकाकी निवृत्तिके लिये स्वप्न जाग्रत्के भेदका कारण वर्णन करते हैं कि स्वप्न अवस्थामें दीखता हुआ घट आदि वस्तुओंका समूह स्थिर नहीं होता क्योंकि उसका शरीर प्रतीति मात्र है और जाग्रत् अवस्थामें जो वस्तु दीखती है वह स्थिर है क्योंकि वह कालांतरमें भी दीखनेके योग्य है इस प्रकार स्थिर अस्थिर विषयोंकी विलक्षणतासे जाग्रत् और स्वप्नका भेद है। कदाचित् कोई शंका करै कि यादि स्वप्न जाग्रतका भेद है तो उनके ज्ञानका भी भेद होगा सो ठीक नहीं क्योंकि स्वप्न और जाग्रत्के विषयोंका जो ज्ञान है वह एकरूप होनेसे अर्थात् ज्ञान ज्ञान इस एकाकार प्रतीति होनेसे एक ही है-भावार्थ यह है कि वैसे ही स्वप्नमें भी विलक्षणतासे विषयोंका भेद है ज्ञानका नहीं परंतु स्वप्नका विषय अस्थिर और जाग्रत्का स्थिर होता है यही स्वप्न और जाग्रत् अवस्थाओंका भेद है और दोनों अवस्थाओंके विषयोंका जो ज्ञान है वह एक रूप होनेसे भिन्न २ नहीं है ॥ ४ ॥

सुप्तोत्थितस्य सौषुप्ततमो बोधो भवेत्स्मृतिः ॥
सा चाऽवबुद्धविषयाऽवबुद्धं तत्तदा तमः ॥ ५॥

इस प्रकार जाग्रत् और स्वप्न इन दोनों अवस्थाओंमें ज्ञानकी एकताको सिद्ध करके सुषुप्ति कालके ज्ञानकी भी पूर्वोक्त दोनों अवस्थाओंके ज्ञानके संग एकता-की सिद्धिके लिये प्रथम सुषुप्तिमें ज्ञानको सिद्ध करते हैं कि पहिले सोकर प्रातः-काल उठा अर्थात् सुषुप्तिसे जगा जो पुरुष उसको सुषुप्तिमें वर्तमान अज्ञानका जो ज्ञान है अर्थात् मैं ऐसा सुखसे सोया कुछ भी ज्ञान न रहा वह अज्ञानका ज्ञान स्मरण है प्रत्यक्ष अनुमान नहीं है क्योंकि प्रत्यक्षके कारण इंद्रिय आदिके संनि-कर्ष (संबंध) का और व्याप्तिज्ञान-हेतु आदिका उस समय अभाव है और स्मरण उसी पदार्थका हुआ करता है जिसका प्रथम ज्ञान हो चुका हो यह व्याप्ति (नियम) जगतमें देखी है इससे वह सुषुप्तिसमयका अज्ञान सुषुप्तिमें जाना था यह मानना पडेगा यहां भी यह अनुमान है कि विवादका आस्पद जो मैं कुछ नहीं जाना यह अज्ञानका स्मरण है वह अनुभवसे जन्य है स्मरण होनेसे वह मेरी माता है इस स्मृतिके समान। भावार्थ यह है कि सुषुप्तिसे उठे मनुष्यको जो मैंने सुखसे सोया कुछ ज्ञान न रहा यह अज्ञानका ज्ञान है वह स्मरण है और स्मरण ज्ञात पदार्थका होता है इससे सुषुप्तिमें अज्ञानका ज्ञान हुआ था यह मानना पडेगा अन्यथा प्रातःकाल स्मरण न होता। ५ ॥

स बोधो विषयाद्भिन्नो न बोधात्स्वप्नबोधवत् ॥
एवं स्थानत्रयेऽप्येका संवित्तद्वद्दिनांतरे ॥ ६ ॥
मासाब्दयुगकल्पेषु गतागम्येष्वनेकधा ॥
नोदेति नास्तमेत्येका संविदेषा स्वयंप्रभा ॥ ७ ॥

उस अज्ञानके ज्ञानरूप अनुभवको अपना विषय जो अज्ञान उससे भेद और इतर ज्ञानसे अभेदका वर्णन करते हैं कि वह बोध (ज्ञान) अर्थात् सुषुप्ति कालके अज्ञानका अनुभव अपने विषय अज्ञानसे भिन्न है और बोधसे इस प्रकार अभिन्न है जैसे स्वप्नकालका ज्ञान जाग्रत्के ज्ञानसे भिन्न नहीं होता है । यहां यह अनुमान समझना कि सुषुप्तिकालके अज्ञानका ज्ञान विषयसे भिन्न होने योग्य है बोध होनेसे घटके बोधकी तुल्य और वह सुषुप्तिकालके अज्ञानका ज्ञान अन्य ज्ञानोंसे भिन्न नहीं है बोध होनेसे स्वप्नके बोधकी तुल्य। अब फलितको कहते हुए इसी न्यायको अन्यत्रभी दिखाते हैं कि इसीप्रकार एक दिनकी जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओंमें संवित् (ज्ञान) एक ही है और इसीप्रकार अन्य दिनमें भी ज्ञानका अभेद ही है जैसे एक दिनकी तीनों अवस्थाओंमें ज्ञानका अभेद है इसीप्रकार अन्य दिनोंमें अनेक प्रकारसे बीते और आनेवाले दिन और चैत्र आदि मास, और प्रभव आदि वर्षोंमें और कृत आदि युग और ब्राह्म आदि कल्पोंमें ज्ञानका अभेदही है। अब ज्ञानके अभेदकी सिद्धिका फल कहते हैं जिससे संवित् एक है इससे न उदय होती है और न उत्पन्न होती है न अस्त होती है न नष्ट होती है, क्योंकि विना साक्षी उत्पत्ति और नाश नहीं होते और अपने उत्पत्ति विनाशको वही संवित् आप नहीं जान सकती और दूसरी कोई संवित् है नहीं इससे संवित् (ज्ञान) नित्य और एक ही है। कदाचित कोई शंका करे कि अन्यतो संवित् है नहीं तो ग्राहक (ज्ञाता) के अभावसे इस संवित्का भी भान न होगा, तो सब जगत् अंधा हो जायगा सो ठीक नहीं क्योंकि यह संवित् स्वयंप्रकाशरूप है । यहां यह अनुमान है कि संवित्–स्वयंप्रकाश रूप है, किसी अन्यसे जाननेके अयोग्य होकर अपरोक्ष(प्रत्यक्ष)होनेसे। इस अनुमानमें घटरूप व्यतिरेक दृष्टांत है जैसे घट स्वयंप्रकाशरूप नहीं है अन्यसे जाननेके अयोग्य होकर प्रत्यक्षका विषय भी नहीं है किंतु इंद्रियोंसे जानना ही प्रत्यक्षका विषय है। कदाचित् कोई शंका करे कि उक्त अनुमानमें 'अवेद्यत्वे सति अपरोक्षत्वात्' (जाननेके अयोग्य होकर प्रत्यक्ष होनेसे) विशेषण (जाननेके अयोग्य होकर) की असिद्धि है अर्थात् संवित् जानने योग्य है सो ठीक नहीं क्योंकि संवित् ही संवित्को जानेगी तो वही कर्म और वही कर्ता माननेमें विरोध होगा अर्थात् कर्ता और कर्म भिन्न २ होते हैं एक नहीं और संवित्के जाननेवाली अन्य (दूसरी)

संवित् मानोगे तो अनवस्था दोष होगा क्योंकि उस दूसरी संवित्के ज्ञानार्थ तीसरी और तीसरीके ज्ञानार्थ चौथी माननी पडेगी, इस प्रकार कहीं भी स्थिति न होगी इससे स्वप्रकाशरूपसे भासमान संवित् सबकी प्रकाशक है इससे जगत्की अंधताका प्रसंग-रूप दोष नहीं है। भावार्थ यह है कि वह सुषुप्तिकालके अज्ञानका बोध विषयसे भिन्न है और स्वप्नकालके बोधके तुल्य बोधसे भिन्न नहीं है इसीप्रकार जाग्रत् स्वप्न सुषुप्तिरूप तीनों अवस्थाओंमें और उसीप्रकार अन्य दिन–मास–वर्ष–युग–कल्प जो अनेक प्रकारसे बीते और आगामी हैं उनमें संवित् एक ही है, न यह उदय होती है न अस्त किंतु यह संवित् एक स्वयं प्रकाशरूप है अर्थात् इसको किसीके प्रकाशकी अपेक्षा नहीं है ॥ ६ ॥ ७ ॥

इयमात्मा परानंदः परप्रेमास्पदं यतः ॥
मा न भूवं हि भूयासमिति प्रेमाऽऽत्मनीक्ष्यते ॥ ८ ॥

इस प्रकार संवित् नित्य और स्वप्रकाशरूप रहो उससे क्या सिद्ध हुआ इस शंकाके निवारणार्थ कहते हैं कि यह संवित् आत्मा है । यहां यह अनुमान है कि यह संवित् आत्मा होने योग्य है नित्य होकर स्वप्रकाश होनेसे घटके समान जैसे घट जिससे नित्य होकर स्वप्रकाश नहीं है इससे आत्मरूप नहीं है इस अनुमानसे आत्माको नित्य और संवित् रूपकी सिद्धिसे सत्यकी भी सिद्धि होगयी क्योंकि नित्यसे भिन्न सत्य नहीं होता है और वाचस्पति मिश्रोंने भी यह कहा है कि सत्यत्व रूप नित्यत्व जिसमें हो उसे नित्य सत्य कहते हैं । अब आत्माको आनंदरूप सिद्ध करते हैं कि आत्मा परानंद है अर्थात् परम (सर्वोत्तम) आनंदरूप है निदान आत्मासे-अधिक अन्य कोई सुख नहीं है क्योंकि जिससे वह आत्मा उपाधिसे रहित सबसे अधिक प्रेम स्नेहका आस्पद (विषय) है उससे यहां यह अनुमान है कि आत्मा परमानंदरूप है उत्तम स्नेहका आस्पद होनेसे उत्तमस्नेहका आस्पद वह नहीं हो सकता जो परमानंदरूप नहीं होता जैसे घट जिससे यह आत्मा परप्रेमका आस्पद नहीं है यह नहीं कह सकते इससे परमानंदरूप नहीं है यह भी नहीं कह सकते । कदाचित् कोई शंका करे कि आत्माके विषे मुझे धिक्कार है इस द्वेषकी भी प्रतीति होनेसे प्रेमका भी आस्पद आत्मा नहीं है परमप्रेमका आस्पद तो कहांसे होगा सो ठीक नहीं क्योंकि वह प्रतीति दुःखके संबंधसे होती है इससे अन्यथासिद्ध है और प्रेम तो आत्माके विषे अनुभवसे सिद्ध है इसी शंकाका परिहार करते हैं कि जिस कारणसे आत्मामें इस प्रेमको सब देखते हैं अर्थात् सब जानते हैं कि मेरी असत्ता(अभाव)कभी भी न हो किंतु मेरी सत्ता ही सदा रहे इससे कोई असिद्धि नहीं है। भावार्थ यह है कि यह संवित् आत्मारूप है

और परम प्रेमका आस्पद होनेसे यह आत्मा परमानन्दरूप है क्योंकि मेरी असत्ता (अभाव) कभी न हो किंतु मैं सदैव रहूं इस प्रेमको आत्माके विषे संपूर्ण जन देखते हैं ॥ ८ ॥

तत्प्रेमात्मार्थमन्यत्र नवमन्यार्थमात्मनि ॥
अतस्तत्परमं तेन परमानंदताऽऽत्मनः ॥ ९ ॥

पक्षमें हेतुके अभावरूप स्वरूपासिद्धिरूप दोष तो मत हो परप्रेमकी उत्तमतामें मानका अभाव है इससे हेतुमें विशेषण की असिद्धिरूप दोष है इस शंकाकी निवृत्तिके लिये कहते हैं कि अपनेसे भिन्न पुत्र आदिमें जो प्रेम है वह आत्माके (अपने) लिये है क्योंकि वे सब आत्माके ही शेष हैं अर्थात् अपनी प्रीति के लिये ही पुत्र आदि प्यारे हैं और पुत्र आदिमें प्रेम स्वाभाविक नहीं है इस प्रकार आत्माके विषे जो विद्यमान प्रेम है वह अन्यके लिये नहीं है अर्थात् आत्मा किसी अन्यका शेष नहीं है किंतु आत्माके प्रेमका निमित्त आत्मामें रहनेवाला आत्मस्वरूप धर्म ही हेतु है इससे उपाधिसे रहित होनेसे आत्मामें जो प्रेम है परम (सबसे श्रेष्ठ) है इससे सबसे उत्तम प्रेमका आश्रय होनेसे आत्मा परमानंदस्वरूप है अर्थात् सर्वोत्तम सुखरूप है यह सिद्ध हुआ । भावार्थ यह है कि जैसे पुत्र आदिमें जो प्रेम है वह आत्माके लिये है और ऐसे ही आत्मामें प्रेम अन्यके लिये नहीं है इससे आत्मामें प्रेम उत्तम है इससे आत्मा परमानंदरूप है ॥ ९ ॥

इत्थं सच्चित्परानंद आत्मा युक्त्या तथाविधम् ॥
परं ब्रह्म तयोश्चैक्यं श्रुत्यंतेषूपदिश्यते ॥१०॥

इन पूर्वोक्त सात श्लोकोंसे सिद्ध किये अर्थको संक्षेपसे दिखाते हैं कि "शब्द स्पर्शादयः" इत्यादिसे ज्ञानको नित्य सिद्ध किया और उस ज्ञानको ही 'इयमात्मा' इस श्लोकसे आत्मत्व सिद्ध किया और उससे आत्माको सत् चित् रूपता और परमानंद इत्यादिसे परम आनंदरूपका समर्थन (सिद्ध) किया । इस प्रकार आत्मा तत्त्वमसि आदि महावाक्योंमें जो त्वं पदका अर्थ है वह सच्चिदानंदरूप सिद्ध हुआ । कदाचित् कोई शंका करे कि इस प्रकार युक्तिसे ही आत्माकी सच्चिदानंदरूपता सिद्ध हो गयी तो उपनिषदोंका विषय न होनेसे अप्रमाणता हो जायगी सो ठीक नहीं क्योंकि परब्रह्म भी वैसा ही है अर्थात् सच्चिदानंदरूप है और वही पूर्वोक्त महावाक्योंमें तत् पदका अर्थ है उन तत् त्वं पदोंकी एकता अर्थात् अखंड एकरसरूपता श्रुतिके अंतों (वेदांत) में प्रतिपादन (वर्णन) की गयी है अर्थात् जीव और ब्रह्मकी एकता वेदांतोंसे प्रतीत होती है इससे वेदांतोंको निर्विषयताका प्रसंग नहीं हो सकता अर्थात्

यह नहीं कह सकते कि पूर्वोक्त ब्रह्म वेदांतोंका विषय नहीं है; भावार्थ यह है कि इस प्रकार पूर्वोक्त युक्तिसे जीवात्मा सत् चित् परमानंदरूप है और वैसे ही परब्रह्म भी परमानंदरूप है उन दोनों जीव ब्रह्मोंकी एकता (अभद वा अद्वैत) का उपदेश संपूर्ण वेदांत करते हैं अर्थात् जीवब्रह्मका अभेद सिद्ध करते हैं ॥ १० ॥

अभाने न परं प्रेम भाने न विषये स्पृहा ॥
अतो भानेऽप्यभाताऽसौ परमानंदताऽऽत्मनः ॥ ११ ॥

अब आत्माके परमानंदरूपमें आशंका करते हैं कि आत्मामें परमानंदरूपता भासती है वा नहीं भासती अर्थात् प्रतीत होती है कि नहीं ? कदाचित् कहो कि प्रतीत नहीं होती तो आत्मामें परम प्रेम न होगा अर्थात् सबसे अधिक स्नेह न होगा क्योंकि स्नेह विषयकी सुंदरताके ज्ञानसे पैदा हुआ करता है कदाचित् परमानंदरूपता आत्मामें प्रतीत होती है तो सुखके हेतु स्रक् चंदन आदिमें वा उनसे पैदा हुए सुखमें इच्छा न होनी चाहिये क्योंकि सुखरूप फलकी प्राप्ति होनेपर साधन (हेतु) की इच्छा नहीं हुआ करती और जब सबसे उत्तम आनंदका लाभ हो गया तो क्षणिक (अनित्य) और जो अनेक कारणोंके अधीन आदि दोषोंसे युक्त हो ऐसे विषय सुखकी इच्छा होनी भी अयुक्त है इससे आत्मा आनंदरूप नहीं हो सकता अन्य कोई प्रकार (रीति) यहां नहीं हो सकता इससे परिहार (समाधान) करते हैं कि जिससे भासने और न भासने दोनों पक्षोंमें दोष है इस कारण यह आत्माकी परमानंदरूपता भान होनेपर भी भान नहीं होती अर्थात् प्रतीत होती भी प्रतीत नहीं होती। भावार्थ यह है कि आत्माकी परम आनंदताका भान न मानोगे तो पर स्नेह वह न होगा और भान मानोगे तो विषयोंकी इच्छा न होगी इससे यह आत्माकी परमानंदरूपता भान होनेपर भी भान न होनेके समान है अर्थात् प्रकटतासे प्रतीत नहीं होती ॥ ११ ॥

अध्येतृवर्गमध्यस्थपुत्राध्ययनशब्दवत् ॥
भानेऽप्यभानं भानस्य प्रतिबंधेन युज्यते ॥ १२ ॥

कदाचित् शंका करो कि एक वस्तुका एक कालमें भान और अभान युक्त नहीं हो सकता। इस शंकामें यह विकल्प है कि यह अयुक्त होना कहीं देखा नहीं वा इसकी सिद्धि ही नहीं हो सकती। पहला (देखा नहीं) तो ठीक हो नहीं सकता क्योंकि जैसे वेदके अनेक पढ़नेवाले बालकोंके समूहमें बैठे हुए पुत्रका जो शब्द उसके समान (सामान्य रूपसे भासते हुएका भी यह मेरे पुत्रका शब्द है यह विशेष रूपसे भान नहीं होता वैसे ही) आत्माका परमानंद भी भान होनेपर नहीं भासनेके

समान हो सकता है और उस परमानंदके भानकी सिद्धि नहीं हो सकती यह भी ठीक नहीं क्योंकि भान (स्फुरना) के प्रतिबंधसे (जो कहेंगे) भानका भी अभान हो सकता है अर्थात् सामान्यरूपसे प्रतीति होनेपर भी विशेषरूपसे प्रतीतिका न होना युक्त है। भावार्थ यह है कि अनेक पढ़ने वालोंके मध्यमें पढ़ते हुए पुत्रका जो पढ़नेका शब्द उसके समान भानमें भी अभान युक्त है वा भानके प्रतिबंध (विघ्न) से भानमें अभान युक्त हो सकता है॥ १२ ॥

प्रतिबंधोऽस्तिभातीतिव्यवहारार्हवस्तुनि ॥
तन्निरस्य विरुद्धस्य तस्योपादनमुच्यते ॥ १३ ॥

अब प्रतिबंधको कहते हैं कि अस्ति भाति (है, प्रकाशता है) इस प्रकार व्यवहारयोग्य वस्तुमें उस पूर्वोक्त व्यवहारको दूर करके भ्रम आदिके द्वारा उससे विरुद्ध जो नहीं है नहीं भासता यह व्यवहार उसकी जो उत्पत्ति उसको ही प्रतिबंध कहते हैं अर्थात् विद्यमान और प्रकाशमान वस्तु भी भ्रमसे अविद्यमान और अप्रकाशमान सी प्रतीत होती है। भावार्थ यह है 'कि है-भासता है' इस व्यवहारके योग्यवस्तुमें नहीं है नहीं भासता इस विरुद्ध व्यवहारकी जो पूर्वोक्त व्यवहारको दूरकरके उत्पत्ति उसको ही प्रतिबंध कहते हैं ॥ १३ ॥

तस्य हेतुः समानाभिहारः पुत्रध्वनिश्रुतौ ॥
इहाऽनादिरविद्यैव व्यामोहैकनिबंधनम् ॥ १४ ॥

अब पूर्वोक्त प्रतिबंधके हेतुको दृष्टांत और दार्ष्टांतिकमें दिखाते हैं कि पुत्रके अध्ययनका जो शब्द उसके सुननेमें तो समानाभिहार (बहुतोंका संग पढ़ना) विशेषरूपसे पुत्रशब्दके न जाननेमें प्रतिबंधक है-और आत्माकी परमानंदताका जो अभान उसमें अनादि जो अविद्या (अज्ञान) वही एक व्यामोह (विपरीत) ज्ञानका कारण है अर्थात् अविद्यासे भासमान वस्तु भी नहीं दीखती क्योंकि मूलाज्ञान (अविद्या) की निवृत्तिके विना परमानंदका ज्ञान नहीं होसकता। भावार्थ यह है कि पुत्रशब्दके सुननेमें अनेकोंके संग पढना और यहां अनादि अविद्या ही विपरीत ज्ञानका हेतु है ॥ १४ ॥

चिदानंदमयब्रह्मप्रतिबिंबसमन्विता ॥
तमोरजःसत्त्वगुणा प्रकृतिर्द्विविधा च सा ॥ १५ ॥

अब पूर्वोक्त प्रतिबंधका कारण जो अविद्या उसके कहनेके लिये उस अविद्याका मूल जो प्रकृति उसका वर्णन करते हैं कि चिदानंदरूप जो ब्रह्म उसके प्रति-

बिंबसे युक्त जो तमोगुण रजोगुण सत्त्वगुणरूप अर्थात् सत्त्व रजः तमः इन तीनों गुणोंकी साम्या (बराबर) वस्था उसे प्रकृति कहते हैं और वह प्रकृति दो प्रकारकी है और चकारसे आगे जो वर्णन किया जायगा वह भी प्रकार है । भावार्थ यह है कि सच्चिदानंदरूप परब्रह्मके प्रतिबिंबसे युक्त जो तमोगुण रजोगुण सत्त्वगुण रूप प्रकृति वह दो प्रकारकी है ॥ १५ ॥

सत्त्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाऽविद्ये च ते मते ॥
मायाबिंबो वशीकृत्य तां स्यात्सर्वज्ञ ईश्वरः ॥ १६ ॥

अब दोनों भेद और उनके कारणोंका वर्णन करते हैं कि सत्त्वगुणकी जो शुद्धि अर्थात् प्रकाशरूप सत्त्वगुणका जो रजोगुण तमोगुणोंसे मलिनताका अभाव और अन्य गुणोंसे जो अविशुद्धि (मलिनता) उनसे वह प्रकृति माया और अविद्या-रूप शास्त्रमें मानी है अर्थात् शुद्धसत्त्वगुण प्रधान माया और मलिन सत्त्वगुण प्रधान अविद्या होती है । अब माया और अविद्याके भेदका फल दिखाते हैं कि मायामें पडा है प्रतिबिंब जिसका ऐसा चिदात्मा (परब्रह्म) उस मायाको वशमें (अपने अधीन) करके वर्तनेसे सबकेज्ञान आदि गुणोंसे युक्त सर्वज्ञ ईश्वर होता है अर्थात् मायाके नियंता परब्रह्मको ईश्वर कहते हैं । भावार्थ यह है कि सत्त्वगुणकी शुद्धि और अशुद्धिसे वे दोनों क्रमसे माया और अविद्या मानी हैं और मायाका बिंब मायाको वशमें करके सर्वज्ञ ईश्वर होता है अर्थात् मायोपाधिकको ईश्वर कहते हैं- ॥ १६ ॥

अविद्यावशगस्त्वन्यस्तद्वैचित्र्यादनेकधा ॥
सा कारणशरीरं स्यात् प्राज्ञस्तत्राऽभिमानवान् ॥१७॥

अविद्याके वशमें प्राप्त हुआ अर्थात् अविद्यामें प्रतिबिंबरूपसे स्थित अविद्याके परतंत्र जो चिदात्मा वह जीव है और वह जीव उपाधिरूप अविद्याकी विचित्रतासे अर्थात् अविद्यासे पैदा हुई अशुद्धिके न्यून अधिक भावसे देव मनुष्य तिर्यक् आदि भेदसे अनेक प्रकारका होता है-'जैसे मुंजसे ईषीका (अग्रशलाका) को पृथक् कर लेते हैं इसीप्रकार तीनों शरीरोंसे धीर पुरुष युक्तियोंसे आत्माको पृथक् जान लेते है' इस वचनसे तीनों शरीरोंसे पृथक् किये जीवात्माको परब्रह्मरूप कहेंगे-उसमें वे तीन शरीर कौनसे हैं और उन शरीरोपाधि जीवका क्या रूप है इस आकांक्षाकी निवृत्तिके लिये उन शरीर आदिकोंका क्रमसे वर्णन करते हैं कि वह अविद्या कारण-शरीर होती है अर्थात् स्थूल सूक्ष्मशरीरका कारण शरीर है । क्योंकि प्रकृतिका अवस्था

---

१ यथा मुंजादिषीकैवमात्मा युक्त्या समुद्धृतः । शरीरत्रितयाद्धीरैः परं ब्रह्मैव जायते ॥

विशेष होनेसे उस अविद्याको कारण, और तत्त्वज्ञानसे नष्ट होजानेसे शरीर कहाती है और उस कारण शरीरका अभिमानी अर्थात् उसके तादात्म्य (एकता) अध्याससे अहम् इस अभिमानवाला और अविनाशीरूप अनुभव (ज्ञान) प्रज्ञा (बुद्धि) वाला होनेसे प्राज्ञ कहाता है अर्थात् उसको प्राज्ञ कहते हैं। भावार्थ यहहै कि अविद्याका वशीभूत जो जीव है वह अविद्याकी विचित्रतासे देव मनुष्य आदि रूप अनेक प्रकारका है और वह अविद्या कारणशरीर कहाती है और उस अविद्याके अभिमानीको प्राज्ञ कहते हैं ॥ १७ ॥

तमःप्रधानप्रकृतेस्तद्भोगायेश्वराज्ञया ॥
वियत्पवनतेजोंबुभुवो भूतानि जज्ञिरे ॥ १८ ॥

अब क्रमसे प्राप्तहुए सूक्ष्म शरीरका और सूक्ष्म शरीर है उपाधि जिसकी ऐसे जीवका वर्णन करनेके लिये सूक्ष्म शरीरके कारण आकाश आदिकी सृष्टिका वर्णन करते हैं कि उन प्राज्ञ अभिमानी जीवोंके भोगार्थ अर्थात् सुख दुःखकी प्राप्तिके लिये तमोगुण है प्रधान (मुख्य) जिसमें ऐसी पूर्वोक्त प्रकृति (उपादानकारणरूप) से जगत्के अधिष्ठाता ईश्वरकी आज्ञासे अर्थात् ईक्षापूर्वक रचनेकी इच्छारूप निमित्तकारणरूप आज्ञासे आकाश वायु तेज जल भूमि ये पांचों भूत पैदा हुए अर्थात् अभिन्न (तद्रूप) निमित्तोपादानरूप मायासे पांचो भूत उत्पन्न हुए। भावार्थ यह है कि उन जीवोंके भोगार्थ तमोगुण है प्रधान जिसमें ऐसी प्रकृतिसे ईश्वरकी आज्ञाके अनुसार आकाश आदि पांचो भूत उत्पन्न हुए ॥ १८ ॥

सत्त्वांशैः पंचभिस्तेषां क्रमाद्धींद्रियपंचकम् ॥
श्रोत्रत्वगक्षिरसनघ्राणाख्यमुपजायते ॥ १९ ॥

अब पांचों भूतोंकी सृष्टिको कहकर भूतोंसे जो उत्पन्न हुई उस सृष्टिको कहता हुआ आचार्य प्रथम ज्ञानइंद्रियोंकी सृष्टिको कहता है कि उन आकाश आदि कारणरूप पांचो भूतोंके जो पांच सत्त्वगुणी भाग उनसे श्रोत्र त्वचा नेत्र रसना घ्राण नामकी पांच ज्ञानइंद्रिय पैदा हुई अर्थात् एक २ भूतके सत्त्वगुणीभागसे श्रोत्र आदि ज्ञानइंद्रिय क्रमसे उत्पन्न हुई। भावार्थ यह है कि उन भूतोंके पांचो सत्त्वगुणी भागोंसे श्रोत्र त्वचा अक्षि रसना घ्राण ये पांचो ज्ञानइंद्रिय क्रमसे उत्पन्न हुई ॥ १९ ॥

तैरंतःकरणं सर्वैर्वृत्तिभेदेन तद्द्विधा ॥
मनो विमर्शरूपं स्याद्बुद्धिः स्यान्निश्चयात्मिका ॥ २० ॥

सत्त्वगुणी भागोंके पृथक् २ कार्यको कहकर सबके असाधारण कार्यको कहते हैं-कि मिले हुए उन संपूर्ण सत्त्वगुणी भागोंसे मन और बुद्धिका उपादानरूप अंतःकरण पैदा हुआ और वह अंतःकरण वृत्ति (परिणाम) के भेदसे दो प्रकारका है। उसी वृत्तिके भेदको दिखाते हैं कि संशयरूप वृत्ति है स्वरूप जिसका वह मन होता है और निश्चयरूप है वृत्ति जिसकी वह बुद्धि होती है अर्थात् मनका संदेह और बुद्धिका निश्चय कार्य होता है। भावार्थ यह है कि मिले हुए भूतोंके सत्त्वगुणी भागोंसे अंतःकरण होता है वह अंतःकरण वृत्तिके भेदसे दो प्रकारका है कि संशयरूप मन और निश्चयरूप बुद्धि होती है ॥ २० ॥

रजोंऽशैः पंचभिस्तेषां क्रमात्कर्मेंद्रियाणि तु ॥
वाक्पाणिपादपायूपस्थाभिधानानि जज्ञिरे ॥ २१ ॥

अब क्रमसे प्राप्त रजोगुणी भागोंके पृथक् असाधारण (भिन्न २) कार्योंको कहते हैं कि उन आकाश आदिके पांचों रजोगुणी भागोंसे अर्थात् उपादान कारणरूप अंशोंसे वाणी हाथ पाद गुदा लिंग नामकी पांच कर्मइंद्रिय अर्थात् कार्यकी कर्ता इंद्रिय उत्पन्न हुईं। एक २ भूतके रजोगुणी भागसे एक २ इंद्रियका जन्म हुआ। भावार्थ यह है कि पाचों भूतोंके रजोगुणी भागोंसे वाणी हाथ पाद गुदा लिंग नामकी पांच कर्मेंद्रिय उत्पन्न हुईं ॥ २१ ॥

तैः सर्वैः सहितैः प्राणो वृत्तिभेदात्स पंचधा ॥
प्राणोऽपानः समानश्चोदानव्यानौ च ते पुनः ॥२२॥

अब रजोगुणी भागोंके साधारण कार्यको कहते हैं कि उन मिले हुए संपूर्ण रजोगुणी भागोंसे प्राण उत्पन्न होता है और वह प्राण प्राणन(जीवना) आदि वृत्तिके भेदसे प्राण अपान समान उदान व्यानरूपसे पांच प्रकारका है ॥ २२ ॥

बुद्धिकर्मेंद्रियप्राणपंचकैर्मनसा धिया ॥
शरीरं सप्तदशभिः सूक्ष्मं तल्लिंगमुच्यते ॥ २३॥

जिसके लिये प्राण पर्यंत आकाश आदिकी सृष्टिका वर्णन किया उस फलको अब दिखाते हैं कि पांचो ज्ञानेंद्रिय और पांचो कर्मेंद्रिय और पांचो प्राण, मन और बुद्धि इन सत्रह तत्त्वोंसे सूक्ष्म शरीर होता है और उसीको लिंगशरीर कहते हैं अर्थात् इन सत्रह तत्त्वोंका ही लिंगशरीर नाम वेदांतोंमें कहा है ॥ २३ ॥

प्राज्ञस्तत्राभिमानेन तैजसत्वं प्रपद्यते ॥
हिरण्यगर्भतामीशस्तयोर्व्यष्टिसमष्टिता ॥ २४ ॥

इस प्रकार सूक्ष्म शरीरको कहकर उस सूक्ष्मशरीरके अभिमानसे प्राज्ञ और ईश्वरकी अन्य भी अवस्थाको कहते हैं कि, मलिनसत्त्वप्रधान अविद्या है उपाधि जिसकी ऐसा जीव तेज शब्दके वाच्य (अर्थ) अंतःकरणसे उपलक्षित (जान) लिंगशरीरके अभिमानसे अर्थात् तादात्म्य (एकता) के अध्याससे तैजसनामको प्राप्त होता है अर्थात् सूक्ष्मशरीरके अभिमानीको तैजस कहते हैं और शुद्धसत्त्व है प्रधान जिसमें ऐसी माया जिसकी उपाधि है ऐसा परमेश्वर उस लिंग शरीरमें अहं (मैं हूं) इस अभिमानसे हिरण्यगर्भनामको प्राप्त होता है अर्थात् लिंगशरीरके अभिमानी ईश्वरको हिरण्यगर्भ कहते हैं और यह शंका न करनी कि तैजस हिरण्यगर्भ इन दोनोंको जब लिंगशरीरका अभिमान तुल्य है तो उनके भेदका क्या कारण होगा क्योंकि उन तैजस और हिरण्यगर्भका व्यष्टि समष्टि भाव है अर्थात् प्रत्येक लिंगशरीरके अभिमानीको तैजस कहते हैं और संपूर्ण लिंग शरीरके अभिमानीको हिरण्यगर्भ कहते हैं। भावार्थ यह है कि एक लिंगशरीरोंके अभिमानी प्राज्ञको तैजस और सब लिंगशरीरोंके अभिमानी ईश्वरको हिरण्यगर्भ कहते हैं और उन दोनोंका व्यष्टिसमष्टिभावरूपसे भेद है ॥ २४ ॥

समष्टिरीशः सर्वेषां स्वात्मतादात्म्यवेदनात् ॥
तदभावात्ततोऽन्ये तु कथ्यंते व्यष्टिसंज्ञया ॥ २५ ॥

ईश्वरके समष्टिरूप और जीवोंके व्यष्टिरूप होनेमें कारणका वर्णन करते हैं कि ईश्वर अर्थात् हिरण्यगर्भ संपूर्ण तैजस लिंगशरीरोंको अपनी आत्माके संग एकताके ज्ञानेसे समष्टि होता है और ईश्वरसे अन्य जो जीव हैं वे अपनी आत्माके संग सबकी एकताके अभावसे व्यष्टि कहाते हैं अर्थात् प्रत्येक लिंगशरीरमें उनकी एकता है इससे उन्हें व्यष्टि कहते हैं ॥ २५ ॥

तद्भोगाय पुनर्भोग्यभोगायतनजन्मने ॥
पंचीकरोति भगवान् प्रत्येकं वियदादिकम् ॥ २६ ॥

इस प्रकार लिंगशरीरको और लिंगशरीरोपाधिक तैजस हिरण्यगर्भको दिखाकर स्थूल शरीरकी जो उत्पत्ति उसकी सिद्धिके लिये पंचीकरणके निरूपणार्थ कहते हैं कि भगवान् अर्थात् ऐश्वर्य धर्म यश श्री ज्ञान वैराग्य इन छः गुणोंसे युक्त परमेश्वर वारंवार उन जीवोंके भोगार्थ और अन्न पान आदि भोग्य पदार्थ और

जरायुज आदि चौबीस प्रकारके शरीरकी उत्पत्तिके लिये आकाश आदि प्रत्येक पांचो भूतोंका पंचीकरण कहते हैं अर्थात् एक २ भूतको पांच २ प्रकारका करते हैं, भावार्थ यह है कि जीवोंके भोग और अन्न पान और शरीर इनके अर्थ परमेश्वर आकाश आदि पांचों भूतोका पंचीकरण करते हैं ॥ २६ ॥

द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः ॥
स्वस्वेतरद्वितीयांशैर्योजनात्पंच पंच ते ॥ २७ ॥

अब एक २ को पांच २ रूपताके हेतु पंचीकरणको कहते हैं कि आकाश आदि एक एक भूतोंके दो दो भाग करके और दोनों भागोंमें प्रथम भागके चार २ भाग करके जिस भूतके चार भाग हों उससे भिन्न चारों भूतोंका जो स्थूल दूसरा २ भाग है उस २ के संग प्रथम भागके चार २ भागोंके मध्यमेंसे एक२भागके मिलानेसे वे आकाश आदि पांचों भूत पांच २ प्रकारके होते हैं अर्थात् एक भूतमें आधा भाग अपना और आधेमें चारो भूतोंका एक २ भाग होनेसे चारो भूत होते हैं और सब भूतोंमें अपना २ आधा जो अधिक भाग है इससे आकाश आदिमें आकाश आदिका ही व्यवहार होता है पवन आदिका व्यवहार नहीं होता है क्योंकि व्यासजीने इस सूत्रमें यही लिखा है । भावार्थ यह है कि एक २ भूतके दो २ भाग करके और उनमेंसे प्रथम भागके ४ भाग करके अपनेसे भिन्न दूसरे भागोंमें सबका एक २ भाग मिलानेसे वे आकाश आदि भूत पांच २ प्रकारके होते हैं ॥ २७ ॥

तैरंडस्तत्र भुवनं भोग्यभोगाश्रयोद्भवः ॥
हिरण्यगर्भः स्थूलेऽस्मिन् देहे वैश्वानरो भवेत् ॥ २८ ॥

अब पंचीकरणको कहकर उन भूतोंसे उत्पन्न हुए कार्योंके समूहको दिखाते हैं कि उन पंचीकरण किये भूतोंसे संपूर्ण ब्रह्मांड उत्पन्न होता है और उस ब्रह्मांडमें ब्रह्मांडके अंतर्गत भूमिके ऊपरके भागमें वर्तमान भूमि आदि सात लोक और भूमिके नीचले भागमें वर्तमान अतल आदि सात पाताल और उन भुवनोंमें उन २ प्राणियोंके भोगार्थ अन्न आदि और उस २ लोकमें उचित शरीर उन्हीं पंचीकरण किये भूतोंसे ईश्वरकी आज्ञाके अनुसार पैदा होते हैं । इस प्रकार स्थूल शरीरकी उत्पत्तिको कहकर उस स्थूलशरीरके अभिमानी समष्टिरूप हिरण्यगर्भकी वैश्वानर संज्ञाको और एक २ स्थूलशरीरके अभिमानी व्यष्टिरूप तैजसोंकी

---

१ आधिक्यात्तद्वादस्तद्वादः ।

विश्वसंज्ञाको कहते हैं कि इस स्थूल देहमें वर्तमान हिरण्यगर्भ वैश्वानर होता है अर्थात् स्थूल शरीरके अभिमानी हिरण्यगर्भको वैश्वानर कहते हैं। भावार्थ यह है कि पंचीकरण किये भूतोंसे ब्रह्मांड चौदह भुवन अन्न आदि भोग्य और शरीर उत्पन्न होते हैं और इस स्थूल शरीरके अभिमानी हिरण्यगर्भको वैश्वानर कहते हैं ॥ २८ ॥

तैजसा विश्वतां याता देवतिर्यङ्नरादयः ॥
ते पराग्दर्शिनः प्रत्यक्तत्त्वबोधविवर्जिताः ॥ २९ ॥

उसी स्थूल शरीरमें वर्तमान (अभिमानी) तैजस विश्वसंज्ञाको प्राप्त होते हैं और वे देवता तिर्यक् (सर्प आदि) और मनुष्य आदि भेदसे अनेक प्रकारके होते हैं। अब विश्वसंज्ञाको प्राप्त हुए उन जीवोंको तत्त्वज्ञानरहित होनेसे संसारकी प्राप्तिका प्रकार दृष्टांतसहित दो श्लोकोंसे वर्णन करते हैं कि वे देव आदि पराक्-दर्शी हैं अर्थात् शब्द आदि विषयोंको ही जानते हैं प्रत्यगात्मारूप परब्रह्मको नहीं जानते क्योंकि श्रुतिमें[१] लिखा है कि ब्रह्माने इनकी इंद्रिय पराक् ही रची हैं इससे पराकको देखते हैं अंतरात्माको नहीं। कदाचित् शंका करो कि तार्किक- देहसे भिन्न आत्माको नहीं जानते सो ठीक नहीं क्योंकि यद्यपि देहरूप आत्माको वे जानते हैं तो भी श्रुतिसे सिद्ध तत्त्वको नहीं जानते इस अभिप्रायसे कहा है कि प्रत्यक् आत्माको नहीं जानते। भावार्थ यह है कि तैजस (जीव) विश्व संज्ञाको प्राप्त होकर देवता तिरछे मनुष्य आदि रूप होते हैं और वे प्रत्यक् (व्यापक) आत्माके बोधसे रहित होते हैं ॥ २९ ॥

कुर्वते कर्म भोगाय कर्म कर्तुं च भुंजते ॥
नद्यां कीटा इवावर्तादावर्तांतरमाशु ते ॥
व्रजंतो जन्मनो जन्म लभंते नैव निर्वृतिम् ॥ ३० ॥

इसीसे सुख आदिके भोगार्थ मनुष्य आदि शरीरोंमें टिककर उस २ शरीरके योग्य कर्मोंको करते हैं और फिर भी कर्म करनेके लिये देव आदि शरीरोंसे उन कर्मोंके फलोंको भोगते हैं क्योंकि फलके ज्ञान विना उन २ के सजातीय कर्मकी इच्छाके न होनेसे उन कर्मोंका साधन भी न होगा इस प्रकार वर्तमान वे जीव नदीके प्रवाहमें पडे हुए कीट जैसे एक आवर्त (कुंड) से दूसरे आवर्तमें शीघ्रतासे जाते हुए सुखको प्राप्त नहीं होते इसीप्रकार जीव भी एक जन्ममेंसे दूसरे जन्ममें प्राप्त हुए सुखको प्राप्त नहीं होते अर्थात् उस २ जन्ममें उनको दुःख भोगने पड़ते हैं। भावार्थ यह है कि वे जीव भोगके लिये कर्म करते हैं और पुनः कर्म करनेके लिये फलको

१ परांचि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराक् पश्यन्ति नांतरात्मानम्।

भोगते हैं और जैसे नदीमें कीट एक कुंडमेंसे दूसरे कुंडमें शीघ्र जाते हैं इसीप्रकार एक जन्मसे दूसरे जन्ममें जाते हुए सुखको प्राप्त नहीं होते ॥ ३० ॥

सत्कर्मपरिपाकांते करुणानिधिनोद्धृताः ॥
प्राप्य तीरतरुच्छायां विश्राम्यंति यथासुखम् ॥ ३१ ॥

इस पूर्वोक्त प्रकारसे जीवोंको ससारकी प्राप्तिको कहकर संसारकी निवृत्तिके उपायको दिखानेके लिये प्रथम दृष्टांतको कहते हैं कि पूर्व किये शुभ कर्मके परिपाकवश किसी दयालु पुरुषने नदीके प्रवाहमेंसे बाहर निकाले हुए वे कीट किसी तीरके वृक्षकी छायाका आश्रय लेकर जैसे सुखसे विश्राम करते हैं अर्थात् सुख भोगते हैं ॥ ३१ ॥

उपदेशमवाप्यैवमाचार्यात्तत्त्वदर्शिनः ॥
पंचकोशविवेकेन लभंते निर्वृतिं पराम् ॥ ३२ ॥

अब दृष्टांतसे सिद्ध किये अर्थको दार्ष्टांतिकमें घटाते हैं कि इसी उक्त प्रकारसे पूर्व जन्ममें संचित किये पुण्यकर्मके परिपाकवश तत्त्वका दर्शी जो आचार्य अर्थात् जीवोंसे अभिन्न (एकरूप) ब्रह्मके ज्ञाता गुरुके सकाशसे उपदेशको अर्थात् तत्त्वमसि आदि महावाक्योंके अर्थोंका साधन जो वेदांतशास्त्रका श्रवण (जो आगे कहेंगे) उसको प्राप्त होकर अन्न आदि पांचो कोशोंके विवेकसे अर्थात् पंच कोशोंसे भिन्न आत्माके ज्ञानसे मोक्षरूप परम सुखको प्राप्त होते हैं। भावार्थ यह है कि इसीप्रकार तत्त्वके ज्ञाता आचार्यके उपदेशको प्राप्त होकर पांचो कोशोंके विवेकसे वे जीव मुक्त हो जाते हैं ॥ ३२ ॥

अन्नं प्राणो मनो बुद्धिरानंदश्चेति पंच ते ॥
कोशास्तैरावृतः स्वात्मा विस्मृत्या संसृतिं व्रजेत् ॥ ३३ ॥

अब अन्न आदि पांच कोशोंका उपदेश करते हैं कि अन्न, प्राण, मन, बुद्धि, आनंद-ये पांच कोश हैं। यहां बुद्धिसे विज्ञान लेते हैं-अब अन्न आदिकोंको कोश शब्दका अर्थ होनेमें कारण कहते हैं कि उन कोशोंसे आच्छादित (ढका) हुआ स्वात्मा अर्थात् अपना स्वरूप आत्मा अपने स्वरूपके विस्मरण (भूलने) से जन्ममरणरूप संसारको प्राप्त होता है जैसे कोश कोशकारी (अंजनहारी) कीटको ढककर क्लेश देता है इसीप्रकार अन्नमय आदि भी अद्वयानंदरूप ब्रह्मका आवरण करके आत्माको क्लेशके हेतु हैं इससे कोश कहाते हैं। भावार्थ यह है कि अन्न, प्राण,

मन, विज्ञान, आनंद ये पांच कोश हैं इनसे आवृत (ढका) आत्मा अपने स्वरूपके विस्मरणसे संसारको प्राप्त होता है अर्थात् जन्म मरण आदि दुःखोको भोगता है॥ ३३॥

स्यात्पंचीकृतभूतोत्थो देहः स्थूलोऽन्नसंज्ञकः ॥
लिंगे तु राजसैः प्राणैः प्राणः कर्मेंद्रियैः सह ॥ ३४ ॥

अब क्रमसे कोशोंके स्वरूप कहते हैं कि पंचीकरण किये पांचो भूतोंसे पैदा हुआ जो स्थूल देह वह अन्नमय कोश होता है और लिंगशरीरके विषे वर्तमान जो रजोगुणके कार्यरूप प्राण अपान आदि पांचों वायु और वाक् आदि पांचो कर्मेंद्रिय इन दशों सहित प्राणमय कोश होता है अर्थात् इन दशोंको प्राणमयकोश कहते हैं. भावार्थ यह है कि पंचीकृत भूतोंसे पैदा हुए स्थूल देहको अन्नमय कोश और रजोगुणी पांच प्राण और पांचों कर्मेंद्रियोंको प्राणमय कोश कहते हैं ॥ ३४ ॥

सात्त्विकैर्धींद्रियैः साकं विमर्शात्मा मनोमयः ॥
तैरेव साकं विज्ञानमयो धीर्निश्चयात्मिका ॥३५ ॥

प्रत्येक भूतोंके सत्त्वगुणसे उत्पन्न हुई जो पांचो ज्ञानेंद्रिय उनसे युक्त जो संशयात्मा मन वह मनोमय कोश होता है अर्थात् श्रोत्र आदि इंद्रिय और मन मनोमय कोश कहाते हैं और उन्हीं ज्ञानेंद्रियोंसे युक्त और भूतोंका सत्त्वगुण कार्यरूप जो निश्चयात्मक बुद्धि वह विज्ञानमय कोश होता है अर्थात् पूर्वोक्त ज्ञानेंद्रियोंसहित निश्चयकारिणी बुद्धिको विज्ञानमय कोश कहते हैं। भावार्थ यह है कि सत्त्वगुणी ज्ञानेंद्रियों सहित संशयरूप मन, मनोमय कोश और उन्हीं इंद्रियोंसहित निश्चय रूप बुद्धिको विज्ञानमय कोश कहते हैं ॥ ३५ ॥

कारणे सत्त्वमानंदमयो मोहादिवृत्तिभिः ॥
तत्तत्कोशैस्तु तादात्म्यादात्मा तत्तन्मयो भवेत् ॥ ३६ ॥

पूर्वोक्त कारणशरीररूप अविद्यामें जो मलिन सत्त्व है वह प्रिय मोद प्रमोद नामकी वृत्तियोंसे अर्थात् इष्टका दर्शन, लाभ, भोगसे पैदा हुए सुखविशेषोंसहित आनंदमय कोश होता है। कदाचित् कोई शंका करे कि स्थूल शरीर आदि अन्नमय आदि शब्दके अर्थ हैं इसमें तो यह श्रुति प्रमाण है कि वह यह आत्मा अन्नरसमय है यह प्रारंभ करके कहा है कि उस इस अन्नरसमय आत्मासे अन्य अंतर आत्मा प्राणमय है और अन्य अंतर आत्मा मनोमय है इत्यादि सुननेसे स्थूल शरीर अन्नमय

---

१ स वा एष आत्मा अन्नरसमयः। तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयादन्योंतर आत्मा प्राणमयः। अन्योंतर आत्मा मनोमयः ।

२

कोश हो सकता है आत्माको अन्नमय आदि होनेमें क्या प्रमाण है ? इस शंकाका उत्तर कहते हैं कि देह आदिको तो अन्न आदिका विकार होनेसे अन्नमय कहते हैं और आत्माको तो उस २ कोशके संग तादात्म्य (एकता) के अध्यास (मानना) से अन्नमय आदि कहते हैं कि प्रत्यगात्मा उस २ कोशके संग तादात्म्यके अभिमानसे उस २ कोशमय होता है व्यवहार कालमें अन्नमय आदि कोशोंकी प्रधानता है इससे आत्मा भी अन्नमय आदि कहाता है और परमार्थ दृष्टिसे तो आत्मा कोशोंसे विलक्षण है इसीसे तु शब्द पढा है। भावार्थ यह है कि कारणशरीरमें जो मलिन सत्त्वगुण है मोद आदि वृत्तियोंसहित वह आनंदमय कोश होता है और आत्मा तो उस २ कोशके अध्याससे उस २ कोशमय होता है अर्थात् अन्नमयोऽहम् (मैं अन्नमय हूं) इत्यादि अध्याससे अन्नमय आदि रूप होजाता है ॥ ३६ ॥

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां पंचकोशविवेकतः॥
स्वात्मानं तत उद्धृत्य परं ब्रह्म प्रपद्यते ॥ ३७ ॥

कदाचित् शंका करो कि इस प्रकारका आत्मा कैसे ब्रह्मरूप हो सकता है इसका समाधान यह है कि कोशोंसे विवेक करनेसे होता है, उसी विवेकको कहते हैं कि आगे वर्णन करने योग्य अन्वय और व्यतिरेकसे अर्थात् संबंध और अभावसे अन्नमय आदि पांचोंका आत्मासे पृथक् विवेक (ज्ञान) से अथवा प्रत्यगात्माके पंचकोशोंसे पृथक् करनेसे अपने आत्माको कोशोंसे उद्धार करके अर्थात् बुद्धिसे निकालकर चिदानंदस्वरूपका निश्चय करके पूर्वोक्त स्वरूप ब्रह्मको प्राप्त होता है अर्थात् ब्रह्मरूप होता है । भावार्थ यह है कि अन्वय व्यतिरेकसे पंचकोशोंसे आत्माके विवेकसे पंचकोशोंसे अपने आत्माको उद्धार करके जीवात्मा ब्रह्मरूप हो जाता है॥ ३७॥

अभाने स्थूलदेहस्य स्वप्ने यद्भानमात्मनः ॥
सोऽन्वयो व्यतिरेकस्तद्भानेऽन्यानवभासनम्॥ ३८ ॥

अब कहनेको इष्ट जो अन्वय व्यतिरेक उनको दिखाते हैं कि स्वप्नमें अन्नमय कोशरूप स्थूलदेहकी तो अप्रतीति होती है और प्रत्यक् आत्माकी स्वप्नके साक्षीरूपसे प्रतीति (स्फूर्ति) होती है यही आत्माका अन्वय (व्यापकता) कहाता है और उसी स्वप्न अवस्थामें उस आत्माका भान (प्रतीति) होनेसे अन्य जो स्थूलदेह उसकी अप्रतीतिको व्यतिरेक कहते हैं इस प्रकरणमें अन्वय व्यतिरेकसे अनुवृत्ति और व्यावृत्ति क्रमसे लेते हैं अर्थात् जो सब अवस्थाओंमें रहे उसका अन्वय और जो सब अवस्थाओंमें न रहै उसका व्यतिरेक (अभाव) होता है । भवार्थ

यह है कि स्वप्नमें स्थूलदेहके अभानमें जो आत्माका भान उसको अन्वय और स्वप्नमें ही आत्माके भानमें जो स्थूलदेहका अभान उसको व्यतिरेक कहते हैं ॥३८॥

लिंगाभाने सुषुप्तौ स्यादात्मनो भानमन्वयः ॥
व्यतिरेकस्तु तद्भाने लिंगस्याभानमुच्यते ॥ ३९ ॥

इस प्रकार स्थूलदेहको आत्मासे भिन्नरूपके बोधक अन्वय व्यतिरेक दिखाकर लिंगदेहको भी आत्मरूपसे भिन्नताके बोधक अन्वय व्यतिरेकोंको दिखाते हैं कि सुषुप्ति अवस्थामें लिंगदेहकी अप्रतीति होनेपर जो आत्माका भान है अर्थात् सुषुप्ति अवस्थाके साक्षिरूपसे जो आत्माका स्फुरण है वह आत्माका अन्वय है और आत्माके भानमें जो लिंगदेहका अभान (अस्फुरण) है उसको व्यतिरेक कहते हैं अर्थात् आत्माका भान है और लिंगदेहका नहीं इस भाव अभावको ही अन्वय व्यतिरेक कहते हैं. भावार्थ यह है कि सुषुप्तिमें लिंगदेहके अभानमें जो आत्माक भान वह अन्वय और आत्माके भानमें जो लिंगदेहका अभान वह व्यतिरेक कहाता है ॥ ३९ ॥

तद्विवेकाद्विविक्ताः स्युः कोशाः प्राणमनोधियः ॥
ते हि तत्र गुणावस्थाभेदमात्रात्पृथक्कृताः ॥ ४० ॥

पंचकोशोंके विवेकका प्रारंभ करके लिंगदेहका विवेचन प्रकरणविरुद्ध है यह आशंका करके यह कहते हैं कि प्राणमय आदि कोशोंका लिंगदेहमें ही अंतर्भाव होनेसे प्रकरणका विरोध नहीं है कि उस लिंगशरीरके विवेकसे प्राणमय मनोमय विज्ञानमय कोशोंका भी विवेक हुआ ही समझना; क्योंकि उस लिंगशरीरमें ही सत्त्वगुण रजोगुणकी अवस्थाके भेदसे ही अर्थात् गुणप्रधान भावसे ही वे तीनों पूर्वोक्त कोश पृथक् दिखाये हैं.भावार्थ यह है कि लिंगदेहके विवेकसे प्राणमय मनोमय विज्ञानमय कोशोंका भी विवेक समझना क्योंकि वे तीनों कोश गुणोंकी अवस्थाके भेदसे पृथक् २ किये हैं ॥ ४० ॥

सुषुप्त्यभाने भानं तु समाधावात्मनोऽन्वयः ॥
व्यतिरेकस्त्वात्मभाने सुषुप्त्यनवभासनम् ॥ ४१ ॥

अब जिसको आनंदमय कोश कहते हैं ऐसे कारणके विवेकका उपाय कहते हैं कि आगे वर्णन करने योग्य समाधिअवस्थामें सुषुप्तिके अभान होनेपर अर्थात् सुषुप्ति शब्दसे उपलक्षित कारणशरीररूप अविद्याकी अप्रतीति होनेपर केवल आत्माका ही जो भान (स्फुरण) है वह आत्माका अन्वय है और आत्माके

भान होनेपर जो सुषुप्तिका अभान अर्थात् सुषुप्तिसे उपलक्षित अज्ञानकी अप्रतीति उसको व्यतिरेक कहते हैं। यहां यह अनुमान है कि प्रत्यगात्मा अन्नमय आदिसे भिन्न है अन्नमय आदिकोंकी व्यावृत्ति (अभाव) होनेपरभी स्वयं अव्यावृत्त होनेसे जिसकी जिनकी व्यावृत्ति होनेपर भी व्यावृत्ति नहीं होती वह उनसे भिन्न होता है जैसे पुष्पोंसे सूत्र और गौ आदि खंड व्यक्तियोंसे गोत्वरूप जाति भिन्न नहीं होते। भावार्थ यह है कि समाधिमें सुषुप्तिके अभान होनेपर आत्माके भानको अन्वय और आत्माके भान होनेपर सुषुप्तिके अभानको व्यतिरेक कहते हैं ॥ ४१ ॥

यथा मुंजादिषीकैवमात्मा युक्त्या समुद्धृतः ॥
शरीरत्रितयाद्धीरैः परं ब्रह्मैव जायते ॥ ४२ ॥

अन्वयव्यतिरेकोंसे पंचकोशोंसे किया है विवेक जिसका ऐसे जीवात्माको ब्रह्मकी प्राप्ति होती है यह कह आये, उसके कहनेवाली (अंगुष्ठमात्रः पुरुषोंतरात्मा० इत्यादि तं विद्याच्छुक्रममृतम् इत्यंता) जो यह कठकी श्रुति है उसके अर्थको पढते हैं कि जैसे मुंज नामके तृणविशेषसे गर्भके कोमल तृणरूप इषीकाको युक्तिसे अर्थात् ऊपरके आच्छादक जो स्थूल २ पत्ते उनके छेदनरूप उपायसे उद्धार कर लेते हैं अर्थात् इषीकाको मुंजमेंसे निकास लेते हैं इसी प्रकार आत्माको भी अन्वय व्यतिरेकरूप उपायसे पूर्वोक्त तीनों शरीरोंसे ब्रह्मचर्य आदि साधनोंसे युक्त धीर अधिकारी जन उद्धार कर लेते हैं अर्थात् पृथक् जान लेते हैं और वह पृथक् किया जीवात्मा परब्रह्मरूप ही होजाता है क्योंकि चिदानंदरूप लक्षण दोनोंमें तुल्य है. भावार्थ यह है कि जैसे युक्तिके द्वारा मुंजमेंसे इषीकाको निकाल लेते हैं ऐसे ही धीर पुरुष तीनों शरीरोंसे आत्माको पृथक् करलेते हैं और पृथक् किया वह परब्रह्मरूप हो जाता है ॥ ४२ ॥

परापरात्मनोरेवं युक्त्या संभाविकैकता ॥
तत्त्वमस्यादिवाक्यैः सा भागत्यागेन लक्ष्यते ॥ ४३ ॥

इतने पूर्वोक्त ग्रंथके संदर्भसे सफल तत्त्वज्ञानका निरूपण हो चुका तो अग्रिम ग्रंथका आरंभ न होगा यह आशंका करके ग्रंथकी आरंभसिद्धिके लिये वृत्तांतके कथनपूर्वक अग्रिम ग्रंथके तात्पर्यको कहते हैं कि इस उक्त प्रकारसे जीव और परमात्मा है और जो तत्त्वं पदोंके अर्थरूप परमात्मा जीवात्मा हैं उनकी एकता (अभिन्नता) लक्षणोंकी समानताके दिखाने आदि उपायरूप युक्तिसे अंगीकार करायी और वह एकता तत्त्वमसि आदि महावाक्योंसे भाग (विरोधी

अंश) के त्यागसे लक्षित होती है अर्थात् लक्षणरूप वृत्तिसे जानी जाती है. भावार्थ यह है कि युक्तिसे अंगीकार करायी जो जीव परमात्माकी एकता वह तत्त्वमसि आदि महावाक्योंके द्वारा विरुद्ध अंशोंके त्यागसे जानी जाती है अर्थात् जीव ब्रह्मके विरुद्ध२ भागोंका त्याग और चैतन्य मात्र जो धर्म दोनोंमें एक हैं उसके ग्रहणसे दोनोंका अभेद प्रतीत हो जाता है ॥ ४३ ॥

जगतो यदुपादानं मायामादाय तामसीम् ॥
निमित्तं शुद्धसत्त्वां तामुच्यते ब्रह्म तद्गिरा ॥ ४४ ॥

तत्त्वमसि आदि वाक्योंके अर्थका ज्ञान, तब हो सकता है जब तत् त्वं पदोंके अर्थोंका ज्ञान हो क्योंकि वाक्यके अर्थज्ञानमें पदोंके अर्थका ज्ञान कारण होता है इससे प्रथम तत् पदके अर्थको कहते हैं कि सत् चित् आनंदरूप जो ब्रह्म है वह तमोगुण है प्रधान जिसमें ऐसी मायाको लेकर अर्थात् मायारूप उपाधिको स्वीकार करके चर अचररूप जगत्के कार्योंका उपादान होता है अर्थात् भ्रमरूप जगत्का अधिष्ठान होता है और वही ब्रह्म विशुद्ध सत्त्वगुण है प्रधान जिसमें ऐसी उसी मायाको उपाधिरूपसे स्वीकार करके उपादान आदिका ज्ञाता निमित्त होता है और वही निमित्त उपादानरूप ब्रह्म तत्त्वमसि आदि महावाक्योंके तत् शब्दसे कहा जाता है अर्थात् तत् पदका निमित्त उपादानरूप ब्रह्म है. भावार्थ यह है कि सच्चिदानंदरूप ब्रह्म तमोगुणी मायारूप उपाधिसे जगत्का उपादान और शुद्ध सत्त्वगुणी मायारूप ब्रह्म तमोगुणी मायारूप उपाधिसे जगत्का निमित्त होता है उसी निमित्त पादान ब्रह्मको तत् शब्द कहता है ॥ ४४ ॥

यदा मलिनसत्त्वां तां कामकर्मादिदूषिताम् ॥
आदत्ते तत्परं ब्रह्म त्वंपदेन तदोच्यते ॥ ४५ ॥

अब त्वं पदके अर्थको कहते हैं कि वही सच्चिदानंदरूप ब्रह्म कुछ मिले हैं तमोगुण रजोगुण जिसमें ऐसा मलिन सत्त्व है प्रधान जिसमें ऐसी और काम कर्म आदिसे दूषित उसी अविद्या नामकी मायाको जब स्वीकार करता है अर्थात् अविद्यारूप उपाधिका वशीभूत होता है तब वही ब्रह्म त्वंपदसे कहा जाता है अर्थात् अविद्योपाधि जीव त्वंपदका अर्थ है ॥ ४५ ॥

त्रितयीमपि तां मुक्त्वा परस्परविरोधिनीम् ॥
अखंडं सच्चिदानंदं महावाक्येन लक्ष्यते ॥ ४६ ॥

१ वाक्यार्थबुद्धौ पदार्थबुद्धिः कारणम्।

इस प्रकार तत् त्वं पदोंके अर्थोंको कहकर वाक्यके अर्थको कहते हैं कि तमोगुणप्रधान, मलिनसत्त्वप्रधान, विशुद्धसत्त्वप्रधानरूप तीन प्रकारकी भी परस्पर विरुद्ध २ उस मायाको छोडकर अखंड (भेदरहित) सत्चिदानंदरूप ब्रह्म महावाक्यसे लक्षित होता है अर्थात् जाना जाताहै अर्थात् लक्षणावृत्तिसे परब्रह्म बोध होताहै॥ ४६॥

सोऽयमित्यादिवाक्येषु विरोधात्तदिदंतयोः ॥
त्यागेन भागयोरेक आश्रयो लक्ष्यते यथा ॥ ४७ ॥

कदाचित् कोई कहे कि इस प्रकार लक्षणावृत्तिसे वाक्यके अर्थका ज्ञान कहां देखा है इस शंकाकी निवृत्तिके लिये कहते हैं कि सोयं देवदत्तः (वह यह देवदत्त है) इत्यादि वाक्योंमें वह देश वह काल और यह देश यह कालरूप विरुद्ध धर्मोंके विरोधसे तत् और इदम् शब्दके अर्थोंकी एकता नहीं हो सकती; इससे विरुद्ध अंशरूप भागोंके त्यागसे अर्थात् वह देश काल और यह देश काल इनके त्यागसे एक देवदत्तरूप आश्रय (देही) जैसे लखा जाता है अर्थात् जो शरीरधारी दोनों देश कालोंमें एक है उसका बोध होता है उससे अभिन्न यह है ऐसी अभेद बुद्धि होती है, भावार्थ यह है कि सोयम् इत्यादि वाक्योंमें जैसे तत् और अयंके विरोधसे विरुद्ध २ भागोंके त्यागसे जैसे एक देवदत्त जाना जाता है ॥ ४७ ॥

मायाविद्ये विहायैवमुपाधी परजीवयोः ॥
अखंडं सच्चिदानंदं परं ब्रह्मैव लक्ष्यते ॥ ४८ ॥

अब दृष्टांतको कहकर दार्ष्टांतिकको कहते हैं कि 'सोऽयं देवदत्तः' इस वाक्यके ही अनुसार परब्रह्म जीवात्माकी उपाधि जो माया और अविद्या हैं उन पूर्वोक्त माया और अविद्याको त्यागकर अखंड सच्चिदानंद (भेदरहित परब्रह्म) महावाक्योंसे लखा जाताहै अर्थात् जीवकी अविद्या और परब्रह्मकी मायाके त्यागसे सच्चिदानंदरूप ब्रह्मका ज्ञान हो जाता है. भावार्थ यह है कि वैसे ही परब्रह्म,जीवकी माया अविद्यारूप उपाधियोंको त्यागकर महावाक्योंसे एक सच्चिदानंदरूप ब्रह्म लखा जाताहै ४८ ॥

सविकल्पस्य लक्ष्यत्वे लक्ष्यस्य स्यादवस्तुता ॥
निर्विकल्पस्य लक्ष्यत्वं न दृष्टं न च संभवि ॥ ४९ ॥

कदाचित् कोई वादी शंका करे कि महावाक्योंसे जो ब्रह्म लखा जाता है यह सविकल्प (विकल्पसहित) है कि निर्विकल्प ? प्रथम पक्षमें दोष कहते हैं कि, विपरीतरूप माने नाम जाति आदि सहित जो हो उसे सविकल्प कहते हैं उसको महावाक्योंका लक्ष्य (जानने योग्य) मानोगे तो महावाक्योंके लक्ष्यको अवस्तुता

(मिथ्यात्व) हो जायगी क्योंकि विकल्पसहित घट आदि सब मिथ्या होते हैं. अब दूसरे पक्षमें दोष कहते हैं कि नाम जाति आदिसे रहित जो निर्विकल्प है उसको जगत्में कहीं भी लक्ष्यत्व नहीं देखा और न उसे लक्ष्यत्व होनेकी संभावना है क्योंकि जो लक्ष्य होता है वह निर्विकल्प नहीं हुआ करता है. भावार्थ यह है कि विकल्पसहितको लक्ष्य मानोगे तो लक्ष्य मिथ्या हो जायगा और निर्विकल्प कहीं भी लक्ष्य नहीं देखा और न उसका लक्ष्य होनेकी संभावना है ॥ ४९ ॥

विकल्पो निर्विकल्पस्य सविकल्पस्य वा भवेत् ॥
आद्ये व्याहतिरन्यत्रानवस्थात्माश्रयादयः ॥ ५० ॥

अब सिद्धांती जाति-उत्तर इसमें है इससे हे पूर्ववादी ! तू यह शंका मत करे इससे विकल्प करके दोषको कहता है कि सविकल्प लक्ष्य है वा निर्विकल्प लक्ष्य है यह जो विकल्प आपने किया है वह विकल्प निर्विकल्पमें किया है वा सवि-कल्पमें ? निर्विकल्पमें कहोगे तो व्याघात दोष है अर्थात् विकल्पसे रहितरूप निर्वि-कल्पमें विकल्पको कहना ऐसा है कि जैसा कोई कहे कि मेरे मुखमें जिह्वा नहीं है और सविकल्पमें विकल्प माननेमें अनवस्था आदि दोष हैं,सोई दिखाते हैं कि विकल्प-सहितमें विकल्प यहां पहिले और दूसरे विकल्पसे एक ही विकल्पको लोगे वा दोनोंको पृथक् २ मानोगे ? एक ही मानोगे तो आत्माश्रय दोष है क्योंकि सविकल्पमें जो विशेषण विकल्प उस सहितमें वही विकल्प रहा और यदि दोनों विकल्पोंको पृथक् २ मानोगे तो विकल्पसहितमें विकल्प, यहां पहला विकल्प भी विकल्परूप है उसका भी आश्रय विकल्पसहित मानना पडेगा, उस विकल्पसहितमें विशेषण जो विकल्प है वह पूर्वोक्त (विकल्प) विकल्परूपहै वा उन दोनोंसे अन्य है? पहले पक्षमें तो अन्योन्याश्रय दोष है कि उसके आश्रय वह और उसके आश्रय वह होगा और दोनोंसे अन्य है इस दूसरे पक्षमें भी विकल्प-सहितमें विकल्प यहां विशेषणरूप-जो पहला विकल्प है वह दूसरे विकल्परूप है वा उन सबसे अन्य है? दूसरे विकल्प रूप ही पहिलेको मानोगे तो चक्रकापत्ति दोष है क्योंकि उसी विकल्पसे चलकर उसीपर समाप्ति हुई और उन सबसे अन्य ही मानोगे तो उसका अन्य और उसका भी अन्य विकल्प मानना पडेगा इससे अनवस्था दोष है अर्थात् विकल्पोंकी संख्या समाप्त न होगी, सबको विकल्प सहितोंमेंही मानना पडेगा. भावार्थ यह है कि विकल्परहितमें विकल्प करते हो वा विकल्पसहितमें ? विकल्परहितमें विकल्प कहोगे तो वदतोव्याघात दोष है और निर्विकल्पमें कहोगे तो अनवस्था आत्माश्रय आदि दोष है ॥ ५० ॥

इदं गुणक्रियाजातिद्रव्यसंबंधवस्तुषु ॥
समं तेन स्वरूपस्य सर्वमेतदितीष्यताम् ॥ ५१ ॥

कुछ यह दूषण केवल यहां ही नहीं है किंतु ऐसे स्थलोंमें सर्वत्र ऐसे ही दूषण आ सकते हैं. अब यह विकल्पमें जो दूषणोंका समूह है वह गुण क्रिया जाति द्रव्य संबंध इन पांच वस्तुओंमें भी तुल्य है सोई दिखाते हैं कि निर्गुणमें गुण वर्तता है वा सगुणमें? क्रिया भी क्रियारहितमें रहती है वा क्रियासहितमें ? यहां पहलेमें व्याघात और दूसरेमें आत्माश्रय आदि दोष इसी प्रकार समझने. कदाचित् कोई कहे कि यह उत्तर ठीक नहीं है तो ठीक उत्तर कौनसा है इस शंकाकी निवृत्तिके लिये कहते हैं कि इससे इस प्रकार विकल्पको असंगत होनेसे ये गुण आदि संपूर्ण स्वरूपके मानो अर्थात् संपूर्ण गुण आदि वस्तुके स्वरूपमें वर्तते हैं. भावार्थ यह है कि यह विकल्पका दोष गुण आदि पांचोंमें भी ऐसे ही हैं उससे ये सब गुण आदि वस्तुके स्वरूपमें मानो ॥ ५१ ॥

विकल्पतदभावाभ्यामसंस्पृष्टात्मवस्तुनि ॥
विकल्पितत्वलक्ष्यत्वसंबंधाद्यास्तु कल्पिताः ॥ ५२ ॥

कदाचित् कहो कि गुण आदिमें ऐसे रहो प्रकरणमें क्या आया अर्थात् प्रकरणकी पूर्वोक्त शंकाका समाधान न हुआ इसलिये कहते हैं कि विकल्प और विकल्पके अभावका नहीं है स्पर्श जिसमें ऐसे परमात्मा स्वरूप वस्तुमें विकल्पितत्व लक्ष्यत्व संबंध आदि कल्पित हैं उनमें विकल्पितत्व यह है कि सविकल्पको वा निर्विकल्पको विकल्प है इस पूर्वोक्त विकल्पका विषय होना और लक्ष्यत्व यह है कि लक्षणावृत्तिसे जानने योग्य और संबंध (संयोग आदि) आदि शब्दसे द्रव्य आदि लेने. यहां तु शब्द अवधारण (निश्चय) में वर्तता है, उनमें गुणोंका आश्रय वा समवायिकारण जो हो उसे द्रव्य नैयायिक मानते हैं. कर्मसे भिन्न होकर जातिमात्रका जो आश्रय वह गुण होता है. नित्य और एक होकर जो अनेकमें रहै वह जाति संयोग और विभागका जो असमवायि कारण वह कर्म (क्रिया) होता है, ये सब गुण आदि वस्तु (ब्रह्म) के स्वरूपमें कल्पित हैं अर्थात् कल्पनामात्र हैं वस्तुतः नहीं हैं ॥ ५२ ॥

इत्थं वाक्यैस्तदर्थानुसंधानं श्रवणं भवेत् ॥
युक्त्या संभवितत्वानुसंधानं मननं तु तत् ॥ ५३ ॥

इतने पूर्वोक्त ग्रंथसे जो कहा उसको कहते हैं; इस प्रकार तत्त्वमसि आदि वाक्योंसे उन वाक्योंके अर्थका जो अनुसंधान अर्थात् जीव ब्रह्मकी एकताका जो

ज्ञान उसे श्रवण कहते हैं और 'शब्दस्पर्शादयो वेद्याः'-इत्यादि ग्रंथसे कही पूर्वोक्त युक्तिसे परब्रह्म और जीवात्माकी एकताकी संभावना जो सुनी है, उसकी सिद्धि (निर्णय) का ज्ञान उसको मनन कहते हैं अर्थात् एकत्वके अनुसंधानको श्रवण और अन्तःकरणमें निश्चयको मनन कहते हैं भावार्थ यह है कि-पूर्वोक्त वाक्योंसे तत्त्वमसि आदि महावाक्योंके अर्थका जो अनुसंधान उसे श्रवण और युक्तिसे महावाक्यकी अर्थकी सिद्धिका जो अनुसंधान उसे मनन कहते हैं ॥ ५३ ॥

ताभ्यां निर्विचिकित्सेऽर्थे चेतसः स्थापितस्य यत् ॥
एकतानत्वमेतद्धि निदिध्यासनमुच्यते ॥ ५४ ॥

निदिध्यासनको अब कहते हैं कि उन श्रवण और मनन दोनोंसे संदेहरहित जो अर्थ (ब्रह्म) उसके विषे स्थापित (टिका) हुआ अर्थात् धारणावाला चित्त क्योंकि पतञ्जलिने यह लिखा है कि एक देशमें चित्तका जो सम्बन्ध उसे धारणा[1] कहते हैं उस पूर्वोक्त चित्तकी जो एकतानता अर्थात् एकाकारवृत्तिका प्रवाह होना उसको निदिध्यासन कहते हैं. सोई योगशास्त्रमें कहा है कि उस अर्थमें जो प्रतीतिकी एकतानता उसे ध्यान[2] कहते हैं. भावार्थ यह है कि श्रवण मननके द्वारा संदेहरहित अर्थमें स्थिर चित्तकी जो एकाकार (तद्रूप) वृत्ति उसे निदिध्यासन कहते हैं ॥ ५४ ॥

ध्यातृध्याने परित्यज्य क्रमाद्ध्येयैकगोचरम् ॥
निवातदीपवच्चित्तं समाधिरभिधीयते ॥ ५५ ॥

अब उसी निदिध्यासनकी परिपाकरूप जो समाधि उसका वर्णन करते हैं कि निदिध्यासनमें ध्यानका कर्त्ता ध्यान और ध्यान करने योग्य ये तीन भासते हैं उसी निदिध्यासन करते करते जब चित्त अभ्यासके वशसे ध्यानके कर्त्ता और ध्यान इन दोनोंको क्रमसे त्यागकर केवल एक ध्येयको ही विषय करता है अर्थात् ध्यान करने योग्य ब्रह्माकार वृत्ति हो जाता है अर्थात् वायुरहित देशमें वर्तमान दीपकके समान निश्चल हो जाता है उस अवस्थाको समाधि कहते हैं. भावार्थ यह है कि ध्याता और ध्यान इन दोनोंके क्रमसे त्यागके अनन्तर केवल ब्रह्मको विषय करता हुआ चित्त पवनरहित देशके निश्चल दीपकके समान निश्चल जो होता है उसको समाधि कहते हैं ॥ ५५ ॥

---

१ देशसंबंधश्चित्तस्य धारणा । २ तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ।

वृत्तयस्तु तदानीमज्ञाता अप्यात्मगोचराः ॥
स्मरणादनुमीयंते व्युत्थितस्य समुत्थितात् ॥ ५६ ॥

कदाचित् कोई शंका करे कि समाधिमें चित्तकी कोई भी वृत्ति नहीं मिलती इससे ध्यानके योग्य जो ब्रह्म तदाकारवृत्तिका भी निश्चय नहीं होगा सो ठीक नहीं क्योंकि समाधिमें भी वृत्तियोंका होना अनुमानसे जाना जाता है कि उस समाधिके कालमें आत्मा है विषय जिनका ऐसी वृत्ति अज्ञात भी हैं तो भी समाधिसे उठे मनुष्यको हुआ जो स्मरण अर्थात् इतने कालतक मैं समाधिमें रहा इस स्मरणरूप ज्ञानसे वृत्तियोंका अनुमान होता है क्योंकि यह व्याप्ति लोकप्रसिद्ध है कि जिस जिसका स्मरण होता है उस उसका अनुभव पूर्व हो चुकता है. भावार्थ यह है कि समाधिमें आत्मज्ञानविषयक जो वृत्ति हैं अज्ञात भी उनके समाधिसे उठे मनुष्यके स्मरणसे अनुमान होता है ॥ ५६ ॥

वृत्तीनामनुवृत्तिस्तु प्रयत्नात्प्रथमादपि ॥
अदृष्टासकृदभ्याससंस्कारसचिवाद्भवेत् ॥ ५७ ॥

यद्यपि समाधिमें वृत्तियोंका जनक कोई प्रयत्न नहीं इससे वृत्तियोंकी अनुवृत्ति असंभव है तथापि समाधिकालका प्रयत्न न होनेपर भी अदृष्ट है सहकारी जिसका ऐसे समाधिसे पूर्वकालीन प्रयत्नसे वृत्तियोंका होना वर्णन करते हैं कि केवल ब्रह्म है विषय जिनका ऐसी वृत्तियोंकी प्रवाहरूपसे अनुगतिरूप जो अनुवृत्ति है वह समाधिसे पूर्वकालके पतंजलिके कहे अशुक्ल कृष्ण[1] पुण्य विशेषरूप योगीके अदृष्टसे और वारंवार समाधिके अभ्याससे पैदा हुए भावनाख्य संस्कारसे युक्त अर्थात् इन दोनों सहकारी कारणोंसहित जो समाधिसे पूर्वकालका प्रयत्न उससे होती है. भावार्थ यह है कि अदृष्ट और वारंवार अभ्याससे पैदा हुए संस्कार इन दोनोंसे युक्त जो समाधिसे पूर्व कालका प्रयत्न उससे ही समाधिमें ब्रह्माकार वृत्तियोंकी अनुवृत्ति होती है अर्थात् ब्रह्माकार वृत्ति चली जाती है ॥ ५७ ॥

यथा दीपो निवातस्थ इत्यादिभिरनेकधा ॥
भगवानिममेवार्थमर्जुनाय न्यरूपयत् ॥ ५८ ॥

कदाचित् कहो कि इस समाधिका निरूपण किसी आचार्यने नहीं किया इससे श्रीकृष्णचंद्र जो सबके गुरु हैं उनके निरूपणको कहते हैं कि हे अर्जुन ! जैसे वातरहित स्थानमें दीपक निश्चल रहता है वही उपमा समाधिमें स्थित योगीकी है इत्यादि

---

१ कर्माशुक्लकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् ।

वचनोंसे अनेक प्रकार भगवान् (ज्ञानैश्वर्यसे युक्त) ने इसी निर्विकल्पक समाधिरूप अर्थका अपने शिष्य अर्जुनके प्रति निरूपण किया है ॥ ५८ ॥

अनादाविह संसारे संचिताः कर्मकोटयः ॥
अनेन विलयं यांति शुद्धो धर्मो विवर्धते ॥ ५९ ॥

अब समाधिके अवांतर फलको कहते हैं कि इस अनादि संसारमें संचित किये जो कोटियों पुण्य-पाप रूप कर्म हैं वे सब इस समाधिसे नष्ट हो जाते हैं अर्थात् पूर्व-संचित अनंत कर्मोंका लय हो जाता है क्योंकि इन श्रुति[1] और स्मृतियोंसे यही प्रतीत होता है कि उस कार्य-कारण रूप ब्रह्मके ज्ञान होनेपर योगीके सब कर्म नष्ट हो जाते हैं ज्ञानरूप अग्नि सब कर्मोंको दग्ध कर देती है और पृथिवी आदि कार्योंसे युक्त जो अविद्या उसका निवर्तक जो ब्रह्मका साक्षात्कार उसका हेतु धर्म बढ़ जाता है. भावार्थ यह है कि इस समाधिसे अनादि संसारमें संचित किये पापोंका नाश और शुद्धधर्मकी वृद्धि होती है ॥ ५९ ॥

धर्ममेघमिमं प्राहुः समाधिं योगवित्तमाः ॥
वर्षत्येष यतो धर्मामृतधाराः सहस्रशः ॥ ६० ॥

अब समाधिके पूर्व स्वरूपमें प्रमाण कहते हैं कि जो योगियोंमें श्रेष्ठ हैं अर्थात जिनको ब्रह्मका प्रत्यक्ष है वे इस निर्विकल्पक समाधिको धर्मका मेघ कहते हैं क्योंकि यह सहस्रों धर्मरूप अमृतकी धाराओंको वर्षाती है क्योंकि श्रुतिमें[2] यह लिखा है कि एक भी समाधिका क्षण सौ यज्ञोंके फलको देता है ॥ ६० ॥

अमुना वासनाजाले निःशेषं प्रविलापिते ॥
समूलोन्मूलिते पुण्यपापाख्ये कर्मसंचये ॥ ६१ ॥

अब समाधिके परम प्रयोजनको कहते हैं कि इस समाधिसे जब वासनाओंके जाल अर्थात् अहंकार ममता कर्ता आदिके अभिमानका हेतु संस्कारका जो समूह उस सबके निश्शेष (सम्पूर्ण) नाश होनेपर और पुण्य पापरूप कर्मोंका जो संचय उसके समूल (जडसे) उद्धार (नाश) होनेपर ॥ ६१ ॥

वाक्यमप्रतिबद्धं सत्प्राक्परोक्षावभासिते ॥
करामलकवद्बोधमपरोक्षं प्रसूयते ॥ ६२ ॥

---

१ क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे । ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ।
२ क्षणमेकं क्रतुशतस्यापि ।

श्रेष्ठ कर्म और वासनारूप प्रतिबंधसे रहित हुआ जो तत्त्वमसि आदि महावाक्य है वह समाधिसे पहले परोक्षरूपसे भासे (प्रकाशित) तत्त्वके ऐसे अपरोक्ष ज्ञानको पैदा करता है जैसे हाथमें स्थित आमलेका प्रत्यक्ष होता है अर्थात् तत्त्वके भासनमें समर्थ ज्ञान होता है ॥ ६२ ॥

परोक्षं ब्रह्मविज्ञानं शाब्दं देशिकपूर्वकम् ॥
बुद्धिपूर्वकृतं पापं कृत्स्नं दहति वह्निवत् ॥ ६३ ॥

अब परोक्ष ज्ञानके फलको कहते हैं कि गुरुके उपदेशसे मिला जो तत्त्वमसि आदि महावाक्योंसे पैदा हुआ परोक्ष (साक्षात्) ब्रह्मविज्ञान वह बुद्धिपूर्वक (जानकर) किये संपूर्ण पापोंको अग्निके समान दग्ध (भस्म) करता है ॥ ६३ ॥

अपरोक्षात्मविज्ञानं शाब्दं देशिकपूर्वकम् ॥
संसारकारणाज्ञानतमसश्चंडभास्करः ॥ ६४ ॥

अब अपरोक्ष ज्ञानके फलको कहते हैं कि गुरुके उपदेशसे हुआ महावाक्योंके द्वारा जो अपरोक्ष आत्माका ज्ञान है संशय और विपरीतसे रहित वह तम(अंधकार) रूप जो संसारका कारण अज्ञान (अविद्या) उसके लिये मध्याह्न कालका सूर्यरूप है अर्थात् जैसे सूर्यसे अन्धकारका नाश होता है ऐसे ही ब्रह्मज्ञानसे अविद्याकी निवृत्ति हो जाती है ॥ ६४ ॥

इत्थं तत्त्वविवेकं विधाय विधिवन्मनः समाधाय ॥
विगलितसंसृतिबंधः प्राप्नोति परं पदं नरो न चिरात् ॥ ६५॥

अब ग्रंथके अभ्यासका फल कहते हैं कि मनुष्य इस पूर्वोक्त प्रकारसे ब्रह्म और आत्माकी एकतारूप तत्त्वके विवेक (पंचकोशसे भेद) को करके और उस तत्त्वमें शास्त्रोक्त रीतिसे मनको स्थिर करके अपरोक्ष ब्रह्मज्ञानसे नष्ट हुआ है संसाररूप बंधन जिसका ऐसा होकर सबसे उत्तम परंपद (मोक्ष) को शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है अर्थात् सत्यज्ञान आनंदरूप ब्रह्म ही हो जाता है. भावार्थ यह है कि इस प्रकार तत्त्वका विवेक और विधिपूर्वक मनके समाधानको करके नष्ट हुआ है संसाररूप बंधन जिसका ऐसा मनुष्य शीघ्र ही परमपदको प्राप्त होता है ॥ ६५ ॥

इति श्रीविद्यारण्यमुनिवर्यकृतपंचदशीभाषोद्धृतौ पं० मिहिरचंद्र-
कृतायां तत्त्वविवेकप्रकरणं समाप्तम् ।

॥ इति तत्त्वविवेकप्रकरणम् ॥ १ ॥

अथ महाभूतविवेकप्रकरणम् २.



सदद्वैतं श्रुतं यत्तत्पंचभूतविवेकतः ॥
बोद्धुं शक्यं ततो भूतपंचकं प्रविविच्यते ॥ १ ॥

हे सौम्य ! यह ब्रह्म जगत्की उत्पत्तिसे पूर्व कारणरूप सत् अद्वितीय जो सुना था वाणी और मनके अविषय उस ब्रह्मको स्वतः (स्वयं) नहीं जान सकते इससे ब्रह्मका कार्य उपाधिरूप पांचो भूतोंके विवेक द्वारा ब्रह्मज्ञानके लिये प्रथम उपोद्‌घात रूपसे पांचों भूतोंके विवेककी प्रतिज्ञा करते हैं कि जो सत् अद्वैत सुना है वह पांचो भूतोंके विवेकसे जानने योग्य है इससे पंचभूतविवेकको कहते हैं ॥ १ ॥

शब्दस्पर्शौ रूपरसौ गंधो भूतगुणा इमे ॥
एकद्वित्रिचतुःपंचगुणा व्योमादिषु क्रमात् ॥ २ ॥

उस विवेकमें प्रथम, आकाश आदि पांचोंभूतोंका गुणोंके द्वारा भेद जनानेके लिये पांचों भूतोंके गुणोंको कहते हैं कि शब्द स्पर्श रूप रस गंध ये पांच क्रमसे पांचों भूतोंके गुण हैं और आकाश आदिमें क्रमसे एक दो तीन चार पांच गुण रहते हैं ॥ २ ॥

प्रतिध्वनिर्वियच्छब्दो वायौ वीसीतिशब्दनम् ॥
अनुष्णाशीतसंस्पर्शो वह्नौ भुगुभुगुध्वनिः ॥ ३ ॥

अब पांचों भूतोंके असाधारण गुणोंको कहते हैं कि आकाशमें प्रतिध्वनि रूप शब्द ही गुण है वायुमें शब्द स्पर्श दो हैं और वायुमें वीसी इस अनुकरणका शब्द होता है इसी प्रकार आगे भी अनुकरण शब्द जानना और वायुमें स्पर्श अनुष्णाशीत है अर्थात् न शीत न उष्ण और अग्निमें शब्द स्पर्श रूप तीन गुण क्रमसे हैं और अग्निमें शब्द भुगु भुगु इस अनुकरणका है ॥ ३ ॥

उष्णः स्पर्शः प्रभारूपं जले बुलुबुलुध्वनिः ॥
शीतः स्पर्शः शुक्लरूपं रसो माधुर्यमीरितम् ॥ ४ ॥

और पूर्वोक्त अग्निमें स्पर्श उष्ण है और रूप प्रकाशमान शुक्ल है और जलमें शब्द स्पर्श रूप रस ये चार गुण हैं जिनमें बुलु बुलु शब्द है स्पर्श शीतल और रूप शुक्ल और रस मधुर ही कहा है ॥ ४ ॥

भूमौ कडकडाशब्दः काठिन्यं स्पर्श इष्यते ॥
नीलादिकं चित्ररूपं मधुराम्लादिको रसः ॥ ५ ॥

भूमिमें शब्द स्पर्श रूप रस गंध ये पांच गुण हैं उनमें शब्द कडकडा अनुकरणका है और स्पर्श कठिन इष्ट (माना) है और नील पीत आदि चित्र रूप हैं और मधुर अम्ल आदि छः प्रकारका रस है ॥ ५ ॥

सुरभीतरगंधौ द्वौ गुणाः सम्यग्विवेचिताः ॥
श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा घ्राणं चेंद्रियपंचकम् ॥ ६ ॥

सुरभि असुरभि अर्थात् सुगंध और दुर्गंधरूप दो प्रकारका गंध है. इस पूर्वोक्त प्रकारसे गुणोंका भली प्रकार विवेक किया- अब गुणोंसे भेदको कहकर कार्योंसे भेद कहनेके लिये भूतोंके कार्य जो ज्ञानेंद्रिय प्रथम उनको कहते हैं कि श्रोत्र त्वचा चक्षु जिह्वा घ्राण ये पांचों क्रमसे भूतोंसे पैदा हुई ज्ञान इंद्रिय हैं ॥ ६ ॥

कर्णादिगोलकस्थं तच्छब्दादिग्राहकं क्रमात् ॥
सौक्ष्म्यात्कार्यानुमेयं तत्प्रायो धावेद्बहिर्मुखम् ॥ ७ ॥

अब इंद्रियोंके स्थान और व्यापार आदिको दिखाते हैं कि कर्ण आदि गोलकमें टिकी हुईं वे इंद्रिय शब्द आदि अपने २ विषयको क्रमसे ग्रहण करती हैं. अब इंद्रियोंके होनेमें कार्य है हेतु जिसमे ऐसे अनुमानरूप प्रमाणको कहते हैं वह इंद्रिय सूक्ष्म होनेसे कार्योंके द्वारा अनुमान की जाती हैं वह अनुमान यह है कि रूपकी उपलब्धि (ज्ञान) किसी कारणसे जन्य (उत्पन्न) है क्रिया होनेसे छेदन क्रियाके समान ये इंद्रिय पंचीकरण नहीं किये-महामहाभूतोंका कार्य होनेसे सूक्ष्म होती हैं अब इंद्रियोंके स्वभावको कहते हैं कि प्रायः ये इंद्रिय बहिर्मुख होकर दौडतीहैं अर्थात् बाह्य विषयोंको ग्रहण करतीहै आत्माको नहीं सोई इस श्रुतिमें लिखा है कि ब्रह्माने इंद्रियोंको परांचि रचा है इससे पराक् (विषय) को देखती हैं अंतरात्माका नहीं. भावार्थ यह है कि कान आदि छिद्रोंमें टिकीं वे इंद्रिय शब्द आदिको ग्रहण करती है और सूक्ष्म होनेसे कार्योंसे अनुमान की जाती हैं और प्रायः बाह्य विषयोंको ग्रहणके लिये जाती हैं ॥ ७ ॥

कदाचित्पिहिते कर्णे श्रूयते शब्द आंतरः ॥
प्राणवायौ जाठराग्नौ जलपानेऽन्नभक्षणे ॥ ८ ॥

---

१ परांचि खानि व्यतृणत्स्वयंभूः ।

प्रायःशब्दसे सूचित किया जो इंद्रियोंको अंतर विषयका ग्रहण करना भी दिखाते हैं कि कदाचित् कानोंके आच्छादन करनेपर प्राणवायु और जठराग्निमें विद्यमान जो आंतर (भीतरका) शब्द सुना जाता है और जलके पीने और अन्नके भक्षणमें ॥ ८ ॥

व्यज्यंते ह्यांतराः स्पर्शा मीलने चांतरं तमः ॥
उद्गारे रसगंधौ चेत्यक्षाणामांतरग्रहः ॥ ९ ॥

अंतरके स्पर्श प्रकट होते हैं और नेत्रोंके मीलन (मीचना) करनेपर भीतरका अंधकार प्रतीत होता है और उद्गार (वमन) करनेमें भीतरके रस और गंध दोनों ग्रहण कियेजाते हैं, इस प्रकार सब इंद्रिय भीतरके विषयोंको भी ग्रहण करती हैं ॥ ९ ॥

पंचोक्त्यादानगमनविसर्गानंदकाः क्रियाः ॥
कृषिवाणिज्यसेवाद्याः पंचस्वंतर्भवंति हि ॥ १० ॥

इस प्रकार ज्ञानेंद्रियके व्यापारोंको कहकर जो कर्मेन्द्रियोंको नहीं मानता उसके प्रति कर्मेंद्रियोंकी सिद्धिके लिये प्रथम कर्मेन्द्रियोंके हेतुरूप व्यापारों का वर्णन करते हैंकि वचन, आदान, गमन, विसर्ग (मलका त्याग), विषयानंद ये जगतमें प्रसिद्ध पांचों कर्मेन्द्रियोंके व्यापार हैं और कृषि-व्यवहार, सेवा आदि का भी इन पांचोंके विषय ही अंतर्भाव है इससे पांच ही क्रिया कहनेमें कोई दोष नहीं ॥ १० ॥

वाक्पाणिपादपायूपस्थैरक्षैस्तत्क्रियाजनिः ॥
मुखादिगोलकेष्वास्ते तत्कर्मेंद्रियपंचकम् ॥ ११ ॥

अब क्रियाजनक उन्हीं इंद्रियोंको कहते हैं कि वाक् (वाणी) पाणि (हाथ) पाद (चरण) पायु (गुदा) उपस्थ (लिंग) इन इंद्रियोंसे उन पूर्वोक्त क्रियाओंकी उत्पत्ति होती है. अब पांचोंके कर्मेंद्रियोंके स्थानोंको कहते हैं-कि मुख आदि गोलकोंके विषे अर्थात् मुख चरण कर गुदा शिश्न इन पांचों स्थानोंमें वे पांचों कर्मेन्द्रिय रहती हैं यहां भी इन पांचों कर्मेन्द्रियोंकी सिद्धिमें यह अनुमान प्रमाण जानना कि उक्ति आदि पांचों कार्य किसी कारणसे जन्य हैं क्रिया होनेसे छेदन क्रियाकी तुल्य. भावार्थ यह है कि वाणी, हाथ, चरण, गुदा, लिंग इन इंद्रियोंसे उक्ति, ग्रहण, गमन, विसर्ग, आनंद ये पांचों क्रिया क्रमसे उत्पन्न होती हैं और ये पांचों कर्मेन्द्रिय मुख आदि गोलकोंमें होती हैं ॥ ११ ॥

मनो दशेंद्रियाध्यक्षं हृत्पद्मगोलके स्थितम् ॥
तच्चांतःकरणं बाह्येष्वस्वातंत्र्याद्विनेंद्रियैः ॥ १२ ॥

अब पूर्वोक्त दशों इंद्रियोंका प्रेरक होनेसे प्रस्तुत—अर्थात् प्रकरणसे प्राप्त जो मन उसके कार्य स्थानको दिखाते हैं कि कमलरूप हृदयके गोलकमें टिका जो मन वह दशों इंद्रियोंका अध्यक्ष (स्वामी) है और वह मन इंद्रियोंके विना बाहिरके विषयोंमें अस्वतन्त्र होनेसे अंतःकरण है अर्थात् भीतरकी इन्द्रिय है ॥ १२ ॥

अक्षेष्वर्थार्पितेष्वेतद्गुणदोषविचारकम् ॥
सत्त्वं रजस्तमश्चास्य गुणा विक्रियते हि तैः ॥ १३ ॥

अब मनकी दशों इंद्रियोंकी अध्यक्षताको दिखाते हैं, जब इंद्रिय अपने २ विषयोंमें स्थापित हो जाती हैं अर्थात् विषयोंपर पहुंचती हैं उस समय यह मन गुण दोषका विचार करता है अर्थात् यह समीचीन (अच्छा) और यह असमीचीन इत्यादि विचारको करता है यहां यह भाव है कि आत्मा सबका प्रमाता है इससे सब ज्ञानोंमें साधारण है और चक्षुः आदि इंद्रियरूप आदिके ही ज्ञानके पैदा करनेसे चरितार्थ हैं इससे प्रतीत हुआ कि जो उनके गुण दोषोंका विचार वह मनके माननेे विना नहीं हो सकता इससे गुण दोषके विचारका कारण मन अवश्य मानना और मनकी वैराग्य काम आदि अनेक प्रकारकी वृत्तियोंके दिखानेके लिये मनके सत्त्व आदि गुणोंको दिखाते हैं कि सत्त्व, रज, तम ये तीनों मनके गुण हैं क्योंकि इनसे ही मन विकारको प्राप्त होता है.भावार्थ यह है कि इंद्रियोंको विषयपर पहुंचनेमें गुण दोषोंके विचारका कर्ता मन है और उसके सत्त्व, रज, तम ये तीन गुण इससे हैं कि उनसे वह विकारको प्राप्त होताहै ॥ १३ ॥

वैराग्यं क्षांतिरौदार्यमित्याद्याः सत्त्वसंभवाः ॥
कामक्रोधौ लोभयत्नावित्याद्या रजसोत्थिताः॥ १४ ॥

अब गुणोंसे मनके विकारको कहते हैं, सत्त्वगुणसे वैराग्य, क्षमा, उदारता आदि और रजोगुणसे काम, क्रोध, लोभ, यत्न आदि मनके विषे उत्पन्न होते हैं १४

आलस्यभ्रांतितंद्राद्या विकारास्तमसोत्थिताः ॥
सात्त्विकैः पुण्यनिष्पत्तिः पापोत्पत्तिश्च राजसैः ॥ १५ ॥

आलस्य, भ्रम, तंद्रा आदि विकार मनमें तमोगुणसे होते हैं. अब वैराग्य आदिके भिन्न २ कार्योंको दिखाते हैं कि, सत्त्वगुणी विकारोंसे पुण्यकी और रजोगुणी विकारोंसे पापकी उत्पत्ति होती है ॥ १५ ॥

तामसैर्नोभयं किंतु वृथायुःक्षपणं भवेत् ॥
अत्राहंप्रत्ययी कर्तेत्येवं लोकव्यवस्थितिः ॥ १६ ॥

और तमोगुणी विकारोंसे न पुण्य होता है न पाप-किंतु वृथा ही अवस्थाका नाश होता है. इन सबको बुद्धिमें स्थित होनेसे अंतःकरण आदि सबके स्वामीका वर्णन करते हैं कि इन अंतःकरण आदि सबमें जो अहंबुद्धिको करे वह कर्ता (प्रभु) है, यह लोककी मर्यादा है अर्थात् जगत्में कार्यकारीको प्रभु कहते हैं॥१६॥

स्पष्टशब्दादियुक्तेषु भौतिकत्वमतिस्फुटम् ॥
अक्षादावपि तच्छास्त्रयुक्तिभ्यामवधार्यताम् ॥ १७ ॥

इस प्रकार जगत्की स्थितिको कहकर अब जगत् भी भौतिक है इस ज्ञानके उपायको कहते हैं–स्पष्ट जो शब्द स्पर्श आदि गुण उनसे युक्त घट आदिकोंमें भूतोंकी कार्यता प्रकट दीखती है, इंद्रिय आदिकोंमें भी भूतोंकी कार्यताका निश्चय आगम और अनुमानसे कहते हैं कि इंद्रिय आदिकोंमें भी शास्त्र और युक्तिसे भूतोंकी कार्यताका निश्चय भो शिष्य ! तुम करो क्योंकि यह वेदका वाक्य है कि हे सौम्य! मन अन्नमय,प्राण जलमय और वाक् तेजोमयी है और यह अनुमान भी है कि विवादके आश्रय जो श्रोत्र आदि हैं वे भूतोंका कार्य होनेयोग्य हैं क्योंकि भूतोंके अन्वयव्यतिरेकोंके अनुविधायी (अनुकूल) होनेसे क्योंकि जो जिसके अन्वयव्यतिरेकका अनुविधायी होता है वह उसका ही कार्य होता है जैसे मिट्टीके अन्वयव्यतिरेकका अनुविधायी घट मिट्टीका कार्य होता है, ये श्रोत्र आदि भी भूतोंके अन्वयव्यतिरेकके अनुविधायी हैं इससे भूतोंके कार्य हैं और इस छांदोग्य श्रुतिमें मनको भूतोंका अन्वयव्यतिरेकानुविधायी देखा है कि-हे सौम्य ! पुरुष षोडश कलावान् है इसी प्रकार अन्यत्र भी जानना.भावार्थ यह है कि प्रकट शब्द आदिसे युक्त घट आदिमें भौतिकता स्पष्ट है और इंद्रिय आदिकोंमें भी भो शिष्य! शास्त्र और युक्तिसे तुम भौतिकता निश्चय करो ॥ १७ ॥

एकादशेंद्रियैर्युक्त्या शास्त्रेणाप्यवगम्यते ॥
यावत्किंचिद्भवेदेतदिदंशब्दोदितं जगत् ॥ १८ ॥

इस प्रकार भूत और भूतोंके कार्योंका विवेक करके अद्वितीय ब्रह्मकी बोधक श्रुतिकी व्याख्या करता हुआ ग्रंथकार उस श्रुतिके इदं पदके अर्थको कहता है. अर्थात् हे सौम्य ! यह जगत् सृष्टिसे पहिले सत् रूप ही हुआ इस प्रकृतश्रुतिके यह

१ अन्नमयं हि सोम्य मन आपोमयः प्राणः तेजोमयी वाक् । २ षोडशकलः सोम्य पुरुषः ।

(इदं) पदका अर्थ वर्णन करते हैं कि एकादश इंद्रिय अर्थात् प्रत्यक्ष आदि प्रमाण और आप शब्दसे अर्थापत्ति आदि प्रमाण युक्ति, शास्त्र आदिसे जितना कुछ यह जगत् प्रतीत होता है वह सब (सदेव सोम्येदमग्र आसीत्) इस श्रुतिके इदं (यह) शब्दसे कहा जानना ॥ १८ ॥

इदं सर्वं पुरा सृष्टेरेकमेवाद्वितीयकम् ॥
सदेवासीन्नामरूपे नास्तामित्यारुणेर्वचः ॥ १९ ॥

अब इदं शब्दके अर्थको पढ़कर उसी श्रुतिके अर्थको पढ़ते हैं सृष्टिसे पूर्व यह संपूर्ण जगत् अद्वितीय (एक) सत् ब्रह्म रूप ही हुआ यह अरुणके पुत्र उद्दालक मुनिका वचन है ॥ १९ ॥

वृक्षस्य स्वगतो भेदः पत्रपुष्पफलादिभिः ॥
वृक्षांतरात्सजातीयो विजातीयः शिलादितः ॥ २० ॥

एक ही अद्वितीय ब्रह्म था इन तीन पदोंसे स्वगत आदि तीन भेदोंका निवारण करनेके लिये प्रथम जगत्में स्वगत आदि भेदोंको दिखाते हैं कि अपने पत्र पुष्प फल आदिसे जो वृक्षका भेद है वह स्वगत, और अन्य वृक्षसे जो भेद है वह सजातीय और शिला आदिसे जो वृक्षका भेद है वह विजातीय भेद होता है ॥२० ॥

तथा सद्वस्तुनो भेदत्रयं प्राप्तं निवार्यते ॥
ऐक्यावधारणद्वैतप्रतिषेधैस्त्रिभिः क्रमात् ॥ २१ ॥

इस प्रकार आत्मासे भिन्नमें तीनों भेदोंको दिखाकर सत् वस्तुमें भी प्राप्त हुए उन तीनों भेदोंका श्रुतिके तीन पदोंसे निवारण करते हैं कि वैसे ही सत् वस्तुमें भी आत्मासे भिन्नके समान पाये स्वगत आदि तीनों भेद, एक एव अद्वितीय (एक ही अद्वैत) रहा इन तीनों पदोंसे निवारण किये हैं ॥ २१ ॥

सतो नावयवाः शक्यास्तदंशस्यानिरूपणात् ॥
नामरूपे न तस्यांशौ तयोरद्याप्यनुद्भवात् ॥ २२ ॥

सत् वस्तुको अवयवरहित होनेसे स्वगत भेदकी शंका नहीं कर सकते इसका वर्णन करते हैं कि नाम और रूप भी उस सत् वस्तुके अंश(अवयव) नहीं हो सकते क्योंकि सृष्टिसे पूर्व सद्वस्तुमें नामरूपका अभाव था और अब भी प्रतीति मात्र होनेसे नामरूपका अभाव ही है ॥ २२ ॥

नामरूपोद्भवस्यैव सृष्टित्वात्सृष्टितः पुरा ॥
न तयोरुद्भवस्तस्मान्निरंशं सद्यथा वियत् ॥ २३ ॥

अब नामरूपके अभावका कारण कहते हैं कि नाम रूपके होनेको ही सृष्टि कहते हैं अतएव सृष्टिसे पहले नाम रूप नहीं हो सकते इससे यह सिद्ध हुआ कि आकाशके समान निरवय वही सत् ब्रह्म है. यहां यह अनुमान है कि सत् वस्तु स्वगतभेदशून्य है अवयवरहित होनेसे आकाशके समान ॥ २३ ॥

सदंतरं सजातीयं न वैलक्षण्यवर्जनात् ॥
नामरूपोपाधिभेदं विना नैव सतो भिदा ॥ २४ ॥

कदाचित् शंका करो कि स्वगतभेद मत हो सजातीय भेद क्यों नहीं होता इस शंकाके निवारणार्थ कहते हैं कि दूसरा सजातीय कोई सत् विलक्षणताके अभावसे नहीं है इससे सजातीय भेद नहीं हो सकता. कदाचित् कहो कि घटकी सत्ता पटकी सत्ता यहां सत्का भेद देखते हैं सो भी ठीक नहीं क्योंकि घटाकाश मठाकाशके समान नाम रूप उपाधिके भेद विना सत्का भेद नहीं हो सकता और यहां यह अनुमान है कि सत् वस्तु सजातीयभेदरहित होने योग्य है उपाधिके परामर्श विना भेदकी प्रतीति न होनेसे गगनके समान. भावार्थ यह ह कि विलक्षणताके अभावसे दूसरा सत् नहीं इससे सजातीय भेद भी सत्वस्तुमें नहीं हैं और नाम रूप उपाधिके भेद विना सत्का भेद कैसे हो सकता है ॥ २४ ॥

विजातीयमसत्तत्तु न खल्वस्तीति गम्यते ॥
नास्यातः प्रतियोगित्वं विजातीयाद्भिदा कुतः॥ २५ ॥

अब विजातीय भेदका निषेध कहते हैं कि सत्का विजातीय असत् है वह असत् नहीं है इस निश्चयसे जाना जाता है इससे वह असत् सत्से भिन्न है इस भेदका प्रतियोगी नहीं हो सकता इससे ब्रह्ममें विजातीयसे भेद किस प्रकार हो सकता है ॥ २५ ॥

एकमेवाद्वितीयं सत्सिद्धमत्र तु केचन ॥
विह्वला असदेवेदं पुरासीदित्यवर्णयन् ॥ २६ ॥

इससे एक अद्वितीय सद्वस्तु सिद्ध हुआ. अब यहां स्थूणाखननके न्यायसे अर्थात् थूनीको खोद खोद जैसे दृढ करते हैं इस प्रकार सत् अद्वैतको दृढ करनेके लिये किसी वादीके पूर्वपक्षको कहते हैं कि इस अद्वितीयकी सिद्धिसे विह्वल हुए कोई पूर्वाचार्य यह जगत् असत् रूप ही पहले हुआ यह वर्णन करते हुए ॥ २६ ॥

मग्नस्याब्धौ यथाऽक्षाणि विह्वलानि तथास्यधीः ॥
अखंडैकरसं श्रुत्वा निष्प्रचारा बिभेत्यतः ॥ २७ ॥

अब उनके विह्वल होनेमें दृष्टांत देते हैं–कि जैसे समुद्रमें डूबे हुए मनुष्यके नेत्र विह्वल होते हैं इसी प्रकार इस असद्वादीकी बुद्धि भी अखण्ड एकरस वस्तुको सुनकर प्रचाररहित (न पहुँचती) होकर इस वस्तुरूप ब्रह्मसे डरती है, क्योंकि उस बुद्धिका प्रचार साकार वस्तुओंमें ही रहा था ॥ २७ ॥

गौडाचार्या निर्विकल्पे समाधावन्ययोगिनाम् ॥
साकारब्रह्मनिष्ठानामत्यंतं भयमूचिरे ॥ २८ ॥

अब उक्त अर्थमें आचार्योंकी सम्मति कहते हैं कि गौडाचार्योंने भी निर्विकल्प समाधिके विषे उन अन्य योगियोंको अत्यन्त भय कहा है जिनकी आकार सहित ब्रह्मके विषे स्थिति है ॥ २८ ॥

अस्पर्शयोगो नामैष दुर्दर्शः सर्वयोगिभिः ॥
योगिनो बिभ्यति ह्यस्मादभये भयदर्शिनः ॥ २९ ॥

जिस वाक्यसे गौडाचार्योंने भय कहा उसी वाक्यको कहते हैं–कि यह अस्पर्शयोगरूप जो निर्विकल्प समाधि है वह साकार ब्रह्ममें निष्ठ (स्थित) संपूर्ण योगियोंको दुःखसे देखने योग्य है अर्थात् वे इस समाधिको नहीं लगा सकते, क्योंकि द्वैतके दर्शी और भयसे रहित समाधिमें भय देखनेवाले योगी जन निर्जन देशमें बालकके समान इस अस्पर्श समाधिसे डरते हैं. भावार्थ यह है कि सम्पूर्ण योगी इस अस्पर्श योगको नहीं प्राप्त हो सकते क्योंकि अभयमें भय देखनेवाले वे इस समाधिसे डरते हैं ॥ २९ ॥

भगवत्पूज्यपादाश्च शुष्कतर्कपटूनमून् ॥
आहुर्माध्यमिकान् भ्रांतानचिंत्येऽस्मिन्सदात्मनि॥३०॥

श्रीमान् शंकराचार्योंने भी यही कहा है–कि भगवत्पूज्यपादों (श्रीशंकराचार्यके चरणों) ने भी शुष्कतर्कमें चतुर इन माध्यमिकोंको अचिन्त्य इस सदात्मामें भ्रान्त कहा है ॥ ३० ॥

अनादृत्य श्रुतिं मौर्ख्यादिमे बौद्धास्तमस्विनः ॥
आपेदिरे निरात्मत्वमनुमानैकचक्षुषः ॥ ३१ ॥

ये तमोगुणी बौद्ध-एक अनुमानको ही मानकर और मूर्खतासे श्रुतिका अनादर करके निरात्मता (शून्य) का ही वर्णन करते हुए ॥ ३१ ॥

शून्यमासीदिति ब्रूषे सद्योगं वा सदात्मताम् ॥
शून्यस्य न तु तद्युक्तमुभयं व्याहतत्त्वतः॥ ३२ ॥

अब विकल्प करके असद्वादमें दूषण देते हैं कि शून्यहुआ इस वाक्यसे तू शून्यको सत्ताका योग कहता है वा सद्रूप कहता है ये दोनों व्याघात होनेसे शून्यमें युक्त नहीं हो सकते क्योंकि शून्यकी सत्ता कदाचित् नहीं हो सकती ॥ ३२ ॥

न युक्तस्तमसा सूर्यो नापि चासौ तमोमयः ॥
सच्छून्ययोर्विरोधित्वाच्छून्यमासीत्कथं वद ॥ ३३ ॥

अब दृष्टांतपूर्वक व्याघातको दिखाते हैं जैसे सूर्य अन्धकारसे युक्त नहीं और न अंधकाररूप है, इसी प्रकार सत् और शून्यके विरोधसे शून्य हुआ यह हे बौद्ध! तू कैसे कहता है ॥ ३३ ॥

वियदादेर्नामरूपे मायया सुविकल्पिते ॥
शून्यस्य नामरूपे च तथा चेज्जीव्यतां चिरम् ॥ ३४ ॥

आकाश आदिकी निर्विकल्प ब्रह्ममें सत्ता तुम्हारे मतमें भी तो व्याहत है इस शंकाकी निवृत्तिके लिये कहते हैं कि जैसे हमारे मतमें आकाश आदिके नाम रूप मायासे कल्पित हैं इसी प्रकारके शून्यके भी नाम रूप तेरे मतमें हों तो ऐसा शून्य चिरकाल तक जीवो अर्थात् कल्पितका मानना हमारा सिद्धांत है ॥ ३४ ॥

सतोऽपि नामरूपे द्वे कल्पिते चेत्तदा वद ॥
कुत्रेति निरधिष्ठानो न भ्रमः क्वचिदीक्ष्यते ॥ ३५ ॥

कदाचित् कोई शंका करे कि शून्यके समान सत् वस्तुके भी कल्पित नाम रूपका अंगीकार क्यों नहीं करते क्योंकि तेरे मतमें वास्तविक (सच्चा) नाम रूप कोई नहीं है सो ठीक नहीं क्योंकि यह पक्ष इस विकल्पसे नहीं हो सकता कि सत्के नामरूपकी कल्पना सत्में करते हो वा असत्में वा जगत्में—सत्में तो नहीं कह सकते क्योंकि रजत आदिके नामरूपकी कल्पना उससे अन्य शुक्ति आदिमें देखते हैं इससे सत्के नामरूपकी कल्पना सत्में नहीं हो सकती और असत्में भी असत्को सत्ताशून्य होनेसे भ्रमकी अधिष्ठानताका असंभव है इससे नामरूपकी कल्पनाका असंभव है और सत्से पैदा हुआ जगत् सत्के नामरूपका अधिष्ठान नहीं हो सकता इससे जगत्में भी सत्के नामरूपकी कल्पना नहीं कर सकते. कदाचित् कहो कि विना ही अधिष्ठान नामरूपकी कल्पना क्यों न हो सो ठीक नहीं क्योंकि कहीं भी विना अधिष्ठान भ्रम नहीं होता. भावार्थ यह है कि सत्के भी नाम रूप दोनों कल्पित हैं तो कहां कल्पित हैं यह कहो क्योंकि विना अधिष्ठान भ्रम कहीं नहीं देखा ॥ ३५ ॥

सदासीदितिशब्दार्थभेदे वैगुण्यमापतेत् ॥
अभेदे पुनरुक्तिः स्यान्मैवं लोके तथेक्षणात् ॥ ३६ ॥

अब यह जगत् सृष्टिसे पहले सत् हुआ यहां जैसे तुमने व्याघात दोष कहा वैसे ही हे सौम्य ! सृष्टिसे पहले सत् हुआ यहां भी दोष है कि सत् आसीत् (सत् हुआ) इन दोनों शब्दोंके अर्थका भेद है वा नहीं यदि भेद है तो तुम्हारा अद्वैत पक्ष सिद्ध न होगा और यदि अभेद है तो पुनरुक्ति दोष होगा—इससे सत् हुआ यह कहना नहीं बन सकता ऐसा मत कहो क्योंकि तुम्हारे विकल्पमें कहे दूसरे पक्षको हम मानते हैं कि दोनों पदोंके अर्थका भेद नहीं और लोकमें ऐसे ही देखनेसे पुनरुक्ति दोष नहीं है ॥ ३६ ॥

कर्तव्यं कुरुते वाक्यं ब्रूते धार्यस्य धारणम् ॥
इत्यादिवासनाविष्टं प्रत्यासीत्सदितीरणम् ॥ ३७

अब ऐसे प्रयोगोंमें पुनरुक्तिके दोषके अभावका स्थल दिखाते हैं—कर्तव्य को करता है—वाक्यको कहता है—धारण करने योग्यको धारता है—इत्यादि वासनाओंसे युक्त शिष्यके प्रति सत् आसीत् (सत् हुआ) इस वाक्यका कथन (उपदेश) है॥३७॥

कालाभावे पुरेत्युक्तिः कालवासनया युतम् ॥
शिष्यं प्रत्येव तेनात्र द्वितीयं नहि शंक्यते ॥ ३८ ॥

कदाचित् कहो कि अद्वितीय वस्तुमें भूतकालका अभाव है इससे पहले सत् हुआ यह कहना नहीं बन सकता सो ठीक नहीं क्योंकि ब्रह्ममें कालका अभाव होने पर भी पहले हुआ यह कहना कालकी वासनासे युक्त शिष्यके ही प्रति है. कदाचित् कोई कहे कि जगत्की उत्पत्तिके पहले जगत्के अभावसे ब्रह्म सद्वितीय है अर्थात् दूसरा ब्रह्म है सो ठीक नहीं क्योंकि द्वैतकी वासनासे युक्त श्रोताओंके ज्ञानार्थ श्रुतिकी प्रवृत्ति है इससे ब्रह्ममें द्वितीयकी शंका नहीं हो सकती ॥ ३८ ॥

चोद्यं वा परिहारो वा क्रियतां द्वैतभाषाया ॥
अद्वैतभाषया चोद्यं नास्ति नापि तदुत्तरम् ॥ ३९ ॥

अब सिद्धांतके तत्त्वको कहते हैं कि द्वैतभाषा (व्यवहारमें) से चोद्य (शंका) वा समाधान करो और अद्वैत भाषा (परमार्थ) से न शंका है और न उसका उत्तर है किंतु एक अद्वैतब्रह्मरूप तत्त्व ही है ॥ ३९ ॥

तदा स्तिमितगंभीरं न तेजो न तमस्ततम् ॥
अनाख्यमनभिव्यक्तं सत्किंचिदवशिष्यते ॥ ४० ॥

अब परमार्थसे द्वैतके अभावमें स्मृति प्रमाणको कहते हैं कि उस परमार्थ अवस्थामें स्तिमित (निश्चल) और गंभीर अर्थात् मनसे भी जाननेको अशक्य तेज नहीं है और न तेजका विरोधी तम (अंधकार) है इससे तमसे विलक्षण और जिसका आवरण (ढकना) स्वभाव नहीं ऐसा व्यापक कहनेके अयोग्य अप्रकट अर्थात् चक्षु आदिसे जाननेके अयोग्य सत् अर्थात् शून्यसे विलक्षण और इसीसे किंचित् रूप, जिसको यह है, ऐसे कह कर नहीं दिखा सकते ऐसा द्वैतके निषेधका अवधिरूप जो शेष रहता है वही ब्रह्म है. भावार्थ यह है कि उस समय निश्चल गंभीर न तेज है न तम है किन्तु कथनके अयोग्य अप्रकट सत् व्यापक जो कुछ शेष रहता है वही ब्रह्म है ॥ ४० ॥

ननु भूम्यादिकं मा भूत्परमाण्वंतनाशतः ॥
कथं ते वियतोऽसत्त्वं बुद्धिमारोहतीति चेत् ॥ ४१ ॥

परमाणु पर्यंतके नाश होनेसे अनित्य भूमि आदि मत हों परंतु नित्य आकाशकी असत्ता (अनित्यता) तेरी बुद्धिमें कैसे आरूढ होती है अर्थात् आकाश तो सत् है ऐसा कोई कहे तो ॥ ४१ ॥

अत्यंतं निर्जगद्व्योम यथा ते बुद्धिमाश्रितम् ॥
तथैव सन्निराकाशं कुतो नाश्रयते मतिम् ॥ ४२ ॥

दृष्टांतसे उक्त शंकाका परिहार करते हैं कि अत्यन्त जगत्से रहित आकाश जैसे तेरी बुद्धिमें स्थित हुआ है ऐसे ही आकाशसे रहित सत् (ब्रह्म) तेरी बुद्धिमें क्यों नहीं आता ॥ ४२ ॥

निर्जगद्व्योम दृष्टं चेत्प्रकाशतमसी विना ॥
क्व दृष्टं किं च ते पक्षे न प्रत्यक्षं वियत्खलु ॥ ४३ ॥

कदाचित् कहो कि जगत्से रहित आकाश देखा है सो ठीक नहीं क्योंकि प्रकाश और अन्धकारके विना कहां देखा है सो कहो और क्या तेरे पक्षमें निश्चयसे आकाश प्रत्यक्ष है अर्थात् आकाशका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता ॥ ४३ ॥

सद्वस्तु शुद्धं त्वस्माभिर्निश्चितैरनुभूयते ॥
तूष्णीं स्थितौ न शून्यत्वं शून्यबुद्धेश्च वर्जनात् ॥४४॥

कदाचित् कहो कि दर्शनका अभाव तो सत् वस्तुके विषे भी तुल्य है अर्थात् सत्का भी प्रत्यक्ष नहीं है सो ठीक नहीं क्योंकि सत् तो सबके अनुभवसे सिद्ध है कि सत् शुद्ध वस्तुका तो हम निश्चित होकर अनुभव करते हैं अर्थात् जानते हैं कदाचित् कहो कि तूष्णींभाव दशामें शून्यसे इतर किसीकी भी प्रतीति नहीं हो सकती इससे शून्यको ही क्यों नहीं मानते सो ठीक नहीं क्योंकि शून्यकी बुद्धिमें प्रतीतिके अभावसे तूष्णीं स्थितिमें शून्यको नहीं कह सकते. भावार्थ यह है कि निश्चय दशामें सत् शुद्ध वस्तुका तो हमें अनुभव होता है और शून्य बुद्धिके वर्जन (निषेध) से तूष्णीं स्थितिमें शून्यता नहीं हो सकती ॥ ४४ ॥

सद्बुद्धिरपि चेन्नास्ति मास्त्वस्य स्वप्रभत्वतः ॥
निर्मनस्कत्वसाक्षित्वात्सन्मात्रं सुगमं नृणाम् ॥ ४५ ॥

कदाचित् कहो कि परमार्थ दशामें सत्-बुद्धिका भी अभाव है इससे सत् भी न घट सकेगा सो ठीक नहीं है क्योंकि यदि सत्-बुद्धि भी नहीं है तो मत हो-इस सत्को स्वप्रकाश होनेसे सत्का ज्ञान हो जायगा. कदाचित् कहो कि स्व (सत्) विषयक बुद्धिके अभावमें कैसे सत् वस्तुका ज्ञान होगा सो ठीक नहीं क्योंकि मनसे रहित सबका साक्षीरूप सत् मनुष्योंको सुगम है अर्थात् सुगमतासे सत्का ज्ञान हो सकता है. भावार्थ यह है कि सत् बुद्धि भी नहीं है तो न हो इस सत को स्वप्रकाश-मनरहित-साक्षीरूप-होनेसे सत्का ज्ञान मनुष्योंको सुगम है॥ ४५ ॥

मनोजृंभणराहित्ये यथा साक्षी निराकुलः ॥
मायाजृंभणतः पूर्वं सत्तथैव निराकुलम् ॥ ४६ ॥

अब प्रपञ्चसे रहित साक्षीका तूष्णीं स्थितिमें भान दिखाकर इसी दृष्टांतके बलसे सृष्टिसे पूर्व भी सत् वस्तुके ज्ञानको कहते हैं कि जब मन जृंभा (जंभाई आलस्य) से रहित होता है उस समय जैसे साक्षी निराकुल (स्वस्थ) रहता है इसी प्रकार मायाके जृंभा (फैलाव) से पूर्व अर्थात् सृष्टिसे पहले सत् भी निराकुल (शुद्ध) होता है ॥ ४६ ॥

निस्तत्त्वा कार्यगम्याऽस्य शक्तिर्मायाग्निशक्तिवत् ॥
नहि शक्तिः क्वचित्कैश्चिद्बुध्यते कार्यतः पुरा ॥ ४७ ॥

अब मायाके लक्षणको कहते हैं कि निस्तत्त्व अर्थात् जगत्के कारण रूप सत् वस्तुसे पृथक्, तत्त्वसे रहित और कार्यके द्वारा जानने योग्य अर्थात् आकाश आदि कार्योंकी उत्पत्तिका जो सामर्थ्यरूप शक्ति, उसको माया कहते हैं. अब

वस्तुके स्वरूपसे भिन्न शक्तिके होनेमें दृष्टांत कहते हैं कि जैसे अग्निके स्वरूपसे भिन्न और स्फोट आदि कार्यसे जानने योग्य अग्निका सामर्थ्य होता है ऐसे ही वस्तुकी शक्ति माया है. अब शक्तिका कार्यसे ज्ञान, व्यतिरेक (निषेध) के द्वारा दिखाते हैं कि कार्यके पूर्व समयमें किसीने भी कहीं शक्तिको जाना है अर्थात् कार्यसे पहले कारणकी शक्तिका ज्ञान नहीं हुआ करता. भावार्थ यह है कि वस्तुके तत्त्वसे अभिन्न और कार्यसे अनुमित जो अग्निकी शक्तिके तुल्य,वस्तुकी शक्ति वह माया है क्योंकि कहीं भी कार्यसे पहले किसीने शक्तिको नहीं जाना ॥ ४७ ॥

न सद्वस्तु सतः शक्तिर्नहि वह्नेः स्वशक्तिता ॥
सद्विलक्षणतायां तु शक्तेः किं तत्त्वमुच्यताम् ॥ ४८ ॥

इस प्रकार शक्तिको कार्यमें गम्य कहकर निस्तत्त्वरूपताको सिद्ध करते हैं कि यहां यह भाव है कि सत्वस्तुकी शक्ति सत् है वा असत् है ? सत् तो नहीं कह सकते क्योंकि सत् रूप होनेसे सत्की शक्ति नहीं हो सकती जैसे अग्निकी शक्ति अग्निरूप नहीं होती. सत्से भिन्न कहोगे तो वह मनुष्यके शृंगकी तुल्य है वा सत्से विलक्षण है इस विकल्पके अभिप्रायसे पूछते हैं कि सत्से विलक्षण है तो उस शक्तिका क्या तत्त्व है उसको कहो. भावार्थ यह है कि अग्निकी शक्तिके समान सत्की शक्ति सत् वस्तु नहीं है सत्से विलक्षण मानोगे तो शक्तिका क्या तत्त्व है उसको कहो ॥४८ ॥

शून्यत्वमिति चेच्छून्यं मायाकार्यमितीरितम् ॥
न शून्यं नापि सद्यादृक्तादृक्तत्त्वमिहेष्यताम् ॥ ४९ ॥

उन दोनों पक्षोंमें प्रथम पक्षको कहकर दूषण देते हैं कि शून्य कहोगे तो शून्य तो मायाका कार्य है यह पहले ३४ के श्लोकमें कह आये अर्थात् शून्यके भी कल्पित नाम रूप माननेमें कुछ दोष नहीं है इससे सत्से विलक्षण है यह दूसरा पक्ष ही शेष रहा उसको ही कहते हैं कि जो न शून्य है न सत् है ऐसा जो हो वही अनिर्वचनीय मायाका रूप है अर्थात् न सत् कह सकते हैं न असत् कह सकते हैं. भावार्थ यह है कि शून्य मानोगे तो वह मायाका कार्य है यह कह आये इससे जो न शून्य हो न सत् हो ऐसा कहनेके अयोग्य मायाका रूप होता है ॥ ४९ ॥

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं किं त्वभूत्तमः ॥
सद्योगात्तमसः सत्त्वं न स्वतस्तन्निषेधनात् ॥ ५० ॥

उस सृष्टिके पूर्व समयमें न असत् था न सत् था किंतु पहले तमसे गूढ (छिपा) ब्रह्म था इस[1] श्रुतिके प्रमाणसे तम ही रहा इससे तुम सत् हुआ यह कैसे

---

१ तम आसीत्तमसा गूढमग्रे प्रकेतम्।

कहते हो इस शंकाके दूर करनेके लिये कहते हैं कि सत्के संबंधसे ही तमकी सिद्धि है स्वतः नहीं क्योंकि तमकी स्वतः (स्वयं) सिद्धिका निषेध है ॥ ५० ॥

अत एव द्वितीयत्वं शून्यवन्नहि गण्यते ॥
न लोके चैत्रतच्छक्त्योर्जीवितं लिख्यते पृथक् ॥ ५१ ॥

जिससे मायाकी स्वतः सत्ता नहीं है इससे शून्यके समान मायाको द्वितीय(दूसरी) नहीं मान सकते क्योंकि जगत्में चैत्र और उसकी शक्तिके पृथक् २ जीवनको कोई नहीं लिखता है अर्थात् मिथ्या वस्तुको दूसरी नहीं कह सकते ॥ ५१ ॥

शक्त्याधिक्ये जीवितं चेद्वर्धते तत्र वृद्धिकृत् ॥
न शक्तिः किंतु तत्कार्यं युद्धकृष्यादिकं तथा ॥ ५२ ॥

कदाचित् कहो कि शक्तिकी अधिकतासे जीवनकी अधिकताको देखते हैं इससे शक्तिका भी पृथक् जीवन है यह शंका ठीक नहीं क्योंकि उसमें वृद्धिके कर्ता शक्तिके कार्य और युद्ध कृषि आदि हैं शक्ति नहीं है ॥ ५२ ॥

सर्वथा शक्तिमात्रस्य न पृथग्गणना क्वचित् ॥
शक्तिकार्यं तु नैवास्ति द्वितीयं शंक्यते कथम् ॥ ५३ ॥

कदाचित् कहो कि शक्तिसे सत्को द्वितीययुक्तता (द्वैतता) मत हो शक्तिके कार्यसे तो होजायगी सो ठीक नहीं क्योंकि वह उस समय नहीं है इससे उससे भी द्वैत नहीं हो सकता क्योंकि केवल शक्तिकी तो कहीं भी पृथक् गिनती नहीं है और शक्तिका कार्य है ही नहीं इससे द्वितीयकी शंका कैसे करते हो ॥ ५३ ॥

न कृत्स्नब्रह्मवृत्तिः सा शक्तिः किंत्वेकदेशभाक् ॥
घटशक्तिर्यथा भूमौ स्निग्धमृद्येव वर्तते ॥ ५४ ॥

वह सत्की शक्ति संपूर्ण ब्रह्ममें है वा ब्रह्मके एकदेशमें ? सर्वत्र कहोगे तो मुक्तोंकी प्राप्तिके योग्य ब्रह्मका अभाव हो जायगा और एकदेशमें भी ब्रह्मको निरवयव होनेसे नहीं कह सकते यह आशंका करके प्रथम पक्षके अस्वीकार (न मानना) से दूसरे पक्षका समाधान कहेंगे इस अभिप्रायसे कहते हैं कि वह शक्ति संपूर्ण ब्रह्ममें नहीं रहती किंतु एकदेशमें इस प्रकार रहती है कि जैसे घटकी शक्ति स्निग्ध (चिकनी) मिट्टीमें ही देखते हैं ॥ ५४ ॥

पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्ति स्वयंप्रभः ॥
इत्येकदेशवृत्तित्वं मायाया वदति श्रुतिः ॥

अब शक्तिकी एक देशकी वृत्तितामें प्रमाण कहते हैं कि संपूर्ण भूत इस ब्रह्मका पाद हैं और वह स्वयंप्रभ त्रिपाद है इस प्रकार मायाकी एकदेशवृत्तिताको श्रुति कहती है ॥ ९५ ॥

विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥
इति कृष्णोऽर्जुनायाह जगतस्त्वेकदेशताम् ॥ ९६ ॥

केवल श्रुति ही प्रमाण नहीं किंतु स्मृति भी प्रमाण है कि इस संपूर्ण जगत्को एक अंश (भाग) से व्याप्त होकर मैं स्थित हूं इस वचनसे श्रीकृष्णचंद्रजीने अर्जुनके प्रति जगत्को एकदेशरूप कहा है ॥ ९६ ॥

स भूमिं विश्वतो वृत्वा ह्यत्यतिष्ठद्दशांगुलम् ॥
विकारावर्ति चात्रास्ति श्रुतिसूत्रकृतोर्वचः ॥ ९७ ॥

अब मायारहित स्वरूप होनेमें प्रमाणको कहते हैं कि वह ब्रह्म सर्वत्र भूमिमें और विकारमात्रमें व्यापक होकर दश अंगुल अतिक्रांत (अधिक) टिकता हुआ यह श्रुति और सूत्रकारका वचन है ॥ ९७ ॥

निरंशेऽप्यंशमारोप्य कृत्स्नेंऽशे वेति पृच्छतः ॥
तद्भाषयोत्तरं ब्रूते श्रुतिः श्रोतृहितैषिणी ॥ ९८ ॥

कदाचित् कहो कि ऐसा कहनेमें ब्रह्म निरवय है इसका विरोध होगा इस शंकाका परिहार वास्तविक निरवयव माननेसे कहते हैं कि अंशरहित ब्रह्ममें भी अंशका आरोप करके संपूर्ण अंशमें है वा एक अंशमें ऐसे पूछते शिष्यके प्रति उसकी ही भाषासे श्रोताकी हितकारिणी श्रुति उत्तर देती है वस्तुतः तो ब्रह्म निरवयव है ॥९८॥

सत्तत्त्वमाश्रिता शक्तिः कल्पयेत्सति विक्रियाः ॥
वर्णा भित्तिगता भित्तौ चित्रं नानाविधं तथा ९९ ॥

जिसके लिये मायाको सिद्ध किया उसको कहते हैं कि सत्तत्त्वमें रहती हुई शक्ति सत्वस्तुके विषे नानाप्रकारके विकारों (कार्य विशेष) की इस प्रकार

कल्पना करती है जैसे भित्ति(भीत)में रहते रक्त पीत आदि वर्ण भित्तिमें नाना प्रकारके चित्रोंको करते हैं.तात्पर्य यह है कि चित्रोंसे पृथक् भित्तिके समान सत् वस्तु भी कार्योंसे पृथक् है ॥ ५९ ॥

आद्यो विकार आकाशः सोऽवकाशस्वरूपवान् ॥
आकाशोऽस्तीति सत्तत्त्वमाकाशेऽप्यनुगच्छति ॥ ६० ॥

शक्तिका प्रथम विकार आकाश है वह आकाश अवकाश स्वरूप वाला है, आकाश है यह सत्वस्तुका तत्त्व आकाशमें भी अनुगत होता है अर्थात् है यह सत् वस्तु प्रतीत होती है ॥ ६० ॥

एकस्वभावं सत्त्वत्त्वमाकाशो द्विस्वभावकः ॥
नावकाशः सति व्योम्नि स चैषोऽपि द्वयं स्थितम् ॥६१ ॥

इससे सत्तत्त्वका एक सत्ता ही स्वभाव है और आकाशके अवकाश और सत्ता दो स्वभाव हैं क्योंकि सत् वस्तुमें अवकाश नहीं है केवल सत् स्वभाव ही है और आकाशमें तो सत् स्वभाव और यह अवकाश ये दोनों स्थित हैं ॥ ६१ ॥

यद्वा प्रतिध्वनिर्व्योम्नो गुणो नासौ सतीक्ष्यते ॥
व्योम्नि द्वौ सद्ध्वनी तेन सदेकं द्विगुणं वियत् ॥ ६२ ॥

अब सत् और आकाशके एक दो स्वभाव प्रकारान्तर (अन्य प्रकार) से कहते हैं कि आकाशमें प्रतिध्वनिरूप गुण जो कह आये हैं वह है और सत् वस्तुमें यह प्रतीत नहीं होता और आकाशमें सत् और ध्वनि दोनों प्रतीत होते हैं इससे सत्का एक गुण है और आकाशके दो गुण हैं ॥ ६२ ॥

या शक्तिः कल्पयेद्व्योम सा सद्व्योम्नोरभिन्नताम् ॥
आपाद्य धर्मधर्मित्वं व्यत्ययेनावकल्पयेत् ॥ ६३ ॥

कदाचित् कोई शंका करे कि यदि आकाश सत् ब्रह्मका कार्य है तो आकाशकी सत्ता यह सत् आकाशका धर्म कैसे प्रतीत होता है सो ठीक नहीं क्योंकि जिस मायारूप शक्तिने सत् वस्तुमें आकाशकी कल्पना की है वही शक्ति प्रथम सत् वस्तु और आकाशके अभेदकी कल्पना करती है फिर विपरीत (उलटा) रूपसे धर्म और धर्मी भावको कल्पना करती है अर्थात् आकाशको धर्मी और सत्को धर्म बना देती है इससे आकाशकी सत्ता ऐसा भान सिद्ध होता है. भावार्थ यह है कि जिस शक्तिने आकाशकी कल्पना की है वह सत् और आकाशके अभेदको कहकर विपरीत रूपसे धर्मधर्मिभावकी कल्पना करती है ॥ ६३ ॥

सतो व्योमत्वमापन्नं व्योम्नः सत्तां तु लौकिकाः ॥
तार्किकाश्चावगच्छन्ति मायाया उचितं हि तत् ॥ ६४ ॥

अब मायाकी विपरीत रीतिको दिखाते हैं कि वस्तुके तत्त्वका विचार करनेपर जैसे मिट्टी घट रूप है इसी प्रकार सत् वस्तु ही आकाशरूप हो जाती है इस प्रकार सत् वस्तुकी आकाशरूपताको लौकिक मनुष्य मानते हैं और शास्त्रोंके विषें नैयायिक भी उससे विपरीत रूपसे धर्मिरूप आकाशकी सत्ता (सत्‌रूप धर्म) को जानते हैं कि आकाशकी सत्ता है. कदाचित् कहो अन्यकी अन्यथा प्रतीति नहीं हो सकती अर्थात् धर्मी धर्मरूप नहीं होगा सो ठीक नहीं क्योंकि मायामें वह उचित है विपरीत दिखाना मायाके योग्य है. भावार्थ यह है कि पूर्वोक्त प्रकारसे सत् व्योमरूप हुआ और व्योमकी सत्ताको लौकिक और नैयायिक मानते हैं क्योंकि वह विपरीत ज्ञान मायाको उचित है ॥ ६४ ॥

यद्यथा वर्तते तस्य तथात्वं भाति मानतः ॥
अन्यथात्वं भ्रमेणेति न्यायोऽयं सार्वलौकिकः ॥ ६५ ॥

अब लौकिक न्यायको दिखाकर मायाको विपरीत प्रतीतिका कारण दिखाते हैं कि जो शुक्ति आदि वस्तु जिस शुक्ति आदि रूपसे वर्तती है उसका वह रूप प्रमाणसे प्रतीत होता है और जो उसीमें रजत आदि अन्यथा रूप प्रतीत होता है वह भ्रमसे होता है यह न्याय संपूर्ण लोकोंमें प्रसिद्ध है यही भ्रांतिका धर्म है ॥ ६५ ॥

एवं श्रुतिविचारात्प्राग्यथा यद्वस्तु भासते ॥
विचारेण विपर्येति ततस्तच्चिंत्यतां वियत् ॥ ६६ ॥

इस प्रकार भ्रांतिसे विपरीत भानको दिखाकर अब भ्रांतिकी निवृत्तिका उपाय कहते हैं कि इस पूर्वोक्त रीतिसे जो श्रुतिके अर्थका विचार उससे प्रथम जो सत्‌रूप वस्तु जिस आकाश आदि रूपसे भासती थी वही वस्तु श्रुतिके अर्थके पर्यालोचन (देखना वा विचार) से विपरीत हो जाती है अर्थात् आकाश आदि रूपको त्याग कर सत् ब्रह्मरूप हो जाती है इस श्रुतिके विचारसे वस्तुके यथार्थ (सच्चे) रूपका ज्ञान होनेसे हे वादी ! अब तू उस आकाशको विचारले कि क्या है. भावार्थ यह है कि इस प्रकार श्रुतिके विचारसे पहले जो वस्तु जैसी भासती थी वह विचारके अनन्तर विपरीत हो जाती है इससे तू आकाशको भी विचार ले कि सत्‌रूप है कि नहीं॥ ६६॥

भिन्ने वियत्सती शब्दभेदाद्बुद्धेश्च भेदतः ॥
वाय्वादिष्वनुवृत्तं सन्न तु व्योमेति भेदधीः ॥ ६७ ॥

अब विचारके स्वरूपको दिखाते हैं कि शब्द (वियत् सत्) के भेद और बुद्धिके भेदसे आकाश और सत् भिन्न २ हैं क्योंकि वायु आदि भूतोंमें वायु सत् है तेज सत् है इस प्रकार सत्‌की अनुवृत्ति है आकाशकी नहीं. ज्ञानकी भेदबुद्धि कहते हैं अर्थात् सत् सर्वत्र है आकाश आदि नहीं ॥ ६७ ॥

सद्वस्त्वधिकवृत्तित्वाद्धर्मि व्योम्नस्तु धर्मता ॥
धिया सतः पृथक्कारे ब्रूहि व्योम किमात्मकम् ॥ ६८ ॥

इस प्रकार सत् और आकाशके भेदको सिद्ध करके भ्रमसे जो यह प्रतीति होती है कि आकाशको सत्ता है विचारसे विपरीत उस धर्मधर्मिभावका व्यत्यय (उलट जाना दिखाते हैं कि रूप रस आदि अधिकमें अनुवृत्त द्रव्यके समान आकाश वायु आदिमें अनुवृत्त सत् धर्मी है और रस आदिसे भिन्न रूपके समान वायु आदिसे भिन्न आकाश धर्म है. कदाचित् कहो कि घटसे भिन्न भी रूप जैसे वास्तविक (यथार्थ) है वैसे ही सत्से भिन्न आकाश भी वास्तविक हो जायगा सो ठीक नहीं क्योंकि बुद्धिके द्वारा सत्‌के पृथक् करने पर हे वादी ! तू कह कि व्योम किंस्वरूप है ? भावार्थ यह है कि अनुवृत्त होनेसे सत् वस्तु धर्मी और व्योम. धर्म है और बुद्धिसे सत्‌के पृथक् करने पर कहो कि व्योम किंरूप है ॥ ६८ ॥

अवकाशात्मकं तच्चेदसत्तदिति चिंत्यताम् ॥
भिन्नं सतोऽसच्च नेति वक्षि चेद्व्याहतिस्तव ॥ ६९ ॥

आकाशके दुर्निरूप होनेमें शंका करते हैं कि वह आकाश अवकाशरूप है ऐसा कहोगे तो वह सत्से विलक्षण होनेसे असत् ही हो जायगा यह निश्चय करो. कदाचित् कहो सत्से विलक्षण असत् नहीं होता सो भी ठीक नहीं क्योंकि सत्से भिन्न है परंतु असत् नहीं है ऐसा तू कहेगा तो तेरे मतमें व्याघात दोष है क्योंकि सत्से भिन्न असत् ही होता है अन्य नहीं. भावार्थ यह है कि अवकाशरूप आकाशको कहोगे तो वह असत् (मिथ्या) है और सत्से भिन्न है यह असत् नहीं ऐसा कहते तेरे मतमें व्याघातदोष है ॥ ६९ ॥

भातीति चेद्भातु नाम भूषणं मायिकस्य तत् ॥
यदसद्भासमानं तन्मिथ्या स्वप्नगजादिवत् ॥ ७० ॥

कदाचित् कहो कि भान न होगा सो ठीक नहीं क्योंकि तुच्छसे विलक्षणके भानमें कोई विरोध नहीं है कि भासता है तो भासो क्योंकि भासना मायिक

पदार्थका भूषण होता है क्योंकि जो असत् होकर भासता है वह स्वप्नके गज (हाथी) आदिके तुल्य मिथ्या है अर्थात् स्वरूपसे अविद्यमान भी वस्तु भासा करती है ॥ ७० ॥

जातिव्यक्ती देहिदेहौ गुणद्रव्ये यथा पृथक् ॥
वियत्सतोस्तथैवास्तु पार्थक्यं कोऽत्र विस्मयः॥ ७१ ॥

कदाचित् कहो कि नियमसे जो संग देखे हैं उनका भेद नहीं देखा सोभी ठीक नहीं क्योंकि जाति व्यक्ति देह देही गुण द्रव्य ये जैसे भिन्न २ हैं उसी प्रकार आकाश और सत् भी भिन्न २ हैं इसमें कौन आश्चर्य है ॥ ७१ ॥

बुद्धोऽपि भेदो नो चित्ते निरूढिं याति चेत्तदा ॥
अनैकाग्र्यात्संशयाद्वा रूढ्यभावोऽस्य ते वद ॥ ७२ ॥

कदाचित् कहो कि जाने हुए भी भेदका निश्चय नहीं होता सो ठीक नहीं क्योंकि यदि ज्ञात भी भेद तेरी बुद्धिमें आरूढ नहीं होता तो उस भेदका आरूढ न होना चित्तकी एकाग्रताके अभावसे है वा संशयसे है यह तू कह अर्थात् इन दोनोंसे अन्य कोई कारण प्रतीत नहीं होता ॥ ७२ ॥

अप्रमत्तो भव ध्यानादाद्येऽन्यस्मिन्विवेचनम् ॥
कुरु प्रमाणयुक्तिभ्यां ततो रूढतमो भवेत् ॥ ७३ ॥

यदि चित्तकी एकाग्रताके अभावसे है तो ध्यानसे अर्थात् मनको लगाकर प्रमत्तताको छोड़ और यदि संशयसे भेदकी प्रतीति नहीं होती तो प्रमाण और युक्तियोंसे विवेक कर उससे तू भेदके ज्ञानमें भले प्रकार आरूढ हो जायगा ॥ ७३ ॥

ध्यानान्मानाद्युक्तितोऽपि रूढे भेदे वियत्सतोः ॥
न कदाचिद्वियत्सत्यं सद्वस्तु च्छिद्रवन्न च ॥ ७४ ॥

अब ध्यानके फलको कहते हैं कि शब्द और बुद्धिके भेदसे आकाश और सत् भिन्न २ हैं इस मानसे और पूर्वोक्त ध्यानसे अधिक और वृत्ति होनेसे सत् वस्तु धर्मी है इस पूर्वोक्त युक्तिसे जब आकाश और सत्का भेद चित्तमें आरूढ हो जायगा तो आकाश कदाचित् भी सत्य नहीं प्रतीत होगा किंतु मिथ्या ही प्रतीत होगा और सद्वस्तु भी छिद्रवाली प्रतीत न होगी. भावार्थ यह है कि ध्यान मान और युक्तिसे आकाश सत् का भेदज्ञान होनेपर आकाश सत्य,और सद्वस्तु अवकाशवाली प्रतीत नहीं होगी ॥ ७४ ॥

ज्ञस्य भाति सदा व्योम निस्तत्त्वोल्लेखपूर्वकम् ॥
सद्वस्त्वपि विभात्यस्य निश्छिद्रत्वपुरःसरम् ॥ ७५ ॥

अब आकाश और सत्के विवेकका फल कहते हैं कि भेदके ज्ञाताको आकाश सदैव निस्तत्त्व (मिथ्या) और नाम मात्र प्रतीत होता है और सद्वस्तु भी इसको छिद्र (अवकाश) से रहित प्रतीत होती है ॥ ७५ ॥

वासनायां प्रवृद्धायां वियत्सत्यत्ववादिनम् ॥
सन्मात्राबोधयुक्तं च दृष्ट्वा विस्मयते बुधः ॥ ७६ ॥

आकाशको मिथ्या और सत्को सत्य मानता हुआ जो बुध है वह वासनाके अत्यंत बढ़नेपर आकाशके सत्यत्ववादीको और सद्वस्तुके अज्ञानसे युक्तको देखकर आश्चर्यको प्राप्त होता है ॥ ७६ ॥

एवमाकाशमिथ्यात्वे सत्सत्यत्वे च वासिते ॥
न्यायेनानेन वाय्वादेः सद्वस्तु प्रविविच्यताम् ॥ ७७ ॥

इस प्रकार आकाशके मिथ्यात्व (झूठे) और सत्की सत्यतामें जब वासना बढ़ गयी अर्थात् दृढ निश्चय होगया, तब इसी न्यायसे वायु आदिकोंसे भी सद्वस्तुका भले प्रकार विवेक करना ॥ ७७ ॥

सद्वस्तुन्येकदेशस्था माया तत्रैकदेशगम् ॥
वियत्तत्राप्येकदेशगतो वायुः प्रकल्पितः ॥ ७८ ॥

कदाचित् शंका करो कि आकाशका कार्य जो वायु उसके अकारणरूप सद्वस्तुसे वायुकी एकताकी प्रतीति अयुक्त है इससे वायुसे सत्का विवेक करना निष्प्रयोजक है सो ठीक नहीं है क्योंकि साक्षात् सम्बंधका अभाव होनेपर भी परंपरा सम्बंध है कि सद्वस्तुके एक देशमें स्थित माया है और मायाके एक देशमें आकाश और उस आकाशके भी एक देशमें स्थित वायुकी कल्पना की है ॥ ७८ ॥

शोषस्पर्शौ गतिर्वेगो वायुधर्मा इमे मताः ॥
त्रयः स्वभावाः सन्मायाव्योम्नां ये ते ऽपि वायुगाः ॥ ७९ ॥

इस प्रकार सत् और वायुके परम्परा सम्बंधको दिखाकर उन दोनोंके धर्मसे भेदज्ञानके लिये वायुमें प्रतीत हुए धर्मोंको कहते हैं कि शोष (सुखाना) स्पर्श गति वेग ये वायुके धर्म माने हैं और सत् माया व्योम इनके जो तीन स्वभाव हैं वे भी वायुमें रहते हैं अर्थात् चार धर्म स्वाभाविक और तीन धर्म कारणोंके द्वारा वायुमें होते हैं ॥ ७९ ॥

वायुरस्तीति सद्भावः सतो वायौ पृथक्कृते ॥
निस्तत्त्वरूपता मायास्वभावो व्योमगो ध्वनिः ॥ ८० ॥

अब उन्हीं कारणोंके धर्मोंको कहते हैं कि वायु है यह सत्का रूप (धर्म) वायुमें है और सत्से वायुको पृथक् करनेपर निस्तत्त्व (मिथ्या) रूपता वायुमें मायाका स्वभाव है और शब्द जो वायुमें प्रतीत होता है वह आकाशका स्वभाव है अर्थात् आकाशके सम्बन्धसे प्रतीत होता है ॥ ८० ॥

सतोऽनुवृत्तिः सर्वत्र व्योम्नो नेति पुरेरितम् ॥
व्योमानुवृत्तिरधुना कथं न व्याहतं वचः ॥ ८१ ॥

कदाचित् कहो कि क्या व्योमके विवेक प्रकरणमें वायु आदिमें सत्की अनुवृत्ति है आकाशकी नहीं इस ६७ के श्लोकमें वायु आदिमें आकाशकी अनुवृत्तिका निषेध किया और अब आकाशकी अनुवृत्तिके कहनेमें पूर्वापरके विरोधकी शंका करते हैं कि सत्की अनुवृत्ति सर्वत्र होती है आकाशकी नहीं यह पहले कह आये और अब आकाशकी अनुवृत्तिको कहते हुए तेरे वचनमें व्याघात दोष क्यों नहीं होगा ॥ ८१ ॥

छिद्रानुवृत्तिर्नेतीति पूर्वोक्तिरधुना त्वियम् ॥
शब्दानुवृत्तिरेवोक्ता वचसो व्याहतिः कुतः ॥ ८२ ॥

प्रथम लक्षण स्वरूपकी अनुवृत्तिका निषेध किया अब धर्मकी अनुवृत्ति कहते हैं स्वरूपकी नहीं इस प्रकार व्याघात दोष नहीं कि छिद्रकी अनुवृत्ति नहीं यह पूर्व कहा और अब यह शब्दकी ही अनुवृत्ति कही इससे वचनमें व्याघात दोष कैसे हो सकता है ॥ ८२ ॥

ननु सद्वस्तुपार्थक्यादसत्त्वं चेत्तदा कथम् ॥
अव्यक्तमायावैषम्यादमायामयतापि नो ॥ ८३ ॥

कदाचित् कोई कहे कि सत्रूपसे ब्रह्म विलक्षण होनेसे वायुको असत् रूप अमायामय कहोगे तो अव्यक्तरूप मायासे विलक्षण होनेसे वायु अमायामय भी हो जायगा कि सद्वस्तुसे पृथक् होनेसे वायु असत् है तो अव्यक्त मायाकी विषमतासे अमायामय भी क्यों नहीं मानते ॥ ८३ ॥

निस्तत्त्वरूपतैवात्र मायात्वस्य प्रयोजिका ॥
सा शक्तिकार्ययोस्तुल्या व्यक्ताव्यक्तत्वभेदिनोः ॥ ८४ ॥

अब उक्त शंकाका समाधान करते हैं कि मायामयका हेतु अव्यक्त तत्त्व नहीं किंतु निस्तत्त्व है वह मायाके समान वायु आदिमें भी तुल्य है इससे मायामय माननेमें कुछ हानि नहीं. भावार्थ यह है कि मायात्वका प्रयोजक निस्तत्त्व (मिथ्यात्व) है और वह व्यक्त और अव्यक्तमात्र है भेद जिनका ऐसी माया और कार्य दोनोंमें तुल्य है ॥ ८४ ॥

सदसत्त्वविवेकस्य प्रस्तुतत्वात्स चिंत्यताम् ॥
असतोऽवांतरो भेद आस्तां तच्चिंतयात्र किम् ॥ ८५ ॥

कदाचित् कोई शंका करे कि जब शक्ति और कार्य निस्तत्त्व हैं तो एक व्यक्त और एक अव्यक्त यह भेद कहांसे हुआ इस शंकाका परिहार प्रकरणविरुद्ध होनेसे करते हैं कि प्रकरणका उपयोगी होनेसे सत् और असत्के विवेकका विचार करो और असत्के व्यक्त अव्यक्त रूप अवान्तर (मध्य) भेदको रहने दो, यहां उसके विचारका क्या फल है ॥ ८५ ॥

सद्वस्तु ब्रह्म शिष्टोंऽशो वायुर्मिथ्या यथा वियत् ॥
वासयित्वा चिरं वायोर्मिथ्यात्वं मरुतं त्यजेत् ॥ ८६ ॥

वायुमें जो सत्का अंश है वह ब्रह्मरूप है और शेष अंश वायु है वह आकाशके समान मिथ्या है इस प्रकार चिरकालतक वायुके मिथ्यात्वका निश्चय करके वायु सत्य है इस बुद्धिको त्याग दे ॥ ८६ ॥

चिंतयेद्वह्निमप्येवं मरुतो न्यूनवर्तिनम् ॥
ब्रह्मांडावरणेष्वेषा न्यूनाधिकविचारणा ॥ ८७ ॥

इसी प्रकार पवनकी अपेक्षा न्यून देशमें वर्तमान अग्निकी भी चिन्ता करे अर्थात् मिथ्या समझे. कदाचित् कहो कि सद्वस्तुके एकदेशमें माया है और मायाके एकदेशमें आकाश है इस प्रकार ७८के श्लोकमें आकाश आदिका जो न्यूनाधिक भाव कहा है वह जगतमें कहीं नहीं देखा सो ठीक नहीं, क्योंकि ब्रह्माण्डके आवरणोंमें भी यही न्यून अधिकका विचार है ॥ ८७ ॥

वायोर्दशांशतो न्यूनो वह्निर्वायौ प्रकल्पितः ॥
पुराणोक्तं तारतम्यं दशांशैर्भूतपंचके ॥ ८८ ॥

वायुसे दशांश न्यून अग्नि वायुके विषय कल्पित है अर्थात् मिथ्या है, कदाचित् कहो कि यह न्यूनाधिक भाव कपोलकल्पित है सो ठीक नहीं कि पांच भूतोंमें जो दशांशसे न्यूनाधिक भाव है वह पुराणोंमें कहा है ॥ ८८ ॥

वह्निरुष्णः प्रकाशात्मा पूर्वानुगतिरत्र च ॥
अस्ति वह्निः स निस्तत्त्वः शब्दवान् स्पर्शवानपि ॥८९॥

अब अग्निके स्वरूपको कहते हैं कि अग्नि उष्ण और प्रकाशरूप है और इस अग्निमें भी ये कारणके धर्म वायुके समान माने जाते हैं कि वह्नि निस्तत्त्व शब्द और स्पर्शवाली है ॥ ८९ ॥

सन्मायाव्योमवाय्वंशैर्युक्तस्याग्नेर्निजो गुणः ॥
रूपं तत्र सतः सर्वमन्यद्बुद्ध्या विविच्यताम् ॥ ९० ॥

इसी प्रकार कारणके धर्मोंसे युक्त अग्निके स्वाभाविक धर्मको कहते हैं कि सत् माया, व्योम, वायु,इनके अंशोंसे युक्त अग्निका निजगुण रूप है, उनमें सत्से भिन्न जो धर्म हैं उनको बुद्धिसे पृथक् करे अर्थात् मिथ्या समझे ॥ ९० ॥

सतो विवेचिते वह्नौ मिथ्यात्वे सति वासिते ॥
आपो दशांशतो न्यूनाः कल्पिता इति चिंतयेत् ॥ ९१ ॥

इस प्रकार जब वह्निका सत्से विवेक करनेपर मिथ्यात्वका निश्चय हो गया तो अग्निसे दशांश न्यून जल अग्निके विषय कल्पित है यह चिन्ता करे अर्थात् जलोंको भी मिथ्या समझे ॥ ९१ ॥

सत्यापोऽमूः शून्यतत्त्वाः सशब्दस्पर्शसंयुताः ॥
रूपवत्योऽन्यधर्मानुवृत्त्या स्वीयो रसो गुणः ॥ ९२ ॥

अब जलोंमें भी कारणके और अपने गुणोंको कहते हैं कि ये जल तत्त्वसे शून्य (मिथ्या) शब्द स्पर्श रूपवाले अन्यके धर्मोंकी अनुवृत्ति (आने) से हैं और इनमें अपना गुण रस है ॥ ९२ ॥

सतो विवेचितास्वप्सु तन्मिथ्यात्वे च वासिते ॥
भूमिर्दशांशतो न्यूना कल्पिताप्स्विति चिंतयेत् ॥ ९३ ॥

अब विवेक और ध्यानसे जलोंके मिथ्यात्वका निश्चय होनेपर भूमिके मिथ्यात्वकी चिंताको कहते हैं कि सद्वस्तुसे जलका विवेक और मिथ्यात्वका निश्चय होनेपर उन जलोंमें दशांश न्यून और कल्पित, भूमिकी चिंता करे अर्थात् मिथ्या समझे ॥ ९३ ॥

अस्ति भूस्तत्त्वशून्यास्यां शब्दस्पर्शौ सरूपकौ ॥
रसश्च परतो गंधो नैजः सत्ता विविच्यताम् ॥ ९४ ॥

अब भूमिमें मिथ्यात्व निश्चयके लिये भूमिके धर्मोंका विभाग करते है कि भूमि तत्त्वसे शून्य है और इस भूमिमें शब्द स्पर्श रूप रस ये चार गुण अन्य भूतोंके हैं और अपना गुण एक गन्ध है इन सबसे सत्ताका विवेक करो अर्थात् इन सबको मिथ्या समझो ॥ ९४ ॥

पृथक्कृतायां सत्तायां भूमिर्मिथ्याऽवशिष्यते ॥
भूमेर्दशांशतो न्यूनं ब्रह्मांडं भूमिमध्यगम् ॥ ९५ ॥

सोई कहते हैं कि जब सत्ता पृथक् कर ली तो भूमि मिथ्या ही शेष रह गयी. अब ब्रह्माण्ड आदि भौतिक पदार्थोंसे सद्वस्तुके विवेकार्थ उनकी स्थितिका प्रकार दिखाते हैं कि भूमिसे दशांश न्यून ब्रह्माण्ड है ॥ ९५ ॥

ब्रह्मांडमध्ये तिष्ठंति भुवनानि चतुर्दश ॥
भुवनेषु वसंत्येषु प्राणिदेहा यथायथम् ॥ ९६ ॥

ब्रह्माण्डके मध्यमें चौदह भुवन टिक रहे हैं और इन भुवनोंमें अपने २ कर्मोंके अनुसार प्राणियोंके देह बसते हैं ॥ ९६ ॥

ब्रह्मांडलोकदेहेषु सद्वस्तुनि पृथक्कृते ॥
असंतोऽडादयो भांतु तद्भानेऽपीह का क्षतिः ॥ ९७ ॥

ब्रह्माण्ड और लोकके देहोंमेंसे जब सद्वस्तुको पृथक् कर लिया तो मिथ्यारूप ब्रह्माण्ड आदि भासें तो भासो उनके भान होनेमें हमारी कोई हानि नहीं है॥९७॥

भूतभौतिकमायानामसत्त्वेऽत्यंतवासिते ॥
सद्वस्त्वद्वैतमित्येषा धीर्विपर्येति न क्वचित् ॥ ९८ ॥

भूत भौतिक (कार्य) माया इनका मिथ्यात्व जब विवेक और ध्यान भले प्रकार निश्चित हो गया तो सद्वस्तु अद्वैतरूप है यह बुद्धि कदाचित् भी विपरीत भावको प्राप्त नहीं होती अर्थात् सदैव बनी रहती है ॥ ९८ ॥

सदद्वैतात्पृथग्भूत द्वैते भूम्यादिरूपिणि ॥
तत्तदर्थक्रिया लोके यथा दृष्टा तथैव सा ॥ ९९ ॥

कदाचित् कोई शंका करे कि जब भूमि आदि मिथ्या है तो विद्वान्के व्यवहारका लोप हो जायगा सो ठीक नहीं है कि जब भूमि आदि स्वरूप द्वैतका सत अद्वैतसे पृथक् भाव हो गया तो भी उस २ अर्थका कार्य जैसा जगत्में देखा है वैसा ही विद्वान्को भी प्रतीत होगा क्योंकि ज्ञानीको मिथ्यात्वका निश्चय होनेसे कुछ भूमि आदिके स्वरूपका नाश नहीं हो जाता इससे व्यवहारका लोप भी नहीं होता है॥९९॥

सांख्यकाणादबौद्धाद्यैर्जगद्भेदो यथा यथा ॥
उत्प्रेक्ष्यतेऽनेकयुक्त्या भवत्येष तथा तथा ॥ १०० ॥

कदाचित कोई शंका करे कि यदि सद्रूपतत्त्व अद्वैतरूप है तो सांख्य आदिके कहे भेदका खंडन क्यों नहीं करते सो ठीक नहीं कि सांख्य, काणाद, बौद्ध, आदि जैसे २ जगत्के भेदको अनेक युक्तियोंसे वर्णन करते हैं वह भेद वैसे २ ही रहो क्योंकि हम भी व्यावहारिक भेदको मानते हैं इससे उसके खण्डन करनेमें यत्न नहीं करते ॥ १०० ॥

अवज्ञातं सदद्वैतं निःशंकैरन्यवादिभिः ॥
एवं का क्षतिरस्माकं तद्वैतमवजानताम् ॥ १०१ ॥

कदाचित् शंका करो कि प्रमाणोंसे सिद्ध सत्त्वके भेदकी अवज्ञा (तिरस्कार) नहीं हो सकती सो ठीक नहीं कि जैसे अन्य सांख्यवादियोंने निःशंक होकर श्रुति आदिसे सिद्ध सत् अद्वैतकी अवज्ञा की है ऐसे ही श्रुति युक्ति अनुभव इनके बलसे उनके द्वैतका तिरस्कार करनेमें हमारी क्या हानि है ॥ १०१ ॥

द्वैतावज्ञा सुस्थिता चेदद्वैते धीः स्थिरा भवेत् ॥
स्थैर्ये तस्याः पुमानेष जीवन्मुक्त इतीर्यते ॥ १०२ ॥

अब द्वैतकी अवज्ञाका फल जो जीवन्मुक्ति उसका वर्णन करते हैं कि यदि द्वैतकी अवज्ञा भले प्रकार अंतःकरणमें स्थित हो जायगी तो अद्वैतमें बुद्धि स्थिर हो जायगी और उसके स्थिर होनेपर यह पुरुष जीवन्मुक्त कहाता है ॥ १०२ ॥

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ॥
स्थित्वाऽस्यामंतकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥ १०३ ॥

केवल जीवन्मुक्ति ही फल नहीं किंतु श्रीकृष्णचंद्रजीकी कही यह विदेह-मुक्ति भी इसका फल है कि हे अर्जुन ! यह ब्रह्ममें स्थिति है इसको प्राप्त होकर मोहको प्राप्त नहीं होता और अंतसमयमें भी इसमें टिक कर ब्रह्म ' निर्वाण ' पदको प्राप्त होता है ॥ १०३ ॥

सदद्वैतेऽनृतद्वैते यदन्योन्यैक्यवीक्षणम् ॥
तस्यांतकालस्तद्भेदबुद्धिरेव न चेतरः ॥ १०४ ॥

यहां अंतकाल शब्दसे देहका पात नहीं लेना किंतु सत अद्वैत और मिथ्या द्वैत इनकी जो परस्पर अध्यासरूप एकता देखनी उसका अंतकाल इन दोनोंकी भेद-बुद्धि ही है अर्थात् अध्यासका त्याग है अन्य नहीं अर्थात् दोनोंके भिन्न २ समझ-नको ही अंतकाल कहते हैं देहमरणको नहीं ॥ १०४ ॥

यद्वांतकालः प्राणस्य वियोगोऽस्तु प्रसिद्धितः ॥
तस्मिन् कालेऽपि न भ्रांतिर्गतायाः पुनरागमः ॥ १०५ ॥

अब जगत्में प्रसिद्ध अंतकालके लेनेमें दोषके अभावको कहते हैं कि अथवा जगत्की प्रसिद्धिसे प्राणोंका वियोग भी अंतकाल रहो उस कालमें भी गयी हुई भ्रान्तिका फिर आगमन नहीं होता ॥ १०५ ॥

नीरोग उपविष्टो वा रुग्णो वा विलुठन् भुवि ॥
मूर्च्छितो वा त्यजत्वेष प्राणान् भ्रांतिन सर्वथा ॥ १०६ ॥

रोगरहित हो वा उपविष्ट (बैठा) हो, रोगी हो वा भूमिपर लोटता हो वा मूर्च्छाको प्राप्त हो ऐसा होकर भी यह पुरुष प्राणोंको त्यागे तो भी यह भ्रांति नहीं रहती अर्थात् मरणसमयमें सर्वथा भ्रमकी निवृत्ति हो जाती है ॥ १०६ ॥

दिने दिने स्वप्नसुप्त्योरधीते विस्मृतेऽप्ययम् ॥
परेद्युर्नानधीतः स्यात्तद्वद्विद्या न नश्यति ॥ १०७ ॥

कदाचित् कहो कि प्राणवियोगके समय मूर्च्छा आदिसे ज्ञानका नाश होनेपर भ्रांति हो जायगी सो ठीक नहीं क्योंकि जैसे प्रतिदिन स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओंमें पठित वेदका विस्मरण होनेपर भी पर (अगले) दिनमें वह वेद अनधीत (अपठित) नहीं होता अर्थात् उसकी स्मृति बनी रहती है वैसे ही मरणकालमें भी तत्त्वका अनुसंधान न होनेपर भी विद्या (ज्ञान) का नाश नहीं होता ॥ १०७ ॥

प्रमाणोत्पादिता विद्या प्रमाणं प्रबलं विना ॥
न नश्यति न वेदांतात्प्रबलं मानमीक्ष्यते ॥ १०८ ॥

प्रमाणोंसे उत्पन्न हुई विद्या, प्रबल प्रमाणके विना नष्ट नहीं होती और वेदांतके विना अन्य कोई दूसरा प्रबल प्रमाण भी नहीं दीखता ॥ १०८ ॥

तस्माद्वेदांतसंसिद्धं सदद्वैतं न बाध्यते ॥
अंतकलेऽप्यतो भूतविवेकान्निर्वृतिः स्थिता ॥ १०९ ॥

इससे वेदांतरूप प्रमाणसे सिद्ध सत् अद्वैतको कोई नहीं बाध सकता इससे अंतकालमें भी पांच भूतोंके विवेकसे निर्वृति (ज्ञान) स्थित रहता है ॥ १०९ ॥

इति श्रीपं० मिहिरचंद्रकृत–भाषोद्धृतिसहित–श्रीविद्यारण्यमुनिविरचित-
पंचदश्यां महाभूतविवेकः समाप्तः ॥ २ ॥

इति महाभूतविवेकप्रकरणम् ॥

अथ पंचकोशविवेकप्रकरणम् ३.



गुहाहितं ब्रह्म यत्तत् पंचकोशविवेकतः ॥
बोद्धुं शक्यं ततः कोशपंचकं प्रविविच्यते ॥ १ ॥

अब तैत्तिरीय उपनिषद्के तात्पर्यका व्याख्यान रूप जो पंचकोशविवेक प्रकरण उसका आरंभ करते हुए और उसमें श्रोताओंकी प्रवृत्तिके लिये प्रयोजन अभिधेयोंको सूचित करते हुए ग्रंथकार मुखसे कहनेयोग्य ग्रंथकी प्रतिज्ञा करते हैं कि 'जो परमें आकाशरूप गुहामें छिपे ब्रह्मको जानता है' इस श्रुतिमें कहा जो गुहाहित ब्रह्म है वह गुहा शब्दके अर्थ जो पंच (अन्नमय आदि) कोश उनके विवेकसे जाननेको शक्य है. इससे पंचकोशोंके प्रत्यगात्मासे विवेकको कहते हैं ॥ १ ॥

देहादभ्यंतरः प्राणः प्राणादभ्यंतरं मनः ॥
ततः कर्ता ततो भोक्ता गुहा सेयं परंपरा ॥ २ ॥

अब उस गुहाके अर्थको कहते हैं जिसमें स्थित ब्रह्म पंचकोशोंके विवेकसे जाना जाता है कि अन्नमयरूप देहसे आंतर (भीतर) प्राण और प्राणमयसे आंतर मन और मनोमयसे आंतर कर्ता (विज्ञानमय) और विज्ञानमयसे आंतर भोक्ता (आनंदमय) कोश है सो यह जो अन्नमयकोशसे आनंदमयपर्यंत कोशोंकी परंपरा है यही गुहा है अर्थात् यह गुहा अपनी २ एकताके द्वारा ब्रह्मको छिपा लेती है ॥ २ ॥

पितृभुक्तान्नजाद्वीर्याज्जातोऽन्नेनैव वर्धते ॥
देहः सोऽन्नमयो नात्मा प्राक् चोर्ध्वं तदभावतः ॥ ३ ॥

अब अन्नमयका रूप और उसको आत्मासे भिन्न दिखाते हैं कि पिता और माताके भक्षण किये अन्नसे पैदा हुए वीर्यसे उत्पन्न हुआ देह अन्नसे ही बढ़ता है अर्थात् दूध आदि अन्नसे पुष्ट होता है. वह देह अन्नमय (अन्नका विकार) है, आत्मा नहीं है क्योंकि जन्मसे पूर्व और मरणके अनन्तर उस देहका अभाव है. यहां यह अनुमान है कि देह आत्मा नहीं, कार्य होनेसे घटके समान. भावार्थ यह है कि पिता माताके भक्षित अन्नसे उत्पन्न वीर्यसे पैदा हुआ देह अन्नसे बढता है इनसे अन्नमय है आत्मरूप नहीं, क्योंकि जन्मसे पूर्व और मरणके पीछे देहका अभाव है ॥ ३ ॥

---

१ यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् ।

पूर्वजन्मन्यसन्नेतज्जन्म संपादयेत्कथम् ॥
भाविजन्मन्यसन्कर्म न भुंजीतेह संचितम् ॥ ४ ॥

कदाचित् कोई शंका करे कि देहमे कार्यत्वरूप हेतुको तो मानेंगे और आत्मासे भिन्नरूप साध्यको न मानेंगे क्योंकि इसके विपक्ष (न मानना) में कोई बाधक नहीं इस शंकामें अकृतकी प्राप्ति और कृतके नाशरूप बाधकको कहते हैं कि इस देहरूप आत्माको पूर्वजन्ममें न होनेसे और इस जन्मके हेतु अदृष्टके असंभवमें भी इस जन्मको. स्वीकार करोगे तो अकृतका अभ्यागम (प्राप्ति) होगी और वैसे ही भावी (होनेवाला) जन्ममें भी यह देहरूप आत्मा न रहेगा तो इस देहके द्वारा किये हुए पुण्यपापोंके फलका कोई भोक्ता ही न होगा इससे भोगके विना ही किये हुए कर्मोंका क्षयरूप कृतप्रणाश हो जायगा इससे कृतनाश अकृतका अभ्यागम रूप होनेसे आत्माको कार्य न मानना चाहिये, भावार्थ यह है कि पूर्वजन्ममें असत् देह इस जन्मको कैसे पैदा करेगा और भावी (भविष्य) जन्ममें असत् देह इस देहमें संचित कर्मोंको कैसे भोगेगा ॥ ४ ॥

पूर्णो देहे बलं यच्छन्नक्षाणां यः प्रवर्तकः ॥
वायुः प्राणमयो नासावात्मा चैतन्यवर्जनात् ॥ ५ ॥

अब अन्नमय कोशका आत्मासे भेद दिखाकर प्राणमय कोशके स्वरूप और आत्मासे भेदको दिखाते हैं कि जो वायु देहमें पादसे मस्तक पर्यंत व्यापक और व्यानरूपसे बलका दाता और चक्षु आदि इंद्रियोंका उस २ विषयमें प्रेरक है वह प्राणमयकोशरूप वायु चैतन्यसे रहित होनेसे आत्मा नहीं हो सकता.यहां यह अनुमान भी है कि विवादका आश्रय प्राण आत्मा नहीं है जड होनेसे घटके समान. भावार्थ यह है कि देहमें पूर्ण बलका दाता इंद्रियोंका प्रेरक प्राणमयकोशरूप वायु चैतन्यके नहीं होनेसे आत्मा नहीं है ॥ ५ ॥

अहंतां ममतां देहे गेहादौ च करोति यः ॥
कामाद्यवस्थया भ्रांतो नासावात्मा मनोमयः ॥ ६ ॥

अब मनोमय कोशके रूप और आत्माके भेदको कहते हैं कि देहमें अहंता (देह मैं हूं) बुद्धिको और घर आदिकोंमें ममता (मेरे हैं) बुद्धिको जो करे वह मनोमयकोशरूप मन आत्मा नहीं है क्योंकि वह मन काम क्रोध आदि वृत्तियोंसे अस्थिर स्वभाव है अर्थात् सदा एक रस नहीं रहता.यहां यह अनुमान है कि

मनोमयकोश आत्मा नहीं विकारी होनेसे देहके समान. भावार्थ यह है कि देहमें अहंकार और घर आदिमें ममताको जो करे वह मनोमय काम आदि अवस्थासे भ्रांत है इससे आत्मा नहीं है ॥ ६ ॥

लीना सुप्तौ वपुर्बोधे व्याप्नुयादानखाग्रगा ॥
चिच्छायोपेतधीर्नात्मा विज्ञानमयशब्दभाक् ॥ ७ ॥

अब कर्ता रूप विज्ञानमयके रूप और आत्मासे भेदको दिखाते हैं कि जो चैतन्यकी छायासे युक्त अर्थात् चिदाभाससहित बुद्धि है वह शयनके समयमें लीन (छिपी) हुई भी जाग्रत् अवस्थामें नखोंके अग्रभाग पर्यंत संपूर्ण शरीरमें व्याप्त हो जाती है, वह विज्ञानमय कोशरूप बुद्धि आत्मा नहीं हो सकती क्योंकि वह लय अवस्थावाली है. यहां भी यह अनुमान है कि बुद्धि आत्मा नहीं है लीन होनेसे घटके समान. भावार्थ यह है कि सोनेके समय लीन और जाग्रत्में नखाग्र पर्यंत व्यापक जो चिदाभाससे युक्त बुद्धि विज्ञानमयकोश रूप वह भी विलय होनेसे आत्मा नहीं है ॥ ७ ॥

कर्तृत्वकरणत्वाभ्यां विक्रियेतांतरिंद्रियम् ॥
विज्ञानमनसी अंतर्बहिश्चैते परस्परम् ॥ ८ ॥

कदाचित् कोई कहे कि मन बुद्धि ये दोनो अंतःकरण रूप हैं इससे मनोमय विज्ञानमय दो कोशोंकी कल्पना नहीं हो सकती इस शंकाकी निवृत्तिके लिये कर्तृत्व करणत्व रूपसे उनके भेदको कहते हैं कि एक भी अंतर् इंद्रिय (अंतःकरण) कर्तारूप और करणरूपसे विकारको प्राप्त होती है और ये दोनों कर्ता और करण विज्ञान और मन कहे जाते हैं और ये दोनों परस्पर अंतः (भीतर) बहिः (बाहिर) रूपसे व्रतते हैं अर्थात् विज्ञानमय अंतःऔर मनोमय बाहिः होता है इससे दो कोश हो सकते हैं. भावार्थ यह है कि कर्ता करणरूपसे अंतःकरणके जो दो विकार उनको विज्ञान और मन कहते हैं और ये दोनों अंतः बाहिः रूपसे परस्पर भिन्न हैं ॥ ८ ॥

काचिदंतर्मुखा वृत्तिरानंदप्रतिबिंबभाक् ॥
पुण्यभोगे भोगशांतौ निद्रारूपेण लीयते ॥ ९ ॥

अब भोक्ता शब्दके अर्थ आनंदमय कोशका स्वरूप और आत्मासे भेदको कहते हैं कि पुण्यकर्मके फल भोगकालमें कोई बुद्धिकी वृत्ति अंतर्मुख हुई आत्माके स्वरूप आनंदके प्रतिबिंबको भजती है अर्थात् उस वृत्तिमें आनंदका

प्रतिबिंब पडता है और वही वृत्ति पुण्यकर्म फल भोगकी शांतिके समयमें निद्रारूपसे लीन हो जाती है. उस वृत्तिको आनंदमय कोश कहते हैं. भावार्थ यह है कि पुण्य भोगके कालमें किसी अंतर्मुखी बुद्धिकी वृत्तिमें जो आनंदका प्रतिबिंब पडता है और उक्त भोगकी शांतिके समय वह वृत्ति निद्रारूपसे लीन हो जाती है उसको आनंदमय कोश कहते हैं ॥ ९ ॥

कादाचित्कत्वतोऽनात्मा स्यादानंदमयोऽप्ययम् ॥
बिंबभूतो य आनंद आत्माऽसौ सर्वदा स्थितेः ॥ १० ॥

अब आनंदमय कोशको आत्मासे भिन्न कहते हैं कि यह आनंदमय भी मेघ आदिके समान कदाचित् ही होनेसे आत्मा नहीं है, कदाचित् शंका करो कि विद्यमान आनन्दमय आदि सबको आत्मा न मानोगे तो जगत्में कोई आत्मा ही न रहेगा सो ठीक नहीं क्योंकि बुद्धि आदिमें स्थित जो प्रतिबिम्ब प्रिय आदि शब्दोंका अर्थ आनन्दमय उसका जो बिम्ब (कारण) रूप आनन्द वही आत्मा है क्योंकि वह सर्वदा स्थित (नित्य) है. यहां यह अनुमान है कि विवादका आश्रय आनंद आत्मा होने योग्य है नित्य होनेसे. जो आत्मा नहीं वह नित्य भी नहीं जैसे देह आदि । इस अनुमानमें आकाश आदि उत्पत्तिमान् होनेसे अनित्य हैं इससे हेतुमें व्यभिचार दोष नहीं. भावार्थ यह है कि कदाचित् होनेसे यह आनन्दमय भी आत्मा नहीं किंतु इसका बिम्ब जो आनन्द वही नित्य होनेसे आत्मा है ॥ १० ॥

ननु देहमुपक्रम्य निद्रानंदांतवस्तुषु ॥
मा भूदात्मत्वमन्यस्तु न कश्चिदनुभूयते ॥ ११ ॥

यहां वादी शंका करता है कि देहसे लेकर आनन्दमय निद्रामय पर्यंत कोशोंको पूर्वोक्त कारणोंसे आत्मत्व नहीं घटता है तो मत घटो परंतु इनसे अन्य भी कोई आत्मा प्रतीत नहीं होता अर्थात् इनसे अन्य कोई पदार्थ नहीं है ॥ ११ ॥

बाढं निद्रादयः सर्वेऽनुभूयंते न चेतरः ॥
तथाप्येतेऽनुभूयंते येन तं को निवारयेत् ॥ १२ ॥

अब उक्त शंकाका परिहार करते हैं कि निद्रा आदि देह पर्यंत जगत्में मिलते हैं और इनसे अन्य कोई अनुभवमें नहीं आता यह जो तुमने कहा सो सत्य है यहां निद्राशब्दसे निद्रानन्द लेना । कदाचित् कहो कि उनसे भिन्न आत्माकी किस प्रकार सिद्धि होगी सो ठीक नहीं क्योंकि यद्यपि देह आदिसे अन्य कोई

नहीं मिलता तथापि जिसके बलसे ये आनन्दमय आदि जाने जाते हैं उस अनुभव (ज्ञान) का निवारण कौन कर सकता है अर्थात् वह मानना पड़ेगा अर्थात् वही आत्मा है. भावार्थ यह है कि निद्रा आदि सबका अनुभव होता है इनसे अन्यका नहीं यह यद्यपि सत्य है तथापि जिससे इनका ज्ञान होता है उसको कौन हटा सकता है ॥ १२ ॥

स्वयमेवानुभूतित्वाद्विद्यते नानुभाव्यता ॥
ज्ञातृज्ञानांतराभावादज्ञेयो न त्वसत्तया ॥ १३ ॥

कदाचित् कोई शंका करे कि पूर्वोक्त देह आदिसे अन्य आत्मा यदि होता तो मिलता जिससे नहीं मिलता है इससे जाना जाता है कि नहीं है सो ठीक नहीं कि आनंदमय आदिकोंके साक्षीको स्वयम् अनुभवरूप होनेसे अनुभाव्यता नहीं है अर्थात् उसका ज्ञाता कोई अन्य नहीं है, किन्तु वह स्वप्रकाशरूप है. कदाचित् शंका करो कि अनुभव रूप भी उसको ज्ञानका विषय क्यों नहीं मानते सो ठीक नहीं, क्योंकि वह अनुभव आत्मा अपनेसे अन्य ज्ञाता और ज्ञानके अभावसे ज्ञानका विषय नहीं होता. कदाचित् शंका करो कि तुम कहते हो ज्ञाता आदिके अभावसे नहीं जाना जाता हम कहते हैं अपनी असत्तासे नहीं जाना जाता इन दोनोंमें निश्चयका क्या कारण है सो ठीक नहीं क्योंकि असत्तासे नहीं कह सकते जब निद्रा आदिका वह साक्षी है तो असत् नहीं हो सकता. भावार्थ यह है कि उसको स्वयम् अनुभवरूप होनेसे ज्ञेयरूपता नहीं है और वह अपनेसे भिन्न ज्ञाता और ज्ञानके अभावसे अज्ञेय है असत्‌रूपसे नहीं ॥ १३ ॥

माधुर्यादिस्वभावानामन्यत्र स्वगुणार्पिणाम् ॥
स्वस्मिंस्तदर्पणापेक्षा नो न चास्त्यन्यदर्पकम् ॥ १४ ॥

अब अनुभवरूप आत्माकी अनुभाव्यताके अभावमें दृष्टांत देते हैं कि अन्य पदार्थोंमें अर्थात् चणक आदिमें अपने माधुर्य्य (मिष्टता) आदिका अर्पण करनेवाले जो माधुर्य्य वा अम्ल आदि स्वभावके गुड आदि पदार्थ हैं उनको अपने गुड आदि स्वरूपमें माधुर्य्यके अर्पण करनेकी अपेक्षा नहीं है अर्थात् यह आकांक्षा नहीं है कि हममें कोई माधुर्यको संपादन करे और गुड आदिमें मधुरताका संपादक कोई अन्य वस्तु भी जगत्‌में नहीं है ॥ १४ ॥

अर्पकांतरराहित्येऽप्यस्त्येषां तत्स्वभावता ॥
मा भूत्तथानुभाव्यत्वं बोधात्मा तु न हीयते ॥ १५ ॥

जब कोई अन्य मधुरताका अर्पक (दाता) नहीं है और गुड आदिक स्वाभाविक माधुर्य्य आदि स्वभाव जैसे हैं वैसे ही आत्मा भी ज्ञानका विषय न हो परन्तु ज्ञानरूप आत्माको कौन हटा सकता है अर्थात् आत्मा अनुभवरूप है ॥ १५ ॥

स्वयंज्योतिर्भवत्येष पुरोऽस्माद्भासतेऽखिलात् ॥
तमेव भांतमन्वेति तद्भासा भास्यते जगत् ॥ १६ ॥

अब पूर्वोक्त अर्थमें प्रमाण कहते हैं कि-यह आत्मा स्वयंज्योति है इस संपूर्ण जगत्से पहले प्रकाशित होता है और उसका प्रकाश होनेपर उसीके प्रकाशसे इस जगत्का प्रकाश होता है यह श्रुति आत्माको स्वप्रकाश कहती है ॥ १६ ॥

येनेदं जानते सर्वं तत्केनान्येन जानताम् ॥
विज्ञातारं केन विद्याच्छक्तं वेद्ये तु साधनम् ॥ १७ ॥

अब 'जिससे इस सबको जानता है उसको किससे जाने अरे गार्गी ! विज्ञाताको किससे जाने' इस श्रुतिके अर्थको श्लोकमें पढ़ते हैं कि जिस चैतन्यरूप साक्षी आत्मासे संपूर्ण प्राणी इस जगतको जानते हैं उस साक्षी आत्माको कौनसे जड पदार्थ जानें अर्थात् नहीं जान सकते हैं फिर इसी वाक्यके तात्पर्यको कहते हैं कि इस दृश्य (देखने योग्य) जगत्के ज्ञाताको कौनसे दृश्य पदार्थसे जाने अर्थात् किसीसे भी नहीं जान सकते हैं ! कदाचित् कहो कि मनसे जान लेंगे सो भी ठीक नहीं क्योंकि ज्ञानका साधन जो मन वह जानने योग्य विषयमें समर्थ है ज्ञातारूप आत्मामें नहीं क्योंकि वाणी और मनसे आत्मा नहीं जाना जाता यह श्रुतिमें लिखा है और आत्माको भी ज्ञेय मानोगे तो उसीको कर्ता और उसीको कर्म माननेमें विरोध होगा. भावार्थ यह है कि जिससे इस सबको जानते हैं उसको सम्पूर्ण प्राणी किस अन्यसे जानें सबके ज्ञाताको किससे जाने क्योंकि ज्ञानका साधन मन जानने योग्यको जान सकता है ज्ञाताको नहीं ॥ १७ ॥

स वेत्ति वेद्यं तत्सर्वं नान्यस्तस्यास्ति वेदिता ॥
विदिताविदिताभ्यां तत्पृथग्बोधस्वरूपकम् ॥ १८ ॥

अब आत्माके स्वप्रकाश होनेमें इन दो श्रुतिवाक्योंको प्रमाण मानकर श्लोकमें पढ़ते हैं कि वह आत्मा जो २ जानने योग्य है उस उस सबको जानता है

---

१ अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति अस्मात्सर्वस्य पुरतः सुविभाति । तमेव भांतमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति । २ येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयाद्विज्ञातारमरे केन विजानीयात् । ३ 'नैव वाचा न मनसा' इति । ४ स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता ।

उस आत्माका ज्ञाता आत्मासे अन्य कोई नहीं है और 'वह ज्ञानरूप ब्रह्म विदित (ज्ञानका विषय) और अविदित (अज्ञानसे युक्त) इन दोनोंसे पृथक् (विलक्षण) बोध रूप है. भावार्थ यह है कि वह आत्मा सम्पूर्ण वेद्यको जानता है उसका ज्ञाता कोई अन्य नहीं इसीसे ज्ञात और अज्ञातसे विलक्षण वह आत्मा बोधरूप है ॥ १८ ॥

बोधेऽप्यनुभवो यस्य न कथंचन जायते ॥
तं कथं बोधयेच्छास्त्रं लोष्टं नरसमाकृतिम् ॥ १९ ॥

कदाचित् कोई शंका करे कि विदित और अविदितसे भिन्न कोई बोध देखा ही नहीं सो ठीक नहीं क्योंकि विदित (बोधका विषय) म विशेषण जो वेदन उसको ही बोध कहते हैं बोधके अज्ञानमें विदितका भी अज्ञान होगा इससे बोधका अनुभव अवश्य मानना पडेगा इससे उस वादीको उपहाससे उत्तर देते हैं कि जिस मंदको घट आदिके स्मरणरूप बोधमें भी अनुभव (साक्षात्कार) किसी प्रकार भी नहीं होता मनुष्यके समान है आकार जिसका ऐसे उस लोष्ट (डेला) अर्थात् जडको शास्त्र कैसे बोधन करावे अर्थात् उस मूर्खको ज्ञान होना असंभव है ॥ १९ ॥

जिह्वा मेऽस्ति न वेत्युक्तिर्लज्जायै केवलं यथा ॥
न बुध्यते मया बोधो बोद्धव्य इति तादृशी ॥ २० ॥

अब बोध नहीं जाना जाता इस उक्तिमें व्याघात दोष देते हैं कि जैसे मेरे मुखमें जिह्वा है कि नहीं यह उक्ति (वचन) केवल लज्जाके ही लिये है बुद्धिमानीके लिये नहीं क्योंकि जिह्वाके विना भाषण ही नहीं हो सकता इसी प्रकार मैं बोधको नहीं जानता अबसे आगे जानूंगा यह उक्ति भी लज्जाका ही हेतु है क्योंकि बोधके विना वह व्यवहार ही नहीं होगा ॥ २० ॥

यस्मिन्यस्मिन्नस्ति लोके बोधस्तत्तदुपेक्षणे ॥
यद्बोधमात्रं तद्ब्रह्मेत्येवंधीर्ब्रह्मनिश्चयः ॥ २१ ॥

कदाचित् कहो कि वह बोध ऐसा रहो, प्रकरण (यहां) के ब्रह्मात्वबोधको ऐसा न मानेंगे सो ठीक नहीं क्योंकि जगतके विषे जिस २ घटादि रूप पदार्थमें बोध (ज्ञान) है उस उस घट आदि विषयके उपेक्षण (अनादर) करनेपर जो बोधरूप घट आदि सब विषयोंमें व्यापकरूप स्फुरता है वही ब्रह्म है इस निश्चयात्मक बुद्धिको ही ब्रह्म कहते हैं ॥ २१ ॥

पंचकोशपरित्यागे साक्षिबोधावशेषतः ॥
स्वस्वरूपं स एव स्याच्छून्यत्वं तस्य दुर्घटम् ॥ २२ ॥

---

१ 'अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि'।

यदि घट आदि विषयकी उपेक्षा करने पर उस २ अर्थका ज्ञानरूप ब्रह्म जाना जाता है तो पंचकोशका विवेक करना वृथा है सो ठीक नहीं क्योंकि ब्रह्मकी प्रत्यक्रूपताके ज्ञान विना संसारकी निवृत्ति नहीं हो सकती और पंचकोशविवेक भी प्रत्यक्रूप ज्ञानका हेतु है इससे व्यर्थ नहीं है कि अन्नमय आदि पंचकोशोंके परित्याग अर्थात् बुद्धिसे अनात्माके निश्चय होने पर उनका साक्षीरूप बोध ही शेष रहता है वह साक्षीरूप बोध अपना स्वरूप ब्रह्म ही है. कदाचित् कहो कि अनुभवसे सिद्ध अन्नमय आदिके परित्यागमें शून्य हो जायगा सो ठीक नहीं क्योंकि साक्षीरूप उस बोधको शून्यरूपता नहीं घट सकती. भावार्थ यह है कि पंचकोशोंके परित्यागमें जो साक्षीरूप बोध शेष रहता है वह निजरूप ब्रह्म ही है और उसको शून्यता नहीं हो सकती ॥ २२ ॥

अस्ति तावत्स्वयं नाम विवादाविषयत्वतः ॥
स्वस्मिन्नपि विवादश्चेत्प्रतिवाद्यत्र को भवेत् ॥ २३ ॥

दुर्घटताको ही कहते हैं कि विवादका अविषय होनेसे संपूर्ण लौकिक वैदिकोंके मतमें कोई स्वय शब्दका अर्थ अपना रूप है और विवादमें दोष भी है कि अपने आत्मामें भी यदि विवाद होगा तो इसमें प्रतिवादी कौन होगा अर्थात् कोई भी नहीं होगा ॥ २३ ॥

स्वासत्त्वं तु न कस्मैचिद्रोचते विभ्रमं विना ॥
अत एव श्रुतिर्बाधं ब्रूते चासत्त्ववादिनः ॥ २४ ॥

कदाचित् अपना असत्त्ववादी ही प्रतिवादी हो जायगा सो भी ठीक नहीं क्योंकि अपनी असत्ता भ्रमके विना किसीको भा नहीं रुचती अर्थात् भ्रांतिके विना अपने अभावको कोई नहीं मानता जिससे किसीको भी नहीं रुचता इसीस श्रुति असत्त्ववादीके मतमें बाध दोषको कहती है ॥ २४ ॥

असद्ब्रह्मेति चेद्वेद स्वयमेव भवेदसत् ॥
अतोऽस्य मा भूद्वेद्यत्वं स्वसत्त्वं त्वभ्युपेयताम् ॥ २५ ॥

अब उसी श्रुतिके अर्थको श्लोकमें पढ़ते हैं कि यदि ब्रह्मको असत् जानेगा तो आप ही असत् हो जायगा इससे इस ब्रह्मको वेद्य मत मानो परंतु अपने स्वरूपका तो स्वीकार करो वही स्व ब्रह्म है ॥ २५ ॥

कीदृक् तर्हीति चेत्पृच्छेदीदृक्ता नास्ति तत्र हि ॥
यदनीदृगताद‍ृक् च तत्स्वरूपं विनिश्चिनु ॥ २६ ॥

अब आत्माको स्वप्रकाश कहनेकी अभिलाषासे वेद्य न माननेमें ब्रह्मके रूपमें प्रश्न करते हैं कि वह ब्रह्म कैसा है ऐसा कोई पूछे तो यह उत्तर है कि आत्मामें ईदृशता नहीं है अर्थात् ईदृक्त्व आदि किसी रूपका आत्मामें संबंध मानोगे तो उसी रूपसे आत्मा वेद्य होगा वह न मानोगे तो शून्य हो जायगा यह सत्य है ईदृशताके अंगीकारमें वैसे ही वेद्यत्वको न मानेंगे. ऐसे ही तादृश रूप भी नहीं है कि उस ब्रह्ममें ईदृक्ता नहीं है किंतु जो ईदृश(ऐसा)तादृश (वैसा)नहीं है वही ब्रह्मस्वरूप है यह निश्चय करो. भावार्थ यह है कि ब्रह्म कैसा है यह पूछोगे तो ब्रह्ममें ईदृशता नहीं है किंतु जो ईदृश और तादृश नहीं है अर्थात् जिसको ऐसा वैसा नहीं कह सकते उस ब्रह्मके स्वरूपको तू निश्चय कर ॥ २६ ॥

अक्षाणां विषयस्त्वीदृक् परोक्षस्तादृगुच्यते ॥
विषयी नाक्षविषयः स्वत्वान्नास्य परोक्षता ॥ २७॥

अब ईदृक् तादृक् शब्दके अर्थको कहते हुए ग्रंथकार यह कहते हैं कि ईदृक् तादृक् शब्दका भी अर्थ ब्रह्म नहीं है क्योंकि नेत्र आदि इंद्रियोंके विषय जो घट आदि वे ही ईदृक् शब्दके अर्थ होते हैं और इंद्रियोंके परोक्ष (धर्म आदि) को तादृग् कहते हैं और सबका द्रष्टा आत्मा इंद्रियोंके ज्ञानका अविषय होनेसे ईदृक् नहीं है और स्व (अपना) रूप होनेसे परोक्ष भी नहीं हो सकता इससे तादृक् नहीं है. भावार्थ यह है कि इंद्रियोंको ईदृक् और परोक्षको तादृक् कहते हैं आत्मा अविषय होनेसे इंद्रियोंका विषय नहीं और स्व होनेसे परोक्ष नहीं है इससे न ईदृक् है न तादृक् ॥ २७ ॥

अवेद्योऽप्यपरोक्षोऽतः स्वप्रकाशो भवत्ययम् ॥
सत्यं ज्ञानमनंतं चेत्यस्तीह ब्रह्मलक्षणम् ॥ २८ ॥

अब फल दिखाते हुए शून्यरूप दूसरे पक्षका खंडन करते हैं कि आत्मा अवेद्य होनेसे अपरोक्ष है अर्थात् इंद्रियजन्य ज्ञानका अविषय होनेपर भी अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) रूप है इससे यह आत्मा स्वप्रकाशरूप है । यहां यह अनुमान है कि आत्मा स्वप्रकाश है ज्ञानका विषय न होनेपर भी अपरोक्ष होनेसे ज्ञानके समान कदाचित् कहो कि ज्ञानका विषय है इससे तुम्हारा हेतु विशेषणाऽसिद्ध है सो ठीक नहीं क्योंकि आत्माको ज्ञानका विषय मानोगे तो आत्माहीको कर्ता कर्म दोनोंके माननेमें विरोध होगा. कदाचित् कहो कि स्वस्वरूपसे कर्ता और विशिष्टरूपसे कर्म हो जायगा सो ठीक नहीं क्योंकि गमनक्रियामें भी स्वस्वरूपसे कर्ता और विशिष्टरूपसे कर्म हो जायगा. कदाचित् कहो कि तुम्हारे ज्ञानरूप दृष्टांतमें

हेतु नहीं है अर्थात् ज्ञान, ज्ञानका विषय न होनेपर अपरोक्ष नहीं है सो ठीक नहीं क्योंकि ज्ञानको भी अन्य ज्ञानकी अपेक्षा मानोगे तो अनवस्था दोष हो जायगा. कदाचित् शंका करो कि न्यायके मतमें घटका भान घटके ज्ञानसे और घटज्ञानका भान अनुव्यवसायसे इससे संवेदनके समान यह स्वप्रकाशका दृष्टांत साधनसे रहित है सो भी ठीक नहीं क्योंकि ज्ञानका दूसरे ज्ञानसे भान नहीं है इससे साधनसे विकल (रहित) नहीं है। कदाचित् शंका करो कि स्वप्रकाशरूपसे सिद्ध भी आत्मामें ब्रह्मके लक्षण नहीं हैं इससे ब्रह्मकी सिद्धि न होगी. सो ठीक नहीं क्योंकि 'सत्य ज्ञान अनंत ब्रह्म है' इस श्रुतिमें जो ब्रह्मका लक्षण कहा है वह आत्मामें विद्यमान होनेसे आत्मा ब्रह्मरूप है. भावार्थ यह है कि अवेद्य भी ब्रह्म अपरोक्ष है इससे यह स्वप्रकाश है और आत्मामें सत्य ज्ञान अनंतरूप ब्रह्मके लक्षण हैं ॥ २८ ॥

सत्यत्वं बाधराहित्यं जगद्बाधैकसाक्षिणः ॥
बाधः किंसाक्षिको ब्रूहि न त्वसाक्षिक इष्यते ॥ २९ ॥

अब आत्माको सत्य कहनेके लिये सत्यका लक्षण कहते हैं कि बाधसे शून्यको सत्य कहते हैं क्योंकि पहिले आचार्योंने यह कहा है कि अबाध्य सत्य और बाध्य मिथ्या होता है यह सत्य असत्यका विवेक है। कदाचित् कहो कि ऐसा कहनेसे प्रकरणम क्या फल हुआ सो ठीक नहीं क्योंकि स्थूल सूक्ष्म शरीर आदि रूप जो जगत् उसके बाध अर्थात् स्वप्न सुषुप्ति आदिमें न होना उसके साक्षीरूपसे वर्तमान जो आत्मा उसके बाधमें साक्षी कहो कौन होगा अर्थात् कोई भी साक्षी नहीं है। कदाचित् कहो कि साक्षीके विना ही आत्माका बाध क्यों न हो सो भी ठीक नहीं क्योंकि साक्षीसे रहित भी किसी बाधको मानोगे तो अनेक दोष होंगे इससे साक्षीके विना बाध नहीं मानना. भावार्थ यह है कि बाधसे रहित सत्य होता है और जगतके बाधका एक साक्षी जो आत्मा उसके बाधमें कहो कौन साक्षी होगा और साक्षीके विना बाध नहीं होता है ॥ २९ ॥

अपनीतेषु मूर्तेषु ह्यमूर्तं शिष्यते वियत् ।
शक्येषु बाधितेष्वंते शिष्यते यत्तदेव तत् ॥ ३० ॥

अब पूर्वोक्त अर्थको दृष्टांतसे स्पष्ट करते हैं कि जैसे घट आदि मूर्त पदार्थोंका अपनयन, अर्थात् घरसे बाहर निकालने पर ले जानेके अयोग्य एक आकाश ही शेष रह जाता है इसी प्रकार आत्मासे भिन्न मूर्त अमूर्त अर्थात् देह इंद्रिय आदि जो निषेध करने योग्य हैं उनका जब 'नेति नेति' श्रुतिने निराकरण कर दिया तब अंतमें जो सबके निषेधका साक्षी बोधरूप शेष रहता है वही बाधरहित आत्मा है ॥ ३० ॥

सर्वबाधेन किंचिच्चेद्यन्न किंचित्तदेव तत् ॥
भाषा एवात्र भिद्यंते निर्बाधं तावदस्ति हि ॥ ३१ ॥

कदाचित् कहो कि प्रतीत हुए सबके निषेधसे किञ्चित् भी शेष न रहेगा इससे कैसे कहते हो कि जो शेष रहे वह आत्मा है इसका उत्तर यह है कि कुछ शेष न रहेगा ऐसा कहनेवालेको भी सबके अभावका ज्ञान अवश्य मानना पड़ेगा इससे ज्ञान रूप ही हमारे मतमें आत्मा है क्योंकि 'न किंचित्' इस शब्दसे जो चैतन्य कहा जाता है वही ब्रह्म है कदाचित् कहो कि अभावके वाचक 'न किञ्चित्' शब्दसे चैतन्य कैसे कहा जाता है सो ठीक नहीं क्योंकि बाधका साक्षी तो अवश्य ही स्वीकारके योग्य है इससे वाचकशब्दोंमें ही विवाद है अर्थमें नहीं अर्थात् भाषाओंका ही वहां भेद है अर्थात् न किञ्चित्, साक्षी, इत्यादि शब्द ही भिन्न २ हैं बाधसे रहित साक्षीरूप चैतन्य तो सर्वत्र विद्यमान है. भावार्थ यह है कि सबके बाधमें 'न किंचित्' कहोगे तो जो 'न किञ्चित' है वही आत्मा है और यहां भाषा (शब्द) ओंका ही भेद है बाधरहित आत्मा तो सर्वत्र है ॥ ३१ ॥

अत एव श्रुतिर्बाध्यं बाधित्वा शेषयत्यदः ॥
स एष नेति नेत्यात्मेत्यतद्व्यावृत्तिरूपतः ॥ ३२ ॥

उक्त अर्थको श्रुतिके अनुकूल दिखाते हैं कि इसीसे अर्थात् साक्षी चेतनको अबाध्य होनेसे (स एव नेति नेत्यात्मा) वही नेति २ श्रुति बाध्य वस्तुका निषेध करके अर्थात् आत्मासे भिन्न वस्तुके निराकरण करनेसे इसी निषेध करनेके अयोग्य प्रत्यक्स्वरूप ब्रह्मको शेष रखती है अर्थात् नेति २ से जो शेष रहे वही आत्मा है ॥ ३२ ॥

इदं रूपं तु यद्यावत्तत्त्यक्तुं शक्यतेऽखिलम् ॥
अशक्यो ह्यनिदंरूपः स आत्मा बाधवर्जितः ॥ ३३ ॥

अब 'नेति २' श्रुतिसे बाध करने योग्य और बाधके अयोग्य इन दोनोंको पृथक् २ दिखाते हैं । 'यह रूप है' इस प्रकार दृश्यरूपसे दीखता जो संपूर्ण अर्थात् यह है इस इदं रूपसे ज्ञानके अयोग्य (साक्षी) रूप है वह त्यागनेको अशक्य है यहां 'हि' इस प्रसिद्धिके द्योतक और त्यागके कर्ता चैतन्यरूप निश्चयक बोधक निपातसे त्यागकी अयोग्यता सूचन की है और वही बाधसे वर्जित अनिदं-

रूप आत्मा है. भावार्थ यह है कि जितना इदंरूप जगत् है उस सबका त्याग (निषेध) हो सकता है और जो अनिदंरूप है उसका त्याग नहीं हो सकता इससे बाधरहित वही आत्मा है ॥ ३३ ॥

सिद्धं ब्रह्मणि सत्यत्वं ज्ञानत्वं तु पुरेरितम् ॥
स्वयमेवानुभूतित्वादित्यादिवचनैः स्फुटम् ॥ ३४ ॥

कदाचित् कहो कि आत्मा अबाध्य रहो, प्रकरणमें क्या आया सो ठीक नहीं क्योंकि ब्रह्ममें जो सत्यत्व कहा है वह आत्मामें सिद्ध हो गया । कदाचित् कहो कि सत्यत्व रहो, ज्ञानत्व न रहेगा । सो भी ठीक नहीं क्योंकि स्वयम् अनुभव रूप होनेसे आत्मा ज्ञानरूप है इत्यादि पूर्वोक्त वचनोंसे आत्माको ज्ञानस्वरूप पहले कह आये हैं ॥ ३४ ॥

न व्यापित्वादेशतोऽतो नित्यत्वान्नापि कालतः ॥
न वस्तुतोऽपि सर्वात्म्यादानंत्यं ब्रह्मणि त्रिधा ॥ ३५ ॥

कदाचित् कहो कि सत्यत्व, ज्ञानत्व ये दोनों आत्मामें सिद्ध रहें परंतु आनंत्य न घटेगा क्योंकि ब्रह्ममें भी आनंत्य नहीं है यह आशंका करके प्रथम ब्रह्ममें आनंत्यको सिद्ध करते हैं कि'[१]नित्य विभु सर्वगत अत्यन्त सूक्ष्म आकाशके समान सर्वगत नित्य, नित्योंका नित्य, चेतनोंका चेतन, और जो यह सब है वह आत्मा है यह संपूर्ण ब्रह्म है ब्रह्म ही यह सब है' इत्यादि श्रुतियोंमें व्यापक नित्यत्व सबका आत्मत्व आदि ब्रह्मको कहनेसे तीन प्रकारका भी आनंत्य कहा है अर्थात् देश, काल, वस्तुके किये परिच्छेद (अभाव) से रहित आत्मा स्वरूप ब्रह्म स्वीकार करना. भावार्थ यह है कि ब्रह्मको व्यापक होनेसे देशतः अंत नहीं अर्थात् यह नहीं है कि इस देशमें है इसमें नहीं और नित्य होनेसे कालसे भी अंत नहीं है और सबका आत्मा होनेसे वस्तुसे भी अंत नहीं है इससे ब्रह्ममें तीन प्रकारका आनंत्य है ॥ ३५ ॥

देशकालान्यवस्तूनां कल्पितत्वाच्च मायया ॥
न देशादिकृतोऽतोस्ति ब्रह्मानंत्यं स्फुटं ततः ॥ ३६ ॥

केवल श्रुतिसे ही ब्रह्मका आनंत्य नहीं किंतु युक्तिसे भी आनंत्य है कि देश काल अन्य वस्तु ये सब मायासे कल्पित हैं इससे गंधर्वनगर आदिसे आकाशके समान देश आदिकोंका किया ब्रह्ममें वास्तविक परिच्छेद नहीं है जिससे इस कारण

---

१ नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मम् आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः । नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम् इदं सर्वं यदयमात्मा सर्वं ह्येतद् ब्रह्म ब्रह्मैवेदं सर्वम् ।

ब्रह्मके विषय आनंत्य प्रकट है कि' वह यह आत्मा सत्य ब्रह्म है और ब्रह्म ही आत्मा है, ऐसा संदेह नहीं करना कि आत्मा असत्य है नृसिंहदेव ब्रह्म है यह आत्मा ब्रह्म है ' इत्यादि श्रुति आत्माको ब्रह्मसे अभिन्न कहती है इससे आत्मा भी अनंत सिद्ध हुआ, भावार्थ यह है कि देश, काल, वस्तु, मायासे कल्पित हैं इससे देश आदिका किया अंत ब्रह्ममें नहीं है इससे प्रकट है कि ब्रह्म अनंत है ॥ ३६ ॥

सत्यं ज्ञानमनंतं यद्ब्रह्म तद्वस्तु तस्य तत् ॥
ईश्वरत्वं च जीवत्वमुपाधिद्वयकल्पितम् ॥ ३७ ॥

कदाचित् शंका करो कि जडरूप जगत् ब्रह्ममें आरोपित है इससे ब्रह्मका परिच्छेद न हो परंतु चेतन जीव ईश्वर तो आरोपित नहीं है इससे उनका किया परिच्छेदवाला होनेसे ब्रह्म अनंत न होगा सो ठीक नहीं क्योंकि जो सत्य,ज्ञान, अनंत ब्रह्म है वही वस्तु है और वही उसका पारमार्थिक रूप है और जगत्में प्रसिद्ध ईश्वरत्व और जीवत्व ये दोनों वक्ष्यमाण दो उपाधियोंसे ब्रह्ममें कल्पित हैं इससे औपाधिक और कल्पित होनेसे पारमार्थिक (सच्चे) नहीं हैं इससे जडके समान जीव ईश्वर भी ब्रह्मके परिच्छेदक नहीं हो सकते. भावार्थ यह है कि जो ब्रह्म सत्य ज्ञान अनंतरूप है वह वस्तु है और वही पारमार्थिक है और ईश्वर जीव दो उपाधियोंसे ब्रह्ममें कल्पित हैं ॥ ३७ ॥

शक्तिरस्त्यैश्वरी काचित्सर्ववस्तुनियामिका ॥
आनंदमयमारभ्य गूढा सर्वेषु वस्तुषु ॥ ३८ ॥

उन दोनों उपाधियोंको दिखाते हुए प्रथम ईश्वरकी उपाधिशक्तिका निरूपण करते हैं कि ईश्वरकी उपाधि होनेसे ईश्वर सम्बंधिनी सत् असत् रूपसे कहनेके अयोग्य पृथिवी आदि नियमन करने योग्य सब वस्तुओंकी नियामक कोई शक्ति है और वह आनन्दमय आदि ब्रह्माण्डपर्यंत सब वस्तुओंमें गूढ (छिपी) है इससे प्रतीत नहीं हो सकती है ॥ ३८ ॥

वस्तुधर्मा नियम्येरञ् शक्त्या नैव यदा तदा ॥
अन्योन्यधर्मसांकर्याद्विप्लवेत जगत्खलु ॥ ३९ ॥

कदाचित् कहो कि वह शक्ति नियमसे प्रतीत नहीं होगी तो उसकी असत्ता (अभाव) ही क्यों न होजाय सो ठीक नहीं क्योंकि पृथिवी आदि वस्तुओंके

---

१ तदेतत्सत्यमात्मा ब्रह्मैव ब्रह्मात्मैवात्र ह्येवं न विचिकित्स्यमित्यों सत्यमात्मैव नृसिंहो देवो ब्रह्म भवति अयमात्मा ब्रह्म ।

जो काठिन्य द्रवत्व आदि धर्म हैं यदि उनकी व्यवस्था शक्ति न करे अर्थात् जिसका जो धर्म हो उसको उसमें न रक्खै तो परस्पर धर्मोंका संकर होनेसे अर्थात् मिल जानेसे जगत् अवश्य नष्ट हो जायगा अर्थात् व्यवहारका नियम न रहेगा ॥ ३९ ॥

चिच्छायावेशतः शक्तिश्चेतनेव विभाति सा ॥
तच्छक्त्युपाधिसंयोगाद्ब्रह्मैवेश्वरतां व्रजेत् ॥ ४० ॥

कदाचित् कहो कि जडरूप शक्ति जगत्का नियामक न होगी, सो ठीक नहीं। वह शक्ति चिदाभासके प्रवेशसे चेतनके समान प्रतीत होती है इससे नियामक हो सकती है और उस शक्तिरूप उपाधिके संयोगसे सत्य आदि स्वरूप ब्रह्म ही ईश्वरभावको प्राप्त हो जाता है अर्थात् सर्वज्ञ ईश्वर कहलाता है ॥ ४० ॥

कोशोपाधिविवक्षायां याति ब्रह्मैव जीवताम् ॥
पिता पितामहश्चैकः पुत्रपौत्रौ यथा प्रति ॥ ४१ ॥

पूर्व कहे हुए अन्नमय आदि पंचकोशरूप जो जीवकी उपाधि हैं उनकी विवक्षा विवेक करने पर सत्य आदि रूप वही ब्रह्म जीवभावको प्राप्त होता है, कदाचित् कहो कि एक ही ब्रह्म जीव ईश्वरभावको कैसे प्राप्त हो सकता है अर्थात् एकमें विरुद्ध दो धर्मोंका योग नहीं देखा है सो ठीक नहीं क्योंकि जैसे एक ही देवदत्त एक ही समयमें पुत्रके प्रति पिता और पौत्रके प्रति पितामह है इसी प्रकार ब्रह्म भी कोशरूप उपाधिकी विवक्षामें जीव और शक्तिरूप उपाधिकी विवक्षामें ईश्वर हो जाता है ॥ ४१ ॥

पुत्रादेरविवक्षायां न पिता न पितामहः ॥
तद्वन्नेशो नापि जीवः शक्तिकोशाविवक्षणे ॥ ४२ ॥

अब यह कहते हैं कि वस्तुतः ब्रह्म न जीव है न ईश्वर है कि जैसे पूर्वोक्त देवदत्त पुत्र आदिकी अविवक्षाम न पिता है और न पितामह है इसी प्रकार शक्ति और कोशकी अविवक्षामें ब्रह्म न ईश्वर है और न जीव है ॥ ४२ ॥

य एवं ब्रह्म वेदैष ब्रह्मैव भवति स्वयम् ॥
ब्रह्मणो नास्ति जन्मातः पुनरेष न जायते ॥ ४३ ॥

अब पूर्वोक्त ज्ञानके फलका वर्णन करते हैं कि जो चारों साधनोंसे संपन्न पुरुष इस उक्त प्रकारसे पंचकोशोंके विवेक द्वारा प्रत्यक्रूप ब्रह्मको जानता है अर्थात् साक्षात् करता है वह स्वयं ब्रह्म ही होता है और श्रुतिमें भी कहा है कि जो ब्रह्मको

---

१ स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति--ब्रह्मविदाप्नोति परम् ।

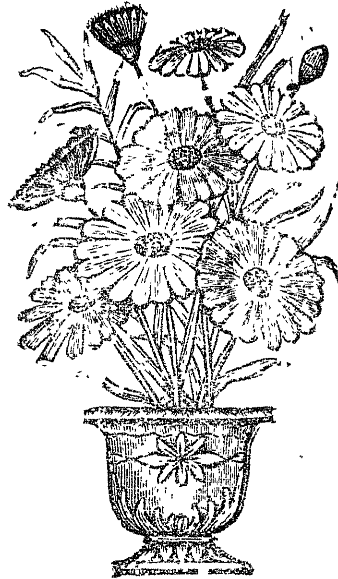
जानता है वह ब्रह्म ही होता है, ब्रह्मका ज्ञाता परमपदको प्राप्त होता है । कदाचित कहो कि फिर उससे क्या होता है इसका उत्तर देते हैं कि 'ज्ञानी न जन्मता है और न मरता है ' इस[1] श्रुतिके प्रमाणसे ब्रह्मरूपका जन्म नहीं है इससे यह ज्ञानी भी फिर जन्म नहीं लेता है क्योंकि ज्ञानीको भी ब्रह्मरूप अपनी आत्माका ज्ञान हो जाता अर्थात् आत्माको ब्रह्म समझता है। भावार्थ यह है कि जो इस प्रकार ब्रह्मको जानता है वह स्वयं भी ब्रह्म ही होता है और जिस प्रकार ब्रह्मका जन्म नहीं है इससे यह ज्ञानी भी फिर नहीं जन्मता ॥ ४३ ॥

इति पं० मिहिरचंद्रकृतभाषोद्धृतिसहितविद्यारण्यस्वामिविरचित-
पंचदश्यां पंचकोशविवेकः ॥ १३ ॥

---

१ न जायते म्रियते वा विपश्चित् ।

इति पंचकोशविवेकप्रकरणम् ॥ ३ ॥



अथ द्वैतविवेकप्रकरणम् ४.

ईश्वरेणापि जीवेन सृष्टं द्वैतं विविच्यते ॥
विवेके सति जीवेन हेयो बंधः स्फुटीभवेत् ॥ १ ॥

करनेको इष्ट ग्रंथकी निर्विघ्न पूर्ति (पूरा होना) के लिये इष्टदेवका स्मरणरूप मंगल करते हुए आचार्य ग्रंथका प्रारम्भ करते हैं कि कारणोपाधि अंतर्यामिरूप ईश्वरने और कार्योपाधि अहंप्रतीतिके विषे जीवने रचा जो द्वैत (जगत्) उसका विवेक करते हैं अर्थात् पृथक् २ वर्णन करते हैं. कदाचित् कहो कि यह द्वैतका विवेक काकके दाँतोंकी परीक्षाके समान निष्प्रयोजन है, सो ठीक नहीं क्योंकि जीव ईश्वरके रचे द्वैतोंके विवेक होनेपर पूर्वोक्त जीवको त्यागने योग्य जो बंधनका हेतु द्वैत वह स्पष्ट हो जायगा अर्थात् जीवको इतना त्यागने योग्य है, इसका निश्चय हो जायगा। भावार्थ यह है कि ईश्वर और जीवके रचे द्वैतका विवेक इसलिये करते हैं कि इस विवेकके अनंतर जीवका त्यागने योग्य बंधन स्पष्ट हो जायगा ॥ १ ॥

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ॥
स मायी सृजतीत्याहुः श्वेताश्वतरशाखिनः ॥ २ ॥

यहां यह शंका नहीं करनी कि अदृष्टके द्वारा जीव ही जगत्का हेतु है इससे जगत्को ईश्वरका रचा कैसे कहते हो सो ठीक नहीं क्योंकि इसमें अनेक श्रुतियोंका विरोध है इससे श्वेताश्वतर श्रुतिके वाक्यका अर्थ पढ़ते हैं कि 'मायाको ही प्रकृति जानें और मायी महेश्वरको जाने; वह मायी (ईश्वर) ही रचता है' यह श्वेताश्वतर शाखा वाले कहते हैं ॥ २ ॥

आत्मा वा इदमग्रेऽभूत्स ईक्षत सृजा इति ॥
संकल्पेनासृजल्लोकान्स एतानिति बह्वृचाः ॥ ३ ॥

अब ऐतरेय उपनिषद्के वाक्यका अर्थ पढ़ते हैं कि यह जगत् एक आत्मारूप ही सृष्टिसे पहिले था अन्य कुछ नहीं वह किंचित् ईक्षण (देखना) करता हुआ कि मैं लोकोंको रचूं वह आत्मा अपने संकल्प (इच्छारूप) से इन लोकोंको रचता हुआ इस वाक्यसे बह्वृच् शाखाके वेदपाठी परमात्माको ही जगत्का स्रष्टा (रचनेवाला) कहते हैं ॥ ३ ॥

---

१ मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् । मायी सृजते विश्वमेतत् ।

खं वाय्वग्निजलोर्व्योषध्यन्नदेहाः क्रमादमी ॥
संभूता ब्रह्मणस्तस्मादेतस्मादात्मनोऽखिलाः ॥ ४ ॥

अब ईश्वर ही जगत्को रचता है इसमें तैत्तिरीय श्रुतिका भी प्रमाणके लिये उसके वाक्यका अर्थ पढ़ते हैं कि आकाश वायु अग्नि जल पृथिवी ओषधि अन्न देह ये सब क्रमसे इसी ब्रह्मरूप आत्मासे उत्पन्न हुए हैं ॥ ४ ॥

बहु स्यामहमेवातः प्रजायेयेति कामतः ॥
तपस्तप्त्वाऽसृजत्सर्वं जगदित्याह तित्तिरिः ॥ ५ ॥

अब 'सत्य ज्ञान अनंत ब्रह्म है' यह प्रारंभ करके 'उस इस आत्मासे आकाश हुआ इत्यादि और अन्नसे पुरुष हुआ' यहांतकके वाक्योंसे गुहामें छिपे प्रत्यक्रूप ब्रह्मसे आकाशसे देहपर्यंत जगत्की उत्पत्तिको कह कर पीछे जो यह कहा है कि उसने इच्छा की कि एक मैं बहुत प्रकारका होऊं और जन्म धारण करूं इससे उसने तप किया वह तप करके जो कुछ यह जगत् है इस सबको रचता हुआ इस वाक्यसे उस ब्रह्मको ही इच्छापूर्वक जगत्का स्रष्टा तित्तिरिने कहा है. भावार्थ यह है कि मैं बहुत हूं और जन्म धारूं इस इच्छासे वह तप करके सब जगत्को रचता हुआ यह तित्तिरिने कहा है ॥ ५ ॥

इदमग्रे सदेवासीद्बहुत्वाय तदैक्षत ॥
तजोऽबन्नांडजादीनि ससर्जेति च सामगाः ॥ ६ ॥

छांदोग्य उपनिषद्में भी ब्रह्म ही जगत्का स्रष्टा कहा है कि 'हे सौम्य ! पहिले यह जगत् सत्रूप एक अद्वितीय हुआ' यह प्रारंभ करके कहा है कि 'उसने देखा कि मैं अनेक प्रकारका होऊं और जन्म धारूं फिर उसने तेजको रचा' इत्यादि वचनोंसे ब्रह्मको ही दर्शनपूर्वक तेज अन्न आदिका कर्ता कहकर उन इन सब भूतोंके तीन ही बीज होते हैं कि अण्डज जीवज उद्भिज्ज इत्यादि ग्रंथसे अण्डजादि शरीरोंका निर्माता भी ब्रह्मको ही सामगोंने वर्णन किया है. भावार्थ यह है कि 'यह जगत् सृष्टिसे प्रथम सत्रूप रहा और ब्रह्मने ही बहुत होनेके लिये देखा और तेज जल अण्डज आदिको रचा' यह सामवेदी कहते हैं ॥ ६ ॥

विस्फुलिंगा यथा वह्नेर्जायंतेऽक्षरतस्तथा ॥
विविधाश्चिज्जडा भावा इत्याथर्वणिका श्रुतिः ॥ ७ ॥

अब मुण्डकोपनिषद्के वाक्यसे जगत्की उत्पत्तिको कहते हैं कि 'जैसे भले प्रकार जलती हुई अग्निसे सहस्रों विस्फुलिंग सजातीय होते हैं उसी प्रकार अक्षयरूप

ब्रह्मसे हे सौम्य ! ये सब भाव पैदा होते हैं और उसमें ही सब लीन होजाते हैं' यह अथर्वण वेदकी श्रुति है । भावार्थ यह है कि जैसे अग्निसे विस्फुलिंग(पतंगा) होते हैं उसी प्रकार ब्रह्मसे अनेक प्रकारके चित् जडरूप अनेक प्रकारके भाव पदार्थ होते हैं यह अथर्वणवेदमें लिखा है ॥ ७ ॥

जगदव्याकृतं पूर्वमासीद्व्याक्रियताधुना ॥
दृश्याभ्यां नामरूपाभ्यां विराडादिषु ते स्फुटे ॥ ८ ॥
विराण्मनुर्नरा गावः खराश्वाजावयस्तथा ॥
पिपीलिकावधिद्वंद्वमिति वाजसनेयिनः ॥ ९ ॥

इसी प्रकार बृहदारण्यकमें भी अव्याकृतरूप ब्रह्मसे नाम रूप जगतकी उत्पत्ति कही है कि वह यह जगत् पहले अव्याकृत रहा फिर नाम रूपसे अनेक प्रकारका हुआ, उसके ये नाम रूप हैं इस वाक्यसे सृष्टिसे प्रहले अप्रकट नाम रूप होनेसे अव्याकृत मायोपाधि ब्रह्मसे नाम रूप स्पष्ट करना यह सृष्टि कही और वे नाम रूप विराट् आदिमें प्रकट हैं 'कि विराट् मनु नर गौ खर अश्व अजा भेड चेंटी पर्यंत यह सब द्वैत अनेक प्रकारके नाम रूपसे उत्पन्न हुआ' यह वाजसनेयी कहते हैं अर्थात् जो कुछ यह पिपीलिका पर्यंत जगत् है वह सब सृष्टिसे पहले नामरूपसे रहित अव्याकृत जो ब्रह्म है उससे उत्पन्न हुआ ॥ ८ ॥ ९ ॥

कृत्वा रूपांतरं जैवं देहे प्राविशदीश्वरः ॥
इति ताः श्रुतयः प्राहुर्जीवत्वं प्राणधारणात् ॥१०॥

अब पूर्वोक्त श्रुतियोंसे द्वैतसृष्टिके अनंतर जीवरूपसे ब्रह्मका जो प्रवेश देह आदिमें कहा है उसका वर्णन करते हैं कि जीव सम्बंधी भिन्नरूप अर्थात् अविकारी ब्रह्मसे विलक्षण विकारी रूपको करके वह ईश्वर देहमें प्रविष्ट हुआ और प्राण आदिकों की प्रेरणा करनेसे उसे जीव कहते हैं यह श्रुति कहती है ॥ १० ॥

चैतन्यं यदधिष्ठानं लिंगदेहश्च यः पुनः ॥
चिच्छाया लिंगदेहस्था तत्संघो जीव उच्यते ॥ ११ ॥

लिंगदेहका अधिष्ठान चैतन्य और लिंगदेह और लिंगदेहमें वर्तमान चित्की छाया (चिदाभास) अर्थात् प्रतिबिम्ब-इन तीनोंके समूहको जीव कहते हैं ॥ ११ ॥

माहेश्वरी तु माया या तस्या निर्माणशक्तिवत् ॥
विद्यते मोहशक्तिश्च तं जीवं मोहयत्यसौ ॥ १२ ॥

कदाचित् कोई शंका करे कि यदि ईश्वर ही जीवरूपसे प्रविष्ट है तो वह अज्ञता और दुःख आदि विरुद्ध धर्मोंका आश्रय कैसे हो गया सो ठीक नहीं क्योंकि महेश्वरकी जो माया है उसमें जैसे रचनेका सामर्थ्य है इसी प्रकार मोहन करनेका भी सामर्थ्य है,वह मायाकी मोहनशक्ति इस जीवको मोहित कर देती है अर्थात् चिदानंद-रूप ब्रह्मके ज्ञानसे रहित करती है ॥ १२ ॥

मोहादनीशतां प्राप्य मग्नो वपुषि शोचति ॥
ईशसृष्टमिदं द्वैतं सर्वमुक्तं समासतः ॥ १३ ॥

फिर यह जीव मोहसे अनीश होकर अर्थात् इष्टकी प्राप्ति और अनिष्टकी निवृत्तिमें असमर्थ होकर देहमें मग्न हुआ शोचता है अर्थात् देहोऽहम् (देह मैं हूं) इस अभि-मानसे दुःखी होता है। ईश्वरका रचा हुआ जो द्वैत (जगत्) वह सम्पूर्ण संक्षेपसे यहाँ-तक वर्णन किया ॥ १३ ॥

सप्तान्नब्राह्मणे द्वैतं जीवसृष्टं प्रपंचितम् ॥
अन्नानि सप्त ज्ञानेन कर्मणाऽजनयत्पिता ॥ १४ ॥

अब जीवको द्वैतके स्रष्टा होनेमें प्रमाणको कहते हैं कि सप्तान्न ब्राह्मणमें अर्थात् द्वैतसृष्टिके बोधक ब्राह्मणमें जीवके रचे द्वैतका विस्तारसे वर्णन किया है कि पिता अर्थात् अपने अदृष्टद्वारा जगत्की उत्पत्तिसे सब लोकका पालक जीव सात भेदसे कर्मके द्वारा अन्नोंको पैदा करता हुआ ॥ १४ ॥

मर्त्यान्नमेकं देवान्ने द्वे पश्वन्नं चतुर्थकम् ॥
अन्यत्रितयमात्मार्थमन्नानां विनियोजनम् ॥ १५ ॥

अब सातो अन्नोंके अधिकारियोंका वर्णन करते हैं-एक अन्न मर्त्यों (मनुष्य) का, दो अन्न देवताओंके, चौथा अन्न पशुओंका और शेष तीन अन्न आत्माके लिये-इस प्रकार उन सात अन्नोंका विनियोजन (विभाग) किया अर्थात् बाँट दिये ॥ १५ ॥

व्रीह्यादिकं दर्शपूर्णमासौ क्षीरं तथा मनः ॥
वाक् प्राणश्चेति सप्तत्वमन्नानामवगम्यताम् ॥ १६ ॥

वे सात अन्न, ये हैं, कि व्रीहि आदि, दर्श, पूर्णमास, क्षीर, मन, वाणी, प्राण इन सात अन्नोंको जाने ॥ १६ ॥

ईशेन यद्यप्येतानि निर्मितानि स्वरूपतः ॥
तथापि ज्ञानकर्मभ्यां जीवोऽकार्षीत्तदन्नताम् ॥ १७ ॥

कदाचित् कोई शंका करे कि ये सातों अन्न जगत्के अंतर्गत हैं इससे जीवके निर्मित कहना अयुक्त है सो ठीक नहीं क्योंकि ईश्वरने स्वरूपसे रचे हैं और जीवके भोग्यरूपसे इससे कुछ दोष नहीं अर्थात् यद्यपि ईश्वरने ये अन्न स्वरूपसे रचे हैं तथापि जीवने विहित और निषिद्ध देवता और परस्त्रीके ध्यानरूप ज्ञान और विहित और निषिद्ध यज्ञ हिंसादिरूप कर्म इनके द्वारा व्रीहि आदि प्राणपर्यन्त अन्नोंको रचा है ॥ १७ ॥

ईशकार्य जीवभोग्य जगद्द्वाभ्यां समन्वितम् ॥
पितृजन्या भर्तृभोग्या यथा योषित्तथेष्यताम् ॥ १८ ॥

यह जगत् अर्थात् सात व्रीहि आदि रूप अन्न ईश्वरका कार्य और जीवका भोग्य इस प्रकार इष्ट है अर्थात् ईश्वर इसको रचता है और जीव भोगता है, जैसे एक ही स्त्री पिताकी जन्य (पैदा की) है और भर्ताकी भोग्य (भोगके योग्य) है ॥ १८ ॥

मायावृत्त्यात्मको हीशसंकल्पः साधनं जनौ ॥
मनोवृत्त्यात्मको जीवसंकल्पो भोगसाधनम् ॥ १९ ॥

अब ईश्वर और जीवकी जगत्सृष्टिके हेतुको कहते हैं कि मायावृत्तिरूप ईश्वरका संकल्प उत्पत्तिका साधन है और मनोवृत्तिरूप जीवका संकल्प भोगका साधन है ॥ १९ ॥

ईशनिर्मितमण्यादौ वस्तुन्येकविध स्थिते ॥
भोक्तृधीवृत्तिनानात्वात्तद्भोगो बहुधेष्यते ॥ २० ॥

कदाचित् कहो कि ईश्वरकी रची वस्तुसे भिन्न कोई भोग्यका ऐसा आकार ही नहीं जिसको जीव रचे, सो ठीक नहीं क्योंकि जैसे ईश्वरकी रची और एक-रूपसे स्थित मणि आदि वस्तुमें भोक्ताओंकी बुद्धिकी नाना वृत्तियोंके अनुसार उसका भोग अनेक प्रकारका इष्ट है इसी प्रकार यहां भी उपभोग भोग्यके भेदको जनाता है ॥ २० ॥

हृष्यत्येको मणिं लब्ध्वा क्रुध्यत्यन्यो ह्यलाभतः ॥
पश्यत्येव विरक्तोऽत्र न हृष्यति न कुप्यति ॥ २१ ॥

कदाचित् शंका करो कि भोगके भेद विना भोग्यका भेद है सो ठीक नहीं क्योंकि भोगके भेदसे भोग्यका भेद देखते हैं कि मणिका अभिलाषी एक पुरुष मणिको पाकर आनंदित होता है और अन्यको न मिलनेसे क्रोध होता है और इस मणिके विषय जो विरक्त है वह मणिको देखता है पर उसे न क्रोध होता न आनंद होता है अर्थात् मिलने न मिलनेसे उसे हर्ष क्रोध नहीं होते ॥ २१ ॥

प्रियोऽप्रिय उपेक्ष्यश्चेत्याकारा मणिगास्त्रयः ॥
सृष्टा जीवरीशसृष्टं रूपं साधारणं त्रिषु ॥२२॥

अब जीवके रचे आकारोंके भेद जो भोगके भेदसे होते हैं उनको कहते हैं कि प्रिय अप्रिय उपेक्ष्य अर्थात् प्यारी, कुप्यारी, न प्यारी न कुप्यारी ये तीन आकार मणिमें जीवके रचे हैं और ईश्वरका रचा जो मणिका रूप है वह तीनोंमें साधारण है ॥ २२ ॥

भार्या स्नुषा ननांदा च याता मातेत्यनेकधा ॥
प्रतियोगिधिया योषिद्भिद्यते न स्वरूपतः ॥ २३ ॥

अब जीवके रचे आकारका भेद दूसरे उदाहरणसे स्पष्ट करते हैं जैसे भार्या स्नुषा ननांदा याता माता आदि अनेक प्रकारसे प्रतियोगी (सम्बंधी) की बुद्धिके अनुसार एक ही स्त्रीका भेद होता है और स्वरूपसे भेद नहीं है अर्थात् पतिकी अपेक्षा भार्या, श्वशुरकी अपेक्षा स्नुषा, भौजाईकी अपेक्षा ननँद, दौरानीकी अपेक्षा याता और पुत्रकी अपेक्षा माता होती है ॥ २३ ॥

ननु ज्ञानानि भिद्यंतामाकारस्तु न भिद्यते ॥
योषिद्वपुष्यतिशयो न दृष्टो जीवनिर्मितः ॥ २४ ॥

कदाचित् कहो कि स्त्री है विषय जिनका ऐसे ज्ञानोंका भेद रहो स्त्रीके आकारका कोई भेद नहीं इससे प्रतियोगीकी बुद्धिसे स्त्रीका भेद अयुक्त है सो ठीक नहीं क्योंकि यद्यपि ज्ञानोंका भेद है आकारका नहीं क्योंकि स्त्रीके शरीरमें जीवकी रची कोई अधिकता नहीं देखी तथापि ॥ २४ ॥

मैवं मांसमयी योषित्काचिदन्या मनोमयी ॥
मांसमय्या अभेदेऽपि भिद्यते हि मनोमयी ॥२५॥

ज्ञेयकी विलक्षणताके विना ज्ञानकी विलक्षणता नहीं हो सकती इससे ज्ञेयके आकारका भेद अवश्य मानना पडेगा इस आशयसे उत्तर देते हैं कि ऐसा मत कहो कि विषयका भेद नहीं क्योंकि एक स्त्री ता मांसमयी है और दूसरी मनोमयी है उनमें यद्यपि मांसकी स्त्रीका भेद नहीं परंतु मनोमयीका भेद है ॥ २५ ॥

भ्रांतिस्वप्नमनोराज्यस्मृतिष्वस्तु मनोमयम् ॥
जाग्रन्मानेन मेयस्य न मनोमयतेति चेत् ॥ २६ ॥

कदाचित् कहो कि भ्रांति स्वप्न मनोराज्य स्मृति आदिमें बाह्य विषयके अभावसे मनोमय पदार्थ रहे जाग्रत् अवस्थामें प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे बाह्य वस्तुके विद्यमान रहते प्रमेय पदार्थ मनोमय नहीं हो सकता ॥ २६ ॥

बाढं माने तु मेयन योगात्स्याद्विषयाकृतिः ॥
भाष्यवार्तिककाराभ्यामयमथ उदीरितः ॥ २७ ॥

सो ठीक नहीं क्योंकि यह सत्य है कि प्रमितिके स्थलमें बाह्य विषय रहता है तथापि मानमें मेय पदार्थके संबंधसे उस ज्ञानका विषय जो मेय है वह मनोमय और विषयाकार ज्ञान हो जाता है और यही अर्थ भाष्य और वार्तिकका-रोंने कहा है । कुछ कल्पित नहीं है ॥ २७ ॥

मूषासिक्तं यथा ताम्रं तन्निभं जायते तथा ॥
रूपादीन् व्याप्नुवच्चित्तं तन्निभ दृश्यते ध्रुवम् ॥ २८ ॥

प्रथम भाष्यकारके वचनको ही कहते हैं कि जैसे मूषा (कठोठी आदि पात्र) में डाला हुआ द्रुत (गलाया) सुवर्ण वा ताम्र आदि द्रव्य मूषाके आकारके तुल्य होजाता है उसी प्रकार रूप आदिमें प्राप्त हुआ चित्त भी निश्चयसे रूप आदिके आकारका हो जाता है ॥ २८ ॥

व्यंजको वा यथाऽऽलोको व्यंग्यस्याकारतामियात् ॥
सर्वार्थव्यंजकत्वाद्धीरर्थाकारा प्रदृश्यते ॥ २९ ॥

कदाचित् कोई कहे कि अग्निमें तपानेसे द्रुत हुए ताम्र आदिको मूषामें सींचनेसे कठिन मूषामें पडनेके वश शीतल होनेपर मूषाका आकार हो जावे और ताम्र आदिसे विलक्षण अमूर्तिमान् पदार्थरूप बुद्धि विषयाकार कैसे हो सकती है यह शंका करके अन्य दृष्टांत देते हैं कि जैसे प्रकाशक आलोक (धूप आदि) व्यंग्य अर्थात् प्रकाश करने योग्य घट आदिके आकारको प्राप्त हो जाता है इसी प्रकार संपूर्ण पदार्थोंकी प्रकाशक बुद्धि भी पदार्थके आकारको प्राप्त होजाती है यह भी भले प्रकार देखते हैं ॥ २९ ॥

मातुर्मानाभिनिष्पत्तिर्निष्पन्नं मेयमेति तत् ॥
मेयाभिसंगतं तच्च मेयाभत्वं प्रपद्यते ॥ ३० ॥

अब वार्तिककारके वचनको कहते हैं कि अधिष्ठानसहित बुद्धिमें स्थित चिदाभासरूप जो प्रमाता (ज्ञाता) उससे मानकी निष्पत्ति अर्थात् आभास सहित अंतःकरणकी उत्पत्ति होती है और उत्पन्न हुआ वह मेय मानमें प्राप्त हो

जाता है अर्थात् घट आदि रूप हो जाता है और वह मान भी मेय (प्रमेय) से संबद्ध हुआ मेयके समान आकारका प्रतीत होता है ॥ ३० ॥

सत्येवं विषयौ द्वौ स्तो घटौ मृन्मयधीमयौ ॥
मृन्मयो मानमेयः स्यात्साक्षिभास्यस्तु धीमयः ॥ ३१ ॥

इस प्रकार होनेसे दो प्रकारके विषय हुए एक मृन्मय (मिट्टीका) दूसरा धीमय (बुद्धिस्थ) उन दोनोंमें मृन्मय घट प्रमाणसे मेय होता (ज्ञात) है और जो घट धीमय है वह साक्षीसे भासने योग्य होता है अर्थात् उसे साक्षी जानता है। इससे यहां यह शंका न करनी कि मिट्टीके घटके तुल्य मनोमय घटको वही मन ग्रहण नहीं कर सकता और दूसरा कोई ग्राहक है नहीं इससे मनोमयकी सिद्धि न होगी ॥ ३१ ॥

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां धीमयो जीवबंधकृत् ॥
सत्यस्मिन् सुखदुःखे स्तस्तस्मिन्नसति न द्वयम् ॥ ३२ ॥

कदाचित् कहो कि इस प्रकार दो प्रकारका द्वैत रहो इनमें कौन त्यागने योग्य है और कौन अत्याज्य है यह ज्ञान नहीं हो सकता यह शंका करके जीवके रचे द्वैतको त्याज्य मान कर उसे बंधका हेतु कहते हैं कि अन्वय और व्यतिरेकसे धीमय जगत् जीवको बंधनका कर्ता है क्योंकि इस जीवके रचे मानस प्रपंचके विद्यमान होते सुख दुःख होते हैं और इसके न होनेपर सुख दुःख दोनों नहीं होते इसका ही नाम अन्वयव्यतिरेक है ॥ ३२ ॥

असत्यपि च बाह्यार्थे स्वप्नादौ बध्यते नरः ॥
समाधिसुप्तिमूर्च्छासु सत्यप्यस्मिन्न बध्यते ॥ ३३ ॥

कदाचित् कहो कि पूर्वोक्त अन्वयव्यतिरेक बाह्य अर्थके विषे ही मानेंगे सो ठीक नहीं क्योंकि स्वप्न और स्मृति आदिके विषय बाह्य अर्थके अर्थात् अनुकूल स्त्री और प्रतिकूल व्याघ्र आदिके पारमार्थिक (सच्चे) न होनेपर भी मनुष्य बंधनको प्राप्त होता है अर्थात् उनके सुखदुःखका भोक्ता होता है और समाधि सुषुप्ति मूर्च्छाओंमें बाह्य विषयके होनेपर भी सुखदुःखरूप बंधनको प्राप्त नहीं होता इससे बाह्य अर्थके अन्वय व्यतिरेक नहीं हो सकते ॥ ३३ ॥

दूरदेशं गते पुत्रे जीवत्येवात्र तत्पिता ॥
विप्रलंभकवाक्येन मृतं मत्वा प्ररोदिति ॥ ३४ ॥

अब मनोमय प्रपंचको ही बंधक होनेसे अन्वय व्यतिरेकोंको उदाहरण देकर स्पष्ट करते हैं कि दूर देशमें गया हुआ पुत्र वहां जीवता भी है और किसी मिथ्यावादीके 'तेरा पुत्र मर गया' इस मिथ्यावचनसे अपने पुत्रको मरा मानकर अपने घरमें स्थित उसका पिता रोदन करता है अर्थात् पिताके मनमें स्थित वही मनके रोदनका जनक हुआ बाह्य पुत्र जीवता परदेशमें विद्यमान है ॥ ३४ ॥

मृतेऽपि तस्मिन्वार्तायामश्रुतायां न रोदिति ॥
अतः सर्वस्य जीवस्य बंधकृन्मानसं जगत् ॥ ३५ ॥

और उस पुत्रके परदेशमें मरनेपर भी पिता मरनेकी वार्ता न सुने तो रोदन न करेगा इससे संपूर्ण जगत्को मानस जगत् ही बंधका कर्ता है ॥ ३५ ॥

विज्ञानवादो बाह्यार्थवैयर्थ्यात्स्यादिहेति चेत् ॥
न हृद्याकारमाधातुं बाह्यस्यापेक्षितत्त्वतः ॥ ३६ ॥

कदाचित् कहो कि मानस जगत्को ही बंधका हेतु मानेंगे तो बाह्य जगत्का सर्वथा अपलाप ही हो जायगा इससे सिद्धांतका ही भंग होगा सो ठीक नहीं कि बाह्य अर्थके व्यर्थ होनेसे यहां विज्ञानवाद (ज्ञानरूप जगत् मानना) हो जायगा सो भी नहीं क्योंकि यद्यपि मानस प्रपंच ही बंधका हेतु है तथापि उस मानस प्रपंचको बाह्य अर्थकी भी अपेक्षा है इससे विज्ञानवादका प्रसंग नहीं हो सकता ॥ ३६ ॥

वैयर्थ्यमस्तु वा बाह्यं न वारयितुमीश्महे ॥
प्रयोजनमपेक्षंते न मानानीति हि स्थितिः ॥ ३७ ॥

कदाचित् कहा कि हृदयमें आकार समर्पण करनेके लिये बाह्य पदार्थोंकी अपेक्षा करनी योग्य नहीं क्योंकि पूर्व २ मानस प्रपंचका संस्कार ही उत्तर २ मानस प्रपंचका हेतु माननेसे कार्यसिद्धि हो जायगी सो ठीक नहीं क्योंकि बाह्य अर्थ चाहे व्यर्थ भी हो परंतु उसका हम वारण (निषेध) करनेको समर्थ नहीं जैसे कि विज्ञानवादी बाह्य अर्थका निषेध करते हैं. कदाचित् कहो कि प्रयोजनशून्य बाह्य अर्थका मानना ही वृथा है सो भी ठीक नहीं क्योंकि मान (प्रमाण) प्रयोजनकी अपेक्षा नहीं करते यह मर्यादा है अर्थात् प्रमाणके अधीन वस्तुकी सिद्धि है प्रयोजनके अधीन नहीं, मानसे सिद्ध हुआ पदार्थ प्रयोजनशून्य होनेसे कुछ असत् नहीं होजाता यह लौकिकवादी मानते हैं । भावार्थ यह है कि बाह्य व्यर्थ हो हम वारण नहीं कर सकते परंतु यह मर्यादा है कि मान प्रयोजनकी अपेक्षा वस्तुकी सिद्धिमें नहीं करते ॥ ३७ ॥

बंधश्चेन्मानसद्वैतं तन्निरोधेन शाम्यति ॥
अभ्यसेद्योगमेवातो ब्रह्मज्ञानेन किं वद ॥ ३८ ॥

यहां वादी शंका करता है कि यदि मानस द्वैत (प्रपंच) बंधनका हेतु है तो उस मनके निरोधरूप योगसे ही उसकी शांति (निवृत्ति) हो जायगी इससे योगका ही अभ्यास करे ब्रह्मज्ञानसे क्या फल होगा यह तुम कहो अर्थात् ब्रह्मज्ञान निरर्थक है ॥ ३८ ॥

तात्कालिकद्वैतशांतावप्यागामिजनिक्षयः ॥
ब्रह्मज्ञानं विना न स्यादिति वेदांतडिंडिमः ॥ ३९ ॥

योगसे द्वैतकी शांति तात्कालिकी होगी वा आत्यंतिकी (सर्वथा) इस विकल्पमें प्रथमका स्वीकार करके दूसरे पक्षमें दूषण देते हैं कि तत्कालके द्वैतकी शांति होनेपर भी भविष्यत्कालके द्वैतकी उत्पत्तिका नाश ब्रह्मज्ञानके विना नहीं हो सकता यह वेदांतका डिंडिम (घोष वा ढंडोरा) है क्योंकि ये श्रुति ब्रह्मज्ञानसे ही बंधका नाश अन्वय व्यतिरेकसे कहती है कि' देव (ब्रह्म) को जानकर सब बंधनोंसे छूटता है शिव(सुखरूप ब्रह्म)को जानकर अत्यंत शांतिको प्राप्त होता है और जब चर्मके समान आकाशको मनुष्य लपेटते हैं तब (मरणके समयमें) देवके विना ज्ञान भी दुःखका अंत हो जायगा अर्थात् मरनेपर संसारके दुःख प्रतीत न होंगे परंतु सर्वथा दुःखका नाश ब्रह्मज्ञानसे ही होता है। भावार्थ यह है कि योगसे तत्कालके द्वैतका नाश हो भी जाय पर भविष्यकालके द्वैतका नाश ब्रह्मज्ञान विना नहीं होता यह वेदांतका सिद्धांत है ॥ ३९ ॥

अनिवृत्तेऽपीशसृष्टे द्वैते तस्य मृषात्मताम् ॥
बुद्ध्वा ब्रह्माद्वयं बोद्धुं शक्यं वस्त्वैक्यवादिनः ॥ ४० ॥

कदाचित् कहो कि बाह्य द्वैतकी निवृत्तिके विना अद्वितीय ब्रह्मज्ञान नहीं होगा सो ठीक नहीं क्योंकि ईश्वरके रचे द्वैतकी निवृत्तिके विना भी उसको मिथ्या रूप जानकर अद्वैतवादी अर्थात् एक वस्तुरूप ब्रह्मका ज्ञाता अद्वितीय ब्रह्मको जान सकता है. सिद्धान्त यह है कि ब्रह्मज्ञानमें द्वैतका मिथ्यात्वनिश्चय हेतु है सर्वथा निवृत्ति नहीं ॥ ४० ॥

प्रलये तन्निवृत्तौ तु गुरुशास्त्राद्यभावतः ॥
विरोधिद्वैताभावेऽपि न शक्यं बोद्धुमद्वयम् ॥ ४१ ॥

ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैर्ज्ञात्वा शिवं शांतिमत्यंतमेति ॥ यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयंति हि मानवाः । तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यांतो भविष्यति ॥

कदाचित् कहो कि द्वैतका मिथ्यात्वज्ञान ब्रह्म (अद्वैत) ज्ञानका हेतु नहीं किन्तु द्वैतका निषेध ही है सो भी ठीक नहीं क्योंकि प्रलय अवस्थामें द्वैतकी निवृत्ति होनेपर भी अद्वैतका विरोधी जो द्वैत उसका अभाव अर्थात् निवारण होनेपर भी गुरु और शास्त्र आदि जो ज्ञानके साधन हैं उनके अभावसे अद्वैत वस्तुको कोई नहीं जान सकता इससे द्वैतका निवारण अद्वैत ब्रह्मज्ञानका हेतु नहीं हो सकता ॥ ४१ ॥

अबाधकं साधकं च द्वैतमीश्वरनिर्मितम् ॥
अपनेतुमशक्यं चेत्यास्तां तद्द्विष्यते कुतः ॥ ४२ ॥

कदाचित् कहो कि द्वैतके रहते किस प्रकार अद्वैतका ज्ञान होगा सो ठीक नहीं ईश्वरका रचा हुआ द्वैत अबाधक है क्योंकि उसके मिथ्यात्वज्ञानसे ही अद्वैत ज्ञान हो सकता है इससे उसके माननेमें कोई बाधा नहीं और गुरु शास्त्र आदिरूप जो द्वैत है वह ज्ञानका साधन होनेसे आकाश आदिरूप साधक द्वैत दूर करनेको अशक्य है इससे अबाधक और साधकरूप ईश्वरका रचा दो प्रकारका जो द्वैत है उसका द्वेष क्यों करते हो अर्थात् उसके रहनेसे हमारी कुछ हानि नहीं हमें ब्रह्मज्ञानसे प्रयोजन है ॥ ४२ ॥

जीवद्वैतं तु शास्त्रीयमशास्त्रीयमिति द्विधा ॥
उपाददीत शास्त्रीयमा तत्त्वस्यावबोधनात् ॥ ४३ ॥

अब जीवके रचे द्वैतका विभाग करते हैं कि जीवका रचा शास्त्रोक्त और अशास्त्रोक्त भेदसे दो प्रकारका द्वैत है । उन दोनोंमें शास्त्रीय द्वैतको तो तबतक स्वीकार कर ले जबतक अद्वैतका ज्ञान न हो ॥ ४३ ॥

आत्मब्रह्मविचाराख्यं शास्त्रीयं मानसं जगत् ॥
बुद्धे तत्त्वे तच्च हेयमिति श्रुत्यनुशासनम् ॥ ४४ ॥

अब शास्त्रीय द्वैतको कहते हैं-कि आत्मस्वरूप ब्रह्मका जो श्रवण आदि विचार वह शास्त्रीय मानस जगत् है तत्त्वज्ञान होनेपर वह भी श्रुतिकी आज्ञासे त्यागने योग्य है कदाचित् कोई कहे कि शयन और मरणपर्यंतके कालको वेदान्तकी चिन्तासे व्यतीत करे-इस वाक्यकी क्या गति होगी सो ठीक नहीं क्योंकि इसी वाक्य-का पूर्व अर्द्ध जो किंचित् भी काम आदिके अवसर देनेका निषेध करता है उसके लिये ही यह वाक्य है कुछ इस लिये नहीं है कि अद्वैत अवस्थामें भी वेदान्तका त्याग न करे ॥ ४४ ॥

---

१ दद्यान्नावसरं किंचित्कामादीनां मनागपि । आसुप्तेरामृतेः कालन्नये वेदान्तचिन्तया ।

शास्त्राण्यधीत्य मेधावी अभ्यस्य च पुनः पुनः ॥
परमं ब्रह्म विज्ञाय उल्कावत्तान्यथोत्सृजेत् ॥ ४५ ॥
ग्रंथमभ्यस्य मेधावी ज्ञानविज्ञानतत्परः ॥
पलालमिव धान्यार्थी त्यजेद् ग्रंथमशेषतः ॥ ४६ ॥
तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः ॥
नानुध्यायाद्बहूञ्छब्दान्वाचो विग्लापनं हि तत् ॥ ४७ ॥

बुद्धिमान् मनुष्य शास्त्रोंको पढ़कर और वारंवार उनका अभ्यास करके परब्रह्मज्ञानके अनन्तर उनको उल्काके समान त्याग दे, ज्ञान विज्ञानमें तत्पर बुद्धिमान् मनुष्य उन सब ग्रंथोंको इस प्रकार त्याग दे कि जैसे धान्यका अर्थी पलालको त्याग देता है धीर ब्राह्मण उसी ब्रह्मको जानकर स्थिर बुद्धि करे और बहुत शब्दोंका उच्चारणन करे क्योंकि वह वाणीका विग्लापन (नाशन) है । ये सब श्रुतियां तत्त्वज्ञानके अनन्तर शास्त्रके त्यागको कहती हैं ॥ ४५ ॥ ४६ ॥ ४७ ॥

तमेवैकं विजानीथ ह्यन्या वाचो विमुंचथ ॥
यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञ इत्याद्याः श्रुतयः स्फुटाः ॥ ४८ ॥

क्योंकि उसी एक ब्रह्मको तुम जानो और अन्य वाणियोंको छोड दो बुद्धिमान् मनुष्य वाणी और मन इन दोनोंको वशमें रक्खे इत्यादि श्रुतियोंमें प्रकट रीतिसे शास्त्रोंका ज्ञानके अनंतर त्याग लिखा है ॥ ४८ ॥

अशास्त्रीयमपि द्वैतं तीव्रं मंदमिति द्विधा ॥
कामक्रोधादिकं तीव्रं मनोराज्यं तथेतरत् ॥ ४९ ॥

और अशास्त्रीय भी द्वैत तीव्र और मंद भेदसे दो प्रकारका है—उनमें काम क्रोध आदि तीव्र (भयानक) और मनोराज्य मंदरूप है ॥ ४९ ॥

उभयं तत्त्वबोधात् प्राङ् निवार्यं बोधसिद्धये ॥
शमः समाहितत्वं च साधनेषु श्रुतं यतः ॥ ५० ॥

ये दोनों भी द्वैत—बोध (ज्ञान) सिद्धिके लिये तत्त्वज्ञानसे पहले निवारण करने योग्य हैं क्योंकि नित्यानित्यविवेकरूप जो ब्रह्मज्ञानके साधन हैं उनमें शांति और समाधि दोनों कारण भी सुने हैं अर्थात् इनसे भी ब्रह्मज्ञान होता है ॥ ५० ॥

बोधादूर्ध्वं च तद्धेयं जीवन्मुक्तिप्रसिद्धये ॥
कामादिक्लेशबंधेन युक्तस्य नहि मुक्तता ॥ ५१ ॥

कदाचित् कोई कहे कि बोधसे पहले त्यागने योग्य हैं तो उत्तरकालमें इनका स्वीकार हो जायगा सो ठीक नहीं क्योंकि बोधके अनंतर भी ये जीवन्मुक्तिके लिये त्यागने योग्य हैं क्योंकि काम क्रोध आदि क्लेशसे जो बंधा मनुष्य है वह मुक्त नहीं हो सकता ॥ ५१ ॥

जीवन्मुक्तिरियं मा भूज्जन्माभावे त्वहं कृती ॥
तर्हि जन्मापि तेऽस्त्वेव स्वर्गमात्रात्कृती भवान् ॥ ५२ ॥

कदाचित् शंका करो कि जन्म आदि संसारसे जिसका उद्विग्न चित्त है वह आत्यंतिक पुरुषार्थरूप विदेहमुक्तिसे ही पूर्ण हो जायगा तो देहपातपर्यन्त जो स्थिर रहे उस जीवन्मुक्तिका क्या प्रयोजन है अर्थात् जीवन्मुक्ति मत हो;जन्मके अभावमें ही कृतार्थ हैं ऐसा कहोगे तो इस लोकके भोगोंकी निवृत्तिके भयसे तुमने जीवन्मुक्तिका त्याग किया तो परलोकके भोगोंकी निवृत्तिके भयसे विदेहमुक्ति भी आपको त्यागने योग्य हो जायगी इससे आपको तो जन्मका भी स्वीकार रहे और स्वर्गमात्रकी प्राप्तिसे ही अपने आपको कृतार्थ मानो ॥ ५२ ॥

क्षयातिशयदोषेण स्वर्गो हेयो यदा तदा ॥
स्वयं दोषतमात्माऽयं कामादिः किं न हीयते ॥ ५३ ॥

कदाचित् कहो कि क्षय और अतिशयके दोषसे अर्थात् नष्ट होना और आधिक्य रूपसे स्वर्ग त्यागने योग्य है तो स्वयम् अत्यंत दूषितरूप काम आदिको त्यागने योग्य क्यों नहीं मानते ॥ ५३ ॥

तत्त्वं बुद्ध्वाऽपि कामादीन्निःशेषं न जहासि चेत् ॥
यथेष्टाचरणं ते स्यात्कर्मशास्त्रातिलंघिनः ॥ ५४ ॥

कदाचित् कहो कि वैराग्यके संपादनमें अत्यंत अनर्थके हेतु काम आदिका त्याग है, इस लोकमें भोगके हेतु काम आदिके स्वीकारमें क्या दोष है सो ठीक नहीं क्योंकि यदि आप तत्त्वको जानकर भी निश्शेष (सर्वथा) काम आदिको नहीं त्यागोगे तो कर्मशास्त्र (विधिनिषेध) के अतिलंघनकर्ता आपका यथेष्टाचरण (इच्छाके अनुसार) होगा ॥ ५४ ॥

बुद्धाद्वैतस्वतत्त्वस्य यथेष्टाचरणं यदि ॥
शुनां तत्त्वदृशां चैव को भेदोऽशुचिभक्षणे ॥ ५५ ॥

और जाना है अद्वैत ब्रह्मका तत्त्व जिसने ऐसा मनुष्य भी यदि यथेष्टाचरण करे तो श्वान और तत्त्वज्ञानी इन दोनोंका अशुद्ध पदार्थोंके भक्षणमें कौन भेद होगा अर्थात् यथेष्टाचारी भी अशुद्ध पदार्थका भक्षण करे तो उसका कुत्तेसे कौनसा अंतर है ॥ ५५ ॥

बोधात्पुरा मनोदोषमात्रात्क्लिष्टोऽस्यथाऽधुना ॥
अशेषलोकनिंदा चेत्यहो ते बोधवैभवम् ॥ ५६ ॥

ज्ञानसे पूर्व काम क्रोध आदि चित्तके दोषोंका ही आपको क्लेश था और अब तो संपूर्ण जगत्की निंदाको भी सहोगे यह आपके बोधका वैभव ! आश्चर्य है

विड्वराहादितुल्यत्वं मा कांक्षीस्तत्त्वविद्भवान् ॥
सर्वधीदोषसंत्यागाल्लोकैः पूज्यस्व देववत् ॥ ५७ ॥

जिससे तू तत्त्वका ज्ञाता है इससे विड्वराह आदिके तुल्य होनेकी आकांक्षा मत कर किन्तु संपूर्ण बुद्धिके दोषोंके भली प्रकार त्यागसे जगत्में देवताओंके समान पूजाको प्राप्त हो ॥ ५७ ॥

काम्यादिदोषदृष्ट्याद्याः कामादित्यागहेतवः ॥
प्रसिद्धा मोक्षशास्त्रेषु तानन्विष्य सुखी भव ॥ ५८ ॥

अब उनके त्यागका उपाय कहते हैं कि कामनाके विषय स्रक् चंदन आदि जो हैं उनके जो अनित्यत्व आदि दोष उनके दोषोंका दर्शन है आदि जिनके ऐसे जो कोपस्वरूपके विचार आदि हैं वे काम आदिके त्यागमें हेतु हैं ये सब मोक्षशास्त्र (वेदांत) में प्रसिद्ध हैं उनका तू अन्वेषण (ढूंढना) कर और सुखको प्राप्त हो ॥ ५८ ॥

त्यज्यतामेष कामादिर्मनोराज्ये तु का क्षतिः ॥
अशेषदोषबीजत्वात्क्षतिर्भगवतेरिता ॥ ५९ ॥

कदाचित् कहो कि इस काम आदिको त्याग दो मनोराज्य तो निर्दोष है इससे उसके स्वीकार करनेमें क्या हानि है सो ठीक नहीं क्योंकि संपूर्ण दोषोंका बीज होनेसे मनोराज्यके माननेमें भगवान् श्रीकृष्णचंद्रने हानि कही है अर्थात् वह यद्यपि साक्षात् अनर्थका हेतु नहीं है तथापि परंपरासे अनर्थका हेतु होनेसे त्यागने योग्य है ॥ ५९ ॥

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते ॥
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥ ६० ॥

जिससे परंपरासे मनोराज्य अनर्थका हेतु है उस भगवान्के वाक्यको कहते हैं कि विषयोंका ध्यान करते हुए पुरुषका विषयोंमें संग होजाता है और संगसे कामना होती है और कामनासे क्रोध हो जाता है ॥ ६० ॥

शक्यं जेतुं मनोराज्यं निर्विकल्पसमाधितः ॥
सुसपादः क्रमात्सोऽपि सविकल्पसमाधिना ॥ ६१ ॥

निर्विकल्पसमाधिसे मनोराज्यको जीत सकते हैं और वह निर्विकल्पसमाधि अर्थात् अद्वैत ब्रह्ममें चित्तकी स्थिरता भी सविकल्प ब्रह्ममें समाधिसे भले प्रकार हो सकती है ॥ ६१ ॥

बुद्धतत्त्वेन धीदोषशून्येनैकांतवासिना ॥
दीर्घं प्रणवमुच्चार्य मनोराज्यं विजीयते ॥ ६२ ॥

कदाचित् कोई कहे कि अष्टांगयोगसे जो युक्त है अर्थात् धारणा आदि योगके अंगोंमें प्रवीण है उसको मनोराज्यका जय रहे जो अष्टांगयोगी नहीं है उसकी क्या गति (उपाय) है, सो ठीक नहीं क्योंकि जिसने तत्त्वको जान लिया अर्थात् आत्मा और ब्रह्मकी एकताका निश्चय कर लिया और काम क्रोध आदि बुद्धिके दोषोंसे जो रहित है और एकांतस्थानका निवासी हो ऐसा पुरुष दीर्घस्वरसे ओंकारका उच्चारण करके मनोराज्यको जीत लेता है ॥ ६२ ॥

जिते तस्मिन्वृत्तिशून्यं मनस्तिष्ठति मूकवत् ॥
एतत्पदं वसिष्ठेन रामाय बहुधेरितम् ॥ ६३ ॥

अब मनोराज्यके जयका फल कहते हैं कि मनोराज्यके जीतने पर मन वृत्तियोंसे शून्य होकर मूकके समान टिकता है अर्थात् वाणीके सब व्यवहारोंसे रहित हो जाता है यही पद अर्थात् मनोराज्यके जीतनेका प्रकार वसिष्ठजीने रामचंद्रके प्रति बहुधा वर्णन किया है ॥ ६३ ॥

दृश्यं नास्तीति बोधेन मनसो दृश्यमार्जनम् ॥
संपन्नं चेत्तदुत्पन्ना परा निर्वाणनिर्वृतिः ॥ ६४ ॥

अब वसिष्ठजीके वचनको ही कहते हैं कि दृश्य जगत् नहीं है इस बोधसे अर्थात् (नेह नानास्ति किंचन) इस श्रुतिसे पैदा हुए ज्ञानके बलसे जब दृश्यके अर्थात्

अद्वितीय ब्रह्मसे भिन्न जगत्के अभावका ज्ञान भले प्रकार हो गया तो उस ज्ञानसे परम निर्वाण सुखकी प्राप्ति जो सबसे उत्तम है वह हो जाती है अर्थात् सबसे श्रेष्ठ मोक्षसुख हुआ यह ज्ञान होजाता है ॥ ६४ ॥

विचारितमलं शास्त्रं चिरमुद्ग्राहितं मिथः ॥
संत्यक्तवासनान्मौनादृते नास्त्युत्तमं पदम् ॥ ६५ ॥

और चाहे अद्वैतशास्त्रका पूर्ण रीतिसे विचार किया हो और चाहे गुरु शिष्य आदि परंपरासे चिरकालतक उपदेश किया हो उन सबके करनेसे यही निश्चय होता है कि त्याग दी है वासना जिसने ऐसे मनके मौन रहनेसे दूसरा पद उत्तम नहीं ह अर्थात् मौन सर्वोत्तम है ॥ ६५ ॥

विक्षिप्यते कदाचिद्धीः कर्मणा भोगदायिना ॥
पुनः समाहिता सा स्यात्तदैवाभ्यासपाटवात् ॥ ६६ ॥

इस प्रकार संपन्न हुए चित्तका कदाचित् प्रारब्धवश जो विक्षेप उसके न होनेमें उपायको कहते हैं यदि बुद्धि भी कदाचित् भोगके दाता कर्मसे विक्षेपको प्राप्त हो जाय अर्थात् डिग जाय तो उसी समय अभ्यासकी दृढतासे समाहित (स्थिर) हो जाती है ॥ ६६ ॥

विक्षपो यस्य नास्त्यस्य ब्रह्मवित्त्वं न मन्यते ॥
ब्रह्मैवायमिति प्राहुर्मुनयः पारदर्शिनः ॥ ६७ ॥

अब जिसका चित्त सदैव विक्षेपसे रहित रहता है वह यथार्थ ब्रह्मज्ञानी भी नहीं है इस बातको दिखावे हैं कि जिसको विक्षेप नहीं है उसको ब्रह्मज्ञानी नहीं मानते किंतु यह ब्रह्म ही है इस प्रकार उस (ब्रह्मज्ञानी)को पारदर्शी अर्थात् वेदांतशास्त्रके पारगामी आचार्य ब्रह्मज्ञानी जन कहते हैं ॥ ६७ ॥

दर्शनादर्शने हित्वा स्वयं केवलरूपतः ॥
यस्तिष्ठति स तु ब्रह्मन् ब्रह्म न ब्रह्मवित्स्वयम् ॥ ६८ ॥

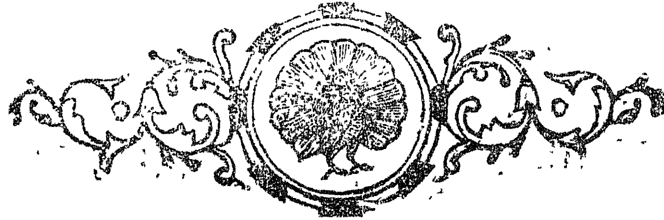
इसमें भी वसिष्ठजीके वचनका उदाहरण देते हैं कि जो मनुष्य मैं ब्रह्मको जानता हूं मैं ब्रह्मको नहीं जानता इन दोनों व्यवहारोंको त्यागकर स्वयम् अद्वितीय ब्रह्मरूपसे टिकता है वह स्वयं ब्रह्म ही है ब्रह्मका ज्ञाता नहीं है अर्थात् ब्रह्मसे अभिन्न है ६८

जीवन्मुक्तेः परा काष्ठा जीवद्वैतविवर्जनात् ॥
लभ्यतेऽसावतोऽत्रेदमीशद्वैताद्विवेचितम् ॥ ६९ ॥
इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीभारतीतीर्थ-
विद्यारण्यमुनिवर्यकृतद्वैतविवेकः समाप्तः ॥ ४ ॥

यह पूर्वोक्त प्रकारकी जो जीन्मुक्तिकी परा काष्ठा है अर्थात् सबसे उत्तम अंतभूमि है वह जीवका जो द्वैत (मनोमय प्रपंच) उसके त्यागसे प्राप्त होती है इस कारण यहां जीवद्वैतका ईश्वरके रचे द्वैतसे विवेक किया है अर्थात् दोनों पृथक् २ दिखा दिये हैं ॥ ६९ ॥

इति पं० मिहिरचंद्रकृतभाषोद्धृतिसहितविद्यारण्यमुनिरचित-
पंचदश्यां द्वैतविवेकः समाप्तः ॥ ४ ॥

इति द्वैतविवेकप्रकरणम् ॥ ४ ॥



अथ महावाक्यविवेकप्रकरणम् ५.



येनेक्षते शृणोतीदं जिघ्रति व्याकरोति च ॥
स्वाद्वस्वादु विजानाति तत्प्रज्ञानमुदीरितम् ॥ १ ॥

मुमुक्षुको मोक्षके साधन ब्रह्मज्ञानकी सिद्धिके लिये प्रसिद्ध जो चारों महावाक्य हैं उनका क्रमसे अर्थ निरूपण करनेके लिये परमदयालु आचार्य प्रथम ऐतरेय आरण्यकका जो "प्रज्ञानं ब्रह्म" यह महावाक्य उसके प्रज्ञानशब्दका अर्थ कहते हैं कि जिस चक्षु आदि इंद्रियके द्वारा बाहर निकले अंतःकरणकी वृत्तिसे उपहित (युक्त) चैतन्यसे दर्शनके योग्य रूप आदिको पुरुष देखता है और वैसे ही श्रोत्रके द्वारा निकले जिस पूर्वोक्त चैतन्यसे शब्दोंको सुनता है और वैसे ही घ्राणके द्वारा निकले जिस पूर्वोक्त चैतन्यसे गंधके समूहको सूंघता है और जिस वाक् इंद्रियसे युक्त चैतन्यसे शब्दोंके समूहको उच्चारण करता है और रसना इंद्रियद्वारा बाहर निकले जिस चैतन्यसे स्वादु और अस्वादु रसको जानता है, यहां च शब्द अनुक्तके भी ग्रहणके लिये है अर्थात् संपूर्ण इंद्रिय और अंतःकरणकी वृत्तियोंसे उपलक्षित (जानने योग्य) जो चैतन्य है उसको ही यहां प्रज्ञान कहते हैं । इस श्लोकसे (येन वा पश्यति सर्वाणि) इस तकका अर्थ संक्षेपसे कहा । भावार्थ यह है कि जिससे देखे, सुने, सूंघे, उच्चारण करे और स्वादु अस्वादु रसको जाने उसे प्रज्ञान कहते हैं ॥ १ ॥

चतुर्मुखेंद्रदेवेषु मनुष्याश्वगवादिषु ॥
चैतन्यमेकं ब्रह्मातः प्रज्ञानं ब्रह्म मय्यपि ॥ २ ॥

अब पूर्वोक्त प्रकारसे प्रज्ञानशब्दके अर्थको कहकर ब्रह्मशब्दका अर्थ कहते हैं कि ब्रह्मा, इंद्र और देवता जो उत्तम हैं और जो मनुष्य आदि मध्यम हैं और अश्व, गौ आदि जो अधम हैं उन सब देहधारियोंमें और आकाश आदि भूतोंमें जो जगत्के जन्म आदिका हेतु एक चैतन्य पूर्ण है वही ब्रह्म है इस श्लोकसे "एष ब्रह्म एष इंद्रः" इत्यादि और "प्रज्ञा प्रतिष्ठा" इस पर्यंतका अर्थ संक्षेपसे दिखाया । इस प्रकार पदार्थको कहकर वाक्यार्थको कहते हैं कि जिससे संपूर्ण पदार्थोंमें स्थित प्रज्ञानब्रह्म है इससे मुझमें स्थित भी प्रज्ञान ब्रह्म ही है क्योंकि

सर्वत्र ब्रह्मरूप तत्त्वमें कोई विशेषता नहीं है। भावार्थ यह है कि जब ब्रह्मा इंद्र देवता अश्व गौ आदिमें एक चैतन्य ब्रह्म है तो मुझमें भी प्रज्ञान रूप ब्रह्म है ॥२॥

परिपूर्णः परात्मास्मिन्देहे विद्याधिकारिणि ॥
बुद्धेः साक्षितया स्थित्वा स्फुरन्नहमितीर्यते ॥ ३ ॥

इस प्रकार ऋग्वेदकी शाखाके महावाक्यका अर्थ निरूपण करके यजुःशाखाओंके मध्यमें बृहदारण्यक उपनिषद्में लिखे "अहं ब्रह्मास्मि" इस महावाक्यका अर्थ प्रगट करनेके लिये अहं शब्दका अर्थ कहते हैं कि इस मायासे कल्पित जंगत्में और विद्याका अधिकारी अर्थात् शम दम आदिसे युक्त होकर विद्या (ब्रह्मज्ञान) संपादन करने योग्य और श्रवण मनन आदि जिसमें हो सकें ऐसे इस मनुष्य आदि शरीरमें बुद्धि अर्थात् बुद्धिसे उपलक्षित सूक्ष्मशरीरका साक्षी होकर अर्थात् विकारी रूपसे प्रकाशक होकर टिका हुआ जो परिपूर्णरूप परात्मा प्रकाशमान है वह अहं शब्दका अर्थ है अर्थात् उसको ही लक्षणावृत्तिसे अहं शब्द कहता है। भावार्थ यह है कि इस ज्ञानके अधिकारी देहमें जो व्यापकरूप परमात्मा बुद्धिके साक्षीरूपसे टिक कर प्रकाशमान है वही अहंशब्दका अर्थ है ॥ ३ ॥

स्वतः पूर्णः परात्माऽत्र ब्रह्मशब्देन वर्णितः ॥
अस्मीत्यैक्यपरामर्शस्तेन ब्रह्म भवाम्यहम् ॥ ४ ॥

अब ब्रह्म शब्दके अर्थको कहते हैं कि स्वरूपसे जो पूर्ण अर्थात् देश,काल, वस्तु इनके परिच्छेदसे शून्य पूर्वोक्त परमात्मा है वही इस पूर्वोक्त महावाक्यमें ब्रह्म शब्दसे कहा जाता है अर्थात् लक्षणसे वर्णन किया है और इसी वाक्यके (अस्मि) पदसे दोनों पदोंके सामानाधिकरण्य भाव (एक अर्थको ही कहना) से जीव ब्रह्मकी एकताका बोध होता है इससे 'मैं ब्रह्म हूं' यह उक्त महावाक्यका अर्थ है ॥ ४ ॥

एकमेवाद्वितीयं सन्नामरूपविवर्जितम् ॥
सृष्टेः पुराऽधुनाप्यस्य तादृक्त्वं तदितीर्यते ॥ ५ ॥

अब छांदोग्य श्रुतिमें पढे (तत्त्वमसि) इस महावाक्यका अर्थ प्रकाश करनेके लिये तत्पदका लक्ष्य अर्थ कहते हैं कि 'हे सौम्य यह जगत् सृष्टिसे पहले एक अद्वितीय ब्रह्मरूप रहा' इस वाक्यसे सृष्टिसे पहले स्वगत आदि भेदोंसे शून्य नाम रूप रहित जो सत् वस्तु कही है उस सत् वस्तुको अब अर्थात् सृष्टिके अनंतर भी

तथात्व है अर्थात् वह स्वगत आदि भेदसे शून्य सत्रूप ही है इसको लक्षणावृत्तिसे तत्पद कहता है । भावार्थ यह है कि जो सत् ब्रह्म सृष्टिसे पहले एक अद्वितीय नाम रूपसे विवर्जित है अब सृष्टिके समय भी वह वैसा ही नाम रूपसे रहित है यह तत्पदका अर्थ है ॥ ५ ॥

श्रोतुर्देहेंद्रियातीतं वस्त्वत्र त्वंपदेरितम् ॥
एकता ग्राह्यतेऽसीति तदैक्यमनुभूयताम् ॥ ६ ॥

अब त्वंपदका लक्ष्य अर्थ कहते हैं कि श्रोताके अर्थात् श्रवण आदिके द्वारा महावाक्यके अर्थका जो ज्ञाता उसके देह इंद्रियोंसे अतीत और स्थूल आदि तीनों शरीरोंका साक्षी जो विलक्षण सत्रूप वस्तु है उसको ही लक्षणावृत्तिसे त्वंपद कहता है और इसी वाक्यका 'असि' पद 'तत्, त्वम्' इन दोनों पदोंकी सामानाधिकरण्यसे सिद्ध हुई जो एकता है अर्थात् दोनों पदोंका एक ब्रह्मरूप अर्थ है उसको मुमुक्षुके प्रति बोधन करता है इस प्रकार उन दोनों पदोंकी एकताको मुमुक्षु जाने भावार्थ यह है कि श्रोताके देह इन्द्रियोंसे अतीत वस्तुको त्वंपदने कहा है और असि पद दोनों पदोंकी एकताको ग्रहण कराता है इस प्रकार दोनोंकी एकता जाननी ॥६॥

स्वप्रकाशापरोक्षत्वमयमित्युक्तितो मतम् ॥
अहंकारादिदेहांतात्प्रत्यगात्मेति गीयते ॥ ७ ॥

अब क्रमसे प्राप्त अथर्वण वेदके-"अयमात्मा ब्रह्म" इस महावाक्यके अर्थका व्याख्यान करनेकी इच्छासे प्रथम (अयम्, आत्मा) इन दो पदोंके अर्थको क्रमसे कहते हैं कि अयम् यह कहनेसे स्वप्रकाश होनेसे अपरोक्षत्व(प्रत्यक्ष) मत(माना) है अर्थात् स्वप्रकाश अपरोक्ष ये दोनों विशेषण इसलिये हैं कि अदृष्टके समान नित्य परोक्ष नहीं है और घट आदिके समान दृश्य नहीं है कदाचित् कहो कि देह आदिमें आत्मा शब्दका प्रयोग देखते हैं इससे आत्मा पदके अर्थको कहते हैं कि अहंकार प्राण मन इंद्रिय देहपर्यंतसंघातका जो प्रत्यगात्मा अर्थात् साक्षीरूप अंतरात्मा है उसको आत्मा कहते हैं. भावार्थ यह है कि अयम् इस पदका अर्थ स्वप्रकाश अपरोक्ष है और अहंकारसे लेकर देहपर्यंतका जो साक्षी आंतर (भीतर है) वह आत्मा पदका अर्थ है ॥ ७ ॥

दृश्यमानस्य सर्वस्य जगतस्तत्त्वमीर्यते ॥
ब्रह्मशब्देन तद्ब्रह्म स्वप्रकाशात्मरूपकम् ॥ ८ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीभारतीतीर्थवि-द्यारण्यमुनिवर्यकृतमहावाक्यविवेकः समाप्तः ॥

ब्रह्मशब्दका प्रयोग ब्राह्मण आदिमें भी देखते हैं उसके निषेधार्थ ब्रह्म शब्दका अर्थ कहते हैं कि दीखनेके योग्य जो मिथ्यारूप आकाश आदि संपूर्ण जगत् उसका जो तत्त्व है अर्थात् सबका अधिष्ठान और निषेधकी अवधि होनेसे पारमार्थिक (सच्चा) सत् चित् आनंदरूप है वह ब्रह्म शब्दसे कहा जाता है और वह पूर्वोक्त ब्रह्म स्वप्रकाश आत्मस्वरूप है। भावार्थ यह है कि दीखते हुए सपूर्ण जगत्का जो तत्त्व है उसको ब्रह्म शब्द कहता है और वह ब्रह्म स्वप्रकाश आत्मारूप है ॥ ८ ॥

इति श्री पं० मिहिरचंद्रकृतभाषोद्धृतिसहितश्रीविद्यारण्यमुनिरचित-पंचदश्यां महावाक्यविवेकः समाप्तः ॥ ६ ॥

इति महावाक्यविवेकप्रकरणम् ॥ ९ ॥



अथ चित्रदीपप्रकरणम् ६.



यथा चित्रपटे दृष्टमवस्थानां चतुष्टयम् ॥
परमात्मनि विज्ञेयं तथाऽवस्थाचतुष्टयम् ॥ १ ॥

करनेको इष्ट ग्रंथकी निर्विघ्नसमाप्तिके अर्थ "परमात्मनि" इस पदसें इष्टदेवताके स्मरणरूप मंगलको करता हुआ आचार्य मनमें यह विचार करके इस ग्रंथको वेदांतका प्रकरण होनेसे वेदांतमें जो विषय आदि चार अनुबंध होते हैं उनसे ही काम चल जायगा यह समझ कर अर्थात् चारों अनुबंधोंका वर्णन छोड कर अध्यारोप अपवादसे निष्प्रपंच (जगत्से भिन्न ब्रह्म) का प्रपंच (वर्णन) कहते हैं इस न्यायके अनुसार परमात्मामें आरोप किये जगत्की दृष्टांतसहित स्थितिके प्रकारकी प्रतिज्ञा करते हैं कि जैसे चित्रपट (वस्त्र) में वक्ष्यमाण (जो कहेंगे) चार अवस्था देखी हैं इस प्रकार परमात्मामें भी वक्ष्यमाण चार अवस्था जाननी ॥ १ ॥

यथा धौतो घट्टितश्च लांछितो रंजितः पटः ॥
चिदंतर्यामी सूत्रात्मा विराट् चात्मा तथेर्यते ॥ २ ॥

अब उन अवस्थाओंको ही दिखाते हैं कि जैसे पट, धौत घट्टित लांछित रंजित अर्थात् धुला घुटा चिह्नसहित रंगा होता है अर्थात् एक ही वस्त्रमें चार अवस्था प्रतीत होती हैं इसी प्रकार परमात्मामें भी चित्, अंतर्यामी, सूत्रात्मा, विराट् ये चार अवस्था जाननी ॥ २ ॥

स्वतः शुभ्रोऽत्र धौतः स्याद्धट्टितोऽन्नविलेपनात् ॥
मष्याकारैर्लांछितः स्याद्रंजितो वर्णपूरणात् ॥ ३ ॥

अब वस्त्ररूप दृष्टांतकी चारों अवस्थाओंका स्वरूप क्रमसे दिखाते हैं कि स्वतः शुभ्र (शुक्ल) जो हो उसे धौत और अन्नका लेप (मावा) जिसमें हो वह घट्टित और मषी (स्याही) के आकारके जिसमें चिह्न हों वह लांछित और यथोचित वर्णोंसे जो पूर्ण हो वह रंजित होता है ॥ ३ ॥

स्वतश्चिदंतर्यामी तु मायावी सूक्ष्मसृष्टितः ॥
सूत्रात्मा स्थूलसृष्टयैव विराडित्युच्यते परः ॥ ४ ॥

अब दार्ष्टांतिक (आत्मा) में चारों अवस्था दिखाते हैं कि परमात्मा स्वतः अर्थात् माया और मायाके कार्यसे रहित होनेसे चित् (चेतन) रूप हैं

और मायाके संबंधसे अंतर्यामी कहाता है और सूक्ष्म दृष्टिसे अर्थात् पंचीकरणरहित भूतोंके कार्य समष्टिरूप सूक्ष्म शरीरके संबंधसे सूत्रात्मा कहाता है और स्थूल दृष्टिसे अर्थात् पंचीकरण किये भूतोंके कार्य समष्टिरूप स्थूल शरीररूप उपाधिके संबंधसे विराट् कहाता है ॥ ४ ॥

ब्रह्माद्याः स्तंबपर्यंताः प्राणिनोऽत्र जडा अपि ॥
उत्तमाधमभावेन वर्तंते पटचित्रवत् ॥ ५ ॥

अब चित्र वस्त्ररूप परमात्माके चित्रोंको वर्णन करते हैं कि इस परमात्मामें उत्तम अधम रूपसे ब्रह्मा आदि स्तंबपर्यंत चेतनरूप प्राणी और गिरि नदी आदि जडपदार्थ चित्रपटके समान वर्तते हैं अर्थात् ये सब आत्माके चित्र हैं ॥ ५ ॥

चित्रार्पितमनुष्याणां वस्त्राभासाः पृथक् पृथक् ॥
चित्राधारेण वस्त्रेण सदृशा इव कल्पिताः ॥ ६ ॥

ब्रह्मा आदि जगत्का स्थान चेतन है इसका कारण कहनेके लिये दृष्टांत कहते हैं कि जैसे चित्रमें लिखे हुए मनुष्योंके शरीरोंपर नानाप्रकारके वस्त्र पृथक् २ लिखे जाते हैं और चित्रका आधार जो वस्त्र उसके समान ही कल्पित किये जाते हैं इससे वस्त्राभास (दीखनेमात्र) कहाते हैं क्योंकि उन रंगोंसे शीत आदिकी निवृत्ति नहीं हो सकती ॥ ६ ॥

पृथक् पृथक् चिदाभासाश्चैतन्याध्यस्तदेहिनाम् ॥
कल्प्यंते जीवनामानो बहुधा संसरंत्यमी ॥ ७ ॥

अब दार्ष्टांतिक कहते हैं कि इसी प्रकार परमात्मामें आरोप किये जो देव आदि देहधारी हैं उनके शरीरोंके जो जीव नामके चिदाभास हैं वे भी प्रत्येक शरीरमें कल्पित हैं और पर्वत आदिके शरीरोंमें नहीं और ये जीव अनेक प्रकारसे अर्थात् देव मनुष्य आदिरूप शरीरोंकी प्राप्तिसे जन्ममरणरूप संसारको भोगते हैं, परमात्मा नहीं क्योंकि वह विकाररहित है ॥ ७ ॥

वस्त्राभासस्थितान् वर्णान् यद्वदाधारवस्त्रगान् ॥
वदंत्यज्ञास्तथा जीवसंसारं चिद्गतं विदुः ॥ ८ ॥

संपूर्ण वादी और लौकिक आत्माको ही संसार होता है, यह जो कहते हैं उसमें अज्ञान ही कारण है इस बातको दृष्टांत सहित वर्णन करते हैं कि जैसे मूर्ख अज्ञानी पुरुष वस्त्राभासोंमें स्थित वर्णोंको चित्रके आधार वस्त्रमें स्थित कहते हैं ऐसे ही जीवके संसारको भी अज्ञानी पुरुष चैतन्यमें मानते हैं ॥ ८ ॥

चित्रस्थपर्वतादीनां वस्त्राभासो न लिख्यते ॥
सृष्टिस्थमृत्तिकादीनां चिदाभासस्तथा नहि ॥ ९ ॥

अब गिरि नदी आदिकोंमें चिदाभासकी कल्पनाके अभावको दृष्टांत पूर्वक वर्णन करते हैं कि जैसे चित्रमें स्थित पर्वत आदिकोंका प्रयोजनके अभावसे वस्त्राभास नहीं लिखा जाता है इसी प्रकार सृष्टिमें स्थित मृत्तिका आदिकोंमें भी चिदाभास नहीं होता ॥ ९ ॥

संसारः परमार्थोऽयं सल्लग्नः स्वात्मवस्तुनि ॥
इति भ्रांतिरविद्या स्याद्विद्ययैषा निवर्तते ॥ १० ॥

अब आत्मामें आरोपित संसार, ज्ञानसे निवृत्त होता है इसकी सिद्धिके लिये संसारकी मूल जो अविद्या उसको कहते हैं कि यह संसार परमार्थ (सच्चा) है और आत्मामें लग रहा है इस भ्रांतिको अविद्या कहते हैं और यह अविद्या विद्यासे निवृत्त होती है ॥ १० ॥

आत्माभासस्य जीवस्य संसारो नात्मवस्तुनः ॥
इति बोधो भवेद्विद्या लभ्यतेऽसौ विचारणात् ॥ ११ ॥

अब विद्या और उसके लाभका उपाय वर्णन करते हैं कि आत्माका आभास (चिदाभास) जो जीव उसको संसार है वस्तुरूप आत्माको नहीं है इस ज्ञानको विद्या कहते हैं, इस विद्याका लाभ विचारसे होता है ॥ ११ ॥

सदा विचारयेत्तस्माद् जगज्जीवपरात्मनः ॥
जीवभावजगद्भावबाधे स्वात्मैव शिष्यते ॥ १२ ॥

अब जिसका विचार करे उसका वर्णन करते हैं कि इससे जगत्, जीव, परमात्मा इनका सदैव विचार करे कदाचित् कहो कि मोक्षअवस्थामें फलरूप आत्मा रहता है इसमें आत्माका विचार तो उचित है और जीव और जगत्के विचारका क्या प्रयोजन है सो ठीक नहीं क्योंकि जीवभाव और जगत्भावका बाध (निषेध) होनेपर परमात्मा ही शेष रह जाता है । भावार्थ यह है कि इससे जगत् जीव परमात्मा इनको सदा विचारे क्योंकि जगत् जीव इनके निषेध होनेपर परमात्मा ही शेष रह जाता है ॥ १२ ॥

नाप्रतीतिस्तयोर्बाधः किंतु मिथ्यात्वनिश्चयः ॥
नो चेत्सुषुप्तिमूर्च्छादौ मुच्येतायत्नतो जनः ॥ १३ ॥

कदाचित् कहो कि पूर्वोक्त विचारसे जीव जगत्की प्रतीति न होगी तो व्यवहारका ही लोप हो जायगा। इस शंकाके दूर करनेके लिये बाधशब्दका अर्थ और उस अर्थके न माननेमे दंड कहते हैं कि कुछ जगत् और जीवकी अप्रतीतिका नाम बाध नहीं किंतु उनके मिथ्यात्वके निश्चयको बाध कहते हैं, ऐसे नहीं मानेंगे तो सोने और मूर्च्छामें स्वतः ही द्वैतकी प्रतीति नहीं होती इससे तत्त्वज्ञानके विना ही मनुष्य मुक्त हो जायगा ॥ १३ ॥

परमात्मावशेषोऽपि तत्सत्यत्वविनिश्चयः ॥
न जगद्विस्मृतिर्नो चेज्जीवन्मुक्तिर्न संभवेत् ॥ १४ ॥

और आत्मा ही शेष रह जाता है इस पूर्वोक्त परमात्माके शेषमें भी परमात्माका सत्यत्वनिश्चय अर्थात् परमात्मा सत्य है यह ज्ञान ही लेना कुछ जगत्का विस्मरण नहीं ऐसा न मानेंगे तो जीवन्मुक्ति न होगी ॥ १४ ॥

परोक्षा चापरोक्षेति विद्या द्वेधा विचारजा ॥
तत्रापरोक्षविद्याप्तौ विचारोऽयं समाप्यते ॥ १५ ॥

सदा विचारे इस पूर्वोक्त वचनसे मरणपर्यंत विचार पाया इससे विचारकी अवधिको कहते हैं कि विचारसे पैदा हुई विद्या परोक्ष अपरोक्ष भेदसे दो प्रकारकी है इन दोनोंमें अपरोक्ष विद्यासे जो विचार प्राप्त होता है वहां यह विचार समाप्त हो जाता है अर्थात् पुनः विचारकी अपेक्षा नहीं रहती ॥ १५ ॥

अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद परोक्षज्ञानमेव तत् ॥
अहं ब्रह्मेति चेद्वेद साक्षात्कारः स उच्यते ॥ १६ ॥

अब विचारसे उत्पन्न परोक्ष अपरोक्षरूप दोनों विद्याओंके स्वरूपको क्रमसे कहते हैं कि यदि यह जान लिया कि ब्रह्म है तो वह परोक्ष ज्ञान है और यदि अहं ब्रह्म (मैं ब्रह्म हूं) यह ज्ञान हो गया तो उसको साक्षात्कार कहते हैं ॥ १६ ॥

तत्साक्षात्कारसिद्ध्यर्थमात्मतत्त्वं विविच्यते ॥
येनायं सर्वसंसारात् सद्य एव विमुच्यते ॥ १७ ॥

अब पूर्वोक्त आत्माके साक्षात्कारका असाधारण कारण जो आत्मतत्त्वका विवेक उसकी प्रतिज्ञा करते हैं कि जिस आत्माके साक्षात्कारसे पुरुष शीघ्र ही मुक्त होता है उस साक्षात्कारकी सिद्धिके लिये आत्मतत्त्वका विवेक करते हैं ॥ १७ ॥

कूटस्थो ब्रह्म जीवेशावित्येवं चिच्चतुर्विधा ॥
घटाकाशमहाकाशौ जलाकाशाभ्रखे यथा ॥ १८ ॥

चिदात्माकी वास्तविक एकताके निश्चयार्थ व्यवहारदशामें प्रतीत जो चैतन्यका भेद उसको कहते कि जैसे घटाकाश, महाकाश, जलाकाश, मेघाकाश भेदसे एक ही आकाश चार प्रकारका है इसी प्रकार कूटस्थ, ब्रह्म, जीव, ईश, भेदसे एक चित् भी चार प्रकारका है ॥ १८ ॥

घटावच्छिन्नखे नीरं यत्तत्र प्रतिबिम्बितः ॥
साभ्रनक्षत्र आकाशो जलाकाश उदीर्यते ॥ १९ ॥

अब घटावच्छिन्न (युक्त) घटाकाश और घटसे अनवच्छिन्न महाकाश इन दोनों प्रसिद्धोंको छोड़कर अप्रसिद्ध जलाकाशका वर्णन करते हैं कि घटावच्छिन्न आकाशमें जो जल है उसमें प्रतिबिंबित जो मेघ नक्षत्रों सहित आकाश उसको जलाकाश कहते हैं ॥ १९ ॥

महाकाशस्य मध्ये यन्मेघमंडलमीक्ष्यते ॥
प्रतिबिंबतया तत्र मेघाकाशो जले स्थितः ॥ २० ॥

अब अभ्राकाशको कहते हैं कि महाकाशके मध्यमें जो मेघोंका मंडल (समूह) दीखता है उस मंडलमें जो जल है उसमें प्रतिबिंबरूपसे जो स्थित है उसको मेघाकाश कहते हैं ॥ २० ॥

मघांशरूपमुदकं तुषाराकारसंस्थितम् ॥
तत्र खप्रतिबिंबोऽयं नीरत्वादनुमीयते ॥ २१ ॥

कदाचित् कहो कि मेघका जल अप्रत्यक्ष है उसमें आकाशका प्रतिबिंब कैसे जाना जायगा सो ठीक नहीं क्योंकि यद्यपि मेघका जल अप्रकट है तो भी वृष्टिरूप कार्यसे मेघमें वृष्टिके उपादानकारण सूक्ष्म अवयवरूप जलका अनुमान किया जाता है और उदकरूप ही हेतुसे उसमें आकाशका प्रतिबिंब भी अनुमित हो जायगा कि विवादका आश्रय जल आकाशके बिंबवाला होने योग्य है जल होनेसे घटके जलके तुल्य इस अनुमानसे मेघके अंशरूप जलमें भी आकाशका प्रतिबिंब हो सकता है । भावार्थ यह है कि बिंदुओंके आकारसे स्थित जो मेघका अंशरूप जल है उस जलमें भी यह आकाशका प्रतिबिंब जल होनेसे अनुमान किया जाता है ॥ २१ ॥

अधिष्ठानतया देहद्वयावच्छिन्नचेतनः ॥
कूटवन्निर्विकारेण स्थितः कूटस्थ उच्यते ॥ २२ ॥

इस प्रकार दृष्टांतरूप चारों आकाशोंका वर्णन करके दार्ष्टांतिकमें सबसे प्रथम जो कूटस्थ उसका वर्णन करते हैं कि पंचीकरण किये पांचों भूतोंके कार्य जो

स्थूलसूक्ष्मरूप और अविद्यासे कल्पित दोनों शरीर उनका आधार होनेसे उन दोनोंसे अवच्छिन्न जो आत्मा उसको इससे कूटस्थ कहते हैं कि वह कूटके समान निर्विकार-रूपसे स्थित है। भावार्थ यह है कि अधिष्ठान होनेसे स्थूल सूक्ष्म देहावाच्छिन्न जो चेतन है कूटके समान निर्विकारतासे स्थित उसको कूटस्थ कहते हैं ॥ २२ ॥

कूटस्थे कल्पिता बुद्धिस्तत्र चित्प्रतिबिंबकः ॥
प्राणानां धारणाज्जीवः संसारेण स युज्यते ॥ २३ ॥

इस प्रकार कूटस्थको कहकर कूटस्थमें कल्पित जो बुद्धि उसके प्रतिबिंब जीवका वर्णन करते हैं कि कूटस्थमें कल्पित बुद्धिमें पड़ा जो चित्का प्रतिबिंब उसको जीव कहते हैं और प्राणोंके धारणसे उसको जीव कहते हैं और अविकारी कूटस्थको तो संसार होनेका असंभव है इससे वह जीव ही जन्म मरणरूप संसारसे युक्त होता है ॥ २३ ॥

जलव्योम्ना घटाकाशो यथा सर्वस्तिरोहितः ॥
तथा जीवेन कूटस्थः सोऽन्योन्याध्यास उच्यते ॥ २४ ॥

कदाचित् कहो कि जीवसे भिन्न कूटस्थ है तो भासता क्यों नहीं, सो ठीक नहीं क्योंकि जैसे जलके आकाशसे संपूर्ण घटाकाश तिरोहित (ढका हुआ) होता है इसी प्रकार जीवसे कूटस्थ भी आच्छादित होता है इसीको वेदांतशास्त्रमें अन्योन्याध्यास कहते हैं ॥ २४ ॥

अयं जीवो न कूटस्थं विविनक्ति कदाचन ॥
अनादिरविवेकोऽयं मूलाविद्येति गम्यताम् ॥ २५ ॥

अब पूर्वोक्त अध्यासका कारण जो अविद्या उसको कहते हैं कि यह जीव कूटस्थसे कदाचित् भी पृथक् नहीं होता है इस अनादि अविवेक (अज्ञान) को अर्थात् संसारदशामें दोनोंके भेदको मूला विद्या जानो ॥ २५ ॥

विक्षेपावृतिरूपाभ्यां द्विधाऽविद्या व्यवस्थिता ॥
न भाति नास्ति कूटस्थ इत्यपादानमावृतिः ॥ २६ ॥

अब अविद्यासे कल्पित जीवको स्पष्ट करनेके लिये अविद्याका विभाग करते हैं कि विक्षेप और आवृतिरूपसे दो प्रकारकी अविद्या व्यवस्थित है, उनमें कूटस्थ न भासता है और न है इस कथनको आवृति (आवरण) कहते हैं यह आवरण ही विक्षेपका हेतु है ॥ २६ ॥

अज्ञानी विदुषा पृष्टः कूटस्थं न प्रबुध्यते ॥
न भाति नास्ति कूटस्थ इति बुद्धा वदत्यपि ॥ २७ ॥

अब अविद्या और उसके किये आवरणके होनेमें लोकके अनुभवको प्रमाण कहते हैं क्या तू कूटस्थको जानता है इस प्रकार विद्वान्का पूछा हुआ अज्ञानी उस कूटस्थको मैं नहीं जानता इस प्रकार अज्ञानको जान (समझ) कर कहता है और यह अविद्याका अनुभव है और केवल अज्ञानके अनुभवको ही नहीं कहता अपितु कूटस्थ नहीं है न भासता है इस प्रकार कूटस्थके अभाव और अभान दोनोंको जान कर अज्ञानी पूर्वोक्त वचनको कहता है यह आवरणका अनुभव है, इससे अविद्या और आवरणके प्रत्यक्षमें अनुभव ही प्रमाण है। भावार्थ यह है कि विद्वानका पूछा हुआ अज्ञानी कूटस्थको मैं नहीं जानता इस उत्तरको जो देता है वह कूटस्थ नहीं भासता और न है इसको जानकर ही देता है ॥ २७ ॥

स्वप्रकाशे कुतोऽविद्या तां विना कथमावृतिः ॥
इत्यादितर्कजालानि स्वानुभूतिर्ग्रसत्यसौ ॥ २८ ॥

कदाचित् कोई शंका करे कि तुम्हारे मतमें आत्मा स्वप्रकाश है तो उसमें अविद्या न होगी क्योंकि तेज और अंधकारके समान विरुद्धस्वभाव होनेसे उन दोनोंका संबंध नहीं हो सकता और अविद्याके अभावमें अविद्याके किये आवरणको नहीं कह सकते और आवरणके अभावमें आवरण है मूल जिसका ऐसा विक्षेप न होगा और विक्षेपके अभावमें वह अनर्थ न होगा जिसकी ज्ञानसे निवृत्ति मानते हो इससे ज्ञान भी व्यर्थ है फिर ज्ञानका प्रतिपादक शास्त्र भी अप्रमाण हो जायगा सो ठीक नहीं क्योंकि स्वप्रकाशमें अविद्या कहां और अविद्याके विना आवरण कहां इत्यादि तर्कोंके समूहको पूर्वश्लोकमें कहा हुआ जो अनुभव है वह ग्रस लेता है क्योंकि दृष्ट पदार्थमें कुछ अनुपपत्ति नहीं होती ऐसा न्याय है ॥ २८ ॥

स्वानुभूतावविश्वासे तर्कस्याप्यनवस्थितेः ॥
कथं वा तार्किकंमन्यस्तत्त्वनिश्चयमाप्नुयात् ॥ २९ ॥

कदाचित् कहो कि पूर्वोक्त तर्कके विरोधसे अनुभवको आभासमात्र मानेंगे तो उससे तत्त्वका निश्चय न होगा: सो ठीक नहीं क्योंकि अनुभवको प्रमाण तार्किक न मानेगा तो केवल निश्चयका अजनक तर्क जो अपने आप स्वीकार किया है उससे तार्किकको कदाचित् भी तत्त्वका निश्चय न होगा। भावार्थ यह है कि यदि अपने अनुभवमें ही विश्वास नहीं है तो तर्ककी भी स्थिति नहीं होगी इससे अपनेको तार्किक माननेवाला किस प्रकार तत्त्वनिश्चयको प्राप्त होगा अर्थात् नहीं होगा ॥२९॥

बुद्ध्यारोहाय तर्कश्चेदपेक्षेत तथा सति ॥
स्वानुभूत्यनुसारेण तर्क्यतां मा कुतर्क्यताम् ॥ ३० ॥

कदाचित् कहो कि अनुभवसे तत्त्वका निश्चय होता है और अनुभव किये पदार्थकी यथार्थताके लिये तर्क भी माननेयोग्य है सो ठीक नहीं क्योंकि यदि बुद्धिमें आरोह (स्थिति) के लिये तर्ककी अपेक्षा है तो अपने अनुभवके अनुसार तर्क करो कुतर्क मत करो ॥ ३० ॥

स्वानुभूतिरविद्यायामावृतौ च प्रदर्शिता ॥
अतः कूटस्थचैतन्यमविरोधीति तर्क्यताम् ॥ ३१ ॥

अब तर्कके अनुसारी पूर्वोक्त अनुभवका स्मरण दिलाते हैं कि अविद्या और आवरणमें जो अपना अनुभव (अविद्या और आवरणमें जो दिखा आये हैं) उस अनुभवसे ही यह तर्क करो कि कूटस्थ और चैतन्य इनका परस्पर विरोध नहीं ॥ ३१ ॥

तच्चाद्विरोधि केनेयमावृतिर्ह्यनुभूयताम् ॥
विवेकस्तु विरोध्यस्यास्तत्त्वज्ञानिनि दृश्यताम् ॥ ३२ ॥

यदि कूटस्थ और चैतन्यका विरोध हो तो इस आवरणका कौन अनुभव करे अर्थात् अविद्यारूप आवरणका चैतन्य ही विरोधी हो तो अविद्याकी प्रतीति ही न हो और इस अविद्याका विरोधी विवेक है उस विवेकको तुम तत्त्वज्ञानीमें देखो अर्थात् उपनिषदोंके विचारसे जो ज्ञानवान् है उसका जो विवेक उससे ही अविद्याका नाश होता है ॥ ३२ ॥

अविद्यावृतकूटस्थे देहद्वययुता चितिः ॥
शुक्तौ रूप्यवदध्यस्ता विक्षेपाध्यास एव हि ॥ ३३ ॥

इस प्रकार अविद्याको और आवरणको दिखाकर विक्षेपाध्यासको दिखाते हैं कि अविद्यासे आवृत (ढके) कूटस्थके विषे जो स्थूल सूक्ष्म शरीर सहित चिदाभास है शुक्तिमें रूप्य (चांदी) के समान उस अध्यासको विक्षेपाध्यास कहते हैं अर्थात् प्रत्यग् आत्मामें आरोपण किये स्थूल सूक्ष्म शरीरसहित कूटस्थके चिदाभासका नाम विक्षेपाध्यास है ॥ ३३ ॥

इदमंशश्च सत्यत्वं शुक्तिगं रूप्य ईक्ष्यते ॥
स्वयंत्वं वस्तुता चैवं विक्षेपे वीक्ष्यतेऽन्यगम् ॥ ३४ ॥

अब इस विक्षेपको अध्याससिद्धिके लिये शुक्तिरजतका जो अध्यास उसकी तुल्यता दिखाते हैं कि जैसे शुक्तिका इदम् (यह) अंश अर्थात् नेत्रोंके अग्रिम देशमें स्थित और सत्यत्व ये दोनों शुक्तिके रूप रूप्यमें अर्थात् चांदीमें मनुष्योंको दीखते हैं इसी प्रकार कूटस्थके स्वयंत्व (अपनारूप) और वस्तुत्व (वस्तुता) ये जो दो धर्म हैं ये चिदाभासमें दीखते हैं यहां विक्षेपशब्दसे चिदाभास लेते हैं ॥ ३४ ॥

नीलपृष्ठत्रिकोणत्वं यथा शुक्तौ तिरोहितम् ॥
असंगानंदताद्येवं कूटस्थेऽपि तिरोहितम् ॥ ३५ ॥

अब सामान्य अंशकी प्रतीतिको दिखाकर विशेष अंशोंकी अप्रतीतिसे तुल्यता दिखाते हैं कि जिस प्रकार शुक्तिके नील पृष्ठ और त्रिकोण ये दो धर्म तिरोहित (छिपे) हैं इसी प्रकार कूटस्थके भी असंग और आनंदरूप दोनों धर्म तिरोहित हैं अर्थात् चिदाभासमें प्रतीत नहीं होते ॥ ३५ ॥

आरोपितस्य दृष्टांते रूप्यं नाम यथा तथा ॥
कूटस्थाध्यस्तविक्षेपनामाहमिति निश्चयः ॥ ३६ ॥

अन्य भी तुल्यताको दिखाते हैं जैसे शुक्तिरूप दृष्टांतमें आरोप किये पदार्थका रूप्य (चांदी) यह नाम है इसी प्रकार कूटस्थमें अध्यास किये चिदाभासरूप विक्षेपका भी अहं यह नाम है यह शास्त्रका निश्चय है ॥ ३६ ॥

इदमंशं स्वतः पश्यन् रूप्यमित्यभिमन्यते ॥
तथा स्वं च स्वतः पश्यन्नहमित्यभिमन्यते ॥ ३७ ॥

कदाचित् कहो कि दृष्टांतमें नेत्रोंके आगे स्थित शुक्तिके खंडमें नेत्रका संबंध होनेपर जैसे यह रजत है यह शुक्तिसे भिन्न रजतका अभिमान देखते हैं वैसे दार्ष्टांतिकमें तो आत्मासे भिन्न वस्तुका अभिमान नहीं देखते सो ठीक नहीं क्योंकि जैसे मनुष्य स्वयम् इदम् अंशको देखता हुआ यह रजत है, यह मानता है इसी प्रकार स्वयम् अपने रूपको देखता हुआ अहम् यह अभिमान करता है इससे स्वप्रकाश चिदात्माके विषय भी उससे भिन्न अहम् यह अभिमान देखते हैं इससे दृष्टांत दार्ष्टांतिककी विषमता नहीं ॥ ३७ ॥

इदंत्वरूप्यते भिन्ने स्वत्वाहंते तथेष्यताम् ॥
सामान्यं च विशेषश्च ह्युभयत्रापि गम्यते ॥ ३८ ॥

कदाचित् कहो कि स्वयम् अहं शब्दका एक अर्थ है तो दृष्टांत और दार्ष्टांतिककी तुल्यतता कैसे होगी सो ठीक नहीं क्योंकि जैसे इदम् और रूप्य ये दोनों अंश भिन्न हैं इसी प्रकार स्व और अहंको भी भिन्न मानो क्योंकि सामान्य विशेषभावकी प्रतीति दोनों स्थानोंमें तुल्य है अर्थात् वहां इदम् सामान्य और रूप्य विशेष है ऐसे ही यहां स्व सामान्य और अहं विशेष है ॥ ३८ ॥

देवदत्तः स्वयं गच्छेत्त्वं वीक्षस्व स्वयं तथा ॥
अहं स्वयं न शक्नोमीत्येवं लोके प्रयुज्यते ॥ ३९ ॥

अब स्वयं शब्दको सामान्यरूप दिखानेके लिये लौकिक प्रयोगको दिखाते हैं कि देवदत्त स्वयं जावे, तू स्वयं देख, मैं स्वयं समर्थ नहीं, इस प्रकार लोकमें प्रयोग देखते हैं अर्थात् सामान्यरूप एक ही स्वयं शब्दका देवदत्त आदि विशेषोंके साथ अन्वय देखते हैं ॥ ३९ ॥

इदं रूप्यमिदं वस्त्रमिति यद्वदिदं तथा ॥
असौ त्वमहमित्येषु स्वयमित्यभिमन्यते ॥ ४० ॥

कदाचित् कहो कि लोकमें इस प्रकार रहे इससे किस प्रकार स्वयं शब्दका अर्थ सामान्य होगा सो ठीक नहीं क्योंकि जैसे इदं रूप्यम्, इदं वस्त्रम् अर्थात् यह रूप्य है, यह वस्त्र है यहां इदंरूप सामान्य है इसी प्रकार असौ, त्वम्, अहम् (यह, तू, मैं) इनमें भी स्वयम् इस शब्दका प्रयोग मानते हैं। इससे इदम् अर्थके समान, स्वयं शब्दका अर्थ भी सामान्यरूप है ॥ ४० ॥

अहंत्वाद्भिद्यतां स्वत्वं कूटस्थे तेन किं तव ॥
स्वयंशब्दार्थ एवैष कूटस्थ इति मे भवेत् ॥ ४१ ॥

कदाचित् कहो कि स्वयम् और अहं शब्दका भेद आत्मामें रहे तथापि कूटस्थ आत्मामें क्या आया इस आशयसे वादी पूछता है कि अहं शब्दसे स्वशब्दका भेद रहे उससे तेरे कूटस्थमें क्या सिद्ध होगा ? सिद्धांती उत्तर देता है कि मेरे मतमें यह होगा कि स्वयं शब्दका अर्थ ही कूटस्थ है उससे भिन्न नहीं ॥ ४१ ॥

अन्यत्ववारकं स्वत्वमिति चेदन्यवारणम् ॥
कूटस्थस्यात्मतां वक्तुरिष्टमेव हि तद्भवेत् ॥ ४२ ॥

कदाचित् कहो कि भेदका निषेधक स्वस्वरूप धर्म है वह कूटस्थका बोधन न करेगा सो ठीक नहीं क्योंकि भेदका निवारक स्वत्व है तो भेदकी निवृत्ति

जो कूटस्थको आत्मा कहता है उसके मतमें वह इष्ट ही हो जायगा अर्थात् जो भेद-निवृत्ति उसको इष्ट थी वह अनायाससे सिद्ध हो जायगी ॥ ४२ ॥

स्वयमात्मेति पर्यायौ तेन लोके तयोः सह ॥
प्रयोगो नास्त्यतः स्वत्वमात्मत्वं चान्यवारकम् ॥४३ ॥

कदाचित् शंका करो कि स्वयम् और आत्मा इन दोनों शब्दोंके स्वयंत्व और आत्मत्वरूप प्रवृत्तिनिमित्त भिन्न भिन्न हैं इससे 'गौः अश्व' आदि शब्दोंके समान इनका एक अर्थ नहीं और एक अर्थ न होनेसे स्वयं शब्दका अर्थ कूटस्थ आत्मा कैसे होगा सो ठीक नहीं स्वयम् आत्मा ये दोनों शब्द हस्त और करके समान पर्याय हैं इसीसे लोकमें इनका संग प्रयोग नहीं होता इससे स्वत्व और आत्मत्व ये दोनों अन्यके निषेधक हैं ॥ ४३ ॥

घटः स्वयं न जानातीत्येवं स्वत्वं घटादिषु ॥
अचेतनेषु दृष्टं चेत् दृश्यतामात्मसत्त्वतः ॥ ४४ ॥

कदाचित् कहो कि घट स्वयं नहीं जानता इस प्रकार अचेतन घट आदिकोंमें भी स्वत्वको देखा है इससे स्वयम् आत्मा दोनों एक नहीं हो सकते सो ठीक नहीं क्योंकि घट आदिकोंमें भी प्रकाशमान आत्मरूप चैतन्य है उसकी सत्तासे अचेतनोंमें भी देखा है तो देखो उसके देखनेमें कोई विरोध नहीं ॥ ४४ ॥

चेतनाचेतनभिदा कूटस्थात्मकृता नहि ॥
किंतु बुद्धिकृताभासकृतैवेत्यवगम्यताम् ॥ ४५ ॥

कदाचित् कहो कि घट आदिकोंमें भी जो आत्मचैतन्यको मानेंगे तो चेतन अचेतनके विभागका हेतु कौन होगा सो ठीक नहीं क्योंकि चेतन और अचेतनका भेद कूटस्थ और आत्माका किया हुआ नहीं किंतु बुद्धिमें प्रतिबिम्बित चिदाभासका किया है इसको तुम जानो ॥ ४५ ॥

यथा चेतन आभासः कूटस्थे भ्रांतिकल्पितः ॥
अचेतनो घटादिश्च तथा तत्रैव कल्पितः ॥ ४६ ॥

कदाचित् कहो कि चेतन अचेतनका विभाग चिदाभासकी सत्ता और असत्तासे मानोगे तो अचेतनोंमें आत्माकी सत्ताका स्वीकार निष्प्रयोजन हो जायगा इस आशंकाका उत्तर यह है कि चेतन अचेतनके विभागका हेतु कूटस्थको न मानें तो भी अचेतनकी कल्पनाका अधिष्ठान कूटस्थ मानना पड़े। इस अभिप्रायसे

कूटस्थमें घट आदिकोंकी कल्पना और दृष्टांतोंको कहते हैं कि जैसे कूटस्थमें ही भ्रमसे चेतनका आभास कल्पित है इसी प्रकार अचेतन घट आदि भी चेतनमें ही कल्पित हैं ॥ ४६ ॥

तत्तेदंते अपि स्वत्वमिव त्वमहमादिषु ॥
सर्वत्रानुगते तेन तयोरप्यात्मतेति चेत् ॥ ४७ ॥

स्व और आत्माको एक माननेमें शंका करते हैं कि तत्ता और इदंता (वह और यह) भी स्वत्वके समान त्वम् अहम् (तू मैं) आदिमें सर्वत्र अनुगत प्रविष्ट हैं इससे उन दोनोंको आत्मत्व हो जायगा अर्थात् वे भी आत्मा मानने चाहिये॥४७॥

ते आत्मत्वेऽप्यनुगते तत्तेदंते ततस्तयोः ॥
आत्मत्वं नैव संभाव्यं सम्यक्त्वादेर्यथा तथा ॥ ४८ ॥

पूर्वोक्त शंकाका उत्तर यह है कि तत्ता और इदंताको आत्मत्वसे अधिक वृत्ति होनेसे आत्मत्व नहीं हो सकता किन्तु वे तत्ता और इदंता स्वत्वके समान त्वम् अहम् आदिमें अनुगत हैं अर्थात् वर्तमान हैं तथापि वे दोनों जैसे त्वम् अहम् आदिमें अनुगत हैं ऐसे ही आत्मत्वमें भी अनुगत हैं क्योंकि तद् आत्मत्वम् इदम् आत्मत्वम् (वह आत्मत्व यह आत्मत्व) यह व्यवहार होता है इससे तत्ता इदंताको आत्मत्वकी अपेक्षा अधिकमें वर्तमान होनेसे इस प्रकार आत्मारूप नहीं हो सकते जैसे सम्यक्त्व अर्थात् यह आत्मा सम्यक् (श्रेष्ठ) है और यह असम्यक् है यहां आत्मामें अनुवर्तमान भी सम्यक्त्व असम्यक्त्व आत्मा नहीं हो सकते इसी प्रकार तत्ता और इदंता भी आत्मा नहीं हो सकते । भावार्थ यह है कि वे तत्ता इदंता अत्मत्वमें भी वर्तमान है इससे वे दोनों सम्यक्त्व आदिके समान आत्मा नहीं हो सकते ॥ ४८ ॥

तत्तेदंते स्वतान्यत्वे त्वंताहंते परस्परम् ॥
प्रतिद्वंद्वितया लोके प्रसिद्धे नास्ति संशयः ॥ ४९ ॥

अब प्रसंगकी बातको समाप्त करके फलित दिखानेके लिये लोकप्रसिद्धिको कहते हैं कि तत्ताके प्रतिद्वंद्वी(प्रतियोगी) इदंताका जैसे वह यह है और स्वत्वके प्रतिद्वंद्वी अन्यत्वका जैसे स्वयम् अन्य है और त्वत्ताके प्रतिद्वंद्वी अहंताका जैसे तू मैं हैं इस प्रकार जगतमें प्रतिद्वंद्वीभावसे प्रयोग देखते हैं अर्थात् इन दो दोका मेल देखते हैं इसमें संशय नहीं ॥ ४९ ॥

अन्यतायाः प्रतिद्वंद्वी स्वयं कूटस्थ इष्यताम् ॥
त्वंतायाः प्रतियोग्येषोऽहमित्यात्मनि कल्पितः ॥ ५० ॥

कदाचित् कहो कि जगत्में यह प्रसिद्धि रहे प्रकारणमें (यहां) क्या सिद्ध हुआ सो ठीक नहीं क्योंकि अन्यताके प्रतिद्वंद्वी स्वयं शब्दका अर्थ और स्वताके प्रतिद्वंद्वी अहं शब्दका अर्थ जो चिदाभास है वह कूटस्थ आत्माके विषय कल्पित है यह तुम मानों कि स्वयं कूटस्थ है यह मैं हूं ॥ ५० ॥

अहंतास्वत्वयोर्भेदे रूप्यतेदंतयोरिव ॥
स्पष्टेऽपि मोहमापन्ना एकत्वं प्रतिपेदिरे ॥ ५१ ॥

कदाचित् कहो कि पूर्वोक्त प्रकारसे जीव कूटस्थका भेद होनेपर भी सबको इस प्रकार ज्ञान क्यों नहीं होता ? इस शंकाका उत्तर कहते हैं कि बुद्धिका साक्षी जो कूटस्थ उसका प्रत्यक्ष बुद्धिसे नहीं हो सकता इससे अहम् (मैं) इस प्रतीतिसे भासते हुए जो जीव और कूटस्थ हैं उनकी एकता भ्रांतिसे प्रतीत होती है कि जैसे शुक्तिके विषय इदं रजतम् (यह रजत है) यहां रजतपना और इदंपनाकी मोहसे एकता प्रतीत होती है उसी प्रकार अहंता और स्वत्वके भेदकी स्पष्टता होनेपर भी मोहको प्राप्त हुए पुरुष एकताको स्वीकार कर लेते हैं अर्थात् दोनोंको एक मान लेते हैं ॥ ५१ ॥

तादात्म्याध्यास एवात्र पूर्वोक्ताविद्यया कृतः ॥
अविद्यायां निवृत्तायां तत्कार्यं विनिवर्तते ॥ ५२ ॥

अब जीव और कूटस्थको एक माननेके भ्रममें जो कारण उसको कहते हैं कि जो तादात्म्य (एकताका) अध्यास है वही पूर्वोक्त अनादि अविद्याका किया है और ज्ञानसे अविद्याकी निवृत्ति होनेपर अविद्याके कार्य पूर्वोक्त अध्यासकी भी निवृत्ति हो जाती है ॥ ५२ ॥

अविद्यावृतितादात्म्ये विद्ययैव विनश्यतः ॥
विक्षेपस्य स्वरूपं तु प्रारब्धक्षयमीक्षते ॥ ५३ ॥

कदाचित् कहो कि अविद्याका कार्य जो अध्यास उसकी निवृत्ति अविद्याकी निवृत्तिसे होती है यह नहीं हो सकता क्योंकि ब्रह्मज्ञानसे अविद्याकी निवृत्ति होनेपर भी देह आदि प्रतीत होते हैं सो भी ठीक नहीं क्योंकि एक अविद्या ही है कारण जिनका ऐसे आवरण और तादात्म्य ये दोनों तो विद्यासे ही नष्ट होजाते हैं और कर्मसहित अविद्यासे पैदा हुआ जो विक्षेप (संसार) उसका स्वरूप तो प्रारब्धके क्षयको देखता है अर्थात् देह आदि संसार अपने प्रारब्धकर्म तक रहता है ॥ ५३ ॥

उपादाने विनष्टेऽपि क्षणं कार्यं प्रतीक्षते ॥
इत्याहुस्तार्किकास्तद्वदस्माकं किन्न संभवेत् ॥ ५४ ॥

कदाचित् कहो कि प्रारब्ध निमित्त कारण है केवल उससे अविद्यारूप उपादानकारणके नाश होनेपर कार्यरूप देह आदिकी स्थिति नहीं हो सकेगी सो भी ठीक नहीं क्योंकि अन्य शास्त्रवाले तार्किक (नैयायिक) जैसे यह कहते हैं कि उपादान कारणकी निवृत्ति होनेपर भी क्षणमात्र कार्यकी अनुवृत्ति (स्थिति) देखते हैं अर्थात् क्षणभर कार्य बना रहता है इसी प्रकार हमारे मतमें भी देह आदि कार्य बने रहेंगे ॥ ५४ ॥

तंतूनां दिनसंख्यानां तैस्तादृक् क्षण ईरितः ॥
भ्रमस्यासंख्यकल्पस्य योग्यः क्षण इहेष्यताम् ॥ ५५ ॥

कदाचित् कहो कि नैयायिक कार्यकी स्थिति क्षणमात्र मानते हैं चिरकाल तक नहीं सो भी ठीक नहीं क्योंकि कितनेक दिनोंकी है संख्या (अल्प) जिनकी ऐसे तंतुओंका क्षण भी उतना ही कहा है और असंख्य कल्पोंतक है स्थिति जिसकी ऐसा जो भ्रम इसके योग्य ही उसका क्षण यहां मानना इष्ट है अर्थात् अनादि काल-से चला आया जो संसार उसके संस्कारके अधीन चिरकालतक अनुवृत्ति इस प्रकार होती है जैसे कुलालके चक्रका भ्रमण होता रहता है ॥ ५५ ॥

विना क्षोदक्षमं मानं तैर्वृथा परिकल्प्यते ॥
श्रुतियुक्त्यनुभूतिभ्यो वदतां किन्नु दुःशकम् ॥ ५६ ॥

कदाचित् कहो कि तार्किकोंने जैसा युक्त कहा वैसा ही आपने कहा सो भी ठीक नहीं क्योंकि हमारे और उनके कथनमें यह भेद है कि वे तार्किक तो विचारके सहने योग्य मान (प्रमाण) के विना वृथा ही कल्पना करते हैं और श्रुति युक्ति अनुभवसे कहनेवाले जो हम (वेदांती) हैं उनको कौन बात अशक्य है अर्थात् हमारे मतमें 'उसको तबतक ही विलंब है जबतक मोक्ष नहीं होता फिर तो वह ब्रह्मरूप हो जाता है' यह श्रुति और चक्रके भ्रमणरूप युक्ति और विद्वानोंका अनुभव ये तीन प्रमाण हैं और तार्किकोंके मतमें कोई भी प्रमाण नहीं है । भावार्थ यह है कि तार्किक विचार सहित प्रमाणके विना वृथा कल्पना करते हैं और श्रुति युक्ति अनुभव सहित कहनेवाले हमारे मतमें कौन वस्तु अशक्य है अर्थात् नहीं हो सकती है ॥ ५६ ॥

आस्तां दुस्तार्किकैः सार्कं विवादः प्रकृतं ब्रुवे ॥
स्वाहमोः सिद्धमेकत्वं कूटस्थपरिणामिनोः ॥ ५७ ॥

दुष्ट जो तर्क है उसके कर्ता तार्किकोंके संग विवाद रहे अब प्रकरणकी बात कहते हैं कि स्व और अहं जो कूटस्थके परिणामी हैं इनकी एकता भ्रमसे सिद्ध है अर्थात् अज्ञानसे दोनों एक प्रतीत होते हैं ॥ ५७ ॥

भ्राम्यंते पंडितंमन्याः सर्वे लौकिकतैर्थिकाः ॥
अनादृत्य श्रुतिं मौर्ख्यात्केवलां युक्तिमाश्रिताः ॥ ५८ ॥

कदाचित् शंका करो कि कूटस्थ जीवकी एकता भ्रमसे सिद्ध है तो यह भ्रांत है इसको कोई भी नहीं जानते सो भी ठीक नहीं क्योंकि मूर्खतासे श्रुतिके तात्पर्यका अनादर करके और अपनेको पंडित मानते हुए संपूर्ण लौकिक और तैर्थिक अर्थात् जगत्के मनुष्य और शास्त्रोंके ज्ञाता केवल युक्तिके ही बलसे भ्रमको प्राप्त हो जाते हैं ॥ ५८ ॥

पूर्वापरपरामर्शविकलास्तत्र केचन ॥
वाक्याभासान् स्वस्वपक्षे योजयंत्यप्यलज्जया ॥ ५९ ॥

कदाचित् कहो कि श्रुतियोंके अर्थके वक्ता भी कोई २ ऐसे (इस प्रकार) क्यों नहीं जानते सो भी ठीक नहीं क्योंकि पूर्व और अपरके विचारमें व्याकुल हुए कोई वेदके ज्ञाता भी उसमें अपने २ पक्षमें वाक्योंके आभासों (नामके वाक्य) को निर्लज्ज होकर युक्त करते हैं अर्थात् घटाते हैं और संपूर्ण श्रुतियोंके अर्थको नहीं देखते ॥ ५९ ॥

कूटस्थादिशरीरांतसंघातस्यात्मतां जगुः ॥
लोकायताः पामराश्च प्रत्यक्षाभासमाश्रिताः ॥ ६० ॥

अब प्रत्यक्षप्रमाण माननेवाले स्थूलबुद्धि जो लोकायत उनके पक्षको ही प्रथम कहते हैं कि लोकायत (नास्तिक) और पामर मनुष्य केवल प्रत्यक्षाभास प्रमाणके आश्रयसे कूटस्थ और शरीर पर्यंत संघातको ही आत्मा कहते हैं ॥ ६० ॥

श्रौतीकर्तुं स्वपक्षं ते कोशमन्नमयं तथा ॥
विरोचनस्य सिद्धांतं प्रमाणं प्रतिजज्ञिरे ॥ ६१ ॥

और वे प्रत्यक्षप्रमाणके वादी [illegible] अन्योंके मोहनार्थ अपने मतको श्रुतिसिद्ध करनेके लिये यह वाक्य भी क[illegible] हैं कि वह यही पुरुष (ईश्वर) है जो अन्न-

अब प्राणको आत्मा माननेमें श्रुतिके प्रमाण देते हैं कि सोनेके समयमें इस देहमें प्राण ही जागता है और प्राणके आश्रयसे उठता है इससे प्राण ही उक्थ है इस श्रुतिसे प्राणकी ही श्रेष्ठता सुनी है और अन्य अंतर (भीतर) प्राणमय आत्मा है इत्यादिसे प्राणमय कोशका विस्तारसे वर्णन किया है और प्राणका संवाद प्रवेश आदि भी देखते हैं इससे प्राण ही आत्मा है ॥ ६६ ॥

मन आत्मेति मन्यंत उपासनपरा जनाः ॥
प्राणस्याभोक्तृता स्पष्टा भोक्तृत्वं मनसस्ततः ॥ ६७ ॥

अब प्राणसे भी आंतर मनको आत्मा माननेवालोंके मतको कहते हैं कि मन ही आत्मा है यह मानते और उपासना करते हुए जन यह कहते हैं कि प्राण भोक्ता नहीं है यह बात स्पष्ट है इससे सुखदुःखका भोक्ता मन ही हो सकता है और वही आत्मा है ॥६७॥

मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः ॥
श्रुतो मनोमयः कोशस्तेनात्मेतीरितं मनः ॥ ६८ ॥

अब मनको आत्मा माननेमें युक्तिकी बोधक श्रुतिको कहते हैं कि मनुष्योंके बंधन और मोक्षका कारण मन ही है और उस इस प्राणमयसे अन्य आंतर आत्मा मनोमय है यह श्रुतिमें मनोमयकोश सुना है इससे मन ही आत्मा है यह श्रुतिमें कहा है ॥ ६८ ॥

विज्ञानमात्मेति पर आहुः क्षणिकवादिनः ॥
यतो विज्ञानमूलत्वं मनसो गम्यते स्फुटम् ॥ ६९ ॥

अब मनसे भी अंतर विज्ञानमय कोशको आत्मा माननेवाले बौद्धके मतको कहते हैं कि अन्य क्षणिकवादी विज्ञान ही आत्मा है यह कहते हैं जिससे इस संपूर्ण जगत्का मूल विज्ञान ही स्पष्ट है ॥ ६९ ॥

अहंवृत्तिरिदंवृत्तिरित्यंतःकरणं द्विधा ॥
विज्ञानं स्यादहंवृत्तिरिदंवृत्तिर्मनो भवेत् ॥ ७० ॥

अब विज्ञान मनरूप अंतःकरण एक है इससे मन और विज्ञान इनका कार्यकारणभाव कैसे होगा यह शंका करके उनका भेद कहनेके लिये रीतिको कहते हैं कि अहंवृत्ति और इदंवृत्तिसे अंतःकरण दो प्रकारका है उनमें अहंवृत्तिको विज्ञान और इदंवृत्तिको मन कहते हैं ॥ ७० ॥

अहंप्रत्ययबीजत्वमिदंवृत्तेरिति स्फुटम् ॥
अविदित्वा स्वमात्मानं बाह्यं वेत्ति न तु क्वचित् ॥ ७१ ॥

अब अहं प्रतीति और इदं प्रतीतिके कार्यकारणभावको कहते हैं कि इदं (यह है) प्रतीतिका बीज (कारण) अहं प्रतीति है क्योंकि अपनी आत्माके विना जाने कदाचित् भी बाह्य विषयको नहीं जान सकता अर्थात् अहंवृत्तिके पैदा हुए विना इदंवृत्ति नहीं हो सकती इससे इन दोनोंका कार्यकारण भाव है ॥ ७१ ॥

क्षणे क्षणे जन्मनाशावहंवृत्तेर्मतौ यतः ॥
विज्ञानं क्षणिक तेन स्वप्रकाशं स्वतो मितेः ॥ ७२ ॥

अब विज्ञान क्षणिक (अनित्य) है इसमें अनुभव प्रमाणको कहते हैं कि जिससे अहंवृत्तिका जन्म और नाश क्षण २ म माने हैं इससे विज्ञान क्षणिक है और अपने आप ही उसका ज्ञान होता है इससे वह स्वप्रकाश रूप है अर्थात् उसका अन्य कोई ज्ञाता नहीं ॥ ७२ ॥

विज्ञानमयकोशोऽयं जीव इत्यागमा जगुः ॥
सर्वसंसार एतस्य जन्मनाशसुखादिकः ॥ ७३ ॥

अब विज्ञानको आत्मारूप होनेमें वेदका प्रमाण देते हैं कि उस इस आत्मासे अन्य अंतर आत्मा है जो विज्ञानमय है, विज्ञान ही यज्ञका विस्तार करता है इस आगम (वेद) से विज्ञानमयकोश ही जीव है आ र संपूर्ण संसार इसके ही जन्म नाशसे सुख दुःख आदिको भोगता है ॥ ७३ ॥

विज्ञानं क्षणिकं नात्मा विद्युदभ्रनिमेषवत् ॥
अन्यस्यानुपलब्धत्वाच्छून्यं माध्यमिका जगुः ॥ ७४ ॥

अब बौद्धोंके भेद शून्यवादियोंका मत कहते हैं कि बीजली मेघ निमेष इनके समान क्षणिक विज्ञान आत्मा नहीं है और अन्य कोई आत्मा प्रतीत नहीं होता इससे शून्य है यह माध्यमिक कहते हैं ॥ ७४ ॥

असदेवेदमित्यादाविदमेव श्रुतं ततः ॥
ज्ञानज्ञेयात्मकं सव जगद्भ्रांतिप्रकल्पितम् ॥ ७५ ॥

उसमें श्रुति प्रमाण कहते हैं यह संपूर्ण असत् ही है इत्यादि श्रुतियोंमें शून्य ही सुना है और यह ज्ञान ज्ञेयरूप जगत् प्रतीत होता है यह सब भ्रांतिसे कल्पित है ॥ ७५ ॥

निरधिष्ठानविभ्रांतेरभावादात्मनोऽस्तिता ॥
शून्यस्यापि ससाक्षित्वादन्यथा नोक्तिरस्य ते ॥७६॥

अब शून्यवादीके मतमें दोष देते हैं कि आकारसे रहित जो शून्य वह भ्रमका अधिष्ठान नहीं हो सकता और अधिष्ठानके विना भ्रम हुआ नहीं करता, इससे जगत्‌की कल्पनाका अधिष्ठान जो आत्मा उसकी सत्ता माननी चाहिये और शून्यवादीको भी शून्यका साक्षी आत्मा अवश्य मानना पड़ेगा अन्यथा (न मानो तो) इस शून्यका कहना तेरे (बौद्ध) मतमें सिद्ध न होगा ॥ ७६ ॥

अन्यो विज्ञानमयत आनंदमय आंतरः ॥
अस्तीत्येवोपलब्धव्य इति वैदिकदर्शनम् ॥ ७७ ॥

विज्ञानमयसे भी अन्य अंतर आत्मा आनंदमय है और वही तत्त्वरूप होनेसे ज्ञानीको प्राप्त होने योग्य है यह वेदशास्त्रका सिद्धांत है कि उस इस विज्ञानमय आत्मासे अन्य अन्तरात्मा आनंदमय है और वही तत्त्वरूपसे प्राप्त होने योग्य है ॥ ७७ ॥

अणुर्महान्मध्यमो वेत्येव तत्रापि वादिनः ॥
बहुधा विवदंते हि श्रुतियुक्तिसमाश्रयात् ॥ ७८ ॥

उस आनंदमय कोशको भी कोई २ वादी आणु, कोई महान्, कोई मध्यम कहकर अनेक प्रकारसे विवाद करते हैं और अपने २ मतमें श्रुति और युक्तियोंका प्रमाण देते हैं ॥ ७८ ॥

अणु वदंत्यांतरालाः सूक्ष्मनाडीप्रचारतः ॥
रोम्णः सहस्रभागेन तुल्यासु प्रचरत्ययम् ॥ ७९ ॥

अब अणुवादियोंके मतको कहते हैं कि सूक्ष्म २ नाडियोंमें गमन करनेसे आंतराल इसको अणु कहते हैं क्योंकि रोमोंके सहस्रों भागोंसे सूक्ष्म २ तुल्य नाडियोंमें यह आनंदमय विचरता है अर्थात् सूक्ष्म २ नाडियोंमें विचरना सूक्ष्म (अणु) के विना नहीं हो सकता ॥ ७९ ॥

अणोरणीयानेषोऽणुः सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं त्विति ॥
अणुत्वमाहुः श्रुतयः शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ८० ॥

अब अणुत्वमें प्रमाणको कहते हैं कि यह अणुसे भी अत्यंत अणु और महान् (बड़े) से अत्यन्त महान् है और यह अणु आत्मा चित्तसे जानने योग्य है इत्यादि सैकड़ों और सहस्रों श्रुति इसे अणु कहती हैं और यह भी श्रुति है कि सूक्ष्मसे सूक्ष्म नित्य आत्मा है ॥ ८० ॥

वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च ॥
भागो जीवः स विज्ञेय इति चाहापरा श्रुतिः ॥ ८१ ॥

अब अन्य श्रुतिका प्रमाण देते हैं कि एक बालके अग्रभागके जो सौ भाग उनमेंसे एक भागके सौवें भागकी कल्पना करो तो उतना अणु जीव जानना यह अन्य श्रुति कहती है ॥ ८१ ॥

दिगंबरा मध्यमत्वमाहुरापादमस्तकम् ॥
चैतन्यव्याप्तिसंदृष्टेरानखाग्रश्रुतेरपि ॥ ८२ ॥

अब मध्यमपरिमाणवादीका मतको दिखाते हैं कि पादसे मस्तकपर्यंत और नखके अग्रभागसे लेकर चैतन्यकी व्यापकताको देखते हैं कि वह यह नखके अग्रभागसे प्रविष्ट आत्मा है इससे दिगंबर मध्यमपरिमाण आत्माको कहते हैं ॥ ८२ ॥

सूक्ष्मनाडीप्रचारस्तु सूक्ष्मैरवयवैर्भवेत् ॥
स्थूलदेहस्य हस्ताभ्यां कंचुकप्रतिमोकवत् ॥ ८३ ॥

कदाचित् कहो कि मध्यमपरिमाण माननेमें सूक्ष्म नाडियोंमें प्रवेश न बनेगा सो ठीक नहीं क्योंकि जैसे स्थूल देहके अवयव जो हस्त उनके कंचुकमें प्रवेशसे देहका कंचुकमें प्रवेश होता है वैसे ही आत्माके सूक्ष्म २ अवयवोंका ही प्रवेश होनेसे आत्माका भी प्रवेश माना जाता है। भावार्थ यह है कि कंचुक (चोली) में हाथोंके द्वारा स्थूल देहके प्रवेशके तुल्य आत्माका भी सूक्ष्म अवयवोंसे सूक्ष्म नाडियोंमें प्रवेश हो जायगा ॥ ८३ ॥

न्यूनाधिकशरीरेषु प्रवेशोऽपि गमागमैः ॥
आत्मांशानां भवेत्तेन मध्यमत्वं विनिश्चितम् ॥ ८४ ॥

कदाचित् कहो कि मध्यमपरिमाणका नियम मानेंगे तो कर्मोंके वशसे आत्माका न्यून अधिक शरीरोंमें प्रवेश न घटेगा सो ठीक नहीं है क्योंकि आत्माके अंशोंका गमन और आगमनसे न्यून अधिक शरीरोंमें प्रवेश भी विरुद्ध नहीं है इससे आत्माका देहके समान मध्यमपरिमाण निश्चित है ॥ ८४ ॥

सांशस्य घटवन्नाशो भवत्येव तथा सति ॥
कृतनाशाकृताभ्यागमयोः को वारको भवेत् ॥ ८५ ॥

कदाचित् कहो कि आत्माको सावयव माननेमें घट आदिके समान अनित्य होनेसे नाश हो जायगा सो ठीक नहीं क्योंकि आत्माका भी नाश माननेमें

तो किये हुए पुण्योंका भोगके विना नाश और नहीं किये हुए फलके दाता पुण्य पापोंकी प्राप्ति हो जायगी इस प्रकार कृतनाश और अकृतका आगमरूप दोनों दोष आत्माको अनित्य माननेमें हो जायँगे इससे मध्यमपरिमाण होनेपर भी आत्मा नित्य है ॥ ८५ ॥

तस्मादात्मा महानेव नैवाणुर्नापि मध्यमः ॥
आकाशवत्सर्वगतो निरंशः श्रुतिसंमतः ॥ ८६ ॥

इससे आत्मा महान् है न अणु है न मध्यम है और आकाशके समान सर्वव्यापी निरवयव श्रुतियोंमें कहा है कि आकाशके समान सर्वगत नित्य कला और क्रियारहित आत्मा है ॥ ८६ ॥

इत्युक्त्वा तद्विशेषे तु बहुधा कलहं ययुः ॥
अचिद्रूपोऽथ चिद्रूपश्चिदचिद्रूप इत्यपि ॥ ८७ ॥

इस प्रकार आत्माको विभु सिद्ध करके चिद्रूप निश्चय करनेके लिये वादियोंके विवादको दिखाते हैं कि पूर्वोक्त प्रकारसे आत्माको महान् कहकर कोई २ मनुष्य कलह करते हैं कि आत्मा अचित् रूप है वा चित् रूप है अथवा चित् अचित् रूप है ॥ ८७ ॥

प्राभाकरास्तार्किकाश्च प्राहुरस्याचिदात्मताम् ॥
आकाशवद्द्रव्यमात्मा शब्दवत्तद्गुणश्चितिः ॥ ८८ ॥

अब अचित्रूपवादीके मतको दिखाते हैं कि प्राभाकर और तार्किक तो आत्माको अचित् (अचेतन) कहते हैं और आत्मा आकाशके समान द्रव्य है और शब्दके समान उसका चिति गुण है इसीसे वह पृथिवी आदिसे भिन्न है यहां ये दो अनुमान हैं कि आत्मा द्रव्य होने योग्य है गुणवान् होनेसे आकाशके समान और आत्मा पृथिवी आदिसे भिन्न है क्योंके उसका गुण ज्ञान है जो पृथिवी आदिसे भिन्न नहीं उसमें ज्ञानगुण भी नहीं जैसे घट। भावार्थ यह है कि प्राभाकर और तार्किक आत्माको अचेतन और आकाशके समान द्रव्य मानते हैं और उसका शब्दके समान चैतन्य गुण है ॥ ८८ ॥

इच्छाद्वेषप्रयत्नाश्च धर्माधर्मौ सुखासुखे ॥
तत्संस्काराश्च तस्यैते गुणाश्चितिवदीरिताः ॥ ८९ ॥

और चितिके समान उस आत्माके ये भी गुण कहते हैं कि इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, सुख, असुख और भावना नामका संस्कार ॥ ८९ ॥

आत्मनो मनसा योगे स्वादृष्टवशतो गुणाः ॥
जायंतेऽथ प्रलीयंते सुषुप्ते दृष्टसंक्षयात् ॥ ९० ॥

मनके संग आत्माका योग होनेपर अपने २ अदृष्टके वशसे पूर्वोक्त गुण पैदा हो जाते हैं और नष्ट भी हो जाते हैं क्योंकि सुषुप्ति अवस्थामें संपूर्ण दृष्टका नाश देखते हैं ॥ ९० ॥

चितिमत्त्वाच्चेतनोऽयमिच्छाद्वेषप्रयत्नवान् ॥
स्याद्धर्माधर्मयोः कर्ता भोक्ता दुःखादिमत्त्वतः ॥ ९१ ॥

कदाचित् शंका करो कि आत्माको अचित्रूप माननेमें चेतनता न होगी सो ठीक नहीं है क्योंकि पूर्वोक्त चितिगुणवान् होनेसे यह आत्मा चेतन है और इच्छा द्वेष प्रयत्नवाला है और दुःख आदिवाला होनेसे धर्म और अधर्मका कर्ता और भोक्ता है इसीसे ईश्वरसे विलक्षण है ॥ ९१ ॥

यथाऽत्र कर्मवशतः कादाचित्कं सुखादिकम् ॥
तथा लोकांतरे देहे कर्मणेच्छादि जन्यते ॥ ९२ ॥

कदाचित् कहो कि आत्माको विभु (व्यापक) मानेंगे तो लोकांतरमें गमन आदि न घटेंगे सो ठीक नहीं है क्योंकि इस देहमें कर्मके वश इच्छा आदिकी उत्पत्ति होनेपर इस देहमें जैसे आत्माकी स्थितिका व्यवहार होता है इसी प्रकार कर्मके अधीन लोकांतरमें अन्य देहकी उत्पत्ति होनेपर उसमें आत्माके प्रवेशसे सुख आदिकी उत्पत्तिके अधीन व्यापक भी आत्माके गमनागमन व्यवहारको गौणरूपसे मानते हैं । भावार्थ यह है कि जैसे इस देहमें कर्मवश कभी २ सुख दुःख आदि होते हैं इसी प्रकार लोकांतरके देहमें कर्मके वश इच्छा आदि पैदा होते हैं ॥ ९२ ॥

एवं च सर्वगस्यापि संभवेतां गमागमौ ॥
कर्मकांडः समग्रोऽत्र प्रमाणमिति तेऽवदन् ॥ ९३ ॥

इस प्रकार सर्वव्यापी आत्माके भी गमन और आगमन होते हैं अर्थात् आत्मा ही कर्ता और भोक्ता है और इसमें संपूर्ण कर्मकाण्डको वे प्रमाण कहते हैं ॥ ९३ ॥

आनंदमयकोशो यः सुषुप्तौ परिशिष्यते ॥
अस्पष्टचित्स आत्मैषां पूर्वकोशोऽस्य ते गुणाः ॥ ९४ ॥

कदाचित् कहो कि 'विज्ञानमयसे अन्य आंतर आनन्दमय आत्मा है' यहां तो आनन्दमयको आत्मा कहा और अब इच्छादिमान्को आत्मा कहते हो इससे पूर्व और उत्तरका विरोध होगा सो ठीक नहीं क्योंकि जिसमें चेतनता स्पष्ट नहीं ऐसा आनन्दमय सुषुप्तिमें जो शेष रहता है श्रुतिमें कहे हुए पांच कोशोंमें पहला वह इन प्राभाकरादिकोंका आत्मा है और उसी आत्माके ये ज्ञान इच्छा आदि गुण हैं ॥ ९४ ॥

गूढ चैतन्यमुत्प्रेक्ष्य जडबोधस्वरूपताम् ॥
आत्मनो ब्रुवते भाट्टाश्चिदुत्प्रेक्षोत्थितस्मृतेः ॥ ९५ ॥

इसी आत्माको भाट्ट चित् और अचित् रूप कहते हैं क्योंकि वे भाट्ट आत्माके चैतन्यको अप्रकट मानकर चेतन और जड दोनों रूप कहते हैं और सुषुप्तिसे उठे हुए मनुष्यको जो स्मरण होता है उससे प्रतीत होता है कि सुषुप्तिमें चैतन्य था ॥९५॥

जडो भूत्वा तदाऽस्वाप्समिति जाड्यस्मृतिस्तदा ॥
विना जाड्यानुभूतिं न कथंचिदुपपद्यते ॥ ९६ ॥

अब चेतनकी उत्प्रेक्षाके प्रकारको कहते हैं कि उस सुषुप्तिके समयमें जड होकर सोया यह जो जगे हुए मनुष्यको जडताका स्मरण है वह जडताके अनुभव (ज्ञान) विना नहीं हो सकता इससे सुषुप्तिके समय जडताके ज्ञानकी कल्पना होती है ॥ ९६ ॥

द्रष्टुर्दृष्टेरलोपश्च श्रुतः सुप्तौ ततस्त्वयम् ॥
अप्रकाशप्रकाशाभ्यामात्मा खद्योतवद्युतः ॥ ९७ ॥

अब सुषुप्तिमें चैतन्यका लोप नहीं होता है इसमें प्रमाण कहते हैं कि सुषुप्तिमें द्रष्टा (ईश्वर) की दृष्टिका लोप नहीं होता क्योंकि वह अविनाशी है इससे यह आत्मा प्रकाश और अप्रकाशरूपसे खद्योतके समान युक्त है और जो आत्माके ज्ञानका लोप भी मानता है वह भी साक्षीके विना नहीं हो सकता और सुषुप्तिमें चैतन्यके लोपका अभाव सुना है इससे भी यह आत्मा पूर्वोक्तरूप है । भावार्थ यह है कि द्रष्टाके ज्ञानका श्रुतिमें लोपका अभाव सुना है इससे यह आत्मा स्फुरण और अस्फुरणसे युक्त खद्योतके समान है ॥ ९७ ॥

निरंशस्योभयात्मत्वं न कथंचिद् घटिष्यते ॥
तेन चिद्रूप एवात्मेत्याहुः सांख्यविवेकिनः ॥ ९८ ॥

अब इस भाट्टोंके मतमें दूषण कहते हुए सांख्योंके मतको कहते हैं कि अवयवोंसे रहित आत्माके चित् अचित् दोनों रूप नहीं घट सकते इससे आत्मा चित् रूप ही है यह विवेकी सांख्य कहते हैं ॥ ९८ ॥

जाड्यांशः प्रकृते रूपं विकारि त्रिगुणं च तत् ॥
चितो भोगापवर्गार्थं प्रकृतिः सा प्रवर्तते ॥ ९९ ॥

अब सुषुप्तिमें जडताके स्मरणकी गतिको कहते हैं कि जडताका जो अंश है वह प्रकृतिका रूप और विकारी और त्रिगुण है । वह प्रकृति चेतन पुरुषके भोगके लिये प्रवृत्त होती है ॥ ९९ ॥

असंगायाश्चितेर्बंधमोक्षौ भेदाग्रहान्मतौ ॥
बंधमुक्तिव्यवस्थार्थं पूर्वेषामिव चिद्भिदा ॥ १०० ॥

चेतन असंग है और प्रकृति पुरुष दोनों भिन्न हैं प्रकृतिकी प्रवृत्तिसे पुरुषको भोग और मोक्ष कैसे हो सकते हैं इस आशंकाका उत्तर कहते हैं कि असंग भी चितिको प्रकृतिपुरुषके परस्पर भेदके अज्ञानसे बंध और मोक्ष दोनोंका व्यवहार पुरुषमें माना जाता है और तार्किकोंके समान सांख्य भी बंध और मुक्तिकी व्यवस्थाके लिये चैतन्यका भेद मानते हैं ॥ १०० ॥

महतः परमव्यक्तमिति प्रकृतिरुच्यते ॥
श्रुतावसंगता तद्वदसंगो हीत्यतः स्फुटा ॥ १ ॥

प्रकृतिकी सत्ता और पुरुषके असंग होनेमें श्रुतिका उदाहरण देते हैं कि महत्तत्त्वसे परे जो अव्यक्त उसको ही प्रकृति कहते हैं वैसे ही 'यह पुरुष असंग है' इस श्रुतिमें असंगता स्पष्ट है ॥ १ ॥

चित्संनिधौ प्रवृत्तायाः प्रकृतेर्हि नियामकम् ॥
ईश्वरं ब्रुवते योगाः स जीवेभ्यः परः श्रुतः ॥ २ ॥

इस प्रकार जीवके विषय वादियोंके विवादको दिखाकर ईश्वरके विषय विवाद दिखानेके लिये प्रथम ईश्वरके स्वरूपको स्थापन करते हैं कि चित्के समीपमें प्रवृत्त हुई जो प्रकृति उसके नियामकको योगीजन ईश्वर कहते हैं और वह ईश्वर जीवोंसे परे सुना है इससे यह भी शंका नहीं हो सकती कि प्रकृति पुरुषसे भिन्न ईश्वरमें कोई प्रमाण नहीं है ॥ २ ॥

प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेश इति हि श्रुतिः ॥
आरण्यकेऽसंभ्रमेण ह्यंतर्याम्युपपादितः ॥ ३ ॥

अथ ईश्वरकी सत्ताकी बोधक श्रुतिको कहते हैं कि तीनों गुणोंकी तुल्य अवस्थारूप प्रधान और क्षेत्रज्ञ जीव इनका पति और सत्त्व रजः तमः इन तीनों गुणोंका नियामक ईश्वर है यह श्रुति ईश्वरके होनेमें प्रमाण है और कुछ यही श्रुति प्रमाण नहीं किन्तु अंतर्यामिब्राह्मण भी प्रमाण है कि आरण्यक उपनिषद्में स्पष्टरीतिसे अंतर्यामीका वर्णन किया है ॥ ३ ॥

अत्रापि कलहायंते वादिनः स्वस्वयुक्तिभिः ॥
वाक्यान्यपि यथाप्रज्ञं दार्ढ्यायोदाहरंति हि ॥ ४ ॥

इस अंतर्यामीके विषय भी बहुतसे वादी कलह करते हैं और अपनी २ युक्तियोंसे बुद्धिके अनुसार दृढताके लिये वेदके वाक्योंको कहते हैं ॥ ४ ॥

क्लेशकर्मविपाकस्तदाशयैरप्यसंयुतः ॥
पुंविशेषो भवेदीशो जीववत्सोऽप्यसंगचित् ॥ ५ ॥

अब 'क्लेश, कर्म, विपाक और इनके आशयोंसे जिसका स्पर्श नहीं ऐसे पुरुषविशेषका नाम ईश्वर है' इस पतंजलिके कहे सूत्रके अर्थको पढते हैं कि. अविद्या आदि पांच क्लेश अर्थात् अज्ञान,अस्मिता,राग, द्वेष,अभिनिवेश, न शुक्ल न कृष्ण रूप कर्म,योगियोंके और अन्योंके तीन प्रकारके कर्म और मूल होनेपर उनके जाति आयु भोगरूप विपाक अर्थात् फलविशेष और उनके आशय (संस्कार) इन संपूर्ण क्लेश आदिसे असंयुक्त जो पुरुषविशेष वह ईश्वर है और जीवके समान वह भी असंग और चेतन है, भावार्थ यह है कि क्लेश, कर्म,विपाक, आशय इनसे रहित जो पुरुषविशेष वह ईश्वर है और वह जीवके समान असंग चित्रूप है ॥ ५ ॥

तथापि पुंविशेषत्वाद्घटतेऽस्य नियंतृता ॥
अव्यवस्थौ बंधमोक्षावापतेतामिहान्यथा ॥ ६ ॥

कदाचित् कहो कि असंग मानोगे तो वह नियामक न होगा सो ठीक नहीं कि तो भी पुरुषविशेष होनेसे उसमें नियामकता घट सकती है क्योंकि ईश्वरको नियामक न मानोगे तो विना व्यवस्थाके ही बंध मोक्ष हो जायँगे ॥ ६ ॥

भीषास्मादित्येवमादावसंगस्य परात्मनः ॥
श्रुतं तद्युक्तमप्यस्य क्लेशकर्माद्यसंगमात् ॥ ७ ॥

अब असंग ईश्वरको नियामक माननेमें प्रमाण देते हैं कि इस परमेश्वरके भयसे पवन चलता है इत्यादि श्रुतियोंमें असंग परमात्मामें नियामकता सुनी है और क्लेश, कर्म आदि जीवधर्मोंके असंगमसे ईश्वरमें नियामकता युक्त भी है ॥ ७ ॥

जीवानामप्यसंगत्वात् क्लेशादिर्नह्यथाऽपि च ॥
विवेकाग्रहतः क्लेशकर्मादि प्रागुदीरितम् ॥ ८ ॥

कदाचित् कहो कि जीव भी असंग चित्‌रूप हैं इससे क्लेश आदिसे रहित हैं फिर उनकी अपेक्षा ईश्वरमें क्या विशेषता है सो ठीक नहीं क्योंकि यद्यपि जीवोंको भी असंग होनेसे क्लेश,आदि नहीं हैं तथापि विवेकके अज्ञानसे अर्थात् बुद्धिसे पृथक् अपनेको न समझ कर क्लेश कर्म आदिका संबंध पहले कह आये हैं ॥ ८ ॥

नित्यज्ञानप्रयत्नेच्छा गुणानीशस्य मन्वते ॥
असंगस्य नियंतृत्वमयुक्तमिति तार्किकाः ॥ ९ ॥

तार्किक तो असंगकी नियामकताको न सहते हुए जीवसे विलक्षणताके लिये यह कहते हैं कि नित्य ज्ञान प्रयत्न इच्छा ये गुण ईश्वरके हैं और असंगको नियामक मानना अयुक्त है यह तार्किक (नैयायिक) मानते हैं ॥ ९ ॥

पुंविशेषत्वमप्यस्य गुणैरेव न चान्यथा ॥
सत्यकामः सत्यसंकल्प इत्यादि श्रुतिर्जगौ ॥ ११० ॥

कदाचित् कहो कि इच्छा आदि गुणोंसे युक्त वह कैसे जीवसे विलक्षण है सो ठीक नहीं क्योंकि वह पुरुषविशेष भी नित्य जो इच्छा आदि गुण उनसे ही पुरुष-विशेष है अन्यथा नहीं क्योंकि श्रुतिमें यह कहा है कि सत्यकाम सत्यसंकल्परूप ईश्वर है ॥ ११० ॥

नित्यज्ञानादिमत्त्वेऽस्य सृष्टिरेव सदा भवेत् ॥
हिरण्यगर्भ ईशोऽतो लिंगदेहेन संयुतः ॥ ११ ॥

उसमें भी दोष होनेसे पक्षांतरको कहते हैं कि यदि परमेश्वरको नित्य ज्ञानवान् मानोगे तो सदैव सृष्टि हो जायगी इससे लिंगदेहसे युक्त जो हिरण्यगर्भ वही ईश्वर है अर्थात् मायोपाधि परमात्मा लिंगशरीर समष्टिके अभिमानसे हिरण्यगर्भ कहाता है ॥ ११ ॥

उद्गीथब्राह्मणे तस्य माहात्म्यमतिविस्तृतम् ॥
लिंगसत्त्वेऽपि जीवत्वं नास्य कर्माद्यभावतः ॥ १२ ॥

अब हिरण्यगर्भको ईश्वर माननेमें प्रमाण कहते हैं कि उद्गीथ ब्राह्मणमें उस हिरण्यगर्भका माहात्म्य अत्यंत विस्तारसे कहा है और वह अविद्या काम कर्म आदिके अभावसे लिंगदेहके संबंधसे भी जीव नहीं हो सकता ॥ १२ ॥

स्थूलदेहं विना लिंगदेहो न क्वापि दृश्यते ॥
वैराजो देह ईशोऽतः सर्वतो मस्तकादिमान् ॥ १३ ॥

स्थूल देहके विना केवल लिंगशरीर कहीं भी नहीं मिलता इससे स्थूल शरीरोंका समष्टि अभिमानी जो विराट् देह वही ईश्वर है और उसके मस्तक आदि संपूर्ण शरीरोंके जो हैं वे ही हैं ॥ १३ ॥

सहस्रशीर्षेत्येवं च विश्वतश्चक्षुरित्यपि ॥
श्रुतमित्याहुरनिशं विश्वरूपस्य चिंतकाः ॥ १४ ॥

अब उसके होनेमें श्रुति प्रमाण कहते हैं कि सहस्रों उस पुरुषके शिर हैं और सब ओर उसके नेत्र हैं यह वाक्य श्रुतियोंमें सुना है यह रात्रि दिन विश्वरूपके चिंतक अर्थात् विराट्के उपासक कहते हैं ॥ १४ ॥

सर्वतः पाणिपादत्वे कृम्यादेरपि चेशता ॥
ततश्चतुर्मुखो देव एवेशो नेतरः पुमान् ॥ १५ ॥

इसमें भी दोष दीखता है इससे अन्य देवताको ही ईश्वर कहते हैं कि सब ओर उसके हाथ और चरण मानोगे तो कृमि आदि भी ईश्वर हो जायँगे इससे चतुर्मुख (ब्रह्मा) देव ही ईश्वर है अन्य कोई पुरुष नहीं ॥ १५ ॥

पुत्रार्थं तमुपासीना एवमाहुः प्रजापतिः ॥
प्रजा असृजतेत्यादिश्रुतिं चोदाहरंत्यमी ॥ १६ ॥

पुत्रके लिये उसकी उपासना करते हुए ऐसे कहते हैं और वे श्रुतिके वाक्यक उदाहरण देते हैं कि प्रजापति (ब्रह्मा) ने संपूर्ण प्रजाओंको रचा ॥ १६ ॥

विष्णोर्नाभेः समुद्भूतो वेधाः कमलजस्ततः ॥
विष्णुरेवेश इत्याहुर्लोके भागवता जनाः ॥ १७ ॥

अब भागवतोंका मत कहते हैं कि विष्णुकी नाभिसे उत्पन्न हुआ जो कमल उससे ब्रह्मा उत्पन्न हुआ इससे विष्णु ही ईश्वर है यह जगत्में जो जन भागवत हैं वे कहते हैं ॥ १७ ॥

शिवस्य पादावन्वेष्टुं शार्ङ्ग्यशक्तस्ततः शिवः ॥
ईशो न विष्णुरित्याहुः शैवा आगममानिनः ॥ १८ ॥

अब शैवोंका मत कहते हैं कि विष्णु शिवजीके चरणोंका अन्वेषण (ढूंढना) करनेको भी समर्थ न हुआ इससे शिव ही ईश्वर है विष्णु नहीं यह आगम(पाशुपत-शास्त्र) के माननेवाले शैव कहते हैं ॥ १८ ॥

पुरत्रयं सादयितुं विघ्नेशं सोऽप्यपूजयत् ॥
विनायकं प्राहुरीशं गाणपत्यमते रताः ॥ १९ ॥

अब गाणपत्योंका मत कहते हैं कि तीनों पुरोंको दग्ध(भस्म) करनेके लिये शिवजीने भी गणेशजीका पूजन किया इससे विनायक (गणेश) ही ईश्वर है यह गाणपत्य मतमें जो रत हैं वे कहते हैं ॥ १९ ॥

एवमन्ये स्वस्वपक्षाभिमानेनान्यथाऽन्यथा ॥
मंत्रार्थवादकल्पादीनाश्रित्य प्रतिपेदिरे ॥ १२० ॥

इस प्रकार भैरव मैराल आदिके उपासक भी अपने २ पक्षके अभिमानसे अन्यथा २ वर्णन करते हुए मंत्रोंके अर्थवादोंको मानकर ईश्वरको भिन्न २ मानते हैं अर्थात् अपनी २ बुद्धिसे अनेक ईश्वर मानते हैं ॥ १२० ॥

अंतर्यामिणमारभ्य स्थावरांतेशवादिनः ॥
संत्यश्वत्थार्कवंशादेः कुलदैवतदर्शनात् ॥ २१ ॥

अंतर्यामीसे लेकर स्थावरपर्यंत ईश्वरको कहते हुए अनेक ईश्वरवादी हैं क्योंकि कहीं २ पीपल, आक, वंश आदिको भी कुलका देवता देखते हैं इससे किसी २के मत में स्थावर भी ईश्वर है ॥ २१ ॥

तत्त्वनिश्चयकामेन न्यायागमविचारिणाम् ॥
एकैव प्रतिपत्तिः स्यात् साऽप्यत्र स्फुटमुच्यते ॥ २२ ॥

इस प्रकार मतोंके भिन्न २ होनेपर कौन स्वीकार करने योग्य है और कौन नहीं यह शंका नहीं करनी क्योंकि तत्त्वके निश्चयकी कामनासे युक्ति और आगम (वेद) के विचारमें जिनका शील है ऐसे पुरुषोंको एक ही ईश्वरकी प्रतिपत्ति (ज्ञान) हो जाती है और उसको भी यहां प्रकटरीति पर कहते हैं ॥ २२ ॥

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ॥
अस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥ २३ ॥

उसी निश्चयके कहनेके लिये उसके अनुकूल श्रुतिको कहते हैं कि जगत्का उपादान कारण मायाको जाने और उस मायाका अधिष्ठाता जो अंतर्यामी उसको महेश्वर जाने अर्थात् जगत्का निमित्तकारण ईश्वर है और इस अंतर्यामीके अवयव (अंश) जो जीव उनसे यह संपूर्ण जगत् व्याप्त (भरा) है ॥ २३ ॥

इति श्रुत्यनुसारेण न्याय्यो निर्णय ईश्वरे ॥
तथा सत्यविरोधः स्यात्स्थावरांतेशवादिनाम् ॥ २४ ॥

इस श्रुतिके अनुसार ईश्वरके विषयका निर्णय युक्त है ऐसा होनेपर जो स्थावरपर्यंत ईश्वरका कहते हैं उन सबका विरोध भी न होगा अर्थात् इसको सब मानते हैं ॥ २४ ॥

माया चेयं तमोरूपा तापनीये तदीरणात् ॥
अनुभूतिं तत्र मानं प्रतिजज्ञे श्रुतिः स्वयम् ॥ २५ ॥

अब जगत्की प्रकृति जो माया उसके रूपको कहते हैं कि यह माया तमः (अज्ञान) रूप है यह तापनीय उपनिषद्में कहा है और उस मायाके तमोरूप होनेमें श्रुतिने स्वयम् अनुभवको ही प्रमाण कहा है ॥ २५ ॥

जडं मोहात्मकं तच्चेत्यनुभावयति श्रुतिः ॥
आबालगोपं स्पष्टत्वादानंत्यं तस्य साऽब्रवीत् ॥ २६ ॥

अब मायाके तमोरूप होनेमें अनुभव कहते हैं कि वह यह जडरूप और मोहस्वरूप है यह श्रुति ही अनुभव कराती है और यह बात बालक गोप आदि सबको स्पष्ट है कि प्रकृतिका कार्य जड मोहरूप है और उसी श्रुतिने उस जड मोह-रूपको अनंत कहा है ॥ २६ ॥

अचिदात्मघटादीनां यत्स्वरूपं जडं हि तत् ॥
यत्र कुंठीभवेद्बुद्धिः स मोह इति लौकिकाः ॥ २७ ॥

अचेतन घट आदिका जो स्वरूप है वह जड ही है और जिसमें बुद्धि कुंठित हो जाय अर्थात् न चले वह जड ही होता है ॥ २७ ॥

इत्थं लौकिकदृष्ट्यैतत्सर्वैरप्यनुभूयते ॥
युक्तिदृष्ट्या त्वनिर्वाच्यं नासदासीदिति श्रुतेः ॥ २८ ॥

पूर्वोक्त प्रकारसे सबके अनुभवसे सिद्धरूप आनंत्यको कहते हैं कि इस प्रकार यह जड मोहस्वरूप तमोरूपता लोकदृष्टिसे सिद्ध हुई कदाचित् कहो कि इस प्रकार मायाको सबके अनुभवसे सिद्ध मानोगे तो उसकी ज्ञानसे निवृत्ति न होगी सो ठीक नहीं क्योंकि युक्तिकी दृष्टिसे देखो तो मायाका रूप अनिर्वाच्य है अर्थात् न उसे सत् कह सकते हैं न असत् कह सकते हैं क्योंकि श्रुतिमें यह कहा है' न सत् हुआ न असत् हुआ' भावार्थ यह है कि इस प्रकार लोकदृष्टिसे इसको संपूर्ण जड जानते हैं

और युक्तिसे तो अनिर्वचनीय है और श्रुतिमें यह कहा है कि असत् सत्रूप माया नहीं है ॥ २८ ॥

नासदासीद्विभातत्वान्नो सदासीच्च बाधनात् ॥
विद्यादृष्ट्या श्रुतं तुच्छं तस्य नित्यनिवृत्तितः ॥ २९ ॥

अब पूर्वोक्त श्रुतिके अभिप्रायको कहते हैं कि जगत्को प्रकाशमान होनेसे तो माया असत्रूप नहीं और 'यहां किंचित् भी नाना (माया) नहीं' इस श्रुतिसे मायाका बाध (निषेध) देखते हैं इससे सत्रूप भी नहीं और विरुद्ध होनेसे सत् असत् रूपता भी युक्त नहीं इस प्रकार युक्तिदृष्टिसे अनिर्वचनीय दिखाकर यह इस मायाका रूप तुच्छ है इस श्रुति और विद्वानोंके अनुभवसे उस मायाकी तुच्छता ही ज्ञानदृष्टिसे सुनी है क्योंकि वह ज्ञानसे सदैव निवृत्त होती है भावार्थ यह है कि प्रकाशमान होनेसे असत् और बाध होनेसे सत् नहीं कह सकते और सदैव निवृत्ति होनेसे ज्ञानदृष्टिसे देखो तो माया तुच्छ है ॥ २९ ॥

तुच्छाऽनिर्वचनीया च वास्तवी चत्यसौ त्रिधा ॥
ज्ञेया माया त्रिभिर्बोधैः श्रौतयौक्तिकलौकिकैः ॥ १३० ॥

श्रुतिके बोधसे देखो तो माया तुच्छ है अर्थात् तीनों कालोंमें असत् है और युक्तिसे देखो तो अनिर्वचनीय है और लोकके बोधसे देखो तो वास्तवी (सत्) है इस प्रकार श्रुति युक्ति जगत्के बोधोंसे माया तुच्छ, अनिर्वचनीय, वास्तवी तीन प्रकारकी है अर्थात् बोधोंके भेदसे मायाके भेद प्रतीत होते हैं ॥ १३० ॥

अस्य सत्त्वमसत्त्वं च जगतो दर्शयत्यसौ ॥
प्रसारणाच्च संकोचाद्यथा चित्रपटस्तथा ॥ ३१ ॥

यह माया ही इस जगत्के सत्त्व और असत्त्वको दिखाती है जैसे प्रसारण (फैलाना) से और संकोचसे वस्त्रचित्र प्रतीत होता है और नहीं होता है ॥ ३१ ॥

अस्वतंत्रा हि माया स्यादप्रतीतेर्विना चितिम् ॥
स्वतंत्राऽपि तथैव स्यादसंगस्यान्यथाकृतेः ॥ ३२ ॥

अब मायाके अस्वतंत्र और स्वतंत्र दोनों रूप वर्णन करते हैं कि चेतनकी सत्ताके विना माया प्रतीत नहीं हो सकती इससे तो अस्वतंत्र (पराधीन) है और चेतन (ईश्वर) असंगको भी अन्यथा (जीव) कर देती है इससे स्वतंत्र (स्वाधीन) है ॥ ३२ ॥

कूटस्थासंगमात्मानं जगत्त्वेन करोति सा ॥
चिदाभासस्वरूपेण जीवेशावपि निर्ममे ॥ ३३ ॥

अब अन्यथा करनेको ही वर्णन करते हैं कि वह माया कूटस्थ असंग आत्माको जगतरूप कर देती है और चिदाभासरूपसे जीव ईश्वरको भी वह माया ही करती है ॥ ३३ ॥

कूटस्थमनुपद्रुत्य करोति जगदादिकम् ॥
दुर्घटैकविधायिन्यां मायायां का चमत्कृतिः ॥ ३४ ॥

कदाचित् कहो कि असंगके अन्यथा करनेसे कूटस्थ न रहेगा सो ठीक नहीं कारण कि वह माया कूटस्थमें किसी प्रकारके भी उपद्रवको न करके जगत् आदिको करती है। कदाचित् कहो कि कूटस्थताके विघात किये विना जगतकी रचना असंभव है सो भी ठीक नहीं क्योंकि दुर्घट कार्यको करनेवाली मायामें संपूर्ण चमत्कार बन सकता है अन्यथा उसका मायात्व ही नष्ट हो जायगा । यह मायाका ही चमत्कार है कि कूटस्थके विना विगाड़े जगत्को रच सके ॥ ३४ ॥

द्रवत्वमुदके वह्नावौष्ण्यं काठिन्यमश्मनि ॥
मायाया दुर्घटत्वं च स्वतः सिध्यति नान्यतः ॥ ३५ ॥

अब मायाके दुर्घट करने रूप स्वभावको कहते हैं कि जैसे जलमें द्रवत्व (बहना) अग्निमें उष्णता और पत्थरमें कठिनता आदि स्वभावसे प्रतीत होते हैं ऐसे ही माया स्वतः ही दुर्घट है अन्यसे नहीं है ॥ ३५ ॥

न वेत्ति लोको यावत्तां साक्षात्तावच्चमत्कृतिम् ॥
धत्ते मनसि पश्चात्तु मायैषेत्युपशाम्यति ३६ ॥

कदाचित् कहो कि मायाको दुर्घट करना आश्चर्यका हेतु नहीं यह नहीं हो सकता क्योंकि जगत्में मायाको चमत्कारका हेतु देखते हैं सो ठीक नहीं क्योंकि जबतक जगत् उस मायाको साक्षात् नहीं जानता तबतक ही मनमें चमत्कारको धारण करता है और ज्ञानके पछि तो यह माया है यह समझकर शांतिको प्राप्त हो जाता है ॥ ३६ ॥

प्रसरंति हि चोद्यानि जगद्वस्तुत्ववादिषु ॥
न चोदनीयं मायायां तस्याश्चोद्यैकरूपतः ॥ ३७ ॥

जगत्को सत्य कहनेवाले जो नैयायिक आदि वादी हैं उनपर ही ऐसे २ चोद्य (तर्क) चल सकते हैं और मायावादीके ऊपर ऐसे तर्क न करने चाहिये क्योंकि वह माया ही स्वयं चोद्यस्वरूप है ॥ ३७ ॥

चोद्येऽपि यदि चोद्यं स्यात् त्वच्चोद्ये चोद्यते मया ॥
परिहार्यं ततश्चोद्यं न पुनः प्रतिचोद्यताम् ॥ ३८ ॥

मायावादीके प्रति तर्क करनेमें दोष कहते हैं कि यदि तर्कके योग्यमें भी तर्क हो तो तेरे तर्क कियेमें हम तर्क करेंगे इससे तर्कका परिहार करे उसमें प्रतितर्क न करे ॥ ३८ ॥

विस्मयैकशरीराया मायायाश्चोद्यरूपतः ॥
अन्वेष्यः परिहारोऽस्या बुद्धिमद्भिः प्रयत्नतः ॥ ३९ ॥

विस्मय (आश्चर्य) ही है एक शरीर जिसका ऐसी मायाको चोद्यरूप होनेसे उसके परिहार (नाश) का बुद्धिमान् मनुष्य यत्नसे अन्वेषण करे ॥ ३९ ॥

मायात्वमेव निश्चेयमिति चेत्तर्हि निश्चिनु ॥
लोकप्रसिद्धमायाया लक्षणं यत्तदीक्ष्यताम् ॥ १४० ॥

कदाचित् कहो कि मायाके निश्चय होने पर उसका परिहार ढूंढ़ने योग्य है प्रथम तो मायाके स्वरूपका ही निश्चय नहीं सो ठीक नहीं क्योंकि यदि मायात्वका निश्चय करना है तो निश्चय करो और जगत्में प्रसिद्ध मायाका जो लक्षण है उसको ही यहां देख लो ॥ १४० ॥

न निरूपयितुं शक्या विस्पष्टं भासते च या ॥
स मायेतींद्रजालादौ लोकाः संप्रतिपेदिरे ॥ ४१ ॥

उसका यह लक्षण है कि जिसका निरूपण (कथन) न कर सके और जो स्पष्ट प्रकाशमान हो वही माया इंद्रजाल आदिमें लोकोंने मानी है ॥ ४१ ॥

स्पष्टं भाति जगच्चेदमशक्यं तन्निरूपणम् ॥
मायामयं जगत्तस्मादीक्षस्वापक्षपाततः ॥ ४२ ॥

यह जगत् स्पष्ट दीखता है और उसके निरूपणको नहीं कर सकते इससे मायामय है इस बातको पक्षपात छोड कर तू देख अर्थात् विचार कर ॥ ४२ ॥

निरूपयितुमारब्धे निखिलैरपि पंडितैः ॥
अज्ञानं पुरतस्तेषां भाति कक्षासु कासुचित ॥ ४३ ॥

अब जगत्के निरूपणका अशक्यत्व दिखाते हैं कि जब संपूर्ण पंडितजन जगत्के निरूपण (वर्णन) करनेका प्रारंभ करते हैं तब उन पंडितोंके आगे किसी न किसी कक्षा (अंश) में अज्ञान भासता है ॥ ४३ ॥

देहेंद्रियादयो भावा वीर्येणोत्पादिताः कथम् ॥
कथं वा तत्र चैतन्यमित्युक्ते ते किमुत्तरम् ॥ ४४ ॥

अब अशक्य निरूपणको ही उदाहरण देकर स्पष्ट करते हैं कि देह इंद्रिय आदि भाव पदार्थोंको माता पिताका वीर्य कैसे पैदा कर देता है और उस देहमें चेतनता कैसे हो जाती है ऐसा कोई प्रश्न करे तो तेरे मतमें क्या उत्तर है ? ॥ ४४ ॥

वीर्यस्यैष स्वभावश्चेत्कथं तद्विदितं त्वया ॥
अन्वयव्यतिरेकौ यौ भग्नौ तौ वंध्यवीर्यतः ॥ ४५ ॥

स्वभाववादी शंका करता है कि यह वीर्यका ही स्वभाव है तो तुमने यह कैसे जाना कि यह वीर्यका स्वभाव है । कदाचित् कहो कि अन्वयव्यतिरेकसे जानते हैं सो भी ठीक नहीं क्योंकि वंध्या स्त्रीमें वीर्यको व्यर्थ होनेसे, जो अन्वय व्यतिरेक हैं वे नष्ट हो गये अर्थात् यह नियम नहीं घट सकता कि जहां २ वीर्य वहां २ देह आदि होते हैं ॥ ४५ ॥

न जानामि किमप्येतदित्यंते शरणं तव ॥
अत एव महांतोऽस्य प्रवदंतींद्रजालताम् ॥ ४६ ॥

इस प्रकार बारंबार प्रश्न करनेमें अंतमें तेरा यही उत्तर होगा कि मैं नहीं जान सकता कि यह क्या है इससे महान् २ पुरुष इस जगत्को इंद्रजालरूप वर्णन करते हैं ॥ ४६ ॥

एतस्मात्किमिवेंद्रजालमपरं यद्गर्भवासस्थितं
रेतश्चेतति हस्तमस्तकपदप्रोद्भूतनानांकुरम् ॥
पर्यायेण शिशुत्वयौवनजरावेषैरनेकैर्वृतं
पश्यत्यत्ति शृणोति जिघ्रति तथा गच्छत्यथागच्छति॥४७॥

पूर्वोक्त मायाके अनिर्वचनीय होनेमें सबकी देखी संमति दिखाते हैं कि इससे परे और क्या इंद्रजाल होगा कि गर्भमें है वास जिसका ऐसा वीर्य चेतन होता है और उसमें हाथ मस्तक चरण आदि अंकुर पैदा होते हैं और क्रम २ से वह बालक यौवन जरा (आदि) अनेक वेषोंसे युक्त होकर देखता है, खाता है, सुनता है, सूंघता है, गमन और आगमन करता है ॥ ४७ ॥

देहवद्वटधानादौ सुविचार्य विलोक्यताम् ॥
क्व धाना कुत्र वा वृक्षस्तस्मान्मायेति निश्चिनु ॥ ४८ ॥

कुछ केवल देह ही अनिर्वचनीय नहीं किंतु वटवृक्ष आदिमें भी ऐसे ही है देहके समान वट और अन्न आदिमें भी भले प्रकार विचार कर देखो कहां धान है और कहां वृक्ष है इससे यही निश्चय कर लिया कि माया है ॥ ४८ ॥

निरुक्तावभिमानं ये दधते तार्किकादयः ॥
हर्षमिश्रादिभिस्ते तु खंडनादौ सुशिक्षिताः ॥ ४९ ॥

कदाचित् कहो कि हम निरूपण नहीं कर सकते तो उदयनाचार्य आदि निरूपण कर सकते हैं सो भी ठीक नहीं क्योंकि जो तार्किक आदि निरुक्ति (कथन) में अभिमान करते हैं अर्थात् मायाको सत्य कहते हैं उनको श्रीहर्षमिश्र आदिकोंने खंडन आदि ग्रंथोंमें भले प्रकार शिक्षा की है अर्थात् उन का खंडन किया है ॥ ४९ ॥

अचिंत्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केषु योजयेत् ॥
अचिंत्यरचनारूपं मनसाऽपि जगत्खलु ॥ १५० ॥

अब उक्त अर्थमें सांप्रदायिकोंके वाक्योंको कहते हैं कि जो भाव (पदार्थ) चिंता करनेके अयोग्य हैं उनको तर्कसे युक्त न करे क्योंकि यह जगत् मनसे भी अचिंत्य रचनारूप निश्चयसे है ॥ १५० ॥

अचिंत्यरचनाशक्तिबीजं मायेति निश्चिनु ॥
मायाबीजं तदेवैकं सुषुप्तावनुभूयते ॥ ५१ ॥

कदाचित् कहो कि जगत्की अचिंत्य रचना हो इससे मायाके विषय क्या आया सो ठीक नहीं क्योंकि अचिंत्य रचनाकी शक्तिका बीज (कारण) माया है यह निश्चय करो और वह अचिंत्य रचनाका मायारूप बीज सुषुप्तिमें जाना गया है ॥ ५१ ॥

जाग्रत्स्वप्नजगत्तत्र लीनं बीज इव द्रुमः ॥
तस्मादशेषजगतो वासनास्तत्र संस्थिताः ॥ ५२ ॥

अब जैसे माया जगत्का बीज है उस रीतिको कहते हैं कि सुषुप्तिमें जाग्रत् स्वप्नरूप संपूर्ण जगत् इस प्रकार लीन (छिपा) रहता है जैसे बीजमें वृक्ष ; जिससे जगत्का कारण माया है इससे संपूर्ण जगत्की वासना मायामें स्थित हैं ॥ ५२ ॥

या बुद्धिवासनास्तासु चैतन्य प्रतिबिंबति ॥
मेघाकाशवदस्पष्टचिदाभासोऽनुमीयताम् ॥ ५३ ॥

जो बुद्धिकी वासना हैं उनमें चैतन्यका प्रतिबिंब पड़ता है और वह मेघके आकाशके समान अस्पष्ट चिदाभास है और अनुमानसे प्रतीत होता है ॥ ५३ ॥

साभासमेव तद्बीजं धीरूपेण प्ररोहति ॥
अतो बुद्धौ चिदाभासो विस्पष्टं प्रतिभासते ॥ ५४ ॥

कदाचित् कहो कि मेघके अंश जलमें आकाशका यद्यपि अस्पष्ट प्रतिबिंब हो परंतु उसका सजातीय जो घटका जल है उसमें तो आकाशका प्रतिबिंब स्पष्ट है इससे मेघके आकाशका अनुमान घट सकता है यहां कोई वैसा दृष्टांत है नहीं इससे कैसे अनुमान हो सकता है सो ठीक नहीं क्योंकि यहां भी वैसा ही दृष्टांत हो सकता है कि आभाससहित जो मायाका बीज है वही बुद्धिरूपसे जमता है अर्थात् चिदाभासविशिष्ट अज्ञान ही बुद्धिरूपसे परिणामको प्राप्त हुआ स्पष्ट चिदाभासके तुल्य होजाता है, इससे यहां यह अनुमान है कि 'विवादका आस्पद बुद्धिकी वासना चेतनके प्रतिबिंबवाली हैं, बुद्धिकी अवस्था होनेसे बुद्धिकी वृत्तिके समान' भावार्थ यह है कि आभाससहित उसका बीज बुद्धिरूपसे जमता है इससे बुद्धिमें चिदाभास स्पष्टरूपसे भासता है ॥ ५४ ॥

मायाभासेन जीवेशौ करोतीति श्रुतौ श्रुतम् ॥
मेघाकाशजलाकाशाविव तौ सुव्यवस्थितौ ॥ ५५ ॥

इस प्रकार श्रुतिमें कही जीव ईश्वरकी मायिकताका उपसंहार (समाप्ति) करते हैं कि माया आभास (प्रतिबिंब) से जीव ईश्वरको करती है यह वेदमें सुना है और वे दोनों मेघाकाश और जलाकाशके समान भले प्रकार व्यवस्थित हैं ॥ ५५ ॥

मेघवद्वर्तते माया मेघस्थिततुषारवत् ॥
धीवासनाश्चिदाभासस्तुषारस्थखवत्स्थितः ॥ ५६ ॥

अब ईश्वरको मेघाकाशकी समानताको स्पष्ट करते हैं कि मेघके समान माया बढ़ती है और मेघमें स्थित तुषारके समान बुद्धिकी वासना हैं और तुषारमें स्थित आकाशके समान चिदाभास है ॥ ५६ ॥

मायाधीनश्चिदाभासः श्रुतो मायी महेश्वरः ॥
अंतर्यामी च सर्वज्ञो जगद्योनिः स एव हि ॥ ५७ ॥

अब मायाप्रतिबिंबके ईश्वर होनेमें श्रुतिप्रमाण कहते हैं कि मायाके अधीन चिदाभास है और मायावी महेश्वर सुना है और वही अंतर्यामी सर्वज्ञ है और वही जगत्का योनि (कारण) है ॥ ५७ ॥

सौषुप्तमानंदमयं प्रक्रम्यैवं श्रुतिर्जगौ ॥
एष सर्वेश्वर इति सोऽयं वेदोक्त ईश्वरः ॥ ५८ ॥

अब बुद्धिकी वासनामें प्रतिबिंब ईश्वर होना श्रुतिसे सिद्ध है यह वर्णन करनेवाली श्रुतिको कहते हैं कि सुषुप्तिके समय एकरूप प्रज्ञानघन ही है यह श्रुति प्रारंभसे धीवासनामें प्रतिबिंबित आनंदमयको ईश्वर कहती है, यह सर्वेश्वर है और सोई यह वेदोक्त ईश्वर है ॥ ५८ ॥

सर्वज्ञत्वादिके तस्य नैव विप्रतिपद्यताम् ॥
श्रौतार्थस्याविंतर्क्यत्वान्मायायां सर्वसंभवात् ॥ ५९ ॥

कदाचित् कहो कि वह आनंदमय सर्वज्ञ नहीं हो सकता सो ठीक नहीं उस आनंदमयकी सर्वज्ञतामें विवाद न करना चाहिये क्योंकि श्रुतिसे सिद्ध जो अर्थ वह तर्कके अयोग्य है और मायामें सब संभव है ॥ ५९ ॥

अयं यत्सृजते विश्वं तदन्यथयितुं पुमान् ॥
न कोऽपि शक्तस्तेनायं सर्वेश्वर इतीरितः ॥ १६० ॥

कदाचित् कहो कि युक्तिके अभावमें श्रुति भी पत्थरके तरनेके वाक्यके तुल्य अर्थवाद हो जायगी सो ठीक नहीं क्योंकि यह सर्वज्ञ जिस जाग्रत् आदि विश्वको रचता है उसको अन्यथा करनेको कोई भी पुरुष समर्थ नहीं है इससे यह वेदमें सर्वेश्वर कहा है ॥ १६० ॥

अशेषप्राणिबुद्धीनां वासनास्तत्र संस्थिताः ॥
ताभिः क्रोडीकृतं सर्वं तेन सर्वज्ञ ईरितः ॥ ६१ ॥

अब ईश्वरकी सर्वज्ञताका वर्णन करते हैं कि उस सुषुप्तिकालके अज्ञानरूप कारणमें कार्यरूप जो संपूर्ण प्राणियोंकी बुद्धि उनकी वासना स्थित हैं अर्थात् बसती हैं उन वासनाओंने संपूर्ण जगत्को विषय कर रक्खा है इससे संपूर्ण बुद्धियोंकी वासनावाले अज्ञानरूप उपाधिसे यह सर्वज्ञ कहा है ॥ ६१ ॥

वासनानां परोक्षत्वात्सर्वज्ञत्वं नहीक्ष्यते ॥
सर्वबुद्धिषु तद्दृष्ट्वा वासनास्वनुमीयताम् ॥ ६२ ॥

कदाचित् कहो कि वह सर्वज्ञ है तो जाना क्यों नहीं जाता सो ठीक नहीं। उसकी उपाधिरूप वासनाओंको परोक्ष होनेसे उसकी सर्वज्ञता नहीं दीखती और संपूर्ण बुद्धियोंमें वर्तमान जो सर्वज्ञत्व है उसका वासनाओंमें भी अनुमान करो। वह अनुमान यह है कि 'संपूर्ण बुद्धियोंका सर्वज्ञत्व अपनी कारणरूप वासनासे आये सर्वज्ञत्वपूर्वक होने योग्य है कार्यमें वर्तमान धर्म विशेष होनेसे पटमें वर्तमान रूप आदिके समान'। भावार्थ यह है कि वासनाओंके प्रकट न होनेसे सर्वज्ञता नहीं दीखती किंतु संपूर्ण बुद्धियोंमें सर्वज्ञताको देखकर वासनाओंमें अनुमान करो॥ ६२॥

विज्ञानमयमुख्येषु कोशेष्वन्यत्र चैव हि॥
अंतस्तिष्ठन् यमयति तेनांतर्यामितां व्रजेत्॥ ६३॥

अब सर्वज्ञको कहकर अंतर्यामी रूप वर्णन करते हैं कि विज्ञानमय कोश है मुख्य जिनमें ऐसे कोशोंमें और पृथिवी आदिमें अंतः (भीतर) टिक कर जो सबको यमन (शिक्षा) देता है इससे वह अंतर्यामी कहाता है॥ ६३॥

बुद्धौ तिष्ठन्नांतरोऽस्या धियानीक्ष्यश्च धीवपुः॥
धियमंतर्यमयतीत्येवं वेदेन घोषितम्॥ ६४॥

अब इस अर्थमें संपूर्ण अंतर्यामी ब्राह्मणका प्रमाण देते हैं कि जो बुद्धिमें टिक कर बुद्धिके भी अंतर (भीतर) है और जो बुद्धिसे देखनेके अयोग्य और बुद्धि जिसका शरीर है और बुद्धिके अंतःप्रविष्ट होकर जो बुद्धिका नियामक है वह अंतर्यामी परमेश्वर है यह वेदने कहा है॥ ६४॥

ततुः पटे स्थितो यद्वदुपादानतया तथा॥
सर्वोपादानरूपत्वात् सर्वत्रायमवस्थितः॥ ६५॥

अब अंतर्यामी ब्राह्मणके सब पर्यायोंके व्याख्यानमें तो ग्रंथके बढ़नेको भय है इससे व्याख्यानके सब पर्यायोंमें संचारकी सिद्धिके लिये जो सब भूतोंमें टिक कर सबका अंतर है इस पर्यायकी व्याख्या करते हुए जो सब भूतोंमें टिककर इसका अर्थ दृष्टांतसे कहते हैं कि जैसे उपादानरूपसे तंतु (सूत) वस्त्रमें स्थित है इसी प्रकार सबका उपादान रूप होनेसे यह अंतर्यामी ईश्वर भी सर्वत्र स्थित है॥ ६५॥

पटादप्यांतरस्तंतुस्तंतोरप्यंशुरांतरः॥
आंतरत्वस्य विश्रांतिर्यत्रासावनुमीयताम्॥ ६६॥

कदाचित् कहो कि उपादानरूपसे यह सर्वत्र स्थित है तो सर्वत्र प्रतीत क्यों नहीं होता सो ठीक नहीं क्योंकि पटसे आंतर तंतु है और और तंतुसे भी

आंतर उसके अंशु (रोम) हैं इसीसे आंतरताकी जहां विश्रांति है वही यह है ऐसा अनुमान करो ॥ ६६ ॥

द्वित्रांतरत्वकक्षाणां दर्शनेऽप्ययमांतरः ॥
न वीक्ष्यते ततो युक्तिश्रुतिभ्यामेव निर्णयः ॥ ६७ ॥

कदाचित् कहो कि सबका आंतर आत्माको मानोगे तो अंशु आदिके समान यह दीखना चाहिये सो ठीक नहीं क्योंकि दो तीन श्रेणियोंके दर्शनमें भी यह आंतर है अर्थात् बाह्य नहीं है और इसका निर्णय श्रुति और युक्तियोंसे ही होता है उनमें श्रुति तो पूर्वोक्त है और युक्ति यह है कि चेतनरूप अधिष्ठानके विना अचेतनकी प्रवृत्ति असंभव है ॥ ६७ ॥

पटरूपेण संस्थानात् पटस्तंतोर्वपुर्यथा ॥
सर्वरूपेण संस्थानात्सर्वमस्य वपुस्तथा ॥ ६८ ॥

अब जिसके संपूर्ण भूत शरीर हैं इसका अर्थ कहते हैं कि वस्त्ररूपसे स्थित होनेसे जैसे पट तंतुका रूप है इसी प्रकार संपूर्णरूपसे स्थित होनेसे सब इस आत्माके शरीर हैं अर्थात् उस तंतुकी स्थिति जैसे पटरूपसे है ऐसे ही आत्माकी स्थिति सब रूपसे है ॥ ६८ ॥

तंतोः संकोचविस्तारचलनादौ पटस्तथा ॥
अवश्यमेव भवति न स्वातंत्र्यं पटे मनाक् ॥ ६९ ॥

अब जो सब भूतोंके आंतर होकर नियामक है इसका तात्पर्य दृष्टांत सहित दो श्लोकोंसे कहते हैं कि जैसे तंतुके संकोच विस्तार चलन आदिमें पट अवश्य विद्यमान है और किंचित् भी स्वतंत्रता पटमें नहीं है ॥ ६९ ॥

तथांतर्याम्ययं यत्र यया वासनया यथा ॥
विक्रियेत तथाऽवश्यं भवत्येव न संशयः ॥ १७० ॥

जैसे तंतुके संकोच आदिसे पटका संकोच आदि होता है इसी प्रकार पृथ्वी आदिमें उपादानरूपसे स्थित अंतर्यामी जिस २ प्रकारकी वासनासे जैसे २ घट आदिरूप कार्यभावको प्राप्त होता है उसी २ रूपसे वह कार्यका समूह होता है इसमें संशय नहीं है ॥ १७० ॥

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ॥
भ्रामयन्सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया ॥ ७१ ॥

अब अंतर्यामीकी बोधक श्रुतिको कहकर स्मृतिको कहते हैं कि ' हे अर्जुन, ईश्वर सब भूतोंके हृदयरूप देशमें यंत्र पर टिके हुए भूतोंको मायासे भ्रमाते हुए टिकते है ' ॥ ७१ ॥

सर्वभूतानि विज्ञानमयास्ते हृदये स्थिताः ॥
तदुपादानभूतेशस्तत्र विक्रियते खलु ॥ ७२ ॥

अब ' सर्वभूतानाम् ' इस पदके अर्थको कहते है कि विज्ञानमय (रूप) वे संपूर्ण भूत हृदयमें स्थित हैं और उनका उपादानभूत ईश्वर वहा विकारको प्राप्त होता है अर्थात् हृदयमे स्थित अंतर्यामीका विज्ञानमयरूपसे परिणाम हो जाता है इससे वे भूत हृदयमें स्थित हैं ॥ ७२ ॥

देहादि पंजरं यंत्रं तदारोहोऽभिमानिता ॥
विहितप्रतिषिद्धेषु प्रवृत्तिर्भ्रमणं भवेत् ॥ ७३ ॥

अब यंत्रारूढ शब्दका अर्थ लिखते है कि देह आदि पंजरको यंत्र कहते हैं और उस देहके अभिमानको आरोह (बैठना) कहते हैं और शास्त्रसे विहितोमें जो निषिद्ध हैं उनमें प्रवृत्तिको भ्रमण कहते है ॥ ७३ ॥

विज्ञानमयरूपेण तत्प्रवृत्तिस्वरूपतः ॥
स्वशक्त्येशो विक्रियते मायया भ्रामणं हि तत् ॥ ७४ ॥

विज्ञानमयरूपसे उस आत्माकी प्रवृत्तिके स्वरूपसे ईश्वर अपनी शक्तिरूप मायासे विकारको प्राप्त होता है उसको ही भ्रामण (भ्रमण कराना) कहते हैं ॥ ७४ ॥

अंतर्यमयतीत्युक्त्याऽयमेवार्थः श्रुतौ श्रुतः ॥
पृथिव्यादिषु सर्वत्र न्यायोऽयं योज्यतां धिया ॥ ७५ ॥

अंतःस्थित होकर जो नियमन करे यह कहनेसे श्रुतिमें यही अर्थ अंतर्यामी पदका सुना है, यही न्याय अपनी बुद्धिसे पृथिवी आदि सब पर्यायोंमे युक्त करना ॥ ७५ ॥

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिर्जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः॥
केनापि देवेन हृदि स्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि ७६।

अब संपूर्ण प्रवृत्ति ईश्वरके अधीन है इसमें अन्य वाक्यका भी प्रमाण देते हैं कि ' मैं धर्मको जानता हूं परंतु मेरी प्रवृत्ति धर्ममें नहीं है और मै अधर्मको

जानता हूं परंतु मेरी अधर्मसे निवृत्ति नहीं है इससे हृदयमें स्थित किसी देवने जैसे नियुक्त मुझे कर दिया है उसी प्रकार मैं करता हूं ' ॥ ७६ ॥

नार्थः पुरुषकारेणेत्येव मा शंक्यतां यतः ॥
ईशः पुरुषकारस्य रूपेणापि विवर्तते ॥ ७७ ॥

कदाचित् कहो कि प्रवृत्तिको परमेश्वरके अधीन माननेसे मनुष्यका प्रयत्न वृथा हो जायगा सो ठीक नहीं कि पुरुषार्थ निरर्थक है यह शंका न करनी क्योंकि पुरुषार्थरूपसे भी ईश्वर ही विवर्तरूपको प्राप्त होता है अर्थात् पुरुषार्थ भी ईश्वररूप है और रज्जुके सर्पके समान अतात्त्विक (झूठे) अन्यथाभावको विवर्त कहते हैं ॥ ७७ ॥

ईदृग्बोधेनेश्वरस्य प्रवृत्तिर्मैव वार्यताम् ॥
तथाऽपीशस्य बोधेन स्वात्मासंगत्वधीजनिः ॥ ७८ ॥

कदाचित् कहो कि पुरुषके प्रयत्नको भी ईश्वर मानोगे तो नियामक और भ्रामण शब्दोंसे कही जो अंतर्यामीकी प्रेरणा वह वृथा हो जायगी सो ठीक नहीं क्योंकि पुरुषार्थरूपसे स्थितिके ज्ञानसे अंतर्यामीकी प्रवृत्ति (प्रेरणा) का वारण निषेध मत करो क्योंकि ईश्वरको जो अपने असंग होनेका ज्ञान उससे ईश्वरमें प्रेरणा बन सकती है ॥ ७८ ॥

तावता मुक्तिरित्याहुः श्रुतयः स्मृतयस्तथा ॥
श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे इत्यपीश्वरभाषितम् ॥ ७९ ॥

अब आत्माकी असंगताके ज्ञानका फल कहते हैं कि श्रुति और स्मृतियोंने असंगके ज्ञानसे ही मुक्ति कही है और यह भी ईश्वरने ही कहा है कि श्रुति स्मृति ये दोनों मेरी ही आज्ञा हैं इसीसे श्रुतिका कथन लंघन करनेको अयोग्य है ॥ ७९ ॥

आज्ञया भीतिहेतुत्वं भीषास्मादिति हि श्रुतम् ॥
सर्वेश्वरत्वमेतत्स्यादंतर्यामित्वतः पृथक् ॥ १८० ॥

श्रुतिमें भी ईश्वरको भीतिका हेतु कहा है कि इस ईश्वरके भयसे पवन चलता है इस श्रुतिमें आज्ञासे ईश्वरको भयका कारण कहा है इससे सर्वेश्वर अंतर्यामीसे पृथक् (भिन्न) है ॥ १८० ॥

एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासन इति श्रुतिः ॥
अंतःप्रविष्टः शास्ताऽयं जनानामिति च श्रुतिः ॥ ८१ ॥

इस अक्षर (अविनाशी) ईश्वरके शासनमें जगत् है यह श्रुति है और यह परमेश्वर जनोंके अंतः प्रविष्ट होकर सबका शिक्षक है इन दो श्रुतियोंसे बाहर और भीतर ईश्वरको ही नियामक कहा है ॥ ८१ ॥

जगद्योनिर्भवेदेष प्रभवाप्ययकृत्त्वतः ॥
आविर्भावतिरोभावावुत्पत्तिप्रलयौ मतौ ॥ ८२ ॥

अब यह ईश्वर जगत्का योनि है इस श्रुतिका अर्थ कहते हैं कि उत्पत्ति और प्रलयका कर्ता होनेसे यह जगत्का योनि (कारण) है और यहां उत्पत्ति और प्रलय शब्दसे आविर्भाव (प्रकटता) और तिरोभाव (छिपना) समझने ॥ ८२ ॥

आविर्भावयति स्वस्मिन् विलीनं सकलं जगत् ॥
प्राणिकर्मवशादेष पटो यद्वत्प्रसारितः ॥ ८३ ॥

यह परमेश्वर लयको प्राप्त हुए संपूर्ण जगतका इस प्रकार प्राणियोंके कर्मवश आविर्भाव करता है जैसे प्रसारित (फैलाया) पट अपने चित्रामोंको प्रगट करता है ॥ ८३ ॥

पुनस्तिरोभावयति स्वात्मन्येवाखिलं जगत् ॥
प्राणिकर्मक्षयवशात्संकोचितपटो यथा ॥ ८४ ॥

अब प्रलयका हेतु दिखाते हैं कि फिर इस प्रकार संपूर्ण जगत्का प्राणियोंके कर्माधीन अपनेमें तिरोभाव (छिपाना) करता है जैसे संकोच करनेसे पट अपने चित्रोंको छिपा लेता है ॥ ८४ ॥

रात्रिघस्रौ सुप्तिबोधावुन्मीलननिमीलने ॥
तूष्णींभावमनोराज्ये इव सृष्टिलयाविमौ ॥ ८५ ॥

अब आविर्भाव तिरोभावके अन्य भी दृष्टांतोंको कहते हैं कि जैसे रात्रि दिन सोना जागरण उन्मीलन (खुलना) निमीलन (मिचना) और तूष्णींभाव और मनोराज्य हैं ऐसे ही सृष्टि और प्रलय ये दोनों भी होते हैं ॥ ८५ ॥

आविर्भावतिरोभावशक्तिमत्त्वेन हेतुना ॥
आरंभपरिणामादिचोद्यानां नात्र संभवः ॥ ८६ ॥

कदाचित् कहो कि ईश्वर जगत्का योनि आरंभ (रचना) करनेसे वा जगत्-आकार परिणाम होनेसे है सो ठीक नहीं कि आविर्भाव तिरोभाव शक्तियोंका आश्रय होनेसे आरंभ परिणाम आदि तर्कोंका यहां संभव नहीं है क्योंकि अद्वितीय आरंभक नहीं हो सकता और निरवयवका परिणाम नहीं हो सकता ॥ ८६ ॥

अचेतनानां हेतुः स्याज्जाड्यांशेनेश्वरस्तथा ॥
चिदाभासांशतस्त्वेष जीवानां कारणं भवेत् ॥ ८७ ॥

कदाचित् कहो कि एक ही ईश्वर चेतन अचेतनोंका उपादान कैसे होगा सो ठीक नहीं क्योंकि जाड्य अंशसे अर्थात् उपाधिकी प्रधानतासे अचेतनोंका उपादान और चिदाभास अर्थात् चित्प्राधान्य (मुख्यता) से जीवोंका उपादान कारण होता है ॥ ८७ ॥

तमःप्रधानः क्षेत्राणां चित्प्रधानश्चिदात्मनाम् ॥
परः कारणतामेति भावनाज्ञानकर्मभिः ॥ ८८ ॥
इति वार्तिककारेण जडचेतनहेतुता ॥
परमात्मन एवोक्ता नेश्वरस्येति चेच्छृणु ॥ ८९ ॥

मायावी ईश्वर जगत्का कारण नहीं हो सकता क्योंकि सुरेश्वराचार्योंने परमात्माको ही जगत्का कारण कहा है यह शंका दो श्लोकोंसे करते हैं कि तमोगुण है प्रधान जिसमें ऐसी मायारूप उपाधिवाला परमेश्वर शरीर आदिकोंके भावनाख्य संस्कार ज्ञान देवयान आदि और धर्म अधर्मरूप कर्म इनसे चित्प्रधान भी वह चिदात्मारूप जीवोंका कारण होता है इस पूर्वोक्त प्रकारसे परमात्माको ही जड और चेतनकी हेतुता कही है ईश्वरको नहीं ऐसी शंकाके उत्तरको सुनो ॥ ८८ ॥८९॥

अन्योन्याध्यासमत्रापि जीवकूटस्थयोरिव ॥
ईश्वरब्रह्मणोः सिद्धं कृत्वा ब्रूते सुरेश्वरः ॥ १९० ॥

जैसे त्वंपदके अर्थमें अन्योन्याध्यास कहा है इसी प्रकार तत्वंपदके अर्थमें भी अधिष्ठान और आरोपका अन्योन्य अध्यास इष्ट है कि जिस प्रकार जीव और कूटस्थका अन्योन्याध्यास कहा है इसी प्रकार ईश्वर और ब्रह्मके भी अन्योन्याध्यासको सिद्ध करके सुरेश्वर आचार्य पूर्वोक्त शंकाका उत्तर कहते हैं ॥ १९० ॥

सत्यं ज्ञानमनंतं यद्ब्रह्म तस्मात्समुत्थिताः ॥
खंवाय्वग्निजलोर्व्योषध्यन्नदेहा इति श्रुतिः ॥ ९१ ॥

अब जिस श्रुतिके बलसे सुरेश्वराचार्योंने ईश्वर और ब्रह्मका अन्योन्याध्यास सिद्ध किया उस श्रुतिके अर्थको पढ़ते हैं कि सत्य ज्ञान अनंत जो ब्रह्म है उससे ही आकाश वायु अग्नि जल पृथवी ओषधि अन्न देह इन सबका उदय हुआ यह श्रुति है ॥ ९१ ॥

आपातदृष्टितस्तत्र ब्रह्मणो भाति हेतुता ॥
हेतोश्च सत्यता तस्मादन्योन्याध्यास इष्यते ॥ ९२ ॥

कदाचित् कहो कि इस श्रुतिसे अन्योन्याध्यास कैसे जाना गया सो ठीक नहीं क्योंकि उस श्रुतिमें सत्य आदिरूप निर्गुण ब्रह्मको जगत्की कारणता कही है और जगत्के कारण मायाधीन चिदाभासको खण्डन (बाध) पर्यंत प्रतीत होता जो सत्यत्व है वह अन्योन्याध्यासके विना नहीं घट सकता इससे अन्योन्याध्यास इष्ट है। भावार्थ यह है कि आपातदृष्टिसे श्रुतिसे ब्रह्मको हेतुता कही है और हेतु सत्य है इससे अन्योन्याध्यास इष्ट है ॥ ९२ ॥

अन्योन्याध्यासरूपोऽसावन्नलिप्तपटो यथा ॥
घट्टितेनैकतामेति तद्भ्रांत्यैकतां गतः ॥ ९३ ॥

अब अन्योन्याध्याससे सिद्ध ईश्वर ब्रह्मकी एकताको दृष्टांतसे दृढ करते हैं कि यह अन्योन्याध्यास अन्नसे लिपा वस्त्र जैसे घुटकर ऐक्यको प्राप्त होता है उसी प्रकार भ्रांतिसे एकताको प्राप्त हो जाता है ॥ ९३ ॥

मेघाकाशमहाकाशौ विविच्येते न पामरैः ॥
तद्वद्ब्रह्मेशयोरैक्यं पश्यंत्यापातदर्शिनः ॥ ९४ ॥
उपक्रमादिभिर्लिंगैस्तात्पर्यस्य विचारणात् ॥
असंगं ब्रह्म मायावी सृजत्येष महेश्वरः ॥ ९५ ॥

अब भ्रांतिसे एकतामें दृष्टांतको देकर भेदकी अप्रतीतिमें अन्य दृष्टांतको दिखाते हैं कि जैसे पामर मनुष्य मेघाकाश और महाकाशको पृथक् २ नहीं जान सकते इसी प्रकार आपातदर्शी मनुष्य ब्रह्म और ईशकी एकताको देखते हैं अर्थात् भ्रांत मनुष्य दोनोंका पृथक् २ विवेक नहीं कर सकते अब जिससे ब्रह्म और ईशके भेदका ज्ञान होता है उसका वर्णन करते हैं, उपक्रम उपसंहार अभ्यास अपूर्वफल अर्थवाद उपपत्ति इन छः लिंगोंसे तात्पर्यके विचार करनेसे असंग यह ब्रह्म मायावी महेश्वर होकर रचता है यह प्रतीत होता है ॥ ९४ ॥ ९५ ॥

सत्यं ज्ञानमनंतं चेत्युपक्रम्योपसंहृतम् ॥
यतो वाचो निवर्तंत इत्यसंगत्वनिर्णयः ॥ ९६ ॥

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वताफलम्। अर्थवादोपपत्ती च लिंगं तात्पर्यनिर्णये ॥

अब श्रुतिमें उपक्रम और उपसंहारसे अर्थात् प्रारंभ और समाप्तिसे कही जो ब्रह्मकी असंगता उसको स्पष्ट करते हैं कि सत्य ज्ञान अनंत ब्रह्म है उसका उपक्रम करके उपसंहार किया है कि जिस परमेश्वरको प्राप्त न होकर वाणी भी निवृत्तिको प्राप्त होती है, इससे निश्चय होता है कि ब्रह्म असंग है ॥ ९६ ॥

मायी सृजति विश्वं सन्निरुद्धस्तत्र मायया ॥
अन्य इत्यपरा ब्रूते श्रुतिस्तेनेश्वरः सृजेत् ॥ ९७ ॥

अब जिस श्रुतिसे मायावी ईश्वरसे जगत्की रचना प्रतीत होती है उस श्रुतिको दिखाते हैं-मायावी ईश्वर विश्वको रचता है और अन्य (जीव) वहां मायासे निरुद्ध है यह दूसरी श्रुति कहती है इससे ईश्वर रचता है ॥ ९७ ॥

आनंदमय ईशोऽयं बहु स्यामित्यवैक्षत ॥
हिरण्यगर्भरूपोऽभूत्सुप्तिः स्वप्नो यथा भवेत् ॥ ९८ ॥

अब इस पूर्वोक्त प्रकारसे आनंदमय ईश्वरको जगत्का कारण कहकर उससे जगत्की उत्पत्तिके प्रकारको कहते हैं कि यह आनंदमय ईश्वर एक मैं बहुत प्रकारका होऊं यह देखता हुआ उस देखनेसे ही इस प्रकार हिरण्यगर्भरूप हो गया जिस प्रकार शयनमें स्वप्न होता है ॥ ९८ ॥

क्रमेण युगपद्वैषा सृष्टिर्ज्ञेया यथाश्रुति ॥
द्विविधश्रुतिसद्भावाद् द्विविधस्वप्नदर्शनात् ॥ ९९ ॥

कदाचित् कहो कि उस आत्मासे आकाश, आकाशसे वायु आदि हुए इस श्रुतिमें क्रमसे और उसने इस सब जगत्को रचा इस श्रुतिमें एक बार इन दोनों मार्गोंमें कौन स्वीकार करने योग्य है और कौन त्यागने योग्य है किंतु श्रुति और युक्तिसे दोनों ग्रहण करने योग्य हैं यह कहते हैं कि यह जगत्की सृष्टि दोनों प्रकारकी श्रुतियोंके मिलनेसे श्रुतियोंके अनुसार क्रमसे वा युगपत् सृष्टि इस प्रकार जाननी जैसे शयनमें क्रमसे और विना क्रमसे स्वप्नको देखते हैं ॥ ९९ ॥

सूत्रात्मा सूक्ष्मदेहाख्यः सर्वजीवघनात्मकः ॥
सर्वाहंमानधारित्वात् क्रियाज्ञानादिशक्तिमान् ॥ २०० ॥

अब हिरण्यगर्भके स्वरूपका वर्णन करते हैं पटके विषे सूत्रके समान जगत्में व्यापक है आत्मा जिसका और सूक्ष्मदेहरूप और संपूर्ण लिंगशरीरोपाधि जीवोंका घनात्मक अर्थात् समष्टिरूप वह ईश्वर सबके अहंमानको धारण करनेसे क्रिया ज्ञान आदि शक्तिवाला होता है ॥ २०० ॥

प्रत्यूषे वा प्रदोषे वा मग्नो मंदे तमस्ययम् ॥
लोको भाति यथा तद्वदस्पष्टं जगदीक्ष्यते ॥ १ ॥

अब हिरण्यगर्भ अवस्थामें जगत्की प्रतीतिमें दृष्टांतको कहते हैं कि जैसे प्रत्यूष (प्रातःकाल) और प्रदोषके समय मंद मंद अंधकारमें डूबा हुआ यह जगत् स्पष्ट नहीं दीखता इसी प्रकार हिरण्यगर्भ अवस्थासे प्रथम पश्चात् भी यह जगत् स्पष्ट नहीं दीखता अर्थात् हिरण्यगर्भ अवस्थामें स्पष्ट दीखता है ॥ १ ॥

सर्वतो लांछितो मष्या यथा स्याद्घट्टितः पटः ॥
सूक्ष्माकारैस्तथेशस्य वपुः सर्वत्र लांछितम् ॥ २ ॥

इस प्रकार लोकसिद्ध दृष्टांतको कहकर 'यथा धौत' इस पूर्वोक्त श्लोकमें कहे लांछित पदका दृष्टांत देते हैं कि जैसे घुटा हुआ वस्त्र मसीसे संपूर्ण अवयवोंमें लांछित होता है इसी प्रकार ईश्वरका शरीर भी अपंचीकृत भूतोंके कार्य जो लिंगशरीर उनसे लांछित होता है ॥ २ ॥

सस्यं वा शाकजातं वा सर्वतोऽकुरितं यथा ॥
कोमलं तद्वदेवैष पेलवो जगदंकुरः ॥ ३ ॥

अब बुद्धिमें स्थिरताके लिये अन्य दृष्टांतको कहते हैं जैसे सस्य (खेती) वा शाकोंका समूह सर्वतः अंकुरित होता है अर्थात् उसके सर्वत्र अंकुर फूटते हैं इसी प्रकार कोमल और पेलव (सुंदर) यह जगत्रूप अंकुर है ॥ ३ ॥

आतपाभातलोको वा पटो वा वर्णपूरितः ॥
सस्यं वा फलितं यद्वत्तथा स्पष्टवपुर्विराट् ॥ ४ ॥

इस प्रकार सूत्रात्मशरीरको दिखाकर उसकी ही अवस्थाका भेद जो पंचीकृत भूतोंका कार्य उपाधिवाले विराट्रूपको तीन दृष्टांतोंसे स्पष्ट दिखाते हैं कि जैसे सूर्योदयके अनंतर प्रकाशित जगत् और अनेक वर्णोंसे पूर्ण किया वस्त्र और फल आया हुआ सस्य ये तीनों स्पष्ट प्रतीत होते हैं इसी प्रकार स्पष्ट जो ईश्वरका शरीर उसको ही विराट् कहते हैं ॥ ४ ॥

विश्वरूपाध्याय एष उक्तः सूक्तेऽपि पौरुषे ॥
धात्रादिस्तंबपर्यंतानेतस्यावयवान्विदुः ॥ ५ ॥

अब उसकी सत्तामें प्रमाणको कहते हैं-विश्वरूपाध्यायमें और पौरुष सूक्तमें यह वर्णन किया है कि ब्रह्मासे स्तम्बपर्यंत इस परमेश्वरके अवयवोंको ही जानते हैं ॥ ५ ॥

ईशसूत्रविराड्वेधोविष्णुरुद्रेन्द्रवह्नयः ॥
विघ्नभैरवमैरालमारिकायक्षराक्षसाः ॥ ६ ॥
विप्रक्षत्रियविट्शूद्रा गवाश्वमृगपक्षिणः ॥
अश्वत्थवटचूताद्या यवव्रीहितृणादयः ॥ ७ ॥
जलपाषाणमृत्काष्ठवास्याकुद्दालकादयः ॥
ईश्वराः सर्व एवैते पूजिताः फलदायिनः ॥ ८ ॥

ईश, सूत्र, विराट्, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, वह्नि, विघ्न, भैरव, मैराल, मारिका, यक्ष, राक्षस, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, गौ, अश्व, मृग, पक्षी, पीपल, वट, आम्र आदि, यव, व्रीहि, तृण आदि, जल, पाषाण, मिट्टी, काष्ठ, वास्या, कुद्दालक(कुल्हाड़ी)आदि ये संपूर्ण ईश्वर ही हैं इससे पूजनेसे फलदायी होते हैं ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥

यथायथोपासते तं फलमीयुस्तथातथा ॥
फलोत्कर्षापकर्षौ तु पूज्यपूजानुसारतः ॥ ९ ॥

उस परमेश्वरकी जिस जिस प्रकारसे उपासना करते हैं उसी २ प्रकारसे फल होता है और फलकी उत्तमता और न्यूनता पूज्य और पूजकके अनुसारसे होती है अर्थात् सात्त्विकोंका उत्तम फल और तमोगुणियोंका अधम फल होता है ॥ ९ ॥

मुक्तिस्तु ब्रह्मतत्त्वस्य ज्ञानादेव न चान्यथा ॥
स्वप्रबोधं विना नैव स्वस्वप्नो हीयते यथा ॥ २१० ॥

कदाचित् कहो कि संसारके फलकी सिद्धि इस प्रकार हो तो हो मुक्ति किसकी उपासनासे होती है ? इस आशंकाके उत्तरमें ज्ञानके विना किसीसे नहीं होती इसका वर्णन करते हैं कि जैसे अपने जागरण विना अपनी निद्रासे कल्पना किये स्वप्नकी निवृत्ति नहीं होती इसी प्रकार ब्रह्मतत्त्वके ज्ञान विना मुक्ति नहीं होती अर्थात् ब्रह्मके अज्ञानसे कल्पना किये संसारकी निवृत्ति नहीं होती ॥ २१० ॥

अद्वितीयब्रह्मतत्त्वे स्वप्नोऽयमखिलं जगत् ॥
ईशजीवादिरूपेण चेतनाचेतनात्मकम् ॥ ११ ॥

कदाचित् कहो कि तुमने जो द्वैतनिवृत्तिरूप मुक्तिको स्वप्नके दृष्टान्तसे तत्त्व-बोधसे साध्य (उत्पन्न) कहा सो ठीक नहीं क्योंकि निवृत्तिके योग्य द्वैत, स्वप्नके तुल्य नहीं हो सकता इस आशंकाके उत्तरमें अन्यथा ज्ञानरूप होनेसे

स्वप्नके तुल्य जगत्को जो श्रुतिमें कहा है उसका वर्णन करते हैं कि ईश्वर जीव आदिरूपसे जो चेतन अचेतन आदि जगत् है यह अद्वितीय ब्रह्मतत्त्वके विषे स्वप्न है ॥ ११ ॥

आनंदमयविज्ञानमयावीश्वरजीवकौ ॥
मायया कल्पितावेतौ ताभ्यां सर्वं प्रकल्पितम् ॥ १२ ॥

कदाचित् कहो कि ब्रह्मसे अभिन्न ईश्वर और जीवको जगत्के अन्तःपाती कैसे कहा इस आशंकाके उत्तरमें मायाकल्पित होनेसे जगत्के अन्तःपातित्वका वर्णन करते हैं कि ईश्वर और जीव क्रमसे जो आनंदमय और विज्ञानमय हैं वे दोनों मायासे कल्पित हैं और उन दोनोंने संपूर्ण जगत्की कल्पना की है ॥ १२ ॥

ईक्षणादिप्रवेशान्ता सृष्टिरीशेन कल्पिता ॥
जाग्रदादिविमोक्षांतः संसारो जीवकल्पितः ॥ १३ ॥

अब उन दोनोंमें जिसने जिसकी कल्पना की उसका वर्णन करते हैं—"उसने देखा कि मैं लोकोंको रचूं इस रीतिसे जगत्में प्रवेशको प्राप्त हुआ" इन श्रुतियोंसे ईक्षण आदि प्रवेशपर्यंत जो सृष्टि है वह ईश्वरसे कल्पित है और उसकी जाग्रत आदि तीन अवस्था हैं वह उस विस्तारित ब्रह्मको देखता हुआ इन श्रुतियोंसे जाग्रत् आदि मोक्षपर्यंत जो ससार वह जीवसे कल्पित है अर्थात् उसका कर्ता जीव है.भावार्थ यह है कि ईक्षणसे प्रवेशपर्यंत सृष्टि ईश्वरकल्पित है और जाग्रत् आदि मोक्षपर्यंत संसार जीवसे (का) कल्पित है ॥ १३ ॥

अद्वितीयं ब्रह्मतत्त्वमसंगं तन्न जानते ॥
जीवेशयोर्मायिकयोर्वृथैव कलहं ययुः ॥ १४ ॥

कदाचित् कहो कि परमार्थसे ब्रह्म ही सत्य है तो जीव और ईश्वरके विषे वादी विवादको क्यों करते हैं सो ठीक नहीं क्योंकि विवादी मनुष्य अद्वितीय और असंग जो ब्रह्मतत्त्व उसको नहीं जानते इससे मायिक जीव और ईश्वरके रूपमें वृथा कलह करते हैं ॥ १४ ॥

ज्ञात्वा सदा तत्त्वनिष्ठा ननु मोदामहे वयम् ॥
अनुशोचाम एवान्यान्न भ्रांतैर्विवदामहे ॥ १५ ॥

कदाचित् कहो कि यदि जीव और ईश्वरके विवादमें अज्ञान मूल है तो उनको तत्त्वज्ञानसे बोधन करना चाहिये इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि सदैव

तत्त्वज्ञानमें है निष्ठा जिनकी ऐसे हम निश्चयसे आनंदको प्राप्त होते हैं और अन्य भ्रान्त मनुष्योंका सोच (पश्चात्ताप) करते हैं परन्तु भ्रान्तिसे उनके साथ वृथा श्रम समझ कर वाद नहीं करते ॥ १५ ॥

तृणाचकादियोगांता ईश्वरे भ्रांतिमाश्रिताः ॥
लोकायतादिसांख्यांता जीवे विभ्रान्तिमाश्रिताः ॥ १६ ॥

अब ईश्वर और जीवके विषे भ्रांत वादियोंको पृथक् २ दिखाते हैं कि तृणके पूजक आदि योगपर्यंत जो हैं वे ईश्वरमें भ्रांत हैं और लोकायत आदि सांख्यपर्यंत जो हैं वे जीवके विषे भ्रांत हैं ॥ १६ ॥

अद्वितीयब्रह्मतत्त्वं न जानंति यदा तदा ॥
भ्रांता एवाखिलास्तेषां क मुक्तिः केह वा सुखम् ॥ १७ ॥

अब उनके भ्रांत होनेमें हेतुको कहते हैं कि जब वे सब अद्वितीय ब्रह्मतत्त्वको नहीं जानते तब वे संपूर्ण भ्रांत हैं, उनकी मुक्ति कहां और उनको इस लोकका सुख भी कहां अर्थात् ग्रहण किये पक्षके प्रतिपादन (वर्णन) के आग्रहसे उनके चित्तकी विश्रांति नहीं होती इससे जगत्का सुख भी उनको नहीं होता ॥ १७ ॥

उत्तमाधमभावश्चेत्तेषां स्यादस्तु तेन किम् ॥
स्वप्नस्थराज्यभिक्षाभ्यां न बुद्धः स्पृश्यते खलु ॥ १८ ॥

कदाचित् कहो कि उनको ब्रह्मविद्याके अभाव होने पर भी इतर विद्याके होनेसे उनमें उत्तम अधम भाव देखते हैं इससे उत्तमताका ही सुख उनको हो जायगा सो ठीक नहीं कि मुमुक्षु उस सुखका आदर नहीं करते हैं कि उनको उत्तम अधम भाव है तो रहो उससे क्या ? क्योंकि स्वप्नमें मिले राज्य और भिक्षासे बुध (जगा हुआ) मनुष्यको किंचित् भी फल नहीं होता ॥ १८ ॥

तस्मान्मुमुक्षुभिर्नैव मतिर्जीवेशवादयोः ॥
कार्या किंतु ब्रह्मतत्त्वं विचार्यं बुध्यतां च तत् ॥ १९ ॥

जिससे जीव ईश्वरका विवाद मुक्तिका हेतु नहीं है इससे मुमुक्षु उसमें बुद्धिको न लगावे किंतु श्रुतियोंके अनुसार ब्रह्मतत्त्वका ही विचार करे और उसको ही जाननेका यत्न करे ॥ १९ ॥

पूर्वपक्षतया तौ चेत्तत्त्वनिश्चयहेतुताम् ॥
प्राप्नुतोऽस्तु निमज्जस्व तयोर्नैतावताऽवशः ॥ २२० ॥

कदाचित कहो कि ब्रह्मतत्त्वके निश्चयार्थ उनका स्वरूप त्यागनेकी योग्यताकी बुद्धिसे जानना चाहिये तो उतनेमें ही बुद्धिकी समाप्ति न करनी इसका वर्णन करते हैं कि यदि वे जीव ईश्वरके विवाद पूर्वपक्षभावसे तत्त्वनिश्चयके कारण हों तो उनमें अवश (विवेकशून्य) हो कर तू मत डूबे अर्थात् उतनेसे ही अलं-बुद्धिको न कर ॥ २२० ॥

असंगचिद्विभुर्जीवः सांख्योक्तस्तादृगीश्वरः ॥
योगोक्तस्तत्त्वमोरर्थौ शुद्धौ ताविति चेच्छृणु ॥ २१ ॥

अब सांख्य और योगशास्त्रमें कहे जीव, ईश्वर, शुद्ध चिद्रूप हैं उनको आप भी मानते हो इससे वे पूर्वपक्ष नहीं हो सकते यह शंका करते हैं-सांख्यशास्त्रमें असंग चिद्रूप विभु (व्यापक) जीव कहा है और असंग आदिरूप तत् त्वं पदोंके जो शुद्ध अर्थ हैं वह ईश्वर योगशास्त्रमें कहा है ऐसा कहोगे तो उत्तरको सुनो कि उनके मतमें जीव, ईश्वर, शुद्ध चिद्रूप भी हैं परन्तु वे उनका वास्तव भेद मानते हैं इससे वह हमारा सिद्धांत नहीं है ॥ २१ ॥

न तत्त्वमोरुभावर्थावस्मात्सिद्धांततां गतौ ॥
अद्वैतबोधनायैव सा कक्षा काचिदिष्यते ॥ २२ ॥

सोई दिखाते हैं कि तत् और त्वं पदके दोनों अर्थ हमारे सिद्धांतभावको प्राप्त नहीं हुए अर्थात् दोनोंको भिन्न २ हम चिद्रूप नहीं मानते, कदाचित् कहो कि कूटस्थ ब्रह्म शब्दोंसे शुद्ध तत त्वं पदके अर्थ भिन्न २ हैं यह तुमने भी निरूपण किये हैं सो ठीक नहीं कि अद्वैतबोधनके लिये वह भी कोई कक्षा (मार्ग) हमको इष्ट है, अर्थात् जगत्में प्रसिद्ध भेदकी निवृत्तिके द्वारा अद्वैतके बोधनार्थ ही उनका भेदसे अनुवाद किया है, कुछ उनके भेदका प्रतिपादन नहीं किया। भावार्थ यह है कि तत् त्वं पदके दोनों अर्थ ईश्वर हैं यह हमारा सिद्धांत नहीं है किंतु अद्वैतज्ञानके लिये ही वह भी एक मार्ग इष्ट है ॥ २२ ॥

अनादिमायया भ्रांता जीवेशौ सुविलक्षणौ ॥
मन्यंते तद्व्युदासाय केवलं शोधनं तयोः ॥ २३ ॥

कदाचित् कहो कि तत् त्वं पदके अर्थोंका शोधन क्यों किया सो ठीक नहीं क्योंकि अनादि मायासे भ्रांत मनुष्य अर्थात् विपरीत ज्ञानी जीव ईश्वरको भले प्रकारसे विलक्षण मानते हैं अर्थात् जीवको कर्त्ता भोक्ता आदि और ईश्वरको सर्वज्ञ आदि पारमार्थिक (सत्य) मानते हैं उनके खंडनके लिये ही तत् त्वं पदका शोधन है। यहां मायासे अविद्याको लेते हैं ॥ २३ ॥

अत एवात्र दृष्टांतो योग्यः प्राक् सम्यगीरितः ॥
घटाकाशमहाकाशजलाकाशाभ्रखात्मकः ॥ २४ ॥

पदार्थशोधनके दिखानेकी इच्छासे उसके उपायरूप पूर्वोक्त दृष्टांतका स्मरण कराते हैं कि इससे इस विषयमें योग्य दृष्टांत पहले भले प्रकार कह आये हैं कि घटका आकाश, महाकाश, जलाकाश और मेघाकाश, इनके समान तत् त्वं पदके अर्थका नाममात्रसे ही भेद है ॥ २४ ॥

जलाभ्रोपाध्यधीने ते जलाकाशाभ्रखे तयोः ॥
आधारौ तु घटाकाशमहाकाशौ सुनिर्मलौ ॥ २५ ॥

अब पदार्थशोधनके प्रकारको कहते हैं कि जो जलाकाश और मेघाकाश हैं वे जल और मेघरूप उपाधिके अधीन हैं इससे अनित्य हैं और उन दोनों आकाशोंका आधार जो घटाकाश महाकाश हैं वे भले प्रकार निर्मल हैं अर्थात् जल आदि उपाधिसे रहित होनेसे केवल आकाशरूप हैं ॥ २५ ॥

एवमानंदविज्ञानमयौ मायाधियोर्वशौ ॥
तदधिष्ठानकूटस्थब्रह्मणी तु सुनिर्मले ॥ २६ ॥

अब पूर्वोक्त दृष्टांतको दार्ष्टांतिकमें भी कहते हैं कि इसी प्रकार आनंदमय और विज्ञानमय दोनों मायाबुद्धिके वश हैं और उन दोनोंके अधिष्ठान जो कूटस्थ और ब्रह्म हैं वे दोनों भले प्रकार निर्मल हैं अर्थात् मायोपाधिरहित हैं ॥ २६ ॥

एतत्कक्षोपयोगेन सांख्ययोगौ मतौ यदि ॥
देहोऽन्नमयकक्षत्वादात्मत्वेनाभ्युपेयताम् ॥ २७ ॥

कदाचित् कहो कि पदार्थशोधनके मार्गके उपयोगी होनेसे सांख्ययोगके दोनो मत भी मानने योग्य हैं सो ठीक नहीं क्योंकि यदि इस कक्षाके उपयोगसे सांख्य योगको मानते हो तो अन्नमय कक्षा (मार्ग) होनेसे देहको भी आत्माका स्वीकार करो अर्थात् इस कक्षाके उपयोगमें इतर शास्त्रोंको भी हम मानते हैं उनमें वर्णन किये अनेक आत्मा हो जायँगे ॥ २७ ॥

आत्मभेदो जगत्सत्यमीशोऽन्य इति चेत्त्रयम् ॥
त्यज्यते तैस्तदा सांख्ययोगवेदांतसंमतिः ॥ २८ ॥

जिससे सांख्य, योग वेदांतके विरोधी हैं उसको कहते हैं कि आत्माका भेद, जगत्की सत्यता, ईश्वर अन्य है इन तीनोंको सांख्य, योग त्यागदें तब सांख्य, योग,

वेदांत इन तीनोंकी संमति (एकता) है अर्थात् वे जीवभेद, जगत् सत्य, ईश्वर तटस्थ है यह मानते हैं, हम एक अद्वैत ब्रह्म मानते हैं ॥ २८ ॥

जीवोऽसंगत्वमात्रेण कृतार्थ इति चेत्तदा ॥
स्रक्चन्दनादिनित्यत्वमात्रेणापि कृतार्थता ॥ २९ ॥

कदाचित् कहो कि जीवको असंग जाननेसे ही मुक्ति हो जायगी अद्वैतका बोध निष्फल है सो ठीक नहीं क्योंकि यदि जीव असंगमात्रसे ही कृतार्थ हो जायगा तो स्रक् चंदन आदिको भी नित्य मानकर कृतार्थता हो जायगी अर्थात् अद्वैत-ज्ञानके विना असंगताका होना भी असंभव है ॥ २९ ॥

यथा स्रगादिनित्यत्वं दुःसंपाद्यं तथाऽऽत्मनः ॥
असंगत्वं न संभाव्यं जीवतोर्जगदीशयोः ॥ २३० ॥

जैसे स्रग् आदिकी नित्यता दुःखसे संपादन (सिद्ध) करने योग्य है इसी प्रकार जबतक जगत् और ईश्वर ये दोनों जीवित हैं अर्थात् विशेषण विशेष्यभावसे प्रतीत हैं तबतक आत्माकी असंगता भी संभावना करनेके अयोग्य है ॥ २३० ॥

अवश्यं प्रकृतिः संगं पुरेवापादयेत्तथा ॥
नियच्छत्येतमीशोऽपि कोऽस्य मोक्षस्तथा सति ॥ ३१ ॥

अब असंभवको ही स्पष्ट करते हैं कि यदि प्रकृति पूर्वके समान संगको कर दे तो ईश्वर भी इस जीवका नियामक होगा ऐसा होनेपर जीवका मोक्ष कहां ॥ ३१ ॥

अविवेककृतः संगो नियमश्चेति चेत्तदा ॥
बलादापतितो मायावादः सांख्यस्य दुर्मतेः ॥ ३२ ॥

संग और नियमन दोनों अविवेकके कार्य हैं जब विवेकज्ञानसे अविवेककी निवृत्ति हो गयी फिर संग आदिकी उत्पत्ति कहां इस शंकाको करते हैं कि यदि संग और नियम अविवेकके किये हैं तो दुर्मति सांख्यको मायावाद बलसे प्राप्त होगा अर्थात् अभावरूप अविवेक भाव कार्यका जनक नहीं हो सकता और विवेकसे अन्य घट आदि संगके हेतु हो नहीं सकते और तीसरे पक्षमें तो वह भावरूप अज्ञान स्वरूप ही है यह मायावादका प्रसंग होगा ॥ ३२ ॥

बंधमोक्षव्यवस्थार्थमात्मनानात्वमिष्यताम् ॥
इति चेन्न यतो माया व्यवस्थापयितुं क्षमा ॥ ३३ ॥

अब यह शंका करते हैं कि बंधमोक्षव्यवस्थाकी अनुपपत्तिसे आत्माके भेदका मानना इष्ट है ऐसा मत कहो जिससे एक भी आत्मामें मायासे बंधमोक्षकी व्यवस्था हो सकती है ॥ ३३ ॥

दुर्घटं घटयामीति विरुद्धं किं न पश्यसि ॥
वास्तवौ बन्धमोक्षौ तु श्रुतिर्न सहतेतराम् ॥ ३४ ॥

अब मायाको व्यवस्था करनेमें जो दुर्घट करनेका उसका स्वभाव उसको कहते हैं कि क्या तू इस विरुद्धको नहीं देखता है कि मैं दुर्घटको करती हूं यह मेरा स्वभाव है कदाचित् कहो कि बंधको अविद्यासे जन्य मानो तो मानो मोक्षको तो वास्तविक मानना चाहिये सो ठीक नहीं क्योंकि बंध और मोक्ष इन दोनोंकी वास्तवता (सत्यता) श्रुति अत्यन्त नहीं सहती अर्थात् नहीं मानती ॥ ३४ ॥

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः ॥
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥ ३५ ॥

मोक्ष आदि वास्तव नहीं इसमें श्रुतिको पढ़ते हैं कि न किसीका नाश है और न किसीकी देहका संबंधरूप उत्पत्ति है और न बद्ध है अर्थात् सुखी दुःखी है और न साधक है अर्थात् श्रवण आदिका कर्ता है और न चारों साधनोंसे युक्त कोई मुमुक्षु है और न कोई मुक्त है अर्थात् जिसकी अविद्या निवृत्त हो चुकी हो वह भी नहीं, वस्तुतः देखा जाय तो ये सब नहीं हैं ॥ ३५ ॥

मायाख्यायाः कामधेनोर्वत्सौ जीवेश्वरावुभौ ॥
यथेच्छं पिबतां द्वैतं तत्त्वं त्वद्वैतमेव हि ॥ ३६ ॥

अब मायामय जीव ईश्वरके भेदका उपसंहार (समाप्त) करते हैं कि माया है नाम जिसका ऐसी कामधेनुके जीव और ईश्वर दोनों वत्स हैं वे दोनों यथेच्छ द्वैतको पीवें, तत्त्व तो अद्वैत ही है अर्थात् सिद्धांत तो अद्वैत है ॥ ३६ ॥

कूटस्थब्रह्मणोर्भेदो नाममात्रादृते नहि ॥
घटाकाशमहाकाशौ वियुज्येते नहि क्वचित् ॥ ३७ ॥

कदाचित् कहो कि जीव ईश्वरको मायिक होनेसे उनका भेद मिथ्या रहे परंतु कूटस्थ ब्रह्म तो पारमार्थिक है उनका भेद भी पारमार्थिक होगा । इस शंकाके उत्तरमें भेदकी साधक जो विलक्षणता उसके अभावको कहते हैं कि कूटस्थ और ब्रह्मका भेद भी नाममात्रके विना नहीं है क्योंकि घटाकाश और महाकाश ये दोनों कदाचित् भी पृथक् २ नहीं होते अर्थात् नामका ही भेद है अर्थका नहीं ॥ ३७ ॥

यदद्वैतं श्रुतं सृष्टेः प्राक्तदेवाद्य चोपरि ॥
मुक्तावपि वृथा माया भ्रामयत्यखिलाञ्जनान् ॥ ३८ ॥

अब पूर्वोक्त प्रकारसे भेदको मिथ्या सिद्ध करनेका फल कहते हैं कि 'हे सौम्य ! सृष्टिसे पूव यह जगत् सत् ही हुआ एक अद्वितीय ब्रह्म है' इस श्रुतिमें जो सृष्टिसे पहले अद्वैत सुना है वही अद्वैत अब है और वही आगे भी होगा और वही मुक्तिमें है कदाचित् कहो कि सब भेदको क्यों मानते हैं सो ठीक नहीं क्योंकि संपूर्ण जनोंको माया, भ्रम कराती है अर्थात् तत्त्वज्ञानसे रहित होनेसे वृथा आग्रह संपूर्ण जन करते हैं ॥ ३८ ॥

ये वदंतीत्थमेतेऽपि भ्राम्यंतेऽविद्ययाऽत्र किम् ॥
न यथापूर्वमेतेषामत्र भ्रांतेरदर्शनात् ॥ ३९ ॥

कदाचित् कहो कि प्रपंच मायामय है और तत्त्व अद्वितीय ही है ऐसा जो कहते हैं वे भी संसारी दीखते हैं इससे तत्त्वज्ञानका क्या प्रयोजन है यह शंका करते हैं कि जो ऐसे कहते हैं उनको क्या अविद्या नहीं भ्रमाती सो ठीक नहीं क्योंकि उनको पहलेके समान इसमें भ्रम नहीं देखते अर्थात् कर्मके वश किसी २ को व्यवहारके होने पर भी पूर्वके समान आग्रह नहीं रहता है इससे तत्त्वका ज्ञान सफल है ॥ ३९ ॥

ऐहिकामुष्मिकः सर्वः संसारो वास्तवस्ततः ॥
न भाति नास्ति चाद्वैतमित्यज्ञानिविनिश्चयः ॥ २४० ॥

ज्ञानियोंको भ्रांतिका अभाव दिखानेके लिये प्रथम अज्ञानियोंके निश्चयको कहते हैं कि इस लोकका पुत्र, स्त्री आदिरूप और परलोकका स्वर्गसुख आदिरूप संपूर्ण संसार, वास्तव है इससे अद्वैतका न प्रकाश है और न अद्वैत है यह अज्ञानियोंका निश्चय है ॥ २४० ॥

ज्ञानिनो विपरीतोऽस्मान्निश्चयः सम्यगीक्ष्यते ॥
स्वस्वनिश्चयतो बद्धो मुक्तोऽहं चेति मन्यते ॥ ४१ ॥

अब तत्त्वके निश्चयकी उससे विलक्षणताको दिखाते हैं कि ज्ञानियोंका निश्चय इससे विपरीत भले प्रकार दीखता है अर्थात् अद्वैत सत्य है और भासता है और संसार मिथ्या है यह निश्चय है और उसका फल यह है कि मनुष्य अपने २ निश्चयके अनुसार अपनेको बद्ध और मुक्त मानता है अर्थात् अज्ञानी बद्ध मानता है और ज्ञानी मुक्त मानता है ॥ ४१ ॥

नाद्वैतमपरोक्षं चेन्न चिद्रूपेण भासनात् ॥
अशेषेण न भातं चेद्द्वैतं किं भासतेऽखिलम् ॥ ४२ ॥

अद्वैत भासता है यह कहना शास्त्रसे है अनुभवसे नहीं इससे अद्वैतका निश्चय न होगा इस शंकाको करते हैं कि अद्वैत अपरोक्ष नहीं है ऐसा मत कहो क्योंकि उसका चित्रूपसे भान है कदाचित् कहो कि अशेष (संपूर्ण) रूपसे नहीं भासता सो भी नहीं क्योंकि द्वैत भी क्या संपूर्ण रूपसे भासता है इससे घट स्फुरता है पट स्फुरता है यहां घट आदिमें व्यापक स्फुरणरूपसे अद्वैत भासता है इससे अद्वैत अपरोक्ष है ॥ ४२ ॥

दिङ्मात्रेण विभानं तु द्वयोरपि समं खलु ॥
द्वैतसिद्धिवदद्वैतसिद्धिस्ते तावता न किम् ॥ ४३ ॥

इस प्रकार दोषकी तुल्यताको कहकर परिहारकी साम्यताको कहते हैं कि एक देशरूपसे भान तो द्वैत अद्वैतके विषे निश्चयसे समान है इससे उतनेसे ही द्वैतकी सिद्धिके समान तेरे मतमें अद्वैतकी सिद्धि भी क्यों नहीं होती ॥ ४३ ॥

द्वैतेन हीनमद्वैतं द्वैतज्ञाने कथं त्विदम् ॥
चिद्भानं त्वविरोध्यस्य द्वैतस्यातोऽसमे उभे ॥ ४४ ॥

अब पूर्ववादी अन्य प्रकारसे अद्वैतसिद्धिकी शंका करता है कि द्वैतसे रहितको अद्वैत कहते हैं और द्वैत अद्वैतका परस्पर विरोध है इससे द्वैतकी प्रतीति होते संते यह अद्वैत नहीं हो सकेगा कदाचित् कहो कि द्वैत भी ऐसे ही अद्वैतका विरोधी है इससे अद्वैतके भानमें द्वैत भी सिद्ध न होगा यह शंका तुल्य है इस शंकाका उत्तर पूर्ववादी कहता है कि आपके मतमें चिद्रूपकी प्रतीति ही अद्वैतकी प्रतीति है वह द्वैतकी विरोधी नहीं हो सकती इससे दोनोंकी समानता ही नहीं है । भावार्थ यह है कि द्वैतसे रहितको अद्वैत कहते हैं वह अद्वैत द्वैतके भानमें कैसे हो सकता है और चित्का भान तो इस द्वैतका अविरोधी है इससे दोनोंकी तुल्यता नहीं है ॥ ४४ ॥

एवं तर्हि शृणु द्वैतमसन्मायामयत्वतः ॥
तेन वास्तवमद्वैतं परिशेषाद्विभासते ॥ ४५ ॥

अब सिद्धांती पूर्व शंकाका इस आशयसे समाधान करता है कि प्रतीत होता भी द्वैत मिथ्यारूप है इससे वास्तव अद्वैतका नाश नहीं कर सकता अर्थात् पूर्वोक्त शंका करोगे तो उसका उत्तर सुनो कि द्वैत मायामय होनेसे असत् है इससे परिशेषसे वास्तव अद्वैत ही भासता है और प्राप्त हुई वस्तुके निषेध होने पर और अन्यमें प्रसंगके अभावसे शेष रहेमें जो निश्चय उसे परिशेष कहते हैं ॥ ४५ ॥

अचिंत्यरचनारूपं मायैव सकलं जगत् ॥
इति निश्चित्य वस्तुत्वमद्वैते परिशेष्यताम् ॥ ४६ ॥

अब परिशेषके प्रकारको कहते हैं कि चिंता करनेके अयोग्य है रचना जिसकी ऐसा जगत् माया (मिथ्या) ही है इस प्रकार अनिर्वचनीय होनेसे द्वैतको मिथ्या निश्चय करके वास्तव (सत्य) अद्वैतका परिशेष करो ॥ ४६ ॥

पुनर्द्वैतस्य वस्तुत्वं भाति चेत्त्वं तथा पुनः ॥
परिशीलय को वाऽत्र प्रयासस्तेन ते वद ॥ ४७ ॥

कदाचित् कहो कि अद्वैतका निश्चय होने पर भी पूर्ववासनासे पुनः २ द्वैत सच्चा प्रतीत होता है सो ठीक नहीं क्योंकि फिर भी द्वैत सत्य दीखता है तो तू फिर भी उसके मिथ्यात्वका वारंवार विचार कर क्योंकि वारंवार उपदेशको देखते हैं इससे श्रवण मनन आदिकी आवृत्ति करे इस सूत्रसे चौथे अध्यायमें व्यासने आवृत्ति कही है इस विचार करनेमें तेरा कौन प्रयास है यह कहो ॥ ४७ ॥

कियंतं कालमिति चेत्खेदोऽयं द्वैत इष्यताम् ॥
अद्वैते तु न युक्तोऽयं सर्वानर्थनिवारणात् ॥ ४८ ॥

कितने कालतक विचारना चाहिये ऐसा कहोगे तो यह खेद द्वैतमें इष्ट है और अद्वैतमें तो यह खेद युक्त नहीं क्योंकि उसमें संपूर्ण अनर्थोंका निवारण होता है और अपरोक्षज्ञानके होने पर विचारकी समाप्ति कही है ॥ ४८ ॥

क्षुत्पिपासादयो दृष्टा यथापूर्वं मयीति चेत् ॥
मच्छब्दवाच्येऽहंकारे दृश्यतां नेति को वदेत् ॥ ४९ ॥

कदाचित् कहो कि अद्वैत आत्माके अपरोक्षज्ञाता भी मुझमें क्षुधा तृषा आदि दीखते हैं इससे दीखते हुए अनर्थका निवर्तक आत्मज्ञान नहीं हो सकता इस शंकाको करते हैं कि पहलेके समान मुझमें क्षुधा पिपासा आदि दीखते हैं ऐसा कहोगे तो मत् शब्दके अर्थ अहंकारमें दीखते हैं, वा मत् शब्दसे उपलक्षित चिदात्मामें, इस विकल्पमें प्रथम पक्षको तो स्वीकार करते हैं कि मत् शब्दसे वाच्य अहंकारमें दीखता है तो यह कौन कहता है और चिदात्मा तो क्षुधा आदिका अविषय है और असंग है इससे दूसरा पक्ष भी श्रेष्ठ नहीं। भावार्थ यह है कि मुझ ज्ञानीमें भी क्षुधा तृषा आदि पूर्वके समान दीखते हैं तो मत् (मुझमें) शब्दसे वाच्य अहंकारमें दीखे नहीं यह कौन कहता है ॥ ४९ ॥

चिद्रूपेऽपि प्रसज्येरंस्तादात्म्याध्यासतो यदि ॥
माऽध्यासं कुरु किंतु त्वं विवेकं कुरु सर्वदा ॥ २५० ॥

अब यह शंका करते हैं कि वस्तुतः उसकी प्रतीति न होने पर भी भ्रांतिसे उसकी प्रतीति हो जायगी कि यदि तादात्म्यके अध्याससे चित्रूपमें भी क्षुधा आदि प्रसंग हो जायगा तो तू अध्यासको मत करे किंतु अनर्थकी निवृत्तिके लिये सदैव विवेकको कर ॥ २५० ॥

झटित्यध्यास आयाति दृढवासनयेति चेत् ॥
आवर्तयद्विवेकं च दृढ वासयितुं सदा ॥ ५१ ॥

यदि दृढ जो अनादि वासना उसके वशसे पुनः अपि शीघ्र अध्यासका आगमन हो जाय तो विवेककी ही आवृत्तिको दृढ वासनाके लिये करे अन्य उपायको न करे ॥ ५१ ॥

विवेके द्वैतमिथ्यात्वं युक्त्यैवेति न भण्यताम् ॥
अचिंत्यरचनात्वस्यानुभूतिर्हि स्वसाक्षिकी ॥ ५२ ॥

कदाचित् कहो कि विचारसे द्वैतकी मायारूपता युक्तिसे ही सिद्ध हो जायगी अनुभवका कुछ काम नहीं सो ठीक नहीं विवेकके होने पर युक्तिसे ही द्वैत मिथ्या प्रतीत हो जायगा ऐसा मत कहो क्योंकि अचिंत्यरचनारूप मिथ्यात्वका जो अनुभव वह स्वसाक्षिक है अर्थात् उसका साक्षी आप ही है अन्य नहीं हो सकता ॥ ५२ ॥

चिदप्यचिंत्यरचना यदि तर्ह्यस्तु नो वयम् ॥
चितिं सुचिंत्यरचनां ब्रूमो नित्यत्वकारणात् ॥ ५३ ॥

कदाचित् कहो कि अचिंत्यरचनारूप जो मिथ्याका लक्षण कहा है वह चिदात्मामें भी घट सकता है सो ठीक नहीं क्योंकि चेतन भी अचिंत्यरचनारूप है तो हो कारण प्राक् अभावसे युक्त होने पर जो अचिंत्यरचनारूप हो वह मिथ्या होता है ऐसे लक्षणका कहनेवाला आचार्य आत्माको भी अचिंत्यरचनारूप स्वीकार करता है कदाचित् कहो कि ऐसा कहने पर अपसिद्धांत होगा सो भी नहीं कह सकते क्योंकि हम चितिको नित्य होनेसे भले प्रकार चिंता करने योग्य है रचना जिसकी ऐसी नहीं मानते। भावार्थ यह है कि चित् भी अचिंत्यरचनारूप हो जायगा तो हो जिससे हम चित्को नित्य होनेसे सुचिंत्यरचनारूप नहीं कहते ॥ ५३ ॥

प्रागभावो नानुभूतश्चितेर्नित्या ततश्चितिः ॥
द्वैतस्य प्रागभावस्तु चैतन्येनानुभूयते ॥ ५४ ॥

अब प्रागभावके अनुभवके अभावसे चितिकी नित्यता कहते हैं कि जिससे चितिका प्राक् अभाव नहीं देखा इससे चिति नित्य है यहां यह आकूत (गुप्त) है कि जो चितिका प्रागभाव मानता है उसको यह प्रश्न करना योग्य है कि चित्का प्रागभाव चित् जाने वा कोई अन्य जाने? अन्यसे तो नहीं कह सकते कि चित्से अन्य जड है वह जान ही नहीं सकता और चेतन जानता है इस पक्षमें भी दूसरे चित्से वा उसी चित्से प्रागभाव जाना जाता है? दूसरेसे तो नहीं कह सकते, क्योंकि अद्वैतवादमें दूसरे चित्का ही अभाव है दूसरा चित्भी मानो तो चित् है प्रतियोगी जिसका ऐसे अभावका ज्ञान चितके ज्ञान विना नहीं हो सकेगा और उस चित्को भी ग्राह्य (ज्ञानका विषय) मानोगे तो घट आदिके समान चित्भी अनित्य हो जायगा और चित्का प्रागभाव चित्से ही जाना जाता है यह भी नहीं कह सकते क्योंकि अपने अभावको आप नहीं जान सकता कदाचित् कहो कि द्वैतप्रमाता आदिरूप होनेसे उसके अभावको वही नहीं जान सकता और उससे अन्य अनुभवका कर्ता है नहीं इससे चैतन्यके समान द्वैत भी नित्य हो जायगा सो ठीक नहीं क्योंकि जाग्रत् आदि द्वैतका अभाव सुषुप्तिमें साक्षीसे जाना जाता है श्रुतिमें भी कहा है कि तम (अज्ञान) का साक्षी सबका साक्षी वह है। भावार्थ यह है कि चितिका प्रागभाव नहीं देखा इससे चिति नित्य है और द्वैतके प्रागभावको तो चैतन्य जान सकता है ॥ ५४ ॥

प्रागभावयुतं द्वैतं रच्यते हि घटादिवत् ॥
तथापि रचनाऽचिंत्या मिथ्या तेनेंद्रजालवत् ॥ ५५ ॥

अब प्रागभावसे युक्त होकर अचिंत्यरचनारूप मिथ्यात्वका लक्षण घटनेसे द्वैतकी मिथ्यात्व सिद्धिको कहते हैं कि प्रागभावसे युक्त द्वैत यद्यपि घट आदिके समान रचा जाता है तथापि उसकी रचना अयुक्त है अर्थात् यह प्रतीत नहीं हो सकता कि किस प्रकार रचा जाता है इससे इंद्रजालके प्रसार (फैलाव) के समान मिथ्या है रचने योग्य होनेपर जिसकी रचना अचिंत्य हो उसको ही मिथ्या कहते हैं ॥ ५५ ॥

चित्प्रत्यक्षा ततोऽन्यस्य मिथ्यात्वं चानुभूयते ॥
नाद्वैतमपरोक्षं चेत्येतन्न व्याहतं कथम् ॥ ५६ ॥

चिति स्वप्रकाश होनेसे नित्य और अपरोक्ष होकर भासती है और चित्से भिन्नके मिथ्यात्वको भी वही चिति जानती है यह दिखाया इससे जो अद्वैतको अपरोक्ष नहीं मानता उसके मतमें वदतोव्याघात दोषको कहते हैं कि चेतन प्रत्यक्ष है और उससे अन्यके मिथ्यात्वका सबको अनुभव है इससे जो अद्वैत अपरोक्ष नहीं यह कहते हैं उनके वचनमें वदतोव्याघात कैसे नहीं अर्थात् व्याघात आता है ॥ ५६ ॥

इत्थं ज्ञात्वाऽप्यसंतुष्टाः केचित्कुत इतीर्यताम् ॥
चार्वाकादेः प्रबुद्धस्याप्यात्मा देहः कुतो वद ॥ ५७ ॥

अब यह पूछते हैं कि इस प्रकार वेदान्तके अर्थको जानते हुए किन्हीं किन्हीं पुरुषोंको विश्वास क्यों नहीं होता इस प्रकार जानकर भी केचित् मनुष्य किस प्रकार असंतुष्ट होते हैं यह कहो इस शंकाका प्रतिबंदी उत्तर देते हैं कि ऊहापोहमें चतुर भी चार्वाक आदिके मतमें देह आत्मा किससे है यह तुम कहो अर्थात् जैसे भले प्रकार विचारसे शून्य होकर चार्वाक आदि देहको आत्मा मानते हैं इसी प्रकार यहां भी इस प्रकारका ज्ञान होने पर भी किसी किसीको संतोष नहीं होता ॥ ५७ ॥

सम्यग्विचारो नास्त्यस्य धीदोषादिति चेत्तथा ॥
असंतुष्टास्तु शास्त्रार्थं न त्वैक्षंत विशेषतः ॥ ५८ ॥

अब प्रतिबंदीके मोचन (छुटना) की शंका करते हैं कि यदि चार्वाक आदिको बुद्धिके दोषसे सम्यक् विचार नहीं तो यहां भी असंतुष्ट मनुष्य शास्त्रार्थको विशेष करके नहीं देखते इससे ही उनको संतोष नहीं होता ॥ ५८ ॥

यदा सर्वे प्रमुच्यंते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ॥
इति श्रौतं फलं दृष्टं नेति चेद्दृष्टमेव तत् ॥ ५९ ॥

इस प्रकार तत्त्वको विचार कर विचारसे उत्पन्न जो तत्त्वज्ञान उसका फल विचार करनेके लिये उसकी बोधक श्रुतिको कहते हैं कि जो इस मुमुक्षुके हृदयमें स्थित अध्यासके मूल काम (इच्छा आदि) हैं वे जिस समय निवृत्त हो जाते हैं इसके अनंतर मर्त्य (देही) अमृत होता है और ब्रह्मको प्राप्त होता है अर्थात् अध्यासकी निवृत्तिसे कामादि निवृत्त हो जाते हैं तभी ब्रह्मरूप हो जाता है, अध्यासके अभावसे मरण रहित होता है और इसी देहमें सत्यरूप ब्रह्मको प्राप्त होता है इस श्रुतिसे प्रतिपादित (कहा) जो फल काम निवृत्तिरूप है वह अनुभवसिद्ध नहीं किंतु शब्दसे सिद्ध है

यह शंका करते हैं कि यह श्रुतिसे सिद्ध फल नहीं देखा ऐसा कहोगे तो वह दृष्ट ही है क्योंकि इसके अग्रिम श्रुतिके तात्पर्यके देखनेसे वह दृष्ट हो सकता है । भावार्थ यह है कि जब इसके हृदयमें स्थित संपूर्ण वासना निवृत्त हो जाती हैं यह श्रुतिसे सिद्ध फल नहीं देखा है ऐसा कहोगे तो वह दृष्ट हा है ॥ ५९ ॥

यदा सर्वे प्रभिद्यंते हृदयग्रथयस्त्विति ॥
कामा ग्रंथिस्वरूपेण व्याख्याता वाक्यशेषतः ॥ २६० ॥

पूर्वोक्त श्रुतिके फलको स्पष्ट करनेके लिये उस वाक्यको कह कर उसके अर्थको कहते हैं कि जब हृदयमें स्थित संपूर्ण कामना भेदन (नाश) को प्राप्त होती हैं तब ब्रह्मरूप होजाता है इस वाक्यशेषसे कामनाओंको ग्रंथिस्वरूप कहा है अहंकार चिदात्माके तादात्म्य अध्यासकी निवृत्तिरूप वह अनुभवसे सिद्ध है इससे अप्रत्यक्ष नहीं है ॥ २६० ॥

अहंकारचिदात्मानावेकीकृत्याविवेकतः ॥
इदं मे स्यादिदं म स्यादितीच्छाः कामशब्दिताः ॥ ६१ ॥

कदाचित् कहो कि लोकमें कामशब्दसे इच्छाको कहते हैं वे ग्रंथि कैसे कही सो ठीक नहीं क्योंकि अहंकार चिदात्माको अविवेकसे एक करके यह मेरे हो जायँ यह मेरे हो जायँ ये इच्छा जो हैं वे ही काम शब्दसे कही जाती हैं अर्थात् अध्यासके मूल कामको इच्छा कहते हैं इच्छामात्रको नहीं ॥ ६१ ॥

अप्रवेश्य चिदात्मानं पृथक् पश्यन्नहंकृतिम् ॥
इच्छंस्तु कोटिवस्तूनि न बाधो ग्रंथिभेदतः ॥ ६२ ॥

कदाचित् कहो कि अध्याससे उत्पन्न काम ही त्यागने योग्य है तो उससे भिन्न कामस्वीकार करने योग्य होगा इस शंकाका उत्तर कहते हैं कि बाधकके अभावसे वैसा काम तो स्वीकारके योग्य ही है कि चिदात्माका मनमें प्रवेश न करके अर्थात् तादात्म्य अध्यासका अंतर्भाव न करके चाहे कोटियों वस्तुओंका अंतर्भाव करता हुआ मनुष्य हो परंतु ग्रंथिभेदसे बाधके योग्य नहीं होता ॥ ६२ ॥

ग्रंथिभेदेऽपि संभाव्या इच्छाः प्रारब्धदोषतः ॥
बुद्धाऽपि पापबाहुल्यादसंतोषो यथा तव ॥ ६३ ॥

कदाचित् कहो कि अध्यासके अभावमें कामनाओंकी उत्पत्ति हीन होगी सो ठीक नहीं क्योंकि प्रारब्धकर्मके वश उत्पत्ति हो जाती है इसको कहते हैं कि ग्रंथि

भेदके होने पर भी प्रारब्धदोषसे इस प्रकार इच्छा हो सकती है जैसे जान कर भी पापोंकी अधिकतासे तुझको संतोष नहीं होता ॥ ६३ ॥

अहंकारगतेच्छाद्यैर्देहव्याध्यादिभिस्तथा ॥
वृक्षादिजन्मनाशैर्वा चिद्रूपात्मनि किं भवेत् ॥ ६४ ॥

अब अहंकारमें गत इच्छा आदि अध्यासके विना बाधक नहीं इस बातको दो दृष्टांतोंसे कहते हैं कि जैसे देहकी व्याधि आदिसे और वृक्ष आदिके जन्म नाशसे अहंकारके साक्षीका बाध नहीं है इसी प्रकार अहंकारमें वर्तमान जो इच्छा आदि हैं उनसे देहसंबंध रहित चित्‌रूप आत्मामें अध्यासकी निवृत्ति होने पर बाध नहीं होता ॥ ६४ ॥

ग्रंथिभेदात्पुराऽप्येवमिति चेत्तन्न विस्मर ॥
अयमेव ग्रंथिभेदस्तव तेन कृती भवान् ॥ ६५ ॥

कदाचित् कहो कि चिदात्माको असंगरूप होनेसे ग्रंथिभेदसे पहले भी कामना आदिका बाध न होगा यह ठीक नहीं कि ग्रंथिभेदसे पूर्व भी ऐसे ही होगा क्योंकि ऐसे बोधको ही हम ग्रंथिभेद कहते हैं इससे यह तुम्हारी शंका हमारे अनुकूल है इस अभिप्रायसे उत्तर देते हैं कि उस बोधको मत भूल, यदि वह बोध तुझे हो जायगा तो उससे ही तू कृतार्थ होजायगा । भावार्थ यह है कि ग्रंथिभेदसे पूर्व भी ऐसे ही काम आदिका अभाव होगा तो उसे मत भूले यही ग्रंथिभेद आपको हो जायगा तो उससे ही आपकी कृतार्थता हो आयगी ॥ ६५ ॥

नैवं जानंति मूढाश्चेत्सोऽयं ग्रंथिर्न चापरः ॥
ग्रंथितद्भेदमात्रेण वैषम्यं मूढबुद्धयोः ॥ ६६ ॥

और ऐसे ज्ञानके अभावको ही ग्रंथि कहते हैं यह दिखाते हैं कि मूढ इस ग्रंथिभेदको यदि नहीं जानते तो यह न जानना ही ग्रंथि है अन्य नहीं क्योंकि ग्रंथि और ग्रंथिके भेदमात्रसे ही मूढ और ज्ञानीकी विषमता (फरक) अर्थात् ग्रंथिमान् मूढ और ग्रंथिभेदवान् ज्ञानी होता है यही दोनोंकी विलक्षणता है इससे ज्ञानीको इच्छा आदिके होनेमें कोई भी बाधक नहीं होता ॥ ६६ ॥

प्रवृत्तो वा निवृत्तो वा देहेंद्रियमनोधियाम् ॥
न किंचिदपि वैषम्यमस्त्यज्ञानिविबुद्धयोः ॥ ६७ ॥

अब अन्य कारणके अभावको प्रकट करते हैं कि देह, इंद्रिय, मन, बुद्धि इनकी विषयोंमें प्रवृत्ति होनेमें वा निवृत्ति होनेमें अज्ञानी और ज्ञानीके विषे कोई विषमता नहीं है किंतु वही विषमता है जो पूर्व कहआये हैं ॥ ६७ ॥

व्रात्यश्रोत्रिययोर्वेदपाठापाठकृता भिदा ॥
नाहारादावस्ति भेदः सोऽयं न्यायोऽत्र योज्यताम् ॥ ६८ ॥

अब पूर्वोक्त अर्थमें दृष्टांतको कहते हैं कि व्रात्य (जिसका समयपर संस्कार न हुआ हो) और श्रोत्रिय (वेदपाठी) इन दोनोंके मध्यमें वेदपाठ न करने और वेदपाठ करनेसे ही भेद है। व्रात्यको वेदपाठका अधिकार नहीं है और श्रोत्रियको है वही न्याय यहां समझो ॥ ६८ ॥

न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ॥
उदासीनवदासीन इति ग्रंथिभिदोच्यते ॥ ६९ ॥

अब ज्ञानीको ग्रंथिशून्य होनेमें गीताका प्रमाण कहते हैं कि ज्ञानी प्राप्त हुए दुःखोंका द्वेष नहीं करता और निवृत्त हुए सुखोंकी आकांक्षा नहीं करता किंतु उदासीनके समान वर्तता है इसको ही ग्रंथिभेद कहते हैं ॥ ६९ ॥

औदासीन्यं विधेयं चेद्वच्छब्दव्यर्थता तदा ॥
न शक्ता अस्य देहाद्या इति चेद्रोग एव सः ॥ २७० ॥

ज्ञानीकी उदासीनताका विधायक यह वाक्य है कुछ ग्रंथिभेदमें प्रमाण नहीं है ऐसा कहोगे तो उदासीनवत् इस पदमें वत् शब्द व्यर्थ हो जायगा, कदाचित् कहो कि ज्ञानीके देह आदि कार्य करनेको असमर्थ हैं इससे प्रवृत्ति नहीं होती कुछ ग्रंथिभेदसे नहीं यह शंका करके हँसते हैं कि यदि ज्ञानीके देह आदि शक्त नहीं हैं तो वह रोग ही है ॥ २७० ॥

तत्त्वबोधं क्षयं व्याधिं मन्यंते ये महाधियः ॥
तेषां प्रज्ञाऽतिविशदा किं तेषां दुःशकं वद ॥ ७१ ॥

जो महाबुद्धिमान् मनुष्य तत्त्वबोधको क्षयकी व्याधि मानते हैं उनकी बुद्धि अत्यंत निर्मल है उनको असाध्य कौन वस्तु है अर्थात् तत्त्वबोध व्याधिरूप नहीं हो सकता ॥ ७१ ॥

भरतादेरप्रवृत्तिः पुराणोक्तेति चेत्तदा ॥
जक्षन् क्रीडन् रतिं विंदन्नित्यश्रौषीर्न किं श्रुतिम् ॥ ७२ ॥

कदाचित् कहो कि यह परिहास अयोग्य है क्योंकि भरत आदिकी अप्रवृत्ति पुराणोंमें कही है, इस शंकाको जो तू करता है सो इस श्रुतिको न जानकर करता है क्योंकि भक्षण करता हुआ, अपनी इच्छासे क्रीडा करता हुआ और स्त्रियाके संग

और यान ज्ञाति और वयस्योंके संग रमता हुआ जनोंके संग वर्तमान भी इस शरीरको ज्ञानी स्मरण नहीं करता अर्थात् ज्ञानीको अपनी देहका अनुसंधान नहीं रहता यह श्रुति क्या आपने नहीं सुनी ॥ ७२ ॥

न ह्याहारादि संत्यज्य भरताद्याः स्थिताः क्वचित् ॥
काष्ठपाषाणवत्किन्तु संगभीता उदासते ॥ ७३ ॥

भोजन आदिको त्याग कर भरत आदि काष्ठ और पाषाणके समान कभी भी न रहे किंतु संगके भयसे उदासीन रहे, इससे पुराणोंका भी ज्ञानीकी उदासीनताके बोधनमें तात्पर्य है कुछ प्रवृत्तिके अभावमें नहीं ॥ ७३ ॥

संगो हि बाध्यते लोके निःसंगः सुखमश्नुते ॥
तेन संगः परित्याज्यः सर्वदा सुखमिच्छता ॥ ७४ ॥

जगत्में संगी बाधा जाता है और संगरहित सुखको भोगता है इससे सुखका अभिलाषी पुरुष सदैव संगको त्याग दे ॥ ७४ ॥

अज्ञात्वा शास्त्रहृदयं मूढो वक्त्यन्यथान्यथा ॥
मूर्खाणां निर्णयस्त्वास्तामस्मत्सिद्धांत उच्यते ॥ ७५ ॥

कदाचित् कहो कि मनके संगका ही त्याग मानोगे तो अन्तःसंगसे शून्य बाहर व्यवहार करते हुए उनको सब मूर्ख, क्यों कहते हैं इस शंकाके उत्तरका वर्णन करते हैं शास्त्रके तात्पर्यको न जानकर मूढ मनुष्य अन्यथा अन्यथा कहते हैं अर्थात् ज्ञानीको मूढ बताते हैं इससे मूर्खोंका निर्णय रहो अर्थात् मूढोंके व्यवहारका विचार मत करो अब हम अपने सिद्धांतको कहते हैं ॥ ७५ ॥

वैराग्यबोधोपरमाः सहायास्ते परस्परम् ॥
प्रायेण सह वर्तंते वियुज्यंते क्वचित् क्वचित् ॥ ७६ ॥

वह सिद्धांत यह है कि वैराग्य, बोध और उपराम (शांति) ये परस्पर सहायक होते हैं और प्रायः संग ही वर्तते हैं और कभी २ उनका वियोग भी हो जाता है ॥ ७६ ॥

हेतुस्वरूपकार्याणि भिन्नान्येषामसंकरः ॥
यथावदवगंतव्यः शास्त्रार्थं प्रविविच्यता ॥ ७७ ॥

हेतु, स्वरूप, कार्य ये तीनों भिन्न २ हैं इनका संकर कहीं भी नहीं है वह असंकर शास्त्रके अर्थका जो विवेकी उसको यथार्थ रीतिसे जानना योग्य है

इससे वैराग्य बोध उपराम इनकी भिन्न २ स्थिति इनके हेतु आदिके भेदसे जाननी ॥ ७७ ॥

दोषदृष्टिर्जिहासा च पुनर्भोगेष्वदीनता ॥
असाधारणहेत्वाद्या वैराग्यस्य त्रयोऽप्यमी ॥ ७८ ॥

अब वैराग्यके हेतु आदि तीनोंको दिखाते हैं कि विषयोंमें दोष देखना और विषयोंके त्यागकी इच्छा और पुनः भोगोंमें दीनता न करनी ये तीनों वैराग्यके हेतु स्वरूप, कार्य, क्रमसे असाधारण होते हैं ॥ ७८ ॥

श्रवणादित्रयं तद्वत्तत्त्वमिथ्याविवेचनम् ॥
पुनर्ग्रंथेरनुदयो बोधस्यैते त्रयो मताः ॥ ७९ ॥

अब तत्त्वबोधके हेतु आदि तीनोंको दिखाते हैं कि श्रवण, मनन, निदिध्यासन, ये तीन और तत्त्वका मिथ्या विवेक अर्थात् कूटस्थ और अहंकारके भेदका ज्ञान और फिर ग्रंथि (अन्योन्य अध्यास) की अनुत्पत्ति ये तीनों बोधके क्रमसे हेतु स्वरूपकार्य कहे हैं और इस श्रुतिमें[1] आत्माको देखने सुनने मानने और निदिध्यासन करने योग्य कहा है इससे श्रवण आदि तीनों आत्मदर्शनके हेतु हैं ॥ ७९ ॥

यमादिर्धीनिरोधश्च व्यवहारस्य संक्षयः ॥
स्युर्हेत्वाद्या उपरतेरित्यसंकर ईरितः ॥ २८० ॥

अब उपरामके हेतु आदि तीनोंको दिखाते हैं कि यम, नियम आदि और बुद्धिका निरोध अथात् चित्तकी वृत्तिको रोकना और व्यवहारका भले प्रकार क्षय ये उपरातिके हेतु, स्वरूप और कार्य हैं इस प्रकार यह तीनोंका असंकर कहा ॥ २८० ॥

तत्त्वबोधः प्रधानं स्यात् साक्षान्मोक्षप्रदत्वतः ॥
बोधोपकारिणावेतौ वैराग्योपरमावुभौ ॥ ८१ ॥

इनके प्रधान गुणभावका वर्णन करते हैं कि उस ब्रह्मको जानकर मृत्युका अवलंघन करता है और मोक्षका कारण अन्य नहीं है इस श्रुतिसे साक्षात् मोक्षका दाता होनेसे तत्त्वबोध इन तीनोंमें प्रधान है और ये दोनों वैराग्य और उपरम तत्त्वबोधके उपकारी हैं क्योंकि श्रुतिमें लिखा है कि ब्राह्मण निर्वेदको प्राप्त हो जाय क्योंकि अकृत (मोक्ष) कृत (कर्म) से नहीं होता इससे तत्त्वज्ञानके लिये वह शांत दांत होकर गुरुके समीप जाकर उपरामको प्राप्त हुआ सहनशील

१ आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मंतव्यो निदिध्यासितव्यः ।

सावधान होकर अपने देहमें ही आत्माको देखे इससे वैराग्य उपराम दोनों उपकारी प्रतीत होते हैं। भावार्थ यह है कि साक्षात् मोक्षका दाता तत्त्वबोध प्रधान है और ये वैराग्य उपराम दोनों तत्त्वबोधके उपकारी हैं ॥ ८१ ॥

त्रयोऽप्यत्यंतपक्काश्चेन्महतस्तपसः फलम् ॥
दुरितेन क्वचित्किंचित्कदाचित्प्रतिबध्यते ॥ ८२ ॥

पूर्व कहे हुये इन तीनोंके कहीं २ वियोगमें कारणको कहते हैं कि ये तीनों अत्यंत पके हुए हों तो महान् तपका फल है और कहीं २ कुछ कदाचित् पाप प्रतिबंध कर देता है अर्थात् अनेक जन्मोंमें संचित पुण्यसमूहके प्रतापसे तीनोंका संग हो जाता है और किसी २ पुरुषविशेषमें प्रतिबंधक पापके अनुसार कालविशेषमें प्रतिबंध भी किसीका हो जाता है ॥ ८२ ॥

वैराग्योपरती पूर्णे बोधस्तु प्रतिबध्यते ॥
यस्य तस्य न मोक्षोऽस्ति पुण्यलोकस्तपोबलात् ॥ ८३ ॥

उनमें भी तत्त्वज्ञानके प्रतिबंधमें मोक्षके अभावको कहते हैं कि यदि जिसको वैराग्य और उपराम ये दोनों पूर्ण हों और पापके वश बोधका प्रतिबंध हो जाय तो उसका मोक्ष नहीं होता किंतु तपके बलसे पुण्यलोक होता है क्योंकि गीतामें भगवान्का वचन है कि पुण्यात्माओंके लोकोंमें प्राप्त होकर और अनेक वर्षोंतक वहां बसकर योगसे भ्रष्ट पुरुष शुद्ध श्रीमानोंके कुलमें जन्म लेता है ॥ ८३ ॥

पूर्णे बोधे तदन्यौ द्वौ प्रतिबद्धौ यदा तदा ॥
मोक्षो विनिश्चितः किंतु दृष्टदुःखं न नश्यति ॥ ८४ ॥

बोधके पूर्ण होनेपर जहां वैराग्य और उपराम इन दोनोंका प्रतिबंध (रोक) होता है तब मोक्ष तो निश्चयसे होता है परंतु दीखते हुए दुःखका नाश नहीं होता अर्थात् जीवन्मुक्तिका सुख सिद्ध नहीं होता ॥ ८४ ॥

ब्रह्मलोकतृणीकारो वैराग्यस्यावधिर्मतः ॥
देहात्मवत् परात्मत्वदार्ढ्ये बोधः समाप्यते ॥ ८५ ॥

अब वैराग्य आदिकोंकी अवधिका वर्णन करते हैं कि ब्रह्मलोकको भी तृणके समान समझना यह वैराग्यकी अवधि कही है और अपने देहके आत्माके समान पर आत्माके समझनेसे बोधकी समाप्ति (पूर्णता) हो जाती है ॥ ८५ ॥

सुप्तिवद्विस्मृतिः सीमा भवेदुपरमस्य हि ॥
दिशाऽनया विनिश्चेयं तारतम्यमवांतरम् ॥ ८६ ॥

शयनके समान जो विस्मृति वह उपरामकी सीमा होती है अर्थात् सोनेमें जैसा विषयोंका अभाव रहता है ऐसा ही जाग्रतमें भी समझना और इसी मार्गसे अवांतर (मध्यका) तारतम्य (न्यूनअधिक भाव) अपनी २ बुद्धिसे निश्चय करने योग्य है ॥ ८६ ॥

आरब्धकर्मनानात्वाद्बुद्धानामन्यथाऽन्यथा ॥
वर्तनं तेन शास्त्रार्थे भ्रमितव्यं न पंडितैः ॥ ८७ ॥

कदाचित् कहो कि तत्त्वज्ञानियोंको भी राग आदि देखते हैं इससे ज्ञान मुक्तिका हेतु नहीं हो सकेगा सो ठीक नहीं क्योंकि प्रारब्धकर्म नाना प्रकारके हैं इससे बोधवाले भी अन्यथा अन्यथा वर्तते हैं इससे शास्त्रके अर्थमें पंडित जनोंको भ्रम न करना चाहिये अर्थात् रोग आदि आधि व्याधिके समान प्रारब्धकर्मका फल होनेसे मुक्तिके प्रतिबंधक नहीं हो सकते ॥ ८७ ॥

स्वस्वकर्मानुसारेण वर्ततां ते यथा तथा ॥
अविशिष्टः सर्वबोधः समा मुक्तिरिति स्थितिः ॥ ८८ ॥

अपने अपने कर्मके अनुसार वे जैसे वैसे वर्तें परन्तु मैं ब्रह्मरूप हूं यह ज्ञान सबको एकाकार है और निष्पाप ब्रह्मरूपसे मुक्ति भी सबको समान है यह स्थिति है अर्थात् जानने योग्य है ॥ ८८ ॥

जगच्चित्रं स्वचैतन्ये पटे चित्रमिवार्पितम् ॥
मायया तदुपक्ष्यैव चैतन्यं परिशेष्यताम् ॥ ८९ ॥

अब चित्रदीपप्रकरणके तात्पर्यको संक्षेपसे दिखाते हैं जगत्रूपी चित्र आत्मस्वरूप चैतन्यमें इस प्रकार मायासे आर्पित है जैसे वस्त्रमें चित्राम इससे मायोपाधि जगत्की उपेक्षा करके चैतन्यका परिशेष करो ॥ ८९ ॥

चित्रदीपमिमं नित्यं येऽनुसंदधते बुधाः ॥
पश्यंतोऽपि जगच्चित्रं ते मुह्यंति न पूर्ववत् ॥ २९० ॥

अब ग्रंथाभ्यासके फलको कहते हैं-जो बुद्धिमान् मनुष्य इस चित्रदीपका नित्य अनुसंधान (विचार) करते हैं, जगत् चित्रको देखते हुए भी वे उस प्रकार मोहको प्राप्त नहीं होते जिस प्रकार पूर्व होते रहे ॥ २९० ॥

इति श्रीमद्भारतीतीर्थविद्यारण्यमुनिरचितपंचदश्याः पण्डितमिहिरचंद्रकृतभाषाविवृतौ चित्रदीपस्समाप्तः ॥ ६ ॥

इति षष्ठं चित्रदीपप्रकरणम् ॥ ६ ॥

अथ तृप्तिदीपप्रकरणम् ७.

श्रीगणेशाय नमः ।

आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः ॥
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ॥ १ ॥

तृप्तिदीप नाम प्रकरणका प्रारंभ करते हुए श्रीभारतीतीर्थ उस तृप्तिदीपको श्रुतिका व्याख्यानरूप होनेसे व्याख्यानके योग्य श्रुतिको आदिमें पढते हैं कि यदि पुरुष यह आत्मा, मैं हूं इस प्रकार आत्माको जानले तो किस विषयकी इच्छा करता हुआ और किस विषयके लिये आत्माको तपायमान करे-अर्थात् आत्मज्ञानसे ही सब कामना शान्त होजाती हैं ॥ १ ॥

अस्याः श्रुतेरभिप्रायः सम्यगत्र विचार्यते ॥
जीवन्मुक्तस्य या तृप्तिः सा तेन विशदायते ॥ २ ॥

इस तृप्तिदीपप्रकरणमें पूर्वश्लोकमें कही हुई श्रुतिके अभिप्रायको भले प्रकार विचारते हैं-इस अभिप्रायके विचारसे श्रुतिमें प्रसिद्ध जो जीवन्मुक्तिकी तृप्ति है वह स्पष्ट होजाती है ॥ २ ॥

मायाभासेन जीवेशौ करोतीति श्रुतत्वतः ॥
कल्पितावेव जीवेशौ ताभ्यां सर्वं प्रकल्पितम् ॥ ३ ॥

पदका छेदन, पदार्थका कथन, विग्रह, वाक्योंकी योजना, शंकाका समाधान, ये पांच लक्षण व्याख्यानके कहे हैं, इससे पुरुष इस पदका अर्थ कहनेके लिये उसकी उपोद्घातरूप सृष्टिको संक्षेपसे दिखाते हैं, प्रतिपादन करने योग्य अर्थको बुद्धिमें रखकर उसके लिये अर्थांतरका जो वर्णन उसको उपोद्घात कहते हैं और चिदानंदमय ब्रह्मके प्रतिबिंबसे युक्त और सत्त्व, रज तमोगुणरूप जो जगत् का उपादान (प्रकृति) उसे माया कहते हैं वह प्रकृति सत्त्वगुणकी शुद्धि और अशुद्धिसे दो प्रकारकी हुई माया और अविद्यारूप होती है अर्थात् विशुद्धसत्त्वप्रधानको माया और मलिनसत्त्वप्रधानको अविद्या कहते हैं मायामें प्रतिबिंबित ब्रह्मको ईश्वर और अविद्यामें प्रतिबिंबितको जीव कहते हैं, यह सब तत्त्वविवेकप्रकरणमें निरूपण कर आये और यही अभिप्राय इस श्रुतिमें कहा है कि माया और अविद्या आभाससे जीव और ईश्वरको करती हैं इससे जीव और ईश्वर मायासे कल्पित हैं और संपूर्ण जगत् उन दोनोंका कल्पित है। भावार्थ यह है कि माया आभाससे

जीव ईश्वरको करती है श्रुतिमें यह सुननेसे जीव ईश्वर माया कल्पित हैं अन्य सब जगत् उनका कल्पित है ॥ ३ ॥

ईक्षणादिप्रवेशांता सृष्टिरीशेन कल्पिता ॥
जाग्रदादिविमोक्षांतः संसारो जीवकल्पितः ॥ ४ ॥

अब इन दोनोंमें जिसने जितना कल्पित किया उसका वर्णन करते हैं कि उस ब्रह्मने देखा कि मैं एक प्रजारूपसे बहुत हूं इन श्रुतिमें वर्णन किया ईक्षण (देखना) जिसकी आदिमें और इस जीवरूप आत्मासे नाम रूप प्रकट किये इस श्रुतिमें कहां प्रवेश है अन्तमें जिसके ऐसी सृष्टि ईश्वरकी कल्पित है और जाग्रत् है आदि जिसके और विमोक्ष (मुक्ति) है अंतमें जिसके ऐसा संसार जीवका कल्पित है क्योंकि जीव उसका अभिमानी है और वे जाग्रत् आदि इस प्रकार शास्त्रमें सुने जाते हैं कि मायासे परिमोहित है आत्मा जिसका ऐसा वह ब्रह्म शरीरमें टिककर सबको करता है और स्त्री अन्नपान आदि विचित्रभोगोंसे वही जाग्रत् अवस्थामें तृप्त होता है और स्वप्नमें भी जीव सुख दुःखका भोक्ता रहता है और अपनी मायासे कल्पित संपूर्ण विश्वका है लय जिसमें ऐसी सुषुप्तिके समय तमोगुणसे तिरस्कारको प्राप्त हुआ सुखरूप होता है और फिर जन्मान्तरके कर्माधीन हुआ वही जीव सोता है आर प्रबुद्ध (जगा) हुआ वह तीनों पुरोंमें क्रीडा करता है उसी जीवसे संपूर्ण विचित्रता हुई है और जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति आदि जो यह प्रपंच प्रकाशित है वह सब मुझ ब्रह्मका ही रूप है यह जानकर सब बंधोंसे छूटता है। भावार्थ यह है कि ईक्षण आदि प्रवेशपर्यंत सृष्टि ईश्वरकी कल्पित है और जाग्रत् आदि मुक्ति पर्यंत सृष्टि जीवकल्पित है ॥ ४ ॥

भ्रमाधिष्ठानभूतात्मा कूटस्थासंगचिद्वपुः ॥
अन्योन्यध्यासतोऽसंगधीस्थजीवोऽत्र पूरुषः ॥ ५ ॥

इस प्रकार पुरुष शब्दके अर्थकी ज्ञानोपयोगिनी सृष्टिको कह कर पुरुष शब्दके अर्थको कहते हैं जो कूटस्थ असंग चित् शरीर अर्थात् अविकारी असंग चित्स्वरूप है और देह इंद्रियाध्यासरूप भ्रमका अधिष्ठान परमात्मा है असंग भी वह अन्योन्याध्याससे अन्योन्य आत्मरूपताको और अन्योन्य धर्मोंको परस्परमें मान कर संपूर्ण व्यवहारोंका भागी होता है इस प्रकार आचार्योंके कहे तादात्म्याध्याससे असंग धीमें स्थित जो जीव अर्थात् पारमार्थिक(सत्ता) संबंधसे शून्य बुद्धिमें अपने रूपसे वर्तता हुआ जीव होकर इस श्रुतिमें पुरुष है क्योंकि सो यह पुरुष सब पुरियोंमें पुरीशय है अर्थात् सब देहोंमें शयन करता है इस श्रुतिमें पुरुष शब्दका अर्थ

कहा है और पुरुषको ही पुरुष कहते हैं अर्थात् बुद्धि आदिकी कल्पनाका अधिष्ठान जो कूटस्थ चैतन्य वह बुद्धिमें प्रतिबिंबित जीव होनेसे पुरुष शब्दसे कहा जाता है भावार्थ यह है कि भ्रमका अधिष्ठान कूटस्थ असंग चिद्रूप जो ब्रह्म वह अन्योन्याध्याससे असंग बुद्धिमें स्थित होकर जीवभावको प्राप्त होनेसे पुरुष कहाता है ॥ ५ ॥

साधिष्ठानो विमोक्षादौ जीवोऽधिक्रियते न तु ॥
केवलो निरधिष्ठानविभ्रांतेः क्वाप्यसिद्धितः ॥ ६ ॥

कदाचित् कहो कि पुरुष शब्दसे केवल चिदाभासरूप जीवको ही क्यों नहीं लेते अधिष्ठानभूत कूटस्थ चैतन्यके ग्रहणका क्या प्रयोजन है ? इस शंकाके उत्तरमें कूटस्थको भी मोक्ष आदिमें अन्वयी (संबंधी) होनेसे पुरुष शब्दसे ग्रहणको कहते हैं कि कूटस्थरूप अधिष्ठानसहित जो जीव चैतन्य है वही मोक्ष स्वर्ग आदिमें अधिकारी है केवल चिदाभास नहीं क्योंकि अधिष्ठानके विना भ्रांति कहीं भी जगत्में नहीं देखी है ॥ ६ ॥

अधिष्ठानांशसंयुक्तं भ्रमांशमवलंबते ॥
यदा तदाऽहं संसारीत्येवं जीवोऽभिमन्यते ॥ ७ ॥

अब दो श्लोकोंसे आधिष्ठान सहित जीवका ही संसारमें अन्वय कहते हैं कि जब आधिष्ठान सहित भ्रमांशका जीव अवलंबन करता है अर्थात् चिदाभास सहित दोनों शरीरोंका अपने स्वरूपसे स्वीकार करता है तब मैं संसारी हूं यह अभिमान करता है ॥ ७ ॥

भ्रमांशस्य तिरस्कारादधिष्ठानप्रधानता ॥
यदा तदा चिदात्माऽहमसंगोऽस्मीति बुध्यते ॥ ८ ॥

और जब भ्रमांशके अर्थात् दोनों देहों सहित चिदाभासके तिरस्कार (मिथ्याज्ञान) से आदरको न करके अधिष्ठानकी ही प्रधानता है अर्थात् अधिष्ठानभूत कूटस्थके ही स्वरूपका स्वीकर करता है तब तो असंग चिदात्मा मैं हूं यह जानता है ॥ ८ ॥

नासंगेऽहंकृतिर्युक्ता कथमस्मीति चेच्छृणु ॥
एको मुख्यो द्वावमुख्यावित्यर्थस्त्रिविधोऽहमः ॥ ९ ॥

अधिष्ठान चैतन्यको जीवरूप मानोगे तो मैं चिदात्मा असंग हूं यह न बनेगा क्योंकि असंग चिदात्मा अहं प्रत्यय (प्रतीति) का विषय नहीं हो सकता इस शंकाको करते हैं कि असंग, अविषय, चिदात्मामें अहंप्रतीति जिससे नहीं हो

सकती तो उससे मैं यह कैसे जाने अर्थात् किसी प्रकार भी नहीं जान सकते यद्यपि मुख्य वृत्तिसे अहं प्रतीतिका विषय नहीं हो सकता तथापि लक्षणावृत्तिसे हो सकत है यह कहनेकी इच्छासे अहं शब्दके अर्थका प्रथम विभाग करते हैं कि अहंशब्दके तीन अर्थ हैं एक मुख्य और दो अमुख्य ॥ ९ ॥

अन्योन्याध्यासरूपेण कूटस्थाभासयोर्वपुः ॥
एकीभूय भवेन्मुख्यस्तत्र मूढैः प्रयुज्यते ॥ १० ॥

अब मुख्य अर्थको दिखाते हैं कि कूटस्थ और चिदाभासका स्वरूप अन्योन्य अध्याससे एकताको प्राप्त होकर अहं शब्दका वाच्य अर्थ होता है। अब इसकी मुख्यतामें कारण कहते हैं कि जिससे पृथक् २ विवेकसे नहीं जाने इस कूटस्थ और चिदाभासके स्वरूपमें विवेकज्ञानसे शून्य संपूर्ण मूढ जन अहंशब्दके प्रयोगको करते हैं इससे वह मुख्य है ॥ १० ॥

पृथगाभासकूटस्थावमुख्यौ तत्र तत्त्ववित् ॥
पर्यायेण प्रयुंक्तेऽहंशब्दं लोके च वैदिके ॥ ११ ॥

अब अमुख्य दोनों स्वरूपोंको दिखाते हैं कि जब चिदाभास और कूटस्थ ये दोनों पृथक् २ अहं शब्दके अर्थसे विवक्षित हैं तब ये दोनो अहंशब्दके अमुख्य अर्थ होते हैं। अब उनकी अमुख्यतामें कारणको कहते हैं कि तत्त्वका ज्ञाता पुरुष इन दोनों कूटस्थ और चिदाभासोंमें अहंशब्दके प्रयोगको लौकिक वा वैदिक व्यवहारमें पर्यायसे करता है तात्पर्य यह है कि चिदाभास कूटस्थका जो एकरूप है उसको संपूर्ण जनोंके व्यवहारका विषय होनेसे मुख्यता है और पृथक् २ रूपको तो किसी २ मनुष्यके कदाचित् ही व्यवहारका विषय होनेसे अमुख्यता है ॥ ११ ॥

लौकिकव्यवहारेऽहं गच्छामीत्यादिके बुधः ॥
विविच्यैव चिदाभासं कूटस्थात्तं विवक्षति ॥ १२ ॥

ज्ञानकी सुगमताके लिये दो श्लोकोंसे पर्यायसे प्रयोगका वर्णन करते हैं कि बुद्धिमान मनुष्य मैं जाता हूं इत्यादि लौकिक व्यवहारमें कूटस्थसे चिदाभासको पृथक् करके उसको ही अहंशब्दसे कहनेकी इच्छा करता है ॥ १२ ॥

असंगोऽहं चिदात्माऽहमिति शास्त्रीयदृष्टितः ॥
अहंशब्दं प्रयुंक्तेऽयं कूटस्थे केवले बुधः ॥ १३ ॥

और वही बुद्धिमान् मनुष्य शास्त्रदृष्टिसे अर्थात् वेदान्तके श्रवणसे उत्पन्न हुए ज्ञानसे चिदाभाससे पृथक् किये कूटस्थमें मैं असंग हूं. मैं चिदात्मा हूं इस प्रकार लक्षणासे अहंशब्दके प्रयोगको करता है इससे लक्षणासे कूटस्थ भी अहंशब्दका अर्थ होनेसे अहंप्रतीतिका विषय हो सकता है इससे मैं असंग हूं यह ज्ञान होता है ॥ १३ ॥

ज्ञानिताज्ञानिते त्वात्माभासस्यैव न चात्मनः ॥
तथा च कथमाभासः कूटस्थोऽस्मीति बुध्यताम् ॥ १४ ॥

कदाचित् कहो कि चिदाभास और कूटस्थ पृथक् २ अहंशब्दके जो अर्थ कहे उन दोनोंके मध्यमें अज्ञान निवृत्तिके लिये मैं असंग हूं यह कूटस्थ जानता है वा चिदाभास जानता है? कूटस्थको तो नहीं कह सकते क्योंकि वह असंग चिद्रूप है इससे वह ज्ञानी वा अज्ञानी नहीं हो सकता इससे चिदाभासको ही ज्ञानी वा अज्ञानी कहना पडेगा तो कूटस्थसे अन्य चिदाभासको मैं कूटस्थ हूं ऐसा ज्ञान होना अयोग्य है । भावार्थ यह है कि ज्ञानी और अज्ञानी आत्माका आभास हो सकता है आत्मा नहीं इनसे चिदाभासको मैं कूटस्थ हूं यह ज्ञान कैसे होगा अर्थात् न होगा ॥ १४ ॥

नायं दोषश्चिदाभासः कूटस्थैकस्वभाववान् ॥
आभासत्वस्य मिथ्यात्वात्कूटस्थत्वावशेषणात् ॥ १५ ॥

अब उक्त शंकाका समाधान इस आशयसे करते हैं कि वह चिदाभास कूटस्थसे अन्य भी नहीं हो सकता क्योंकि चिदाभासको कूटस्थके संग एकस्वभाववाला होनेसे यह तुम्हारा दिया दोष नहीं होसकता क्योंकि दर्पणमें प्रतीत हुआ जो मुखका आभास उसका तत्त्व जैसे ग्रीवाका मुख ही है इसी प्रकार आभासको मिथ्यात्व है और कूटस्थ ही शेष रहता है ॥ १५ ॥

कूटस्थोऽस्मीति बोधोऽपि मिथ्या चेन्नेति को वदेत् ॥
न हि सत्यतयाऽभीष्टं रज्जुसर्पविसर्पणम् ॥ १६ ॥

अब यह शंका करते हैं कि चिदाभासको मिथ्या मानोगे तो उसका मैं कूटस्थ हूं यह ज्ञान मिथ्या हो जायगा किन्तु यदि मैं कूटस्थ हूं यह ज्ञान मिथ्या हो जायगा यह कहते हो तो यह ज्ञान मिथ्या नहीं है यह कौन कहता है क्योंकि कूटस्थके स्वरूपसे भिन्न सबको मिथ्या होनेसे वह भी हमको मिथ्या इष्ट है इसको दृष्टांतसे स्पष्ट करते हैं कि रज्जुमें कल्पना किये प्रतीयमान भी गमन आदिको कोई भी जैसे वास्तव नहीं मानता इसी प्रकार मैं कूटस्थ हूं यह ज्ञान भी मिथ्या है ॥ १६ ॥

ताद्दशनापि बोधेन संसारो हि निवर्तते ॥
यक्षानुरूपो हि बलिरित्याहुर्लौकिका जनाः ॥ १७ ॥

कदाचित् कहो कि पूर्वोक्त मिथ्याज्ञानसे संसारकी निवृत्ति न होगी सो ठीक नहीं-पूर्वोक्त मिथ्या ज्ञानसे भी संसारकी निवृत्ति होती है अर्थात् निवृत्तिके योग्य संसार भी मिथ्या है इससे स्वप्नमें देखे व्याघ्रसे जैसे निद्राकी निवृत्ति होती है इसी प्रकार मिथ्याज्ञानसे मिथ्या संसारकी निवृत्ति हो जायगी क्योंकि लौकिक जन ऐसे कहते हैं कि यक्षानुरूप बलि होती है अर्थात् जहां जैसा यक्ष वैसे ही बलि देते हैं ॥ १७ ॥

तस्मादाभासपुरुषः सकूटस्थो विविच्य तम् ॥
कूटस्थोऽस्मीति विज्ञातुमर्हतीत्यभ्यधाच्छ्रुतिः ॥ १८ ॥

अब उपपादन किये अर्थका उपसंहार करते हैं कि जिससे कूटस्थ ही चिदाभासका निजस्वरूप है इससे कूटस्थ सहित चिदाभासरूप जो पुरुषशब्दका वाच्य (अर्थ) है वह उस कूटस्थको मिथ्यास्वरूप अपनेसे पृथक् जानकर लक्षणासे मैं कूटस्थ हूं यह जान सकता है इससे श्रुतिने मैं कूटस्थ हूं यह कहा है ॥ १८ ॥

असंदिग्धाविपर्यस्तबोधो देहात्मनीक्ष्यते॥
तद्वदत्रेति निर्णेतुमयमित्यभिधीयते ॥ १९ ॥

इस प्रकार 'मैं पुरुष हूं' इन दोनों पदोंके प्रयोगका अभिप्राय कहकर 'अयम्' इस पदके प्रयोगका अभिप्राय कहते हैं जैसे लौकिक मनुष्य प्रसिद्ध देहरूप आत्मामें संशय और विपर्ययसे रहित 'अयम् अस्मि' यह मैं हूं यह बोध सबको होता है वैसा ही ज्ञान मुक्तिके लिये प्रत्यगात्मामें भी संपादन करना योग्य है यह निर्णय करनेके लिये श्रुति 'अयम्' यह कहती है ॥ १९ ॥

देहात्मज्ञानवज्ज्ञानं देहात्मज्ञानबाधकम् ॥
आत्मन्येव भवेद्यस्य स नेच्छन्नपि मुच्यते ॥ २० ॥

इस प्रकारका बोध मोक्षका साधन है इसमें आचार्यका वचन प्रमाण देते हैं मैं मनुष्य हूं यह दृढ प्रतीति जैसे देहरूप आत्मामें होती है इसी प्रकार प्रत्यगात्मामें देह ही आत्मा है इस ज्ञानका बाधक मैं ब्रह्म हूं यह ज्ञान जिसको हो जाय मोक्षकी इच्छासे रहित भी वह विद्वान् मुक्त हो जाता है क्योंकि संसारका हेतु

अज्ञान उसका निवृत्त होचुका भावार्थ यह है कि जिसको आत्माके विषे देहात्म-ज्ञानका बाधक ज्ञान देहात्मज्ञानकी तुल्य हो जाय वह इच्छा करने और न करने पर भी मुक्त हो जाता है ॥ २० ॥

अयमित्यपरोक्षत्वमुच्यते चेत्तदुच्यताम् ॥
स्वयंप्रकाशचैतन्यमपरोक्षं सदा यतः ॥ २१ ॥

अब 'अयम्' इस पदके प्रयोगमें अन्य अभिप्रायसे शंका करते हैं कि जैसे अयम् (यह) घट है इत्यादि प्रयोगोंमें यह शब्दसे दिखाई वस्तु प्रत्यक्ष दीखती है तैसे ही यह ब्रह्म मैं हूं यहां भी ब्रह्म प्रत्यक्ष हो जायगा ऐसा कहोगे तो प्रत्यक्ष हो जाओ वह भी हमको इष्ट ही है क्योंकि स्वयंप्रकाशरूप चैतन्य सदैव अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) है अर्थात् हम किसी साधनकी अपेक्षाके विना प्रकाशमान चैतन्यको नित्य प्रत्यक्षरूप मानते हैं भावार्थ यह है कि 'यह मैं हूं' इससे ब्रह्मको भी अपरोक्ष कहोगे तो कहो हम मानते हैं क्योंकि स्वयंप्रकाशमान चैतन्य सदैव अपरोक्ष है ॥ २१ ॥

परोक्षमपरोक्षं च ज्ञानमज्ञानमित्यदः ॥
नित्यापरोक्षरूपेऽपि द्वयं स्याद्दशमे यथा ॥ २२ ॥

कदाचित् कहो कि आत्माको स्वप्रकाश चित्‌रूप होनेसे नित्य अपरोक्ष मानोगे तो 'अयम्' इस पदके प्रयोगका जो अभिप्राय वर्णन उसके बलसे आत्माकी परोक्षता और पूर्वोक्त अप[illegible] वा ज्ञान अज्ञानकी विषयता न बनेगी यह शंका करके दशवें मनुष्यके समान उसकी उपपत्ति (बनना) को कहते हैं कि परोक्ष अपरोक्ष ये दोनों और ज्ञान अज्ञान दोनों ये दोनों युगल, नित्य अपरोक्ष रूप भी आत्मामें दशवें मनुष्यके समान बन सकते हैं भावार्थ यह है कि परोक्ष अपरोक्ष और ज्ञान अज्ञान ये दोनों नित्य अपरोक्षरूप आत्मामें दशम पुरुषके समान हो सकते हैं ॥ २२ ॥

नवसंख्याहृतज्ञानो दशमो विभ्रमात्तदा ॥
न वेत्ति दशमोऽस्मीति वीक्षमाणोऽपि तान्नव ॥ २३ ॥

अब दशम पुरुषके दृष्टांतका वर्णन करते हैं कि गिनने योग्य पुरुषोंकी नव ९ संख्यासे नष्ट हुआ है विवेक विज्ञान जिसका ऐसा दशवां पुरुष उन नौ ९ संख्यावाले पुरुषोंको भले प्रकार देखता हुआ भी अपनी आत्माकी गिनती कर्ता भी दशवां मैं हूं यह नहीं जानता ॥ २३ ॥

न भाति नास्ति दशम इति स्वं दशमं तदा ॥
मत्वा वक्ति तदज्ञानकृतमावरणं विदुः ॥ २४ ॥

इस प्रकार दशमें पुरुषके अज्ञानको दिखाकर अज्ञानके कार्य आवरणका दिखाते हैं कि उस समय दशमां पुरुष विद्यमान भी अपनी आत्माको दशवां, न भासता है, न है, यह मानकर कहता है इस व्यवहारके कारणको अज्ञानका किया आवरण बुद्धिमान् मनुष्य जानते हैं अर्थात् विद्यमान भी वस्तुको न जानना ॥२४॥

नद्यां ममार दशम इति शोचन्प्ररोदिति ॥
अज्ञानकृतविक्षेपं रोदनादिं विदुर्बुधाः ॥ २५ ॥

अब अज्ञानके ही कार्य विशेष विक्षेपको दिखाते हैं कि दशवां नदीके विषे मर गया यह शोच करता हुआ रोता है इसके रोने आदिको बुद्धिमान् मनुष्य अज्ञानका किया विक्षेप आदि जानते हैं ॥ २५ ॥

न मृतो दशमोऽस्तीति श्रुत्वाऽऽप्तवचनं तदा ॥
परोक्षत्वेन दशमं वेत्ति स्वर्गादिलोकवत् ॥ २६ ॥

अब दशम मनुष्यके असत्त्व अंशका निवर्तक परोक्षज्ञान कहते हैं कि उस समय दशवां नहीं मरा है इस यथार्थवादी मनुष्यके वचनको सुनकर परोक्षरूपसे स्वर्ग आदि लोकके समान दशवें पुरुषको जानता है अर्थात् कहीं दशवां होगा यह जानता है और मैं ही दशवां हूं यह अपरोक्षरूपसे नहीं जानता ॥ २६ ॥

त्वमेव दशमोऽसीति गणयित्वा प्रदर्शितः ॥
अपरोक्षतया ज्ञात्वा हृष्यत्येव न रोदिति ॥ २७ ॥

अब उसके ही अभान अंशके निवर्तक अपरोक्षज्ञानको दिखाते हैं कि तू ही दशवां है इस प्रकार गिनकर दिखाया है स्वरूप जिसका ऐसा मनुष्य अपनेको दशवां जानकर आनंदित ही होता है रोता नहीं अर्थात् अपना अभान अंश निवृत्त हो जाता है ॥ २७ ॥

अज्ञानावृतिविक्षेपद्विविधज्ञानतृप्तयः ॥
शोकापगम इत्येते योजनीयाश्चिदात्मनि ॥ २८ ॥

इस प्रकार दृष्टांतरूप दशवेंमें दिखायी सातों ७ अवस्थाओंको दार्ष्टांतिकरूप आत्मामें भी दर्शाते हैं कि अज्ञान आवरण विक्षेप दो प्रकारका ज्ञान तृप्ति शोकका अपगम (दूर होना) ये सातों अवस्था चिदात्मामें भी युक्त करनी (समझनी) ॥ २८ ॥

संसारासक्तचित्तः संश्चिदाभासः कदाचन ॥
स्वयंप्रकाशकूटस्थं स्वतत्त्वं नैव वेत्त्ययम् ॥ २९ ॥

उन अज्ञान आदिको क्रमसे आत्माके विषे दिखाते हैं कि कदाचित् यह चिदाभास संसारमें आसक्तचित्त होकर अर्थात् विषयोंके संग्रहमें मन लगाकर श्रुतिके विचार करनेसे पूर्व किसी समयमें अपने स्वप्रकाश कूटस्थरूपको जो नहीं जानता यही अज्ञान कहाता है ॥ २९ ॥

न भाति नास्ति कूटस्थ इति वक्ति प्रसंगतः ॥
कर्ता भोक्ताऽहमस्मीति विक्षेपं प्रतिपद्यते ॥ ३० ॥

चिदात्माके प्रसंग आने पर कूटस्थ न भासता है और न है यह कहता है यही अज्ञानका कार्य आवरण है और कूटस्थकी असत्ताके कथनके समान मैं कर्त्ता हूं भोक्ता हूं यह आत्मामें आरोप करता है इस आरोपका हेतु दोनों देहोंसे युक्त चिदाभासरूप विक्षेप है ॥ ३० ॥

अस्ति कूटस्थ इत्यादौ परोक्षं वेत्ति वार्तया ॥
पश्चात्कूटस्थ एवास्मीत्येवं वेत्ति विचारतः ॥ ३१ ॥

कूटस्थ है इत्यादिमें वार्तासे परोक्ष कूटस्थको जानता है यह परोक्षज्ञान और श्रवण मनन आदिके परिपाकवश विचार करनेसे मैं कूटस्थ ही हूं यह जानता है यह अपरोक्ष ज्ञान है ॥ ३१ ॥

कर्ता भोक्तेत्येवमादि शोकजातं प्रमुंचति ॥
कृतं कृत्यं प्रापणीयं प्राप्तमित्येव तुष्यति ॥ ३२ ॥

कूटस्थ असंग आत्मज्ञानके अनंतर मैं कर्ता भोक्ता हूं इत्यादि शोकके समूहको छोड़ता है यह शोकका अपगम 'मैंने करनेके योग्यको कर लिया और प्राप्तिके योग्य फल मुझे प्राप्त हो गया' इस प्रकार संतोषको प्राप्त होता है, इसको तृप्ति कहते हैं ॥ ३२ ॥

अज्ञानमावृतिस्तद्वद्विक्षेपश्च परोक्षधीः ॥
अपरोक्षमतिः शोकमोक्षस्तृप्तिर्निरंकुशा ॥ ३३ ॥

दार्ष्टांतिकमें भी उक्त सातों अवस्थाओंका अनुवाद करते हैं कि अज्ञान, आवरण और विक्षेप, परोक्षज्ञान, शोकका मोक्ष और निरंकुश तृप्ति ॥ ३३ ॥

सप्तावस्था इमाः संति चिदाभासस्य तास्विमौ ॥
बंधमोक्षौ स्थितौ तत्र तिस्रो बंधकृताः स्मृताः ॥ ३४ ॥

कदाचित् कोई कहे कि पूर्वोक्त सात अवस्था आत्मामें मानोंगे तो वह कूटस्थ न रहेगा यह आशंका करके ये अवस्था चिदाभासकी ही हैं कूटस्थकी नहीं यह वर्णन करते हैं कि ये सात अवस्था चिदाभासकी ही हैं कूटस्थकी नहीं कदाचित् कहो कि इन सात अवस्थाओंका यहां लिखना वृथा है सो ठीक नहीं कि इनके लेखका फल बंधसे मोक्षकारी है कि उन अवस्थाओंमें ये दोनों बंध मोक्ष स्थित हैं और उनमें भी तीन अवस्था बंधनकी कर्ता है शेष नहीं भावार्थ यह है कि ये सात अवस्था चिदाभासकी हैं उनमें दोनों ये बंध मोक्षमें स्थित हैं उनमें भी तीन अवस्था बंधनकारिणी कही हैं ॥ ३४ ॥

न जानामीत्युदासीनव्यवहारस्य कारणम् ॥
विचारप्रागभावेन युक्तमज्ञानमीरितम् ॥ ३५ ॥

इनको बंधकारिणी दिखानेके लिये तीनोंका स्वरूप प्रत्येकके कार्योंका दिखाकर स्पष्ट करनेकी इच्छासे प्रथम अज्ञानका स्वरूप दिखाते हैं कि आत्मतत्त्वके विचारसे पूर्व उदासीन व्यवहारका कारण जो मैं नहीं जानता हूं यह अज्ञान कहा है ॥ ३५ ॥

अमार्गेण विचार्याथ नास्ति नो भाति चेत्यसौ ॥
विपरीतव्यवहृतिरावृतेः कार्यमिष्यते ॥ ३६ ॥

अब आवरणके स्वरूप और कार्यको दिखाते हैं कि शास्त्रोक्त रीतिसे भिन्न जो रीति उससे विचार कर केवल तर्कके अनुसार न कूटस्थ भासता है और न है ऐसा जो विपरीत व्यवहार वह आवरणका कार्य है ॥ ३६ ॥

देहद्वयचिदाभासरूपो विक्षेप ईरितः ॥
कर्तृत्वाद्यखिलः शोकः संसाराख्योऽस्य बंधकः ॥ ३७ ॥

अब विक्षेपके स्वरूप और उसके कार्यको दिखाते हैं कि स्थूल सूक्ष्म दोनों शरीरोंसहित चिदाभासको विक्षेप कहते हैं और बंधनका हेतु कर्ता भोक्ता आदि संपूर्ण शोकरूप संसार इसका कार्य है अर्थात् चिदाभासकी रचना है ॥ ३७ ॥

अज्ञानमावृतिश्चैते विक्षेपात् प्राक् प्रसिध्यतः ॥
यद्यप्यथाप्यवस्थे ते विक्षेपस्यैव नात्मनः ॥ ३८ ॥

: चिदाभासकी जो सात अवस्था कहीं-सो ठीक नहीं क्योंकि अज्ञान और आवरण ये दोनों विक्षेपकी उत्पत्तिसे पहिले स्थित हैं और चिदाभास-विक्षेपके अन्तर्गत हैं-इससे उसकी अवस्था नहीं हो सकती इस शंकाका उत्तर कहते हैं कि यद्यपि अज्ञान और आवरण ये दोनों अवस्था विक्षेपसे पूर्व प्रसिद्ध हैं तथापि वे दोनों अवस्था चिदाभासरूप विक्षेपकी हैं असंग आत्माकी नहीं ॥ ३८ ॥

विक्षेपोत्पत्तितः पूर्वमपि विक्षेपसंस्कृतिः ॥
अस्त्येव तदवस्थात्वमविरुद्धं ततस्तयोः ॥ ३९ ॥

कदाचित् कहो कि अवस्थावाले विक्षेपका विक्षेपसे पूर्व अभाव है इससे उसकी अवस्था कहना ठीक नहीं इस शंकाका उत्तर कहते हैं कि विक्षेपकी उत्पत्तिसे पूर्व भी विक्षेपका संस्कार है इससे अज्ञान और आवरणको उसकी अवस्था कहना विरुद्ध नहीं ॥ ३९ ॥

ब्रह्मण्यारोपितत्वेन ब्रह्मावस्थे इमे इति ॥
न शङ्कनीयं सर्वासां ब्रह्मण्येवाधिरोपणात् ॥ ४० ॥

कदाचित् कहो कि जैसे अप्रसिद्ध संस्कारको मान कर विक्षेपकी अवस्थ मानते हो ऐसे ही अधिष्ठानरूपसे प्रसिद्ध ब्रह्मकी अवस्था क्यों नहीं मानते सो ठीक नहीं क्योंकि ब्रह्ममें आरोपित होनेसे ये दोनों ब्रह्मकी अवस्था हैं यह शंका नहीं करनी क्योंकि सब अवस्थाओंका ब्रह्मके विषै ही आरोप है इससे संपूर्ण ब्रह्मकी अवस्था हो जायँगी ॥ ४० ॥

संसार्यहं विबुद्धोऽहं निःशोकस्तुष्ट इत्यपि ॥
जीवगा उत्तरावस्था भाति न ब्रह्मगा यदि ॥ ४१ ॥

कदाचित् कहो कि अविशेषरूपसे सबका यद्यपि ब्रह्ममें आरोप है तथापि विक्षेपसे उत्तर होनेवाली संसारी आदि जो अवस्था हैं वे जीवकी भी अवस्था प्रतीति होती हैं ब्रह्मकी नहीं यह शङ्का करते हैं-मैं कर्तृत्व आदि धर्मवाला संसारी हूं तत्त्वका साक्षात्कर्ता विबुद्ध हूं-शोकसे रहित हूं और कृतकृत्यता आदिसे उत्पन्न हुए संतोषवाला तुष्ट हूं ये उत्तर अवस्था जीवमें प्रतीत होती हैं ब्रह्ममें नहीं ॥ ४१ ॥

तर्ह्यज्ञोऽहं ब्रह्मसत्त्वभाने मद्दृष्टितो नहि ॥
इति पूर्वे अवस्थे च भासते जीवगे खलु ॥ ४२ ॥

ऐसा कहो तो अज्ञान और आवरण भी जीवमें ही प्रतीत होते हैं-इससे जीवकी ही अवस्था हैं इस आशयसे पूर्वोक्त शंकाका परिहार करते हैं कि तर्हि- ब्रह्मकी सत्ताके भानमें मेरी दृष्टिसे अर्थात् अनुभवसे मैं अज्ञ हूं यह नहीं बन सकता इससे पहली दोनो अवस्था निश्चयसे जीवमें भासती हैं ॥ ४२ ॥

अज्ञानस्याश्रयो ब्रह्मेत्यधिष्ठानतया जगुः ॥
जीवावस्थात्वमज्ञानाभिमानित्वादवादिषम् ॥ ४३ ॥

कदाचित् कहो कि पूर्व आचार्योंने अज्ञानका आश्रय ब्रह्म कैसे कहा ? यह आशंका करके उसकी विवक्षाको दिखाते हैं कि पहले आचार्योंने ब्रह्मके ज्ञानको अधिष्ठानरूपसे कहा और हम अज्ञानको जीवकी अवस्था अज्ञानका अभिमानी होनेसे कहते हैं ॥ ४३ ॥

ज्ञानद्वयेन नष्टेऽस्मिन्नज्ञाने तत्कृतावृतिः ॥
न भाति नास्ति चेत्येषा द्विविधाऽपि विनश्यति ॥ ४४ ॥

इस प्रकार बंधकी हेतु तीन अवस्थाओंको दिखाकर शेष अवस्थाओंके मध्यमें पूर्वोक्त अज्ञान और आवरणकी निवृत्तिके द्वारा मुक्तिकी हेतु दो अवस्थाओंको दिखाते हैं कि परोक्ष अपरोक्षरूप दोनों ज्ञानोंसे जब अज्ञानका कारण नष्ट हो गया तब अज्ञानसे पैदा हुआ कूटस्थ न भासता है और न है इन दो प्रकारका भी आवरण नष्ट हो जाता है क्योंकि उसका कारण अज्ञान रहा ॥ ४४ ॥

परोक्षज्ञानतो नश्येदसत्त्वावृतिहेतुता ॥
अपरोक्षज्ञाननाश्या ह्यभानावृतिहेतुता ॥ ४५ ॥

अब जितने अंशकी जिससे निवृत्ति होती है उसको पृथक् २ दिखाते हैं कि 'कूटस्थ है' इस परोक्षज्ञानसे तो अज्ञानकी असत्त्वावरणकी कारणता नष्ट होती है अर्थात् सत्ता प्रतीत हो जाती है और 'मैं कूटस्थ हूं' इस अपरोक्षज्ञानसे कूटस्थ नहीं भासता इस अभानरूप आवरणकी कारणताकी निवृत्ति होती है अर्थात् कूटस्थका भान हो जाता है ॥ ४५ ॥

अभानावरण नष्टे जीवत्वारोपसंक्षयात् ॥
कर्तृत्वाद्यखिलः शोकः संसाराख्यो निवर्तते ॥ ४६ ॥

अब ज्ञानकी फलरूप दोनों अवस्थाओंके विषे प्रथम अवस्थाको कहते हैं अभानरूप आवरणकी निवृत्ति होनेपर भ्रांतिसे प्रतीयमान जो जीवभाव उसकी

भी निवृत्ति हो जाती है इससे जीवभाव है निमित्त जिसमें ऐसा कर्ता भोक्ता आदि संसाररूप संपूर्ण शोक निवृत्त हो जाता है ॥ ४६ ॥

निवृत्ते सर्वसंसारे नित्यमुक्तात्वभासनात् ॥
निरंकुशा भवेत्तृप्तिः पुनः शोकासमुद्भवात् ॥ ४७ ॥

इस प्रकार शोकापगमरूप अवस्थाको दिखाकर निरंकुश तृप्तिरूप दूसरी अवस्थाको दिखाते हैं कि संपूर्ण संसारकी निवृत्ति होनेपर नित्यमुक्त स्वभावके भासनेसे निरंकुश तृप्ति होती है क्योंकि फिर कदाचित् भी शोककी उत्पत्ति नहीं होती ॥ ४७ ॥

अपरोक्षज्ञानशोकनिवृत्यख्य उभे इमे ॥
अवस्थ जीवगे ब्रूत आत्मान चेदिति श्रुतिः ॥ ४८ ॥

कदाचित् कहो कि यदि आत्माको मनुष्य जाने-इस मंत्रके व्याख्यानमें प्रवृत्त होकर फिर उसको छोडकर मध्यमें अज्ञान आदि सात अवस्थाओंका वर्णन प्रकरणविरुद्ध है यह शंका करके पूर्वोक्त श्रुतिके तात्पर्यका जो निरूपण उसके शेषरूपसे अवस्थाओंका वर्णन किया है इससे प्रकरण विरुद्ध नहीं इस अभिप्रायसे पूर्वोक्त श्रुतिके तात्पर्य (अभिप्राय) को कहते हैं कि अपरोक्षज्ञान और शोक निवृत्तिरूप जो अवस्था पूर्वोक्त चिदाभासकी सातों अवस्थाके मध्यमें हैं उनमें ये दोनों जीवकी अवस्था हैं यह बात कहनेके लिये 'आत्मानं चेद्विजानीयात् ' (यादि आत्माको जाने) यह मंत्र प्रवृत्त हुआ है अर्थात् आत्मज्ञानोपयोगी होनेसे पूर्वोक्त अवस्थाओंका वर्णन प्रकरणविरुद्ध नहीं। भावार्थ यह है कि अपरोक्षज्ञान, शोकनिवृत्ति ये दो अवस्था जीवकी हैं यह बात 'आत्मानं चेत्' यह श्रुति कहती है ४८

अयमित्यपरोक्षत्वमुक्तं तत्द्विविधं भवेत् ॥
विषयस्वप्रकाशत्वाद्धियाऽप्येवं तदीक्षणात् ॥ ४९ ॥

अयम् (यह आत्मा मैं हूं) इस पदसे आत्माको अपरोक्ष कहा-इससे अपरोक्षज्ञानका विषय आत्मा होगा परोक्षका नहीं सो ठीक नहीं क्योंकि अयम् इस पदसे जो अपरोक्षज्ञान कहा वह दो प्रकारका होता है एक तो चिद्रूप जो आत्मारूप विषय उसको स्वप्रकाश होनेसे अर्थात् अपने व्यवहारमें दूसरे साधनकी निरपेक्षतासे और दूसरा-बुद्धिके द्वारा स्वप्रकाशस्वरूप आत्माके देखनेसे होता है ॥ ४९ ॥

परोक्षज्ञानकालेऽपि विषयस्वप्रकाशता ॥
समा ब्रह्म स्वप्रकाशमस्तीत्येवं विबोधनात् ॥ ५० ॥

कदाचित् कहो कि अपरोक्ष ज्ञान दो प्रकारका रहो तो भी परोक्ष ज्ञानके विषय होनेमें क्या आया ? इसका उत्तर लिखते हैं कि परोक्ष ज्ञानके कालमें भी विषयकी स्वप्रकाशता बनी रहती है अर्थात् परोक्षज्ञान विषयताका विरोधी, स्वप्रकाशत्व नहीं होता क्योंकि अपरोक्ष ज्ञानके समान परोक्ष ज्ञानमें भी ब्रह्म स्वप्रकाश है यह ज्ञान होता है ॥ ५० ॥

अहं ब्रह्मेत्यनुल्लिख्य ब्रह्मास्तीत्येवमुल्लिखेत् ॥
परोक्षज्ञानमेतन्न भ्रांतं बाधानिरूपणात ॥ ५१ ॥

कदाचित् कहो कि प्रत्यक्से अभिन्न जो ब्रह्म वह है विषय जिसका ऐसा ज्ञान परोक्ष कैसा होगा यह शंका करके प्रत्यक् अंशके अग्रहणसे परोक्षत्वका वर्णन करते हैं कि जिसमें अहं ब्रह्म (मैं ब्रह्म हूं) यह उल्लेख न हो और ब्रह्म है यह उल्लेख हो वह परोक्षज्ञान होता है. कदाचित् कहो कि यह भ्रम है यह शंका करके क्या यह भ्रान्त बाद होनेसे है वा व्यक्तिके अनुल्लेखसे है अथवा अपरोक्ष रूपसे जानने योग्यको परोक्ष जाननेसे अथवा किसी अंशके अज्ञानसे इन चार विकल्पोंसे प्रथमके प्रति कहते हैं कि यह भ्रान्त तो नहीं अर्थात् ब्रह्म है यह ज्ञान भ्रमरूप नहीं क्योंकि ब्रह्मका त्रिकालमें भी बाध निरूपण नहीं कर सकते ॥ ५१ ॥

ब्रह्म नास्तीति मानं चेत् स्याद्बाध्येत तदा ध्रुवम् ॥
न चैवं प्रबलं मानं पश्यामोऽतो न बाध्यते ॥ ५२ ॥

इसमें हेतुको कहते हैं कि यदि ब्रह्म नहीं है यह प्रमाण हो तो ब्रह्म है इसका निश्चयसे बाध हो और ऐसा प्रबल प्रमाण हम नहीं देखते इससे ब्रह्म है इस ज्ञानका बाध नहीं होता ॥ ५२ ॥

व्यक्त्यनुल्लेखमात्रेण भ्रमत्वे स्वर्गधीरपि ॥
भ्रांतिः स्याद्व्यक्त्यनुल्लेखात्सामान्योल्लेखदर्शनात् ॥ ५३ ॥

अब दूसरे पक्षमें दोष देते हैं कि व्यक्तिके अनुल्लेख मात्रसे भ्रांति मानोगे तो स्वर्गबुद्धि भी भ्रम हो जायगी क्योंकि वहां भी यह स्वर्ग है ऐसा ज्ञान नहीं होता किंतु स्वर्ग है यह सामान्याकार बुद्धि ही होती है इससे व्यक्तिके नाम न लेनेसे भी भ्रम नहीं कह सकते ॥ ५३ ॥

अपरोक्षत्वयोगस्य न परोक्षमतिर्भ्रमः ॥
परोक्षमित्यनुल्लेखादर्थात्पारोक्ष्यसंभवात् ॥ ५४ ॥

अब तीसरे पक्षका निराकरण करते हैं कि अपरोक्ष रूपसे ग्रहणके योग्य प्रत्यग-भिन्न ब्रह्म वह है विषय जिसका ऐसा परोक्षज्ञान भ्रम नहीं हो सकता क्योंकि ब्रह्म परोक्ष है इस आकारसे ज्ञानका अभाव है परंतु-अर्थात् उसकी परोक्षता प्रतीत होती है कि यह ब्रह्म है इस प्रकार व्यक्तिका उल्लेख नहीं उतनेसे ही ब्रह्ममें परोक्ष-त्वकी सिद्धि है ॥ ५४ ॥

अंशागृहीतेर्भ्रांतिश्चेद् घटज्ञानं भ्रमो भवेत् ॥
निरंशस्यापि सांशत्वं व्यावर्त्यांशविभेदतः ॥ ५५ ॥

चौथे पक्षमें आशंका करते हैं कि यदि अंशके अग्रहणमें भी भ्रांति हो तो अर्थात् ब्रह्म अंशके ग्रहणमें प्रत्यक् अंशके अग्रहणसे भ्रम मानोगे तो घटका ज्ञान भी ऐसे ही भ्रम हो जायगा क्योंकि बहुतसे मध्यके अवयवोंका अग्रहण है. कदाचित् कहो कि घट सावयव पदार्थ है उसके एक अंशके अग्रहणमें अन्य अंशका ग्रहण होनेपर भ्रमका संभव है. ब्रह्म तो निरवयव पदार्थ है उसके अंशका ग्रहण कैसे हो सकता है सो ठीक नहीं किन्तु निरवयव भी सावयव हो सकता है अर्थात् व्यावर्त्य (निषेधके योग्य) अंशों(उपाधि)के द्वारा सावयव हो सकता है क्योंकि निषेधके योग्य अंशोंके निषेध होनेसे ब्रह्म ही शेष रहता है। भावार्थ यह है कि अंशके अज्ञानमें भ्रम मानोगे तो घटज्ञान भ्रम हो जायगा और निरवयव भी निषेधके योग्य उपाधिक भेदनसे सावयव होता है ॥ ५५ ॥

असत्त्वांशो निवर्तेत परोक्षज्ञानतस्तथा ॥
अभानांशनिवृत्तिः स्यादपरोक्षधिया कृता ॥ ५६ ॥

अब व्यावर्त्य अंशोंको दिखाते हैं कि जैसे परोक्षज्ञानसे असत्ता रूप अंशकी निवृत्ति होती है ऐसे ही अपरोक्ष ज्ञानसे अभान अंशकी निवृत्ति की जाती है ॥ ५६ ॥

दशमोऽस्तीति विभ्रांतं परोक्षज्ञानमीक्ष्यते ॥
ब्रह्मास्तीत्यपि तद्वत्स्यादज्ञानावरणं समम् ॥ ५७ ॥

अपरोक्षतासे ग्रहणके योग्य है विषय जिसका ऐसा परोक्षज्ञान भ्रम नहीं होता इस बातको दृष्टांत दिखाकर दृढ करते हैं कि 'दशवां है' इस आप्तके वाक्यसे

पैदा हुआ परोक्ष ज्ञान जैसे भ्रम नहीं होता इसी प्रकार 'ब्रह्म है' इस वाक्यसे पैदा हुआ ज्ञान भी भ्रम न होगा क्यों कि अज्ञानसे किया असत्त्व अंशका आवरण दोनों स्थानोंमें सम है ॥ ५७ ॥

आत्मा ब्रह्मेति वाक्यार्थे निःशेषेण विचारिते ॥
व्यक्तिरुल्लिख्यते यद्वद्दशमस्त्वमसीत्यतः ॥ ५८ ॥

कदाचित् कहो कि वाक्यसे परोक्षज्ञान होता है तो अपरोक्ष ज्ञान किससे होता है इस शंकाके विचार सहित वाक्यसे अपरोक्षज्ञानकी उत्पत्तिको कहते हैं कि यह आत्मा ब्रह्म है इस महावाक्यके संपूर्ण अर्थका भले प्रकार विचार करनेपर प्रथम ब्रह्म है इस परोक्षरूपसे जाना जो ब्रह्म है वही प्रत्यक्से अभिन्न (एक) जाना जाता है—उसमें दृष्टांत कहते हैं कि जैसे दशवां तू है इस वाक्यसे अपनी आत्मामें दशवेंका ज्ञान होता है ॥ ५८ ॥

दशमः क इति प्रश्ने त्वमेवेति निराकृते ॥
गणयित्वा स्वेन सह स्वमेव दशमं स्मरेत् ॥ ५९ ॥

अब विचार है सहकारी जिसका ऐसे वाक्यसे अपरोक्षज्ञानकी उत्पत्तिका प्रकार दृष्टांत सहित वर्णन करते हैं कि तुममें दशवां है इस वाक्यसे निरूपण किया दशवां कौनसा है यह प्रश्न करनेपर—तूही दशवां है इस प्रकार जब प्रश्नका उत्तर दे दिया तब अपने आत्मा सहित इतर नव पुरुषोंको गिनकर मैंही दशवां हूं इस प्रकार अपने आत्मारूप दशवेंको जानता है ॥ ५९ ॥

दशमोऽस्मीति वाक्योत्था न धीरस्य विहन्यते ॥
आदिमध्यावसानेषु न नवस्वस्य संशयः ॥ ६० ॥

मैं दशवां हूं—इस ज्ञानको विचार सहित वाक्यसे जनित उत्पन्न होनेसे विपर्ययके अभावका वर्णन करते हैं कि इस दशमें मनुष्यको तूही दशवां है गिनतीरूप विचारसहित इस वाक्यसे पैदा हुई जो मैं दशवां हूं यह बुद्धि वह किसी ज्ञानसे भी नहीं बाधी जाती और गिनती करनेमें नौ मनुष्योंके आदि मध्य अन्तमें गिननेपर भी मैं दशवां हूं वा नहीं हूं यह संशय इसको नहीं होता इससे वह अपरोक्षरूपी बुद्धि दृढ है ॥ ६० ॥

सदेवेत्यादिवाक्येन ब्रह्मसत्त्वं परोक्षतः ॥
गृहीत्वा तत्त्वमस्यादिवाक्याद्व्यक्तिं समुल्लिखेत् ॥ ६१ ॥

इस पूर्वोक्त सबको दार्ष्टांतिकमें दिखाते हैं-'सदेव सोम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम्'-हे सौम्य! यह जगत् सृष्टिसे पूर्व सत्रूप हुआ और एक अद्वितीय ब्रह्म हुआ इत्यादि वाक्यसे प्रथम ब्रह्मके सद्भावको निश्चय करके फिर उसके जीवरूपसे प्रवेश आदि युक्तिके पर्यालोचन देखनेसे 'प्रत्यगूपकी संभावना करके तत्त्वमसि' आदि महावाक्योंसे व्यक्तिका समुल्लेख करे अर्थात् अद्वितीय ब्रह्म आत्माको 'मैं ब्रह्म हूं' ऐसे साक्षात् जाने भावार्थ यह कि 'सदेव' इत्यादि वाक्यके द्वारा परोक्षरूपसे ब्रह्मकी सत्ताको जानकर 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य से मैं ब्रह्म हूं इस प्रकार व्यक्तिका उल्लेख करे ॥ ६१ ॥

आदिमध्यावसानेषु स्वस्य ब्रह्मत्वधीरियम् ॥
नैव व्यभिचरेत्तस्मादापरोक्ष्यं प्रतिष्ठितम् ॥ ६२ ॥

यह आत्माकी ब्रह्मबुद्धि पूर्वोक्त पांच कोशोंके आदि मध्य अवसानके विषे व्यवहार होनेपर भी व्यभिचारको प्राप्त नहीं होती अर्थात् अन्यथा नहीं होती इससे इस बुद्धिकी अपरोक्षता भले प्रकार स्थित है ॥ ६२ ॥

जन्मादिकारणत्वाख्यलक्षणेन भृगुः पुरा ॥
पारोक्ष्येण गृहीत्वाऽथ विचाराद्व्यक्तमैक्षत ॥ ६३ ॥

प्रथम वाक्यसे परोक्षज्ञान उत्पन्न होता है और पश्चात् विचारसहित वाक्यसे अपरोक्षज्ञान होता है इसको तैत्तिरीय आदि श्रुतिसें दिखाते हैं कि भृगु नामका कोई ऋषि 'यतो वा इमानि' (जिससे ये भूत पैदा होते हैं और पैदा होकर जिससे जाते हैं और जिसमें प्रलय होकर प्रवेश करते हैं हे भृगो ! तू उसको ब्रह्म जान) इस वाक्यसे सुने जगत्के कारण आदिलक्षणसे जगत्के कारण ब्रह्मको परोक्षरूपसे जानकर फिर विचारसे व्यक्तिको देखता हुआ अर्थात् अन्नमय आदि पांच कोशोंके विचारसे प्रत्यगात्मरूप ब्रह्मको जानता हुआ भावार्थ यह है कि पहिले समयमें भृगुऋषि जन्म आदिके कारणरूप लक्षणसे परोक्षज्ञानसे ब्रह्मको जानकर विचारसे ब्रह्मको देखता हुआ ॥ ६३ ॥

यद्यपि त्वमसीत्यत्र वाक्यं नोच भृगोः पिता ॥
तथाप्यन्नं प्राणमिति विचार्यं स्थलमुक्तवान् ॥ ६४ ॥

कदाचित् कहो कि इस प्रकरणमें तू 'ब्रह्म है' इत्यादि उपदेश वाक्य नहीं है इससे भृगुको कैसे ब्रह्म साक्षात्कार हुआ। सो ठीक नहीं क्योंकि यद्यपि पिताने तू 'ब्रह्म है' यह वाक्य नहीं कहा तथापि अन्न प्राण आदि आत्मसाक्षात्कारके हेतु विचारके योग्य स्थल पिताने कह दिये थे ॥ ६४ ॥

अन्नप्राणादिकोशेषु सुविचार्य पुनः पुनः ॥
आनंदव्यक्तिमीक्षित्वा ब्रह्मलक्ष्माप्ययूयुजत् ॥ ६५ ॥

कदाचित् कहो कि अन्नमय आदि कोशोंके विचार करनेपर प्रत्यक् (जीव) का साक्षात्कार रहो ब्रह्मका साक्षात्कार कैसा हुआ ? सो ठीक नहीं क्योंकि, प्रत्यग् भी ब्रह्म है पंचकोशोंके विचारसे आनंदरूप आत्मव्यक्तिको जानकर आनंदसे ही ये भूत पैदा होते हैं और पैदा होकर आनंदसे जीते हैं और आनंदमें ही प्रलय होकर प्रवेश करते हैं इस प्रकारके जो ब्रह्मके लक्षण उनको प्रत्यक्में भी भृगु युक्त करता हुआ भावार्थ यह है कि अन्न प्राण आदि कोशोंमें भले प्रकार बारंबार विचार कर आनंदव्यक्तिको जानकर उसमें ब्रह्मके लक्षणोंको जानता हुआ ॥ ६५ ॥

सत्यंज्ञानमनंतं चेत्येवंब्रह्मस्वलक्षणम् ॥
उक्त्वा गुहाहितत्वेन कोशेष्वेतत्प्रदर्शितम् ॥ ६६ ॥

कदाचित् कहो कि आनंदात्मरूप ब्रह्मका लक्षण प्रत्यक्में न मिल सकेगा क्योंकि तटस्थ ब्रह्म प्रत्यक् भिन्न है सो ठीक नहीं क्योंकि सत्य ज्ञान अनंतरूप जो ब्रह्मस्वरूपके लक्षण हैं उनका वर्णन करके जो परम आकाशरूप गुहामें स्थित ब्रह्मको जानता है इस वाक्यसे पंचकोशरूप गुहाके मध्यमें स्थित उस ब्रह्मको ही प्रत्यक्रूप कहा है भावार्थ यह है कि सत्य ज्ञान अनंतरूप ब्रह्मके लक्षणोंको कह कर पंचकोशरूप गुहाओंमें स्थित प्रत्यक्को ही ब्रह्मरूप दिखाया है ॥ ६६ ॥

पारोक्ष्येण विबुध्येंद्रो य आत्मेत्यादिलक्षणात् ॥
अपरोक्षीकर्तुमिच्छंश्चतुर्वारं गुरुं ययौ ॥ ६७ ॥

इस प्रकार तैत्तिरीय श्रुतिके देखनेसे भृगुको परोक्षज्ञानके द्वारा विचारसे साक्षात्कारको दिखाकर छांदोग्यकी श्रुतिसे भी साक्षात्कारको दिखाते हैं कि इंद्रभी 'जो आत्मा पापरहित जरा मृत्यु शोक इनसे हीन है' इत्यादि वाक्यसे आत्माको परोक्षरूपसे जानकर विचारसे तीनों शरीरोंके निराकरणद्वारा ब्रह्मको साक्षात् करनेके लिये चार बार ब्रह्मारूप गुरुके समीप गया, यह छांदोग्य उपनिषद्के आठवें अध्यायमें श्रुति है भावार्थ यह है कि इंद्र आत्मा इत्यादि लक्षणोंसे परोक्षरूपसे ब्रह्मको जानकर अपरोक्ष करनेके लिये चार बार ब्रह्माके समीप गये॥ ६७॥

आत्मा वा इदमित्यादौ परोक्षं ब्रह्म लक्षितम् ॥
अध्यारोपापवादाभ्यां प्रज्ञानं ब्रह्म दर्शितम् ॥ ६८ ॥

अब ऐतरेय श्रुतिसे भी यही दिखाते हैं कि आत्मारूप ही यह जगत् सृष्टिसे पहिले हुआ अन्य कुछ भी न हुआ इस वाक्यसे ब्रह्मके लक्षणको कहकर वह देखता हुआ कि मैं लोकोंको रचूं इसको प्रारंभ करके उसके तीन आवसथ हैं अर्थात् तीन स्वप्न हैं (यह आवसथ हैं ३) इस वाक्यसे परमात्मामें जगत्के अध्यारोपप्रकारको कहकर वह उत्पन्न होकर भूतोंको देखता हुआ यह अन्य किसको कहा इस वाक्यसे आरोप कियेके निषेधको कह कर वह इसी विस्तृत पुरुष ब्रह्मको देखता हुआ कि मैंने ब्रह्मको देखा इस प्रकार प्रत्यगात्माको ब्रह्मरूप कहा है फिर इस जगत्में पुरुष जीव इत्यादि ग्रंथसे ज्ञानसाधन वैराग्यकी उत्पत्तिके लिये गर्भवास आदि दुःखोंको दिखाकर कौन यह आत्मा है जिसकी हम उपासना करते हैं इत्यादि ग्रंथसे विचारके द्वारा तत् त्वं पदार्थके शोधनपूर्वक प्रज्ञान ब्रह्म है इस श्रुतिसे प्रज्ञानरूप आत्माको ब्रह्मरूपता दिखायी है भावार्थ यह है कि 'आत्मावै इदं०' इत्यादि श्रुतिमें परोक्ष ब्रह्म दिखाया फिर अध्यारोप और अपवादसे प्रज्ञानब्रह्म दिखाया है ॥ ६८ ॥

अवांतरेण वाक्येन परोक्षा ब्रह्मधीर्भवेत् ॥
सर्वत्रैव महावाक्यविचारादपरोक्षधीः ॥ ६९ ॥

अन्य श्रुतियोंमें भी इसी न्यायको दर्शाते हैं कि अवांतर (मध्यके) वाक्यसे तो परोक्षरूपसे ब्रह्मज्ञान होता है और महावाक्योंके विचारसे तो सर्वत्र ही अपरोक्षज्ञान होता है ॥ ६९ ॥

ब्रह्मापरोक्ष्यसिद्ध्यर्थं महावाक्यमितीरितम् ॥
वाक्यवृत्तावतो ब्रह्मापरोक्ष्ये विमतिर्नहि ॥ ७० ॥

कदाचित् कहो कि महावाक्यके विचारसे अपरोक्षज्ञान होता है यह अपने कपोलोंसे कल्पित है सिद्धांत नहीं सो ठीक नहीं क्योंकि वाक्यवृत्ति ग्रंथमें आचार्योंने यह कहा है कि ब्रह्मकी अपरोक्षता-सिद्धिके लिये जो वह महावाक्य कहा है इससे महावाक्योंसे पैदा हुए अपरोक्षज्ञानमें विवाद नहीं होता है अर्थात् वह सिद्धांत है ॥ ७० ॥

आलंबनतया भाति योऽस्मत्प्रत्ययशब्दयोः ॥
अंतःकरणसंभिन्नबोधः स त्वंपदाभिधः ॥ ७१ ॥

अब वाक्यवृत्तिके कथनका प्रकार वर्णन करते हैं कि जो अंतःकरण संभिन्न बोध अर्थात् अंतःकरणोपाधिक चिदात्मा 'अहम्' (मैं) इस शब्द और 'अहम्' इस ज्ञानको आलंबन (ले) करके भासता है वह बोध त्वंपदका वाच्य (अर्थ) है ॥ ७१ ॥

मायोपाधिर्जगद्योनिः सर्वज्ञत्वादिलक्षणः ॥
पारोक्ष्यशबलः सत्याद्यात्मकस्तत्पदाभिधः ॥ ७२ ॥

अब त्वत्पदके वाच्य अर्थको कहकर तत्पदके अर्थको कहते हैं कि परोक्षतासे शबल अर्थात् परोक्षत्व धर्म विशिष्ट और सत्य ज्ञानरूप आत्मा (रूप) है जिसका ऐसा और माया जिसकी उपाधि है और जो सर्वज्ञ है वह तत्पदका वाच्य (अर्थ) है ॥ ७२ ॥

प्रत्यक्परोक्षतैकस्य सद्वितीयत्वपूर्णता ॥
विरुध्येते यतस्तस्माल्लक्षणा सम्प्रवर्तते ॥ ७३ ॥

इस प्रकार पदोंके अर्थोंको कहकर वाक्यार्थबोधके लिये लक्षणावृत्तिके स्वीकारको दिखाते हैं कि जिससे एक ब्रह्ममें प्रत्यक् परोक्षता और द्वितीयसहित होनेसे पूर्णता ये दोनों विरुद्ध हैं इससे लक्षणावृत्ति प्रवृत्त होती है अर्थात् लक्षणा मानने योग्य है ॥ ७३ ॥

तत्त्वमस्यादिवाक्येषु लक्षणा भागलक्षणा ॥
सोऽयमित्यादिवाक्यस्थपदयोरिव नापरा ॥ ७४ ॥

अब लक्षणाका स्वरूप वर्णन करते हैं कि 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योंमें 'सोऽयं देवदत्तः' इत्यादि वाक्योंमें स्थित पदोंके समान लक्षण, भागलक्षणा अर्थात् जहत् अजहत् लक्षणा होती है और न जहत् लक्षणा और न अजहत् लक्षणा होती है. जिसमें पदोंका अर्थ कुछ छोड़कर और कुछ लेकर बोध हो वह जहत् अजहत् लक्षणा होती है पदके अर्थका त्याग है वह जहत् और जिसमें त्याग न हो वह अजहत् लक्षणा होती है ॥ ७४ ॥

संसर्गो वा विशिष्टो वा वाक्यार्थो नात्र संमतः ॥
अखंडैकरसत्वेन वाक्यार्थो विदुषां मतः ॥ ७५ ॥

कदाचित् कहो कि 'गाम् आनय' (गौको ले आ) इत्यादि वाक्योंमें लक्षणावृत्तिके विना भी जैसे वाक्यार्थबोधको देखते हैं तैसे ही यहां भी हो जायगा सो ठीक नहीं कि जगत्में 'गाम् आयन' इत्यादि पदोंसे स्मरण कराये जो आकांक्षा योग्यता आदिवाले गौ आदि पदार्थ हैं उनका अन्वय (संबंध) वाक्यार्थ माना है जैसे नील बडा सुगंधि कमल है इत्यादि वाक्योंमें नीलत्व विशिष्ट कमल ही वाक्यार्थ माना है इस प्रकारसे यहां महावाक्योंमें वाक्यार्थता नहीं होती अर्थात् संसर्ग संबंध वा विशिष्टको वाक्यार्थ नहीं मानते किंतु अखंडैकरसतासे अर्थात् स्वगत

आदि भेदोंसे शून्य वस्तुमात्रको ही बुद्धिमान् मनुष्यवाक्यका अर्थ मानते हैं इससे लक्षणाका आश्रय करना योग्य है भावार्थ यह है कि यहां संसर्ग वा विशिष्ट वाक्यार्थ संमत नहीं किंतु बुद्धिमानोंने अखंड एकरस ब्रह्मवाक्यका अर्थ माना है इससे लक्षणा माननी ॥ ७५ ॥

प्रत्यग्बोधो य आभाति सोऽद्वयानंदलक्षणः ॥
अद्वयानंदरूपश्च प्रत्यग्बोधैकलक्षणः ॥ ७६ ॥

अब अखंड एकरस वाक्यार्थको दिखाते हैं कि जो प्रत्यग्बोध अर्थात् सबके मध्यमें चिदात्मा भासता है बुद्धि आदिका साक्षी फुरता है वह अद्वयानंदलक्षण है अर्थात् अद्वितीय आनंदरूप परमात्मा है और जो अद्वयानंद रूप है वह प्रत्यक् बोधैकलक्षण है अर्थात् चित् एकरस प्रत्यक् आत्मा ही है तात्पर्य यह है कि अल्पज्ञत्व सर्वज्ञत्व आदि दोनोंके विरुद्ध अंशोंको छोड़कर भागलक्षणासे चित्रूप एक आत्माका ज्ञान होता है ॥ ७६ ॥

इत्थमन्योन्यतादात्म्यप्रतिपत्तिर्यदा भवेत् ॥
अब्रह्मत्वं त्वमर्थस्य व्यावर्तेत तदैव हि ॥ ७७ ॥

अब अखंडार्थ बोधके फलको दिखाते हैं कि इस प्रकार जब परस्पर तादात्म्यका ज्ञान होजाता है अर्थात् एकता हो जाती है उसी समय त्वंपदके अर्थकी अब्रह्मता (ब्रह्मभेद) निवृत्त हो जाती है अर्थात् ब्रह्म हो जाता है ॥ ७७ ॥

तदर्थस्य च पारोक्ष्यं यद्येवं किं ततः शृणु ॥
पूर्णानंदैकरूपेण प्रत्यग्बोधोऽवतिष्ठते ॥ ७८ ॥

त्वंपदके अर्थ प्रत्यक् आत्माको अब्रह्मत्व है और ब्रह्मरूपता भ्रम है और तत्पदके अर्थ ब्रह्मका पारोक्ष्य अर्थात् परोक्षज्ञानकाविषयता निवृत्त हो जाती है इससे क्या होगा इस आशयसे पूछते हैं कि यदि ततका अर्थ परोक्ष है तो इससे क्या होगा ? इसका उत्तर सुनो कि पूर्ण आनंद एकरूपसे प्रत्यक् बोधकी स्थिति हो जाती है ॥ ७८ ॥

एवं सति महावाक्यात्परोक्षज्ञानमीर्यते ॥
यैस्तेषां शास्त्रसिद्धांतविज्ञानं शोभतेतराम् ॥ ७९ ॥

कदाचित् कहो कि समय केवल सम्यक् (भले प्रकार) परोक्षानुभवका साधन शास्त्र है, यह आगमका लक्षण है इससे वाक्य अपरोक्ष ज्ञानका जनक कैसे होगा ? इस शंकाका उत्तर यह देते हैं कि यह सिद्धांत ज्ञानसे शून्य है कि जो

महावाक्यसे परोक्षज्ञानको कहते हैं उनका शास्त्रसिद्धांतका ज्ञान भले प्रकार शोभित है अर्थात् वे शास्त्रसिद्धांतको नहीं जानते हैं ॥ ७९ ॥

आस्तां शास्त्रस्य सिद्धांतो युक्त्या वाक्यात्परोक्षधीः ॥
स्वर्गादिवाक्यवन्नैवं दशमेव्यभिचारतः ॥ ८० ॥

कदाचित् कहो कि शास्त्रका सिद्धांत रहो वाक्यसे परोक्षज्ञान अनुमानसे हो जायगा सो भी ठीक नहीं कि शास्त्र सिद्धांत रहो युक्तिके द्वारा स्वर्ग आदिके समान वाक्यसे अर्थात् इस अनुमानसे कि विवादका आस्पद वाक्य, परोक्ष ज्ञानका जनक होने योग्य है वाक्य होनेसे स्वर्ग आदि वाक्यके समान-परोक्षज्ञान हो जायगा यह हेतु व्यभिचारी है इस अभिप्रायसे परिहार करते हैं कि ऐसा मत कहो कि दशवां तू है इस वाक्यमें अपरोक्ष ज्ञानकी जनकता देखते हैं इससे यह नहीं कह सकते कि जहां २ वाक्यत्व हो वहां २ परोक्ष ज्ञानकी जनकता हो भावार्थ यह है कि शास्त्रका सिद्धांत रहो अनुमानके द्वारा वाक्यसे स्वग आदिके समान परोक्षज्ञान हो जायगा ऐसा मत कहो क्योंकि 'दशवां तू है' यहां वाक्यसे अपरोक्षज्ञान देखते हैं इससे तुम्हारे अनुमानमें व्यभिचार है ॥ ८० ॥

स्वतोऽपरोक्षजीवस्य ब्रह्मत्वमभिवांछतः ॥
नश्येत्सिद्धापरोक्षत्वमिति युक्तिर्महत्यहो ॥ ८१ ॥

और त्वम्पदका अर्थ जीव-स्वयम् अपरोक्ष है ब्रह्मत्वकी इच्छा करते हुए उसका स्वतःसिद्ध अपरोक्षत्व भी नष्ट हो जायगा इससे यह तुम्हारी युक्ति आश्चर्यकी जनक महती (बडी) है अर्थात् अपरोक्षज्ञानके जनक महावाक्यको परोक्षज्ञानका जनक कहना असंगत है ॥ ८१ ॥

वृद्धिमिष्टवतो मूलमपि नष्टमितीदृशम् ॥
लौकिकं वचनं सार्थं संपन्नं त्वत्प्रसादतः ॥ ८२ ॥

कदाचित् कहो कि हम इसको ही इष्ट मानेंगे सो ठीक नहीं वृद्धिको चाहते हुए पुरुषका मूल भी नष्ट होगया यह लौकिक कथन तुम्हारी ही कृपासे सार्थक हुआ ॥ ८२ ॥

अंतःकरणसंभिन्नबोधो जीवोऽपरोक्षताम् ॥
अर्हत्युपाधिसद्भावान्न तु ब्रह्मानुपाधितः ॥ ८३ ॥

कदाचित् कहो कि अंतःकरणसंभिन्न बोध अर्थात् अन्तःकरणोपाधिके होनेसे जीव अपरोक्षताके योग्य है और निरुपाधिक ब्रह्म अपरोक्षताके योग्य नहीं ॥ ८३ ॥

नैवं ब्रह्मत्वबोधस्य सोपाधिविषयत्वतः ॥
यावद्विदेहकैवल्यमुपाधेरनिवारणात् ॥ ८४ ॥

ब्रह्म भी निरुपाधिक नहीं हो सकता इस आशयसे उक्त शंकाका परिहार करते हैं कि जीवको ब्रह्मरूपताका जो ज्ञान है वह सोपाधिक वस्तुविषयक है इससे उस ज्ञानका विषय जो ब्रह्म है वह भी सोपाधिक है क्योंकि ज्ञानकी सोपाधि विषयता ज्ञेयकी सोपाधिकताके विना नहीं घटती और विदेह कैवल्यसे प्रथम ब्रह्मकी उपाधिका निवारण नहीं हो सकता ॥ ८४ ॥

अंतःकरणसाहित्यराहित्याभ्यां विशिष्यते ॥
उपाधिर्जीवभावस्य ब्रह्मतायाश्च नान्यथा ॥ ८५ ॥

कदाचित् कहो कि जीव ब्रह्मकी विलक्षण दो उपाधि कहनी चाहिए इस शंकाके उत्तरमें लिखते हैं कि जीवभाव और ब्रह्मभावकी उपाधि अन्तःकरणका साहित्य और अंतःकरणका राहित्य ही है अर्थात् अन्तःकरणसे सहित जीव और अंतःकरणरहित ब्रह्म है अन्यथा नहीं ॥ ८५ ॥

यथाविधिरुपाधिः स्यात्प्रतिषेधस्तथा न किम् ॥
सुवर्णलोहभेदेन शृंखलात्वं न भिद्यते ॥ ८६ ॥

कदाचित् कहो कि भावरूप अंतःकरणका संबंध उपाधि रहो अभावरूप अंतःकरणराहित्यको उपाधि मानना अनुचित है सो भी ठीक नहीं क्योंकि कार्यकी अवधिपर्यंत टिकनेवाले भेदका जो हेतु उसको उपाधि कहते हैं यह उपाधिका लक्षण अन्तःकरणके साहित्य और राहित्य दोनोंमें है इससे दोनों ही उपाधि हैं इस अभिप्रायसे उक्त शंकाका परिहार करते हैं कि जिस प्रकार भावरूप अंतःकरणका संबंध उपाधि है वैसे ही अभावरूप अन्तःकरणका वियोग भी उपाधि क्यों न होगा अर्थात् अवश्य होगा। कदाचित् कहो कि भाव अभावरूप विलक्षणता तो दीखती है सो ठीक नहीं क्योंकि वह अकिंचित्कर है इससे स्वीकारके योग्य नहीं इस अभिप्रायसे दृष्टांत कहते हैं कि सुवर्ण और लोहके भेदसे शृंखलामें भेद नहीं होता अर्थात् पुरुषके गमनकी विरोधकता दोनोंमें तुल्य है ॥ ८६ ॥

अतद्व्यावृत्तिरूपेण साक्षाद्विधिमुखेन च ॥
वेदांतानां प्रवृत्तिः स्याद्द्विधेत्याचार्यभाषितम् ॥ ८७ ॥

विधिके समान निषेध भी ब्रह्मबोधका उपाय है इससे निषेध ब्रह्मकी उपाधि है यह दृढ करनेके लिए विधि निषेध दोनोंको जो ब्रह्मबोधका उपाय

आचार्योंने कहा है उसको दिखाते हैं कि तत् शब्दसे ब्रह्म और अतत् शब्दसे अज्ञान आदि लेते हैं 'नेति नेति' इत्यादि श्रुतियोंसे जो अततकी व्यावृत्ति अर्थात् प्रपंचके निरसन (त्याग) रूप उपायसे और साक्षात् विधिमुखसे अर्थात् सत्यरूप ब्रह्म है इससे वेदान्तोंकी प्रवृत्ति दो प्रकारसे है अर्थात् विधि और निषेध मुखसे ब्रह्मका प्रतिपादन करते हैं यह आचार्योंका कथन है भावार्थ यह है कि ब्रह्मभिन्नके निषेध-मुखसे और सत्य ज्ञान अनंतरूप ब्रह्म है इत्यादि विधिमुखसे दो प्रकारसे वेदांतों (उपनिषदों) की प्रवृत्ति ब्रह्ममें आचार्योंने कही है ॥ ८७ ॥

अहमर्थपरित्यागादहं ब्रह्मेति धीः कुतः ॥
नैवमंशस्य हि त्यागो भागलक्षणयोदितः ॥ ८८ ॥

कदाचित् कहो कि अतत्के निषेध रूपसे वेदांतोंको ब्रह्मका बोधक मानोगे तो अहं शब्दके अर्थ कूटस्थका भी त्याग होजायगा तो अहम् (मैं) ब्रह्म हूं यह बुद्धि अर्थात् 'अहं ब्रह्मास्मि'(मैं ब्रह्म हूं) यह दोनोंकी समानाधिकरणता (एकअर्थ न होगी इस शंकाको करके उत्तर देते हैं कि ऐसा मत कहो क्योंकि भागलक्षणासे अहं शब्दका अंश (एकदेश) जो जडरूप अंश उसका त्याग कहा है कूटस्थका नहीं इससे मैं ब्रह्म हूं यह ज्ञान हो सकता है भावार्थ यह है कि अहंशब्दके भी अर्थके निषेधसे 'अहं ब्रह्मास्मि' यह ज्ञान कैसे होगा ऐसा मत कहो क्योंकि भागलक्षणासे जड अंशका त्याग कहा है ॥ ८८ ॥

अतःकरणसंत्यागादवशिष्टे चिदात्मनि ॥
यहं ब्रह्मेति वाक्येन ब्रह्मत्वं साक्षिणीक्ष्यते ॥ ८९ ॥

अब अंशके त्यागसे बोधके प्रकारको दिखाते हैं कि अंतःकरणरूप उपाधिके त्याग होनेपर जब चिदात्मा शेष रह गया तब अहं, ब्रह्म, अस्मि, इस वाक्यसे मुमुक्षु पुरुष साक्षीके विषे ब्रह्मत्वको देखता है ॥ ८९ ॥

स्वप्रकाशोऽपि साक्ष्येव धीवृत्त्या व्याप्यतेऽन्यवत् ॥
फलव्याप्तत्वमेवास्य शास्त्रकृद्भिर्निवारितम् ॥ ९० ॥

कदाचित् कहो कि प्रत्यग् आत्माको स्वप्रकाश होनेसे बुद्धिवृत्तिकी विषयता न घटेगी अर्थात् बुद्धिका विषय न होगा इस शंकाके उत्तरको कहते हैं कि स्वप्रकाश भी साक्षी ही घट आदिके समान धी (बुद्धि) की वृत्तिसे व्याप्त होता है क्योंकि मैं स्वप्रकाश हूं ऐसी बुद्धिकी वृत्ति हो सकती है कदाचित् कहो कि सिद्धांतका भंग होगा सो भी ठीक नहीं क्योंकि शास्त्रकार पहले आचार्योंने फल जो वृत्तिमें

प्रतिबिंबित चिदाभास उसकी ही इस प्रत्यगात्माको व्याप्यताका निराकरण (निषेध) किया है. क्योंकि यह स्वयं स्फुरण (प्रकाश) रूप है, वृत्तिकी व्याप्यताका निषेध नहीं किया भावार्थ यह है कि स्वप्रकाश भी साक्षी घट आदिके समान बुद्धिकी वृत्तिसे व्याप्त होता है क्योंकि शास्त्रकारोंने इस प्रत्यगात्माको फलव्याप्यताका निषेध किया है बुद्धिकी व्याप्यताका नहीं ॥ ९० ॥

बुद्धितत्स्थचिदाभासौ द्वावपि व्याप्नुतो घटम् ॥
तत्राज्ञानं धिया नश्येदाभासेन घटः स्फुरेत् ॥ ९१ ॥

आत्माको फलव्याप्तिका अभाव दिखानेके लिये आत्मासे भिन्नको वृत्ति और फलकी व्याप्यताको दिखाते हैं कि बुद्धि और बुद्धिमें स्थित चिदाभास ये दोनों घटमें व्याप्त होते हैं अर्थात् पहुँचते हैं उन दोनोंके मध्यमें बुद्धिकी वृत्तिसे तो अज्ञानका नाश होता है और चिदाभाससे घटका स्फुरण होता है क्योंकि जडरूप घटका स्वतः स्फुरण नहीं हो सकता है ॥ ९१ ॥

ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिरपेक्षिता ॥
स्वयं स्फुरणरूपत्वान्नाभास उपयुज्यते ॥ ९२ ॥

अब आत्मामें घट आदिकी अपेक्षा विलक्षणताको दिखाते हैं कि प्रत्यक् और ब्रह्मकी एकता अज्ञानसे आवृत (छिपी) है उस अज्ञानकी निवृत्तिके लिये महावाक्योंसे पैदा हुई जो मैं ब्रह्म हूं, यह बुद्धिकी वृत्ति उससे उसकी व्याप्ति ब्रह्ममें अपेक्षित है और ब्रह्मको स्वयं स्फुरणरूप होनेसे चिदाभासका उपयोग ब्रह्ममें नहीं है ॥ ९२ ॥

चक्षुर्दीपावपेक्ष्येते घटादेर्दर्शने यथा ॥
न दीपदर्शने किंतु चक्षुरेकमपेक्ष्यते ॥ ९३ ॥

पूर्वोक्त अर्थको दृष्टांत दिखाकर स्पष्ट करते हैं कि जैसे घटके देखनेमें चक्षु और दीपक दोनोंकी अपेक्षा है और दीपकके देखनेमें दोनोंकी अपेक्षा नहीं है किंतु एक चक्षुकी ही अपेक्षा है वैसे ही अज्ञानकी निवृत्तिके लिये ब्रह्ममें बुद्धिवृत्तिकी अपेक्षा है चिदाभासकी नहीं ॥ ९३ ॥

स्थितोऽप्यसौ चिदाभासो ब्रह्मण्येकी भवेत्परम् ॥
न तु ब्रह्मण्यतिशय फलं कुर्याद्घटादिवत् ॥ ९४ ॥

बुद्धि और उसकी वृत्ति चिदाभाससे विशिष्ट हैं इससे घट आदिके समान ब्रह्ममें भी बलसे फलव्याप्ति हो जायगी इस शंकाका उत्तर कहते हैं कि यद्यपि

घट आदि आकारकी वृत्तिके समान ब्रह्मविषयक वृत्तिमें भी चिदाभास है तथापि यह चिदाभास ब्रह्मसे पृथक् नहीं भासता किंतु प्रचंड धूपमें वर्तमान दीपककी प्रभाके समान एकरूपताको प्राप्त हो जाता है इससे घट आदिके समान स्फुरणरूप अधिक फलको ब्रह्ममें नहीं करता है ॥ ९४ ॥

अप्रमेयमनादिं चेत्यत्र श्रुत्येदमीरितम् ॥
मनसैवेदमाप्तव्यमिति धीव्याप्यता श्रुता ॥ ९५ ॥

अब ब्रह्ममें वृत्तिव्याप्ति है फलव्याप्ति नहीं इसमें वेदको प्रमाण देते हैं कि जो निर्विकल्प अनंत हेतु दृष्टांतसे वर्जित अप्रमेय अनादि है उसको जानकर मुक्त होता है इस अमृतबिंदु उपनिषद्के मंत्रमें अप्रमेय शब्दसे फलव्याप्तिसे रहित कहा है और मनसे ही यह ब्रह्म प्राप्त होने योग्य है इस जगत्में किंचित् भी नाना नहीं है इन मंत्रोंसे कठवल्लीमें बुद्धिव्याप्यता (वृत्तिव्याप्यता) श्रुतिमें कही है इससे ब्रह्म फलव्याप्य नहीं है किंतु बुद्धिव्याप्य है ॥ ९५ ॥

आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति वाक्यतः ॥
ब्रह्मात्मव्यक्तिमुल्लिख्य यो बोधः सोऽभिधीयते ॥ ९६ ॥

'आत्मानं चेद्विजानीयात्०' इस मंत्रसे अपरोक्ष ज्ञान और शोकनिवृत्तिरूप दोनों अवस्था जीवकी पहले कह आये हैं उन दोनोंमें कितने अंशसे अपरोक्ष ज्ञान कहा जाता है इसका वर्णन करते हैं यह आत्मा मैं हूं इस प्रकार यदि आत्माको जानै इस वाक्यसे सत्य आदि हैं लक्षण जिसके ऐसे ब्रह्मसे अभिन्न प्रत्यगात्माके स्वरूपको विषय करके जो बोध होता है अर्थात् 'ब्रह्माहमस्मि' (ब्रह्म मैं हूं) यह ज्ञान होता है वह कहा जाता है ॥ ९६ ॥

अस्तु बोधोऽपरोक्षोऽत्र महावाक्यात्तथाप्यसौ ॥
न दृढः श्रवणादीनामाचार्यैः पुनरीरणात् ॥ ९७ ॥

कदाचित् कहो कि पूर्वोक्त रीतिके अनुसार एक बार ही महावाक्योंके विचारसे अपरोक्षज्ञान हो जायगा इससे बारंबार आचार्योंके उपदेशसे श्रवण आदिकी आवृत्ति (पुनः पुनः करना) होती है इत्यादिकोंमें कहा जो श्रवण आदिका आवर्तन वह न करना चाहिये इस शंकाका उत्तर देते हैं कि यद्यपि महावाक्योंसे पूर्वोक्त अपरोक्ष बोध एक बारके ही विचारसे हो जाय तथापि वह बोध दृढ नहीं हो सकता इससे श्रीमान् शंकराचार्योंने वाक्यार्थज्ञानकी उत्पत्तिके अनंतर भी फिर श्रवण आदिका आवर्तन कहा है अर्थात् ज्ञानकी दृढताके लिये पुनः पुनः श्रवण आदिका करना कहा है ॥ ९७ ॥

अहं ब्रह्मेतिवाक्यार्थबोधो यावद्दृढीभवेत् ॥
शमादिसहितस्तावदभ्यसेच्छ्रवणादिकम् ॥ ९८ ॥

अब शंकराचार्यके वाक्यका ही लिखते हैं जबतक 'अहं ब्रह्म' इस वाक्यके अर्थका बोध दृढ हो तबतक शम दम आदिस संपन्न मुमुक्षु श्रवण आदिका अभ्यास करे ॥ ९८ ॥

बाढं संति ह्यदार्ढ्यस्य हेतवः श्रुत्यनेकता ॥
असंभाव्यत्वमर्थस्य विपरीता च भावना ॥ ९९ ॥

कदाचित् कहो कि वाक्य प्रमाणोंसे जनित ज्ञानकी अदृढता किससे होती है यह शंका करके कहते हैं कि यह बात सत्य है कि ज्ञानकी अदृढताके हेतु जिससे य हैं कि श्रुतियोंकी अनेकता अर्थात् किसी श्रुतिमें कोई हेतु और किसीसे कोई कहा है और अद्वितीय ब्रह्मरूप अर्थको अलौकिक होनेसे असंभावना और पुनः कर्ता आदि अभिमानरूप विपरीत भावना ये तीन हेतु ज्ञानकी अदृढताके हैं इससे अपरोक्षानुभवकी दृढताके लिये श्रवण आदिकी आवृत्ति करने योग्य है। भावार्थ यह है कि ज्ञानकी अदृढताके हेतु श्रुतियाका भेद और अर्थकी असंभावना और विपरीत भावना ये जिससे सर्वथा हैं इससे पुनः पुनः श्रवण आदि करने ॥ ९९ ॥

शाखाभेदात्कामभेदाच्छ्रुतं कर्मान्यथान्यथा ॥
एवमत्रापि मा शंकीत्यतः श्रवणमाचरेत् ॥ १०० ॥

इस प्रकार तीन अदृढताक हेतुओंको दिखाकर श्रुतियोंके भेदसे पैदा हुई अदृढताकी निवृत्तिके लिये श्रवण आदिकी आवृत्ति करनी इसका वर्णन करते हैं कि जैसे शाखाके भेदसे कर्मका भेद सुना है कि होताका कर्म ऋग्वेदसे अध्वर्युका यजुर्वेदसे उद्गीथका सामवेदसे करे और जैसे कामनाके भेदसे कमका भेद सुना है कि वृष्टिका अभिलाषी कारीरी यज्ञ करे और आयुका कामी शतकृष्णल यज्ञ करे इसी प्रकार यहां उपनिषदोंम भी शंका मत कर इससे पुनः पुनः श्रवणको करे ॥ १०० ॥

वेदांतानामशेषाणामादिमध्यावसानतः ॥
ब्रह्मात्मन्येव तात्पर्यमिति धीः श्रवणं भवेत् ॥ १ ॥

अब श्रवण आदिका लक्षण कहते हैं संपूण उपनिषदोंका आदि मध्य अंतके विषे उपक्रम और उपसंहारके देखनेसे ब्रह्मरूप प्रत्यगात्माके विषे ही तात्पर्य है इस निश्चयात्मक बुद्धिको श्रवण कहते हैं ॥ १ ॥

समन्वयाध्याय एतत्सूक्तं धीस्वास्थ्यकारिभिः ॥
तर्कैः संभावनाऽर्थस्य द्वितीयाध्याय ईरिता ॥ २ ॥

यह श्रवण व्यास आदिकोंने समन्वयाध्यायके विषे भले प्रकार कहा है और बुद्धिको स्वस्थ करनेवाले युक्ति शब्द नामके तर्कोंसे अर्थकी संभावना रूप मनन दूसरे अध्यायमें निरूपण किया है ॥ २ ॥

बहुजन्मदृढाभ्यासाद्देहादिष्वात्मधीः क्षणात् ॥
पुनःपुनरुदेत्येवं जगत्सत्यत्वधीरपि ॥ ३ ॥

अब विपरी भावना और उसकी निवृत्तिके उपायको दिखाते हैं जैसे बहुत जन्मोंके दृढ अभ्याससे देह आदिमें क्षणक्षणमें आत्मबुद्धि होती है इसी प्रकार जगत्की सत्यत्व बुद्धि भी पुनः पुनः उदय होता है ॥ ३ ॥

विपरीता भावनेयमैकाग्र्यात्सा निवर्तते ॥
तत्त्वोपदेशात्प्रागेव भवत्येतदुपासनात् ॥ ४ ॥

अब विपरीत भावनाकी निवर्तक एकाग्रताको कहते हैं कि यह विपरीत भावना अर्थात् जगत्में सत्यत्व बुद्धि, चित्तकी एकाग्रतासे निवृत्त होती है और वह एकाग्रता ब्रह्मोपदेशसे पहिले भी सगुण ब्रह्मकी उपासनासे होती है ॥ ४ ॥

उपास्तयोऽत एवात्र ब्रह्मशास्त्रेऽपि चिंतिताः ॥
प्रागनभ्यासिनः पश्चाद्ब्रह्माभ्यासेन तद्भवेत् ॥ ५ ॥

अब वेदांतशास्त्रमें किये उपासनाविचारका वर्णन करते हैं कि इस ब्रह्म-शास्त्रमें भी उपासनाओंका विचार किया है और जिसने उपासना पहले नहीं की उसको भी ब्रह्मके अभ्याससे पश्चात् भी चित्तकी एकाग्रता हो जाती है ॥ ५ ॥

तच्चिंतनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनम् ॥
एतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः ॥ ६ ॥

अब ब्रह्मके अभ्यासको कहते हैं कि ब्रह्मका चिन्तन, ब्रह्मका कथन और परस्पर ब्रह्मका प्रबोधन इस प्रकार एक ब्रह्ममें ही तत्पर रहना, बुद्धिमान् मनुष्योंने इसको ही ब्रह्मका अभ्यास कहा है ॥ ६ ॥

तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः ॥
नानुध्यायाद्बहूञ्छब्दान्वाचो विग्लापनं हि तत् ॥ ७ ॥

एक ब्रह्ममें ही एकाकार तत्परता दिखानेके लिये श्रुतिको कहते हैं कि ब्रह्मचर्य आदि साधनोंसे संपन्न धीर ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्म होनेकी इच्छावाला मुमुक्षु मनुष्य उसी प्रत्यक्रूप परमात्माको जानकर अर्थात् निःसंदेह रूपसे समझ कर प्रज्ञाको अर्थात् ब्रह्म आत्माकी एकताका जो ज्ञान उसकी संतानरूप एकाग्रताको करे अर्थात् ब्रह्मात्मैकता बुद्धिको स्थिर करे और आत्मासे भिन्नका जिनमें वर्णन हो ऐसे बहुतसे शब्दोंका स्मरण न करे और न कहे क्योंकि वह स्मरण और ध्यान वाणी और मनका विग्लापन (श्रमका हेतु) है, सिद्धांत यह है कि अन्य शब्दोंके स्मरणमें मनका और कहनेमें वाणीका वृथा परिश्रम होता है भावार्थ यह है कि धीर ब्राह्मण उसी ब्रह्मको जानकर प्रज्ञाका संपादन कर और वाणीको श्रम देनेवाले बहुतसे शब्दोंका स्मरण न कर ॥ ७ ॥

अनन्याश्चिंतयंतो मां ये जनाः पर्युपासते ॥
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ ८ ॥

अब एकाग्रताकी बोधक श्रुतिको कहकर स्मृतिको कहते हैं कि जो मनुष्य अनन्य होकर अर्थात् 'अहं ब्रह्मास्मि' इस ज्ञानसे मुझसे अभिन्न (एकरूप) हुए मेरी चिंता करके उपासना सब कालोंमें करते हैं अर्थात् सदैव मेरा रूप रहते हैं सदैव मुझमें है चित्त जिनका ऐसे उनको मैं योगक्षेम देता हूं अर्थात् उनके अलभ्यकी प्राप्ति और लब्धकी रक्षा करता हूं भावार्थ यह है कि जो जन अनन्य होकर मेरी चिंतासे उपासना करते नित्य मुझमें लगे हुए हैं उनको मैं योगक्षेम देता हूं ॥ ८ ॥

इति श्रुतिस्मृती नित्यमात्मन्येकाग्रतां धियः ॥
विधत्तो विपरीताया भावनायाः क्षयाय हि ॥ ९ ॥

अब पूर्वोक्त श्रुतिस्मृतियोंके तात्पर्यको कहते हैं कि ये पूर्वोक्त श्रुति और स्मृति विपरीत भावनाकी निवृत्तिके लिये सदैव बुद्धिकी एकाग्राताके आत्माके विषे करती हैं अर्थात् सदैव आत्माकार बुद्धि इनसे बनी रहती है ॥ ९ ॥

यद्यथा वर्तते तस्य तत्त्वं हित्वाऽन्यथात्वधीः ॥
विपरीता भावना स्यात्पित्रादावरिधीर्यथा ॥ ११० ॥

अब देहमें आत्मबुद्धि और जगत्में सत्यबुद्धिको विपरीत भावना दिखानेके लिये विपरीत भावनाका लक्षण कहते हैं कि जो शुक्ति आदि वस्तु जिस शुक्ति आदि रूपसे वर्तती हैं उसके तत्त्व (यथार्थ) शुक्ति आदि रूपको छोडकर

अन्यथात्वकी जो बुद्धि अर्थात् रजत आदिकी जो बुद्धि (ज्ञान) है वह विपरीत भावना होती है अर्थात् उससे भिन्नमें उसको समझना, जैसे पिता आदिमें शत्रु बुद्धिको समझना ॥ ११० ॥

आत्मादेहादिभिन्नोऽयं मिथ्या चदं जगत्तयोः ॥
देहाद्यात्मत्वसत्यत्वधीर्विपर्ययभावना ॥ ११ ॥

अब पूर्वोक्त लक्षणको प्रकृतमें घटाते हैं कि यह आत्मा वस्तुतः परमार्थसे) देह आदिसे भिन्न है और यह जगत् मिथ्या है ऐसा होनेपर भी देहमें आत्मबुद्धि और जगत्में जो सत्यत्वबुद्धि है अर्थात् देहको आत्मा और जगत्को जो सत्य समझना है वही विपरीत भावना है ॥ ११ ॥

तत्त्वभावनया नश्येत्साऽतो देहातिरिक्तताम् ॥
आत्मनो भावयेत्तद्वन्मिथ्यात्वं जगतोऽनिशम् ॥ १२ ॥

प्रथम एकाग्रतासे वह निवृत्त होती है, इस सामान्यरूपसे कहे अर्थका विशेषरूपसे वर्णन करते हैं कि वह देहमें आत्माकी और जगत्में सत्यत्वकी बुद्धिरूप विपरीत भावना, तत्त्वकी भावनासे अर्थात् देहसे भिन्न आत्माके और मिथ्यारूप जगत्के ज्ञानसे (सर्वदा ध्यानसे) नष्ट होती है इससे आत्माको देहसे भिन्न और देह आदि जगत्को मिथ्या सदैव विचारे ॥ १२ ॥

किं मंत्रजपवन्मूर्त्तिध्यानवद्वाऽऽत्मभेदधीः ॥
जगन्मिथ्यात्वधीश्चात्र व्यावर्त्या स्यादुतान्यथा ॥ १३ ॥

अब यह पूछते हैं कि जप आदिके समान यहां भी ध्यानका कोई नियम है वा नहीं है कि मंत्रके जप और मूर्तिके ध्यानके तुल्य आत्मभेदबुद्धि और जगत्की मिथ्यात्वबुद्धि, व्यावर्त्य अर्थात् त्याग करने योग्य है वा किसी अन्यरूपसे त्याग करनी ॥ १३ ॥

अन्यथेति विजानीहि दृष्टार्थत्वेन भुक्तिवत् ॥
बुभुक्षुर्जपवद्भुंक्ते न कश्चिन्नियतः क्वचित् ॥ १४ ॥

अब फलको प्रत्यक्ष होनेसे यहां कोई नियम नहीं इसका वर्णन करते हैं कि अन्यथा (अन्य प्रकारसे) है, यह तू भोजनके समान जान । कदाचित् कहो कि दृष्टार्थ भोजनमें भी नियम श्रुति और स्मृतिमें मिलते हैं सो ठीक नहीं क्योंकि भोजनका अभिलाषी पुरुष जप करनेवालेके समान नियमसे नहीं भोजन करता है किंतु जिस प्रकार क्षुधाकी पीडा शांत हो उस प्रकार भोजन करता है ॥ १४ ॥

अश्नाति वा न वाऽश्नाति भुंक्ते वा स्वेच्छयाऽन्यथा ॥
येन केन प्रकारेण क्षुधामपनिनीषति ॥ १५ ॥

अब पूर्वोक्तको ही विस्तारसे कहते हैं कि अन्न है तो भोजन करता है और न है तो भोजन नहीं करता है किन्तु क्षुधाके विस्मरणार्थ द्यूत आदि खेलसे कालको बिताता है वा अपनी इच्छासे अन्यथा जिस किसी प्रकार बैठा हुआ गमन करता, सोता हुआ उस समयकी क्षुधाको दूर किया चाहता है अर्थात् क्षुधाकी बाधा निवृत्त किया चहता है, भोजनके नियम तो परलोकमें हेतु हैं ॥ १५ ॥

नियमेन जपं कुर्यादकृतौ प्रत्यवायतः ॥
अन्यथाकरणेऽनर्थः स्वरवर्णविपर्ययात् ॥ १६ ॥

अब जप आदिमें भोजनसे विलक्षणताको दिखाते हैं कि नियमसे जपको करे क्योंकि नियमसे न करनेमें शास्त्रमें दोष कहा है और अन्यथा करनेमें स्वरवर्णके विपर्ययसे अनर्थ होता है क्योंकि यह कहा है कि स्वर और वर्णसे हीन मंत्र मिथ्या होनेसे उस अर्थको नहीं कहता प्रत्युत वह वाणीरूप वज्र यजमानको नष्ट करता है जैसे स्वरके अपराधसे इंद्रशत्रु (वृत्रासुर) नष्ट हुआ वहां (इंद्रशत्रो विवर्द्धस्व) इस मंत्रमें षष्ठीतत्पुरुष समास स्वरके स्थानमें कर्मधारयके स्वरका उच्चारण होताने किया था इससे इंद्ररूप शत्रुकी वृद्धि हुई इंद्रके शत्रु वृत्रासुरकी न हुई भावार्थ यह है कि नियमसे जप करे न करनेमें दोष है और अन्यथा करनेमें स्वरवर्णके विपर्ययसे अनर्थ होता है ॥ १६ ॥

क्षुधेव दृष्टबाधाकृद्विपरीता च भावना ॥
जया केनाप्युपायेन नास्त्यत्रानुष्ठितेः क्रमः ॥ १७ ॥

कदाचित् कहो कि क्षुधा दृष्टबाधाका हेतु है उसकी निवृत्तिके लिये अनियमसे भी भोजन रहो विपरीत भावना तो दृष्टबाधाका हेतु नहीं उसका निवर्तक ध्यान अदृष्टफलके लिये नियमसे करना चाहिये सो ठीक नहीं; क्योंकि क्षुधाके समान विपरीत भावना भी दृष्ट बाधाका हेतु है इससे जिस किसी उपायसे जीतने योग्य है, उन उपायोंके करनेमें कोई क्रम नहीं ॥ १७ ॥

उपायः पूर्वमेवोक्तस्तच्चिंताकथनादिकः ॥
एतदेकपरत्वेऽपि निर्बंधो ध्यानवन्नहि ॥ १८ ॥

ब्रह्मकी चिंता और कथन आदि उपाय तो पहले ही कह आये और उसकी एकपरता अर्थात् एकाग्रतामें निर्बंध (नियम) भी ध्यानके समान पूर्वाभिमुख आदिका नहीं है ॥ १८ ॥

मूर्तिप्रत्ययसांतत्यमन्यानंतरितं धियः ॥
ध्यानं तत्रातिनिर्बंधो मनसश्चंचलात्मनः ॥ १९ ॥

अब ध्यान करने योग्यकी चिंतारूप ध्यानमें निर्बंध दिखानेके लिये ध्यानका स्वरूप कहते हैं कि बुद्धिकी जो देवता आदिकी मूर्तियोंका विषय करनेवाली प्रतीति उनका सान्तत्य (निरंतर रहना) और उनकी विजातीय प्रतीतियोंको जो व्यवधानका अभाव इसको ध्यान कहते हैं। उसके विषय चंचलरूप मनका अत्यंत निर्बंध अथात् जिस प्रकार निरंतर गमनमें शील हस्ती अश्व आदिको एक स्तंभ आदिमें बांधकर उपरोध होता है ऐसे ही ध्यानमें मनके उपरोधको अतिनिर्बंध कहते हैं ॥ १९ ॥

चंचल हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ॥
तस्याहं निग्रहं मन्य वायोरिव सुदुष्करम् ॥ १२० ॥

अब मनकी चंचलतामें गीतावाक्य प्रमाण देते हैं-हे कृष्ण ! यह मन चंचल है और प्रमाथी (अर्थात् पुरुषकी व्याकुलताका कारण) और बलवान् अर्थात् निग्रहके अयोग्य समर्थ है और दृढ है अर्थात् विषय हो चाहे न हो वहांसे डिगानेके अयोग्य है इससे उस मनके निग्रह (वश करना) को वायुके समान सुदुष्कर (कठिन) मानता हूं अर्थात् जिस प्रकार वायु वशमें नहीं हो सकती इसी प्रकार मनका वश करना कठिन है ॥ १२० ॥

अप्यब्धिपानान्महतः सुमेरून्मूलनादपि ॥
अपि वह्न्यशनात्साधो विषमश्चित्तनिग्रहः ॥ २१ ॥

अब मनके निग्रहकी कठिनतामें वसिष्ठवाक्य प्रमाण देते है-हे राम ! महान् समुद्रके पीने और सुमेरु पर्वतके उखाडने और अग्निके भक्षणसे भी विषम (कठिन) चित्तका निग्रह है अर्थात् मनुष्य समुद्रपान आदिको कर सकता है परंतु मनको वशमें नहीं कर सकता ॥ २१ ॥

कथनादौ न निबधः शृंखलाबद्धदेहवत् ॥
किंत्वनंतेतिहासाद्यावनोदो नाटयवद्धियः ॥ २२ ॥

अब प्रकृतमें उससे विषमता दिखाते हैं—शृंखलासे बंधे देहके समान ब्रह्मक कथन चिन्तन आदिमें निर्बंध नहीं किन्तु अनन्त इतिहास हैं, आदिमें जिनके ऐसे जो लौकिक कथा, अनुकूल युक्ति, दृष्टान्त आदि हैं उनसे—नृत्यक्रिया दर्शनके समान बुद्धिका विनोद है ॥ २२ ॥

चिदेवात्मा जगन्मिथ्येत्यत्र पर्यवसानतः ॥
निदिध्यासनविक्षेपो नेतिहासादिभिर्भवेत् ॥ २३ ॥

कदाचित् कहो कि कथा आदिसे भी ब्रह्ममें एकपरताका विघात हो जायगा सो ठीक नहीं क्योंकि इतिहास आदिकोंका आत्मा चिद्रूप ही है देह आदिरूप नहीं और जगत् मिथ्या है इसमें ही पर्यवसान (समाप्ति) होनेसे निदिध्यासनका विक्षेप (नाश) इतिहास आदिकोंसे नहीं होता ॥ २३ ॥

कृषिवाणिज्यसेवादौ काव्यतर्कादिकेषु च ॥
विक्षिप्यते प्रवृत्त्या धीस्तैस्तत्त्वस्मृत्यसंभवात् ॥ २४ ॥
अनुसंदधतैवात्र भोजनादौ प्रवर्तितुम् ॥
शक्यतेऽत्यंतविक्षेपाभावादाशु पुनः स्मृतेः ॥ २५ ॥

कदाचित् कहो कि मुमुक्षुको इतिहास आदिका स्वीकार करोगे तो कृषि आदिके भी स्वीकारका प्रसंग हो जायगा सो ठीक नहीं कारण कि कृषि (व्यापार) सेवा और काव्य, तर्क आदिकोंमें प्रवृत्तिसे बुद्धिका विक्षेप होता है क्योंकि उनसे तत्त्वका स्मरण नहीं होता कदाचित् कहो कि तत्त्वस्मृतिके विघातक त्यागने योग्य हैं तो ज्ञानिको भोजन आदि भी त्यागने योग्य हो जायंगे सो ठीक नहीं क्योंकि भोजन आदिमें ब्रह्मविचारका अनुसंधान करता हुआ मनुष्य भोजन आदिमें प्रवृत्तिको अत्यंत विक्षेपके अभावसे कर सकता है क्योंकि भोजनके अनंतर फिर शीघ्र ही ब्रह्मका स्मरण होनेसे सर्वथा विक्षेपका अभाव है ॥ २४ ॥ २५ ॥

तत्त्वविस्मृतिमात्रान्नानर्थः किंतु विपर्ययात् ॥
विपर्येतुं न कालोऽस्ति झटिति स्मरतः क्वचित् ॥ २६ ॥

कदाचित् कहो कि उस समय विक्षेपका अभाव होनेपर भी तत्त्वका विस्मरण होनेपर मोक्षहानि हो जायगी सो ठीक नहीं क्योंकि केवल तत्त्वके विस्मरणसे अनर्थ नहीं होता किन्तु विपरीतज्ञानसे होता है और शीघ्र स्मरण करते हुए मनुष्यको विपरीतज्ञान होनेका समय नहीं मिलता है ॥ २६ ॥

तत्त्वस्मृतेरवसरो नास्त्यन्याभ्यासशालिनः ॥
प्रत्युताभ्यासघातित्वाद्बलात्तत्त्वमुपेक्ष्यते ॥ २७ ॥

कदाचित् कहो कि भोजन आदिमें प्रवृत्त मनुष्यके समान तर्क आदिके अभ्यासमें प्रवृत्त मनुष्यको भी तत्त्वका स्मरण क्यों न हो जाय सो ठीक नहीं क्योंकि तर्क आदि अन्य ग्रंथोंके अभ्यासकर्ता मनुष्यको तत्त्वके स्मरणका अवसर ही नहीं मिलता प्रत्युत काव्य तर्क आदिका अभ्यास तत्त्वाभ्यासका विरोधी है इससे स्मरण किये तत्त्वकी भी बलसे उपेक्षा हो जाती है ॥ २७ ॥

तमेवैकं विजानीथ ह्यन्या वाचो विमुञ्चथ ॥
इति श्रुतं तथाऽन्यत्र वाचो विग्लापनं त्विति ॥ २८॥

अब स्मरणके विरोधी वाक्व्यवहारके त्यागमें प्रमाण श्रुतिके अर्थको पढते हैं 'उसी एक आत्माको जानो और अन्य वाणियोंको छोड दो क्योंकि वह आत्मा अमृतका सेतु है' यह वेदमें सुना है और वैसे ही अन्य श्रुतिमें कहा है कि 'बहुत शब्दोंका स्मरण न करे क्योंकि वह वाणीका परिश्रम है' ॥ २८ ॥

आहारादि त्यजन्नैव जीवेच्छास्त्रांतरं त्यजन् ॥
किं न जीवसि येनैवं करोष्यत्र दुराग्रहम् ॥ २९ ॥

कदाचित् कहो कि तत्त्वके स्मरणसे भिन्न भोजन आदिको जैसे नहीं त्यागते ऐसे ही अन्य शास्त्रोंके अभ्यासको भी न त्यागो सो ठीक नहीं, भोजन आदिको त्यागता हुआ मनुष्य नहीं जीता अर्थात् मर जाता है क्या अन्य शास्त्रोंको त्यागता हुआ तू न जीवेगा जिससे अन्य शास्त्रोंके अभ्यासमें ऐसा दुराग्रह (हठ) करता है ॥ २९ ॥

जनकादेः कथ राज्यमिति चेद्दृढबोधतः ॥
तथा तवापि चेत्तर्कं पठ यद्वा कृषिं कुरु॥ १३० ॥

कदाचित् कहो कि तत्त्वके ज्ञानी भी जनक आदिकोंने किस प्रकार राज्य किया ऐसा कहोगे तो उसका उत्तर यह है कि दृढ अपरोक्ष आत्मज्ञानसे किया यदि वैसा ही अपरोक्ष ज्ञान आपको है तो तर्कशास्त्रको पढ वा कृषिको कर अर्थात् जनक आदिके समान तर्कका पढना और कृषिका करना तेरे भी तत्त्वज्ञानके बाधक न होंगे ॥ १३० ॥

मिथ्यात्ववासनादार्ढ्ये प्रारब्धक्षयकांक्षया ॥
अक्लिश्यंतः प्रवर्तंते स्वस्वकर्मानुसारतः ॥ ३१ ॥

संसारको असार जानते हुए भी जनक आदि क्यों संसारमें प्रवृत्त होते हैं इस शंकाका उत्तर कहते हैं कि मिथ्या वासनाकी दृढता होने पर भी अवश्य होनेवाला है फल जिसका ऐसे प्रारब्धकर्मके भोगद्वारा क्षयकी इच्छासे क्लेशको प्राप्त न होते हुए अपने अपने कर्मके अनुसार जनक आदि संसारमें प्रवृत्त होते हैं ॥ ३१ ॥

अतिप्रसंगो मा शंक्यः स्वकर्मवशवर्तिनाम् ॥
अस्तु वा केन शक्येत कर्म वारयितुं वद ॥ ३२ ॥

कदाचित् अनाचारमें भी प्रवृत्ति हो जायगी सो ठीक नहीं अपने कर्मके वशमें मनुष्य वर्तते हैं इससे अतिप्रसंग (शंका) न करना चाहिये और वा उसी प्रारब्धकर्मके बलसे अतिप्रसंग भी रहो क्योंकि कर्मका निवारण कौन कर सकता है यह तुम कहो ॥ ३२ ॥

ज्ञानिनोऽज्ञानिनश्चात्र समे प्रारब्धकर्मणी ॥
न क्लेशो ज्ञानिनो धैर्यान्मूढः क्लिश्यत्यधैर्यतः ॥ ३३ ॥

अब ज्ञानी और अज्ञानीकी विलक्षणताको कहते हैं कि ज्ञानी और अज्ञानीके इस संसारमें प्रारब्धकर्म यद्यपि समान हैं परंतु धीरतासे ज्ञानीको क्लेश नहीं होता और मूढ मनुष्य अज्ञानसे क्लेश भोगता है ॥ ३३ ॥

मार्गे गंत्रोर्द्वयोः श्रांतौ समायामप्यदूरताम् ॥
जानन् धैर्याद् द्रुतं गच्छेदन्यस्तिष्ठति दीनधीः ॥ ३४ ॥

उसमें दृष्टांत कहते हैं कि मार्गमें चलते दो मनुष्योंकी श्रांति (थकना) यद्यपि समान है तथापि जो मनुष्य अदूरता (समीपता) को जानता है वह तो धीरतासे शीघ्र चलता है और अन्य (समीपताका अज्ञानी) दीन बुद्धि वहाँ ही बैठा रहता है ॥ ३४ ॥

साक्षात्कृतात्मधीः सम्यगविपर्ययबाधितः ॥
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ॥ ३५ ॥

इस प्रकार वर्णन किये 'आत्मानं चेत्' इस श्रुतिके पूर्वार्धका अनुवाद करते हुए फलके बोधक उत्तरार्धका सूचन करते हैं कि भले प्रकार किया है आत्माका साक्षात्कार जिसकी बुद्धिने ऐसा मुमुक्षु विपर्ययसे अर्थात् देहमें आत्म-

बुद्धिसे बाधित नहीं होता इससे वह किस विषयकी इच्छा करता हुआ किस कामनाके लिये अपने शरीरको पीडा दे अर्थात् उसकी संपूर्ण कामना पूर्ण हो जाती हैं ॥ ३५ ॥

जगन्मिथ्यात्वधीभावादाक्षिप्तौ काम्यकामुकौ ॥
तयोरभावे संतापः शाम्येन्निःस्नेहदीपवत् ॥ ३६ ॥

अब इसी मंत्रके अर्थका तात्पर्य कहते हैं कि जगत् मिथ्या है इस बुद्धिसे जब कामनाके योग्य विषय और कामुक पुरुष इन दोनोंका निराकरण कर दिया तब इन काम्य कामुक दोनोंके अभावमें कामनाओंसे पैदा हुआ संतापकारणके अभावसे तैलरहित दीपकके समान शांत हो जाता है अर्थात् कामनाओंकी हृदयमें उत्पत्ति नहीं होती ॥ ३६ ॥

गंधर्वपत्तने किंचिन्नैंद्रजालिकनिर्मितम् ॥
जानन् कामयते किंतु जिहासति हसन्निदम् ॥ ३७ ॥

अब काम्यके अभावसे कामनाके अभावका स्थल कहते हैं कि मायासे रचे गंधर्वनगरमें यह इंद्रजालके ज्ञाताका निर्मित (रचा) है यह जानता हुआ मनुष्य कामना नहीं करता प्रत्युत हँसता हुआ उसका त्याग करना चाहता है ॥ ३७ ॥

आपातरमणीयेषु भोगेष्वेवं विचारवान् ॥
नानुरज्यति किंत्वेतान् दोषदृष्ट्या जिहासति ॥ ३८ ॥

अब पूर्वोक्त दृष्टांतको दार्ष्टांतिकमें घटाते हैं कि इसी प्रकार प्रतीतिमात्रसे रमणीय भोगोंमें विचारवान् मनुष्य अनुरागी नहीं होता किंतु बंधन आदि दोषोंके देखनेसे उनके त्यागको चाहता है ॥ ३८ ॥

अर्थानामर्जने क्लेशस्तथैव परिपालने ॥
नाशे दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थान् क्लेशकारिणः ॥ ३९ ॥

अब उन्हीं विषयोंको दिखाते हैं कि धन आदि अर्थोंके संचयमें जैसा क्लेश है वैसे ही उनकी रक्षामें क्लेश है और नाश (न मिलना) में दुःख है और व्यय (खर्च) में दुःख है इससे क्लेशकारी अर्थोंको धिक्कार है ॥ ३९ ॥

मांसपांचालिकायास्तु यंत्रलोलेऽगपंजरे ॥
स्नाय्वस्थिग्रंथिशालिन्याः स्त्रियाः किमिव शोभनम् ॥ ४०

इस प्रकार विषयोंको दुःखहेतु दिखाकर कहीं २ विषयकी अशोभनताको दो श्लोकोंसे दिखाते हैं कि स्नायु (शिरा नाडी) और अस्थि और स्तन नितंब

आदि मांसकी ग्रंथि ये सब हैं जिसमें ऐसी मांसकी पुतली (स्त्री) का जो यंत्रके समान चंचल शरीर अंगोंका पंजर है उसमें शोभनता क्या है अर्थात् सर्वथा मलिन है ॥ १४० ॥

एवमादिषु शास्त्रेषु दोषाः सम्यक् प्रपंचिताः ॥
विमृशन्ननिशं तानि कथं दुःखेषु मज्जति ॥ ४१ ॥

आदि शब्दसे त्वचा मांस रुधिर बाष्प जल आदिको पृथक् करके देखो क्या रमणीय वस्तु है अर्थात् कुछ नहीं तो क्यों वृथा मोहको प्राप्त होता है, ये दोष लेने। इस प्रकार बहुतसे शास्त्रोंमें विस्तारसे भले प्रकार दोषवर्णन किये हैं उन दोषोंको रात दिन विचारता हुआ तू किस प्रकार दुःखोंमें डूबता है अर्थात् तेरा डूबना अयोग्य है ॥ ४१ ॥

क्षुधया पीड्यमानोऽपि न विषं ह्यत्तुमिच्छति ॥
मिष्टान्नध्वस्ततृड् जानन्नमूढस्तज्जिघत्सति ॥ ४२ ॥

अब विषयके दोष देखने पर भोगकी इच्छाके अभावमें युक्तिसहित दृष्टांतको कहते हैं कि स्वयम् अमूढ(विवेकी)और मिष्टान्नके भक्षणसे नष्ट हो गयी है तृष्णा जिसकी और यह विष है ऐसे जानता हुआ मनुष्य विषके भोजनकी इच्छा ऐसे नहीं करता जैसे क्षुधासे पीडित भी मनुष्य विषका भक्षण नहीं चाहता है ॥ ४२ ॥

प्रारब्धकर्मप्राबल्याद्भोगेष्विच्छा भवेद्यदि ॥
क्लिश्यन्नेव तदाप्येष भुंक्ते विष्टिगृहीतवत् ॥ ४३ ॥

कदाचित् कहो कि ज्ञानीकी भी प्रारब्ध कर्मकी प्रबलतासे भोगमें इच्छा होती है सो ठीक है, यदि ज्ञानीकी भोगोंमें इच्छा हो भी तो भी यह ज्ञानी क्लेश पाता हुआ ही इस प्रकार भोजन आदिको करता है जैसे विष्टि (बेगार) से पकड़ा हुआ मनुष्य करता है ॥ ४३ ॥

भुंजाना वा अपि बुधाः श्रद्धावंतः कुटुंबिनः ॥
नाद्यापि कर्म नश्छिन्नमिति क्लिश्यंति सततम् ॥ ४४ ॥

क्लेशको ही दिखाते हैं कि भोजन करते हुए भी ज्ञानी श्रद्धावाले कुटुंबी मनुष्य इस प्रकार निरंतर क्लेशको प्राप्त होते हैं कि अबतक भी हमारा प्रारब्धकर्म क्षीण न हुआ ॥ ४४ ॥

नायं क्लेशोऽत्र संसारतापः किंतु विरक्तता ॥
भ्रांतिज्ञाननिदानो हि तापः सांसारिकः स्मृतः ॥ ४५ ॥

कदाचित् कहो कि तत्त्वके वेत्ताओंको भी संसारका ताप मानोगे तो ज्ञान होना ही व्यर्थ हो जायगा सो ठीक नहीं क्योंकि आजतक भी हमारा कर्म नष्ट न हुआ यह पश्चात्तापरूप संसारका ताप नहीं होता किंतु यह संसारमें विरक्तता है क्योंकि संसारका ताप तो भ्रांतिज्ञानका निदान (हेतु) पूर्वाचार्योंने कहा है और यह ज्ञान विवेकज्ञानका मूल होनेसे भ्रांतिज्ञानका हेतु नहीं है भावार्थ यह है कि यह पूर्वोक्त ज्ञानीका क्लेश संसारताप नहीं किंतु यह विरक्तता है क्योंकि भ्रमज्ञानके हेतुको ही सांसारिक ताप आचार्योंने कहा है ॥ ४५ ॥

विवेकेन परिक्लिश्यन्नल्पभोगेन तृप्यति ॥
अन्यथाऽनंतभोगेऽपि नैव तृप्यति कर्हिचित् ॥ ४६ ॥

अब पूर्वोक्त क्लेशको विवेकका मूल दिखाते हैं कि विवेकसे क्लेशको प्राप्त हुआ मनुष्य अल्प भोगसे ही तृप्त हो जाता है और अन्यथा तो अनंतभोगोंके मिलनेपर भी कदाचित् ज्ञान नहीं होता ॥ ४६ ॥

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ॥
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥ ४७ ॥

यदि विवेकी और अविवेकीकी तृप्ति भोगसे ही होती है तो विवेकका क्या फल है इस शंकाको करके भोगसे तृप्तिके अभावको श्रुतिके द्वारा दिखाते हैं कि विषयोंके भोगनेसे कदाचित् भी इच्छा शांत नहीं होती किंतु घृत आदि हविसे अग्निके समान भूयः (फिर) बढती है ॥ ४७ ॥

परिज्ञायोपभुक्तो हि भोगो भवति तुष्टये ॥
विज्ञाय सवितश्चोरो मैत्रीमेति न चोरताम् ॥ ४८ ॥

अब विवेकमूल भोग तृप्तिका हेतु है इसमें अनुभव प्रमाण देते हैं कि जानकर किया भोग अर्थात् यह इतना है और इतने श्रमसे होगा इस प्रकार विचारसे किया संतोषको करता है कदाचित् कहो कि तृष्णाका हेतु भोग विवेकके सहचारसे कैसे संतोषका जनक है सो ठीक नहीं किन्तु जैसे यह चोर है इस प्रकार जानकर की है सेवा जिसकी ऐसा चोर मित्र हो जाता है चोर नहीं होता इसी प्रकार विवेकरूप सहचारीकी महिमासे भोगमें संतोषको करता है तृष्णाको नहीं क्योंकि संगकी महिमासे विपरीत कार्यकी भी हेतुता चोरमें देखते हैं भावार्थ यह है कि जान कर किया भोग संतोषको इस प्रकार पैदा करता है जैसे जान कर सेवित चोर मित्रताको पैदा करता है चोरताको नहीं अर्थात् अपनी चोरी नहीं करता ॥ ४८ ॥

मनसो निगृहीतस्य लीलाभोगेऽल्पकोऽपि यः ॥
तमेवालब्धविस्तारं क्लिष्टत्वाद्बहु मन्यते ॥ ४९ ॥

कदाचित् कहो कि कामनाओंमें स्ववस (अधीन वा लगे) मनकी अल्पभोगसे कैसे तृप्ति होगी सो ठीक नहीं कि निदिध्यासनसे निगृहीत (वशीभूत) अर्थात् योगाभ्याससे स्वाधीन किये जो मनका अत्यंत अल्प भी लीलाभोग है, नहीं हुआ है विस्तार जिसका ऐसे उस अल्पभोगको क्लेशदायी होनेसे बहुत मानता है अर्थात् अधिक समझता है ॥ ४९ ॥

बद्धमुक्तो महीपालो ग्राममात्रेण तुष्यति ॥
परैर्न बद्धो नाक्रांतो न राष्ट्रं बहु मन्यते ॥ १५० ॥

अब वशीभूत मनकी स्वल्पभोगसे तृप्तिमें दृष्टांत देते हैं कि बंधन (कैद) से छूटा महीपाल (राजा) एक ग्रामसे ही संतुष्ट हो जाता है, यदि शत्रुओंसे बंधा न हो और न आक्रांत (दबाया) हो तो राष्ट्र (देश) को भी बहुत नहीं मानता॥१५०॥

विवेके जाग्रति सति दोषदर्शनलक्षणे ॥
कथमारब्धकर्मापि भोगेच्छां जनयिष्यति ॥ ५१ ॥

अब यह शंका करते हैं कि इच्छाके नाशक विवेकज्ञानके होने पर प्रारब्धकर्मसे इच्छा होगी सो ठीक नहीं क्योंकि दोषोंको दिखानेहारे विवेकज्ञानके जागते हुए प्रारब्धकर्म भी किस प्रकार भोगोंकी इच्छाको पैदा करेगा अर्थात् न करेगा ॥ ५१ ॥

नैष दोषो यतोऽनेकविधं प्रारब्धमीक्ष्यते ॥
इच्छाऽनिच्छा परेच्छा च प्रारब्धं त्रिविधं स्मृतम् ॥ ५२ ॥

अब दोषोंके देखनेपर भी इच्छाका जन्म प्रारब्धकर्मके भेदसे दिखाते हैं कि यह तुम्हारा दिया पूर्वोक्त दोष ठीक नहीं क्योंकि प्रारब्धकर्म अनेक प्रकारका देखते हैं कि एक इच्छाका जनक, दूसरा विना इच्छाके भोगका दाता और तीसरा पराई इच्छासे भोगका दाता इस प्रकार प्रारब्ध तीन प्रकारका कहा है ॥ ५२ ॥

अपथ्यसेविनश्चोरा राजदाररता अपि ॥
जानंत एव स्वानर्थमिच्छन्त्यारब्धकर्मतः ॥ ५३ ॥

अब इच्छाके जनक प्रारब्धको दिखाते हैं कि अपथ्यके सेवन करनेवाले रोगी और चोर और राजाओंकी स्त्रियोंमें रत ये तीनों अपने अनर्थको जानकर भी प्रारब्धकर्मसे अपथ्य भोजन चोरी राजदाराओंका रमण करते हैं ॥ ५३ ॥

न चात्रैतद्वारयितुमीश्वरेणापि शक्यते ॥
यत ईश्वर एवाह गीतायामर्जुनं प्रति ॥ ५४ ॥

अब अपथ्यसेवा आदिकी इच्छाको प्रारब्धका ही फल दिखाते हैं कि इस जगत्में ईश्वर भी उनकी अपथ्यसेवा आदिको निवारण नहीं कर सकता । निवारण न होनेसे ही प्रतीत है कि प्रारब्धका फल है क्योंकि ईश्वर (श्रीकृष्णचंद्र) ने ही गीताके विषे अर्जुनके प्रति कहा है ॥ ५४ ॥

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ॥
प्रकृतिं यांति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥ ५५ ॥

अब उसी गीताके वाक्यको पढते हैं कि विवेकज्ञानी पुरुष भी अपनी प्रकृतिके अनुसार चेष्टा करता है (पूर्व जन्ममें संचित जो धर्म अधर्मका संस्कार जो वर्तमान जन्ममें प्रकट होता है उसे प्रकृति कहते हैं) मूर्खकी तो क्या गणना है इससे संपूर्ण भूत प्रकृतिके अनुसार चलते हैं प्रवृत्ति और निवृत्तिका निरोधरूप निग्रह क्या करेगा अर्थात् कुछ न करेगा ॥ ५५ ॥

अवश्यंभाविभावानां प्रतीकारो भवेद्यदि ॥
तदा दुःखैर्न लिप्येरन्नलरामयुधिष्ठिराः ॥ ५६ ॥

अब तीव्र (बली) प्रारब्धके अनिवारणमें वचनांतरकी संमतिको कहते हैं कि अवश्य होनेवाले जो दुःख आदि भाव हैं उनका यदि प्रतीकार (न होना) होता तो नल, रामचंद्र और युधिष्ठिर ये समर्थ राजा दुःखोंसे लिपायमान न होते अर्थात् दुःखोंका प्रतीकार करके सुखोंको ही भोगते ॥ ५६ ॥

नचेश्वरत्वमीशस्य हीयते तावता यतः ॥
अवश्यंभाविताऽप्येषामीश्वरेणैव निर्मिता ॥ ५७ ॥

कदाचित् कहो कि प्रारब्धको निवारणके अयोग्य मानोगे तो उसके परिहारमें असमर्थ ईश्वर भी अनीश्वर हो जायगा सो ठीक नहीं कारण कि प्रारब्धके अनिवारण करनेमें ईश्वरकी ईश्वरतामें हानि नहीं होती क्योंकि यह प्रारब्धकर्मका फल दुःख आदिका अवश्य होना भी ईश्वरने ही रचा है ॥ ५७ ॥

प्रश्नोत्तराभ्यामेवैतद्गम्यतेऽर्जुनकृष्णयोः ॥
अनिच्छापूर्वकं चास्ति प्रारब्धमिति तच्छृणु ॥ ५८ ॥

इस प्रकार विस्तारसे इच्छाप्रारब्धको कहकर अनिच्छाप्रारब्ध कहनेका प्रारंभ करते हैं कि यह अर्जुन और श्रीकृष्णके प्रश्न और उत्तरसे भी जाना जाता है कि अनिच्छापूर्वक भी प्रारब्ध है हे शिष्य ! उसको तू सुन ॥ ५८ ॥

अथ कन प्रयुक्तोऽय पापं चरति पूरुषः ॥
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥ ५९॥

प्रथम अर्जुनके प्रश्नको दिखाते हैं कि हे वार्ष्णेय ! अर्थात् वृष्णिकुलमें उत्पन्न श्रीकृष्णचंद्रजी महाराज नहीं इच्छा करता हुआ और बलसे नियुक्तके समान किसकी प्रेरणासे यह पुरुष पापको करता है ॥ ५९ ॥

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ॥
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥ ६० ॥

अब श्रीकृष्णचंद्रके उत्तरको कहते हैं कि रजोगुणसे है उत्पत्ति जिसकी ऐसा यह जगत्में प्रसिद्ध काम और क्रोध जो महाशन है अर्थात् जिसके विषयोंका समूह महान् है और जो महान् पापका हेतु है इस कामक्रोधरूपी पुरुषके प्रवर्तकको तू इस संसारमें वैरी जान अर्थात् प्रारब्धकर्मके अधीन बढ़े हुए रजोगुणके कार्य जो काम क्रोध हैं उनमेंसे कोईसा एक प्रवर्तक है ॥ ६० ॥

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ॥
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥ ६१ ॥

काम क्रोधको ही पुरुषप्रवृत्तिका जनक देखते हैं अनिच्छाप्रारब्ध नहीं यह शंका करके अनिच्छाप्रारब्धकी ही प्रवृत्तिका बोधक जो वचन उसको पढ़ते हैं हे कौन्तेय (कुन्तीके पुत्र) अर्जुन! अपने स्वाभाविक प्रारब्धसे बँधा हुआ तू जिस युद्ध आदि कर्मको नहीं किया चाहता उसको भी अविवेकरूप मोहसे परवश हुआ करेगा इससे यह मानने योग्य है कि अनिच्छाप्रारब्ध है ॥ ६१ ॥

नानिच्छंतो न चेच्छंतः परदाक्षिण्यसंयुताः ॥
सुखदुःखे भजंत्येतत्परेच्छापूर्वकर्म हि ॥ ६२ ॥

अब परेच्छाप्रारब्धको दिखाते हैं कि परायी दाक्षिण्य (सेवा आदि) युक्त मनुष्य न अनिच्छासे और न इच्छासे सुख दुःख भोगते हैं किन्तु स्वामीकी प्रीतिके अर्थ ही सुखदुःखको पाते हैं इससे सुख आदि भोगका हेतुरूप प्रारब्ध परइच्छापूर्वक प्रसिद्ध है इसीसे दोषोंके देखनेपर भी प्रारब्ध निवारणके अयोग्य है इसीसे वह इच्छाका जनक है इसका निवारण कोई नहीं कर सकता ॥ ६२ ॥

कथं तर्हि किमिच्छन्नित्येवमिच्छा निषिध्यते ॥
नेच्छानिषेधः किंत्विच्छाबाधो भर्जितबीजवत् ॥ ६३ ॥

अब तत्त्वज्ञानीको भी इच्छाका स्वीकार करोगे तो 'किम् इच्छन्' इस श्रुतिके विरोधकी शंका करते हैं कि ज्ञानीको भी इच्छा होती है तो 'किस विषयकी इच्छा करता हुआ अपने शरीरको दुःख दे' इस श्रुतिसे इच्छाका निषेध कैसे किया? इसका उत्तर यह है कि पूर्वोक्त श्रुतिमें ज्ञानीको इच्छाका अभाव नहीं कहा किन्तु भर्जित (भुना हुआ) बीजके समान स्वरूपसे वर्तमान भी इच्छाका बाध (असामर्थ्य) कहा है ॥ ६३ ॥

भर्जितानि तु बीजानि संत्यकार्यकराणि च ॥
विद्वदिच्छा तथष्टव्याऽसत्त्वबोधान्न कार्यकृत् ॥ ६४ ॥

संक्षेपसे कहे पूर्वोक्त अर्थका विस्तारसे वर्णन करते हैं—कि जैसे भर्जित बीज स्वयम् अपने शरीरसे विद्यमान होते हुए भी अंकुर आदि कार्योंको नहीं कर सकते इसी प्रकार विद्वान् (ज्ञानी) की इच्छा स्वयं विद्यमान हुई भी असत्त्वक बोधसे अर्थात् इच्छाके विषयभूत पदार्थोंके मिथ्याज्ञानसे बाधित हुई दुःख आदि कार्य करनेमें असमर्थ जाननी ॥ ६४ ॥

दग्धबीजमरोहेऽपि भक्षणायोपयुज्यते ॥
विद्वदिच्छाऽप्यल्पभोगं कुर्यान्न व्यसनं बहु ॥ ६५ ॥

कदाचित् कहो कि फलके अभावसे ज्ञानीकी इच्छा ही नहीं माननी चाहिये यह आशंका करके भोगरूप फलके होनेसे फलके अभावकी असिद्धि और दृष्टांतको कहते हैं कि जैसे भुना हुआ बीज न जमनेपर भी भक्षणका उपयोगी होता है इसी प्रकार विद्वान्की इच्छा भी अल्पभोगको करती है विपत्ति आदि अधिक व्यसनको नहीं करती ॥ ६५ ॥

भोगेन चरितार्थत्वात्प्रारब्धं कर्म हीयते ॥
भोक्तव्यसत्यता भ्रांत्या व्यसनं तत्र जायते ॥ ६६ ॥

कदाचित् कहो कि कर्म ही भोगके द्वारा व्यसनको भी उत्पन्न कर देगा सो ठीक नहीं क्योंकि भोगमात्रको पैदा करके प्रारब्धकर्म नष्ट होजाता है और उस भोगमें सत्यताके भ्रमसे व्यसन होता है ॥ ६६ ॥

मा विनश्यत्वयं भोगो वर्धतामुत्तरोत्तरम् ॥
मा विघ्नाः प्रतिबध्नंतु धन्योऽस्म्यस्मादिति भ्रमः ॥६७॥

अब दुःखके हेतु व्यसनको दिखाते हैं कि यह भोग नष्ट मत हो किंतु उत्तरोत्तर बढे और विघ्न इसका तिरस्कार मत करे इस भोगसे ही मैं धन्य हूं अर्थात् कृतार्थ हूं इस प्रकारका भ्रम होता है और उस भ्रमसे व्यसन (दुःख) होता है ॥ ६७ ॥

यदभावि न तद्भावि भावि चेन्न तदन्यथा ॥
इति चिंताविषघ्नोऽयं बोधो भ्रमनिवर्तकः ॥ ६८ ॥

प्रसंगसे उक्त भ्रमके परिहारका उपाय कहते हैं कि जो होनेके अयोग्य है वह कदाचित् नहीं होता और जो होने योग्य है वह अन्यथा (न हो) नहीं होता इस प्रकारका जो बोध है वह उस चितारूप विषका नाशक है कि यह कल्याण मेरे यहां कब होगा और यह अनिष्ट कब निवृत्त होगा और पूर्वोक्त भ्रमका भी निवर्तक है ॥ ६८ ॥

समेऽपि भोगे व्यसनं भ्रांतो गच्छन्न बुद्धवान् ॥
अशक्यार्थस्य संकल्पाद्भ्रांतस्य व्यसनं बहु ॥ ६९ ॥

अब विद्वान् और अविद्वान्के भोगी होनेमें तुल्यता होनेपर भी दुःखके होने और दुःखके न होनेमें हेतुको कहते हैं कि भोगकी समानता होनेपर भी भ्रांत मनुष्य तो दुःखको प्राप्त होता है और ज्ञानवान् मनुष्य दुःखको प्राप्त नहीं होता क्योंकि अशक्य (करनेको अयोग्य) पदार्थके संकल्पसे भ्रांत मनुष्यको अतीव दुःख होता है इससे भ्रांति ही दुःखका हेतु है, वः ज्ञानिको नहीं होती ॥ ६९ ॥

मायामयत्वं भोगस्य बुद्ध्वाऽऽस्थामुपसंहरन् ॥
भुंजानोऽपि न संकल्पं कुरुते व्यसनं कुतः ॥ १७० ॥

अब विवेकीको दुःखका अभाव दिखाते हैं कि ज्ञानी पुरुष भोगको मायामयी समझकर और उसकी आस्था (अवधि) का उपसंहार (समाप्ति) करता हुआ भोगको भोगता हुआ भी संकल्प नहीं करता इससे उसको दुःख किस प्रकार हो सकता है अर्थात् नहीं हो सकता ॥ १७० ॥

स्वप्नेन्द्रजालसदृशमचिंत्यरचनात्मकम् ॥
दृष्टनष्टं जगत्पश्यन् कथं तत्रानुरज्यति ॥ ७१ ॥

कदाचित् कहो कि भोगके मायामय होनेपर भी तत्काल सुखदायी होनेसे स्थितिका उपसंहार कैसे होगा-सो ठीक नहीं क्योंकि स्वप्न इंद्रजाल इनके तुल्य

और अचिंत्य (जो बुद्धिमें न आवे) रचनारूप और दीखता ही नाशमान जो जगत् उसको देखता हुआ ज्ञानी कैसे जगत्में अनुराग (प्रीति) को करेगा अर्थात् न करेगा ॥ ७१ ॥

स्वस्वप्रमापरोक्ष्यण दृष्ट्वा पश्यन् स्वजागरम् ॥
चिंतयदप्रमत्तः सन्नुभावनुदिनं मुहुः ॥ ७२ ॥

कदाचित् कहो कि यदि जगत्में स्वप्न इंद्रजालकी तुल्यता हो तो आसक्ति भी न हो अतः इंद्रजालतुल्य जगत् कैसे हो सकता है यह शंका करके अनासक्तिके जन्मका उपाय दो श्लोकोंसे कहते हैं कि अपने स्वप्नको प्रत्यक्ष देखकर अपने जागरणको देखता हुआ अप्रमत्त मनुष्य प्रतिदिन बारंबार यह चिंता करता है कि यह जागरण स्वप्नके तुल्य है ॥ ७२ ॥

चिरं तयोः सर्वसाम्यमनुसंधाय जागरे ॥
सत्यत्वबुद्धिं संत्यज्य नानुरज्यति पूर्ववत् ॥ ७३ ॥

इस प्रकार चिरकालतक उन दोनों स्वप्न और जागरणकी सब प्रकारसे तुल्यता को स्मरण करके अर्थात् तत्काल भोगके हेतु, परिणाममें विरस, विनाशी होनेसे दोनों समान हैं यह जानकर जाग्रत् अवस्थामें सत्यत्व बुद्धिको त्यागकर पूर्वके समान उसमें अनुरागको प्राप्त नहीं होता अर्थात् आसक्तिको छोडकर उदासीन होकर संसारके संपूर्ण भोगोंको भोगता है ॥ ७३ ॥

इंद्रजालमिदं द्वैतमचिंत्यरचनात्वतः ॥
इत्यविस्मरतो हानिः का वा प्रारब्धभोगतः ॥ ७४ ॥

कदाचित् कहो कि इस प्रकार प्रपंचके मिथ्याज्ञानका और विषयोंकी सत्यतासे होनेवाले भोगका परस्पर विरोध है इससे मिथ्या समझ कर भोग कैसे होगा ? इस शंकाको इस प्रकार दूर करते हैं कि भोगमें विषयके सत्य होनेकी अपेक्षाके अभावको दिखाते हैं कि यह द्वैत (भोगने योग्य पदार्थोंका समूह) इंद्रजाल है अर्थात् इंद्रजालके समान मिथ्या है क्योंकि जगत्की रचना चिंताके अयोग्य है इस युक्तिसे अनुसंधान करके बुद्धिमान् (ज्ञानी) के प्रारब्धकर्मसे मिले भोगसे मिथ्या ज्ञानकी और मिथ्याज्ञानसे प्रारब्धभोगकी क्या हानि है अर्थात् कुछ नहीं। भावार्थ यह है कि अचिंत्यरचनारूप होनेसे यह जगत् इंद्रजाल है इसका स्मरण करते हुए ज्ञानीको प्रारब्धभोगसे कौन हानि है अर्थात् कुछ नहीं ह ॥ ७४ ॥

निबधस्तत्त्वविद्याया इंद्रजालत्वसंस्मृतौ ॥
प्रारब्धस्याग्रहो भोगे जीवस्य सुखदुःखयोः ॥ ७५ ॥

अब ज्ञानके विषयोंका भेद दिखाते हैं कि जगत्के तत्त्वका जो विद्यारूप ज्ञान है उसका इंद्रजालके समान जगत्को मिथ्या समझनेमें निर्बंध (तात्पर्य) है कुछ भोगके दूर करनेमें नहीं, प्रारब्धका जीवको सुख दुःख देनेमें आग्रह है कुछ भोगकी सत्यतामें नहीं ॥ ७५ ॥

विद्यारब्धे विरुध्येते न भिन्नविषयत्वतः॥
जानद्भिरप्यैन्द्रजालविनोदो दृश्यते खलु ॥ ७६ ॥

इस प्रकार भिन्न विषयको दिखाकर अनुमानको कहते हैं कि विद्या और प्रारब्धकर्मका परस्पर विरोध नहीं है भिन्न २ विषय होनेसे रूपरस आदिके ज्ञानके तुल्य अर्थात् भिन्न विषय होनेसे ज्ञान प्रारब्धकर्मका परस्पर विरोध नहीं है। अब भोग्यपदार्थको मिथ्या समझना भोगमें बाधक नहीं होता इसमें दृष्टांत कहते हैं कि मिथ्या जानते हुए भी मनुष्य इंद्रजालके विनोद (चमत्कार) को निश्चयसे देखते हैं यह बात जगतमें प्रसिद्ध है ॥ ७६ ॥

जगत्सत्यत्वमापाद्य प्रारब्धं भोजयेद्यदि ॥
सदा विरोधि विद्याया भोगमात्रान्न सत्यता ॥ ७७ ॥

जो विद्या और प्रारब्धकमका विरोध कहता है वह यह पूछने योग्य है कि प्रारब्ध-कर्म विद्याका विरोधी है वा विद्या प्रारब्धकर्मकी विरोधिनी है उनमें प्रथम तो ठीक नहीं इसका वर्णन करते हैं कि यदि प्रारब्धकर्म जगत्की सत्यताका संपादन करके जीवको सुख दुःख दे तो विद्याका विषय जो मिथ्यात्व उसके नष्ट होनेसे विद्याका विरोधी होजाता और ऐसा है नहीं किंतु भोगको ही प्रारब्धकर्म देता है, इससे विद्याका विरोधी नहीं है. कदाचित् कहो कि भोगमात्रसे ही विषय सत्य हो जायगा सो भी ठीक नहीं क्योंकि भोगमात्रसे सत्यता नहीं होती है अर्थात् विवादका स्थान जगत् सत्य है भोग्य होनेसे इस अनुमानमें कोई दृष्टांत नहीं है। भावार्थ यह है कि जगत् सत्य बनाकर यदि प्रारब्धकर्म सुख दुःख दे तो विद्याका विरोधी हो ऐसा है नहीं और भोगमात्रसे विषय सत्य नहीं हुआ करता है ॥ ७७ ॥

अनूनो जायते भोगः कल्पितैः स्वप्नवस्तुभिः ॥
जाग्रद्वस्तुभिरप्येवमसत्यैर्भोग इष्यताम् ॥ ७८ ॥

कदाचित् कहो कि मिथ्यापदार्थोंसे भोग होता है इसमें भी कोई दृष्टांत नहीं है इस शंकाको करके कहते हैं कि जैसे कल्पनामात्र स्वप्नकी वस्तुओंसे जैसा अनून (पूर्ण) भोग होता है इसी प्रकार जाग्रत् अवस्थाकी असत्य वस्तुओंसे भी भोगको मानो ॥ ७८ ॥

यदि विद्याऽपह्नुवीत जगत्प्रारब्धघातिनी ॥
तदा स्यान्न तु मायात्वबोधेन तदपह्नवः ॥ ७९ ॥

विद्या प्रारब्धविरोधिनी है यह भी नहीं कह सकते कि यदि विद्या भोग्य समूहरूप जगत्का यह शुक्ति रजत नहीं इसके समान अपह्नव (बाध) करे अर्थात् प्रतीत हुए जगत्का विलय करे तो प्रारब्धकर्मकी नाशक हो सकती है और ऐसे करती नहीं किंतु मिथ्या बोधन करती है कदाचित् कहो कि मिथ्या बोधनसे जगत्का अपह्नव हो जायगा सो भी नहीं क्योंकि मायारूप जतानेसे जगत्का अपह्नव नहीं होता है क्योंकि इंद्रजाल आदिमे स्वरूपके विलापन (नाश) के विना भी मिथ्यात्वको देखते हैं। भावार्थ यह है कि विद्या जगत्का अपह्नव करे तो प्रारब्धको नष्ट कर सकती है सो है नहीं और मायामय बोधनसे जगत्का अपह्नव नहीं होता है ॥ ७९ ॥

अनपह्नुत्य लोकास्तदिंद्रजालमिदं त्विति ॥
जानंत्येवानपह्नुत्य भोगं मायात्वधीस्तथा ॥ १८० ॥

उसका ही विस्तारसे वर्णन करते हैं कि जैसे लौकिक (जन) इस इंद्रजालके स्वरूपका निरास न करके यह जानते हैं कि यह इंद्रजाल है इसी प्रकार भोगके अपह्नवको न करके माया है यह ज्ञान भी हो जाता है॥ १८० ॥

यत्र त्वस्य जगत्स्वात्मा पश्येत्कस्तत्र केन किम् ॥
किं जिघ्रेत् किं वदेद्वेति श्रुतौ तु बहु घोषितम् ॥ ८१ ॥

अब दो श्लोकोंसे यह शंका करते हैं कि जिस ज्ञान अवस्थामें इस ज्ञानीको संपूर्ण जगत् आत्मरूप ही हो जाता है उस दशामें कौन देखनेवाला किस नेत्र आदि इंद्रियसे किस देखने योग्य जगत्को देखे, इसी प्रकार किस घ्राणरूप इंद्रियसे किस पुष्प आदिको सूंघे और किस वचनको किस वाक्इंद्रियसे कहे इस प्रकार इंद्रियोंके व्यापारके अभावके द्योतनके लिये वाशब्द है इस प्रकार श्रुतिमें बहुत बार कहा है। भावार्थ यह है कि जब इस ज्ञानीको सब आत्मरूप हो गया तब किससे किसको देखे किससे किसको सूंघे किससे क्या कथन करे इस प्रकार श्रुतिमें बहुत कहा है यह श्रुति द्रष्टा दर्शन दृश्यरूप जगत्के अभावका बोधन करती है। इससे पैदा हुई विद्या जगत्का विलय अवश्य करेगी ऐसा होनेपर विद्वान्को भोग कैसे होगा ? ॥ ८१ ॥

तेन द्वैतमपह्नुत्य विद्योदेति न चान्यथा ॥
तथा च विदुषो भोगः कथं स्यादिति चेच्छृणु ॥ ८२ ॥

इस पूर्वोक्त श्रुतिके कथनसे द्वैतका अपह्नव करके विद्याका उदय होता है अन्यथा नहीं इससे विद्वान्‌को भोग कैसे होगा ? ऐसी कोई शंका करे तो इसका उत्तर सुनो कि ॥ ८२ ॥

सुषुप्तिविषया मुक्तिविषया वा श्रुतिस्त्विति ॥
उक्त स्वाप्ययसंपत्त्योरिति सूत्रे ह्यतिस्फुटम् ॥ ८३ ॥

यह पूर्वोक्त श्रुति सुषुप्तिके विषयमें है वा मुक्तिके विषयमें है यह "स्वाप्यय-संपत्त्योः" इस सूत्रके विषे अत्यंत स्फुट कहा है सूत्रका अर्थ यह है कि स्वाप्यय (अपनाध्वंस) अर्थात् सुषुप्ति और संपत्ति (मुक्ति) अर्थात् ब्रह्मरूप होना इसमें अन्यतर (कोईसा) की अपेक्षा श्रुतिको है अर्थात् दोनों अवस्थामें ही किसीको देखना आदि नहीं बन सकता है ॥ ८३ ॥

अन्यथा याज्ञवल्क्यादेराचार्यत्व न सभवत् ॥
द्वैतदृष्टावविद्वत्ता द्वैतादृष्टौ न वाग्वदेत् ॥ ८४ ॥

अब पूर्वोक्त श्रुतिको सुषुप्ति और मुक्तिके विषय न माननेमें बाधक (दोष) कहते हैं कि अन्यथा याज्ञवल्क्य आदि आचार्य न होंगे क्योंकि यदि याज्ञवल्क्य आदिने द्वैतको देखा तो अद्वैतज्ञानके अभावसे अज्ञानी होनेसे आचार्य न होंगे और यदि द्वैतको नहीं देखा तो बोधनके योग्य शिष्यके न मिलनेसे आचार्यकी वाणी शिष्य प्रति बोधनके लिये प्रवृत्त न होगी इससे ज्ञानकी संप्रदायका भंग होजायगा इससे पूर्वोक्त श्रुति सुषुप्ति और मुक्तिके विषयमें है यह मानने योग्य है ॥ ८४ ॥

निर्विकल्पसमाधौ तु द्वैतादर्शनहेतुतः ॥
सैवापरोक्षविद्येति चेत्सुषुप्तिस्तथा न किम् ॥ ८५ ॥

कदाचित् कहो कि याज्ञवल्क्य आदि आचार्य अवस्थामें विद्यमान थे परंतु उनकी अपरोक्षविद्या द्वैतके देखनेसे न थी किंतु निर्विकल्पसमाधिमें द्वैतके न दीखनेरूप हेतुसे थी, निर्विकल्पसमाधि ही अपरोक्षविद्या है सो ठीक नहीं क्योंकि द्वैतकी अप्रतीतिसे ही अपरोक्षविद्या मानोगे तो सुषुप्ति भी अपरोक्ष विद्या हो जायगी ॥ ८५ ॥

आत्मतत्त्व न जानाति सुप्तौ यदि तदा त्वया ॥
आत्मधीरेव विद्येति वाच्यं न द्वैतविस्मृतिः॥ ८६ ॥

अब अतिप्रसंग (दोष) के परिहारकी शंका करते हैं कि यदि सुषुप्तिमें द्वैतदर्शनके अभाव होने पर भी आत्माके ज्ञानका अभाव है इससे वह विद्या नहीं

है तो आपको आत्मबुद्धिको अर्थात् आत्माके विवेकज्ञानकोही विद्या कहना चाहिये द्वैत (जगत्) के विस्मरणको नहीं ॥ ८६ ॥

उभयं मिलितं विद्या यदि तर्हि घटादयः ॥
अर्धविद्याभाजिनः स्युः सकलद्वैतविस्मृतेः ॥ ८७ ॥

कदाचित् कहो कि द्वैतके दर्शनका अभाव तथा आत्मज्ञान ये दोनों मिले हुए विद्या हैं एक २ नहीं तो द्वैतकी विस्मृतिको भी विद्याका अंश माननेसे जडरूप घट आदि भी अर्धविद्याके भागी होजायँगे क्योंकि उनको संपूर्ण द्वैतका स्मरण नहीं है ॥ ८७ ॥

मशकध्वनिमुख्यानां विक्षेपाणां बहुत्वतः ॥
तव विद्या तथा न स्याद्घटादीनां यथा दृढा ॥ ८८ ॥

अब इसी पक्षमें समाधिमें स्थित मनुष्योंको आधी विद्या भी न होगी यह बात हँसीसे कहते हैं कि समाधिमें भी मशक (मच्छर) आदिके बहुतसे शब्दरूप विक्षेप होते रहते हैं इससे समाधिमें स्थित आपको भी वैसी विद्या न होगी जैसी घट आदिकोंकी होती है ॥ ८८ ॥

आत्मधीरेव विद्येति यदि तर्हि सुखी भव ॥
दुष्टचित्तं निरुंध्याच्चेन्निरुंद्धि त्व यथासुखम् ॥ ८९ ॥

यदि आत्मज्ञान ही विद्या है और द्वैतका विस्मरण विद्या नहीं है तो वह हमको भी इष्ट है इससे तू भी उसके माननेसे सुखी हो । कदाचित् कहो कि वह आत्म-ज्ञान दुष्टचित्तमें नहीं हो सकता इससे चित्तवृत्तिका निरोध करना चाहियेसो ठीक है, तू दुष्टचित्तको रोकता है तो सुखसे रोक ॥ ८९ ॥

तदिष्टमेष्टव्यमायामयत्वस्य समीक्षणात् ॥
इच्छन्नप्यज्ञवन्नेच्छेत्किमिच्छन्निति हि श्रुतम् ॥ १९० ॥

वह चित्तका रोकना हमको भी इष्ट है क्योंकि चित्तके दोषोंके दूर होनेपर अद्वितीय आत्मज्ञानके लिये इष्ट जो जगत्का मायामयरूप वह भले प्रकार दीखता है और इच्छा करता हुआ भी यह अज्ञ (मूर्ख वा जड) के समान इच्छा नहीं करता इससे श्रुतिमें क्या इच्छा करता हुआ किसकी कामनाके लिये शरीरको दुःख दे यह सुना है ॥ १९० ॥

रागो लिंगमबोधस्य सन्तु रागादयो बुधे ॥
इति शास्त्रद्वयं सार्थमेवं सत्यविरोधतः ॥ ९१ ॥

इस प्रकार अभिप्रायसे वर्णनमें कारण कहते हैं कि 'चित्तके विषयोंकी भूमियोंमें राग (प्रीति) है वही बोधके अभावका लिंग (चिह्न) है क्योंकि जिस वृक्षके कोटरमें अग्नि है वह हरा कहांसे होगा' यह तो तत्त्ववेत्ताको रागका निषेधक शास्त्र और 'शास्त्रार्थके समाप्त होनेसे जो ज्ञान उससे ही मुक्ति हो जायगी, राग आदि यथेच्छ रहें उनके होनेका निवारण नहीं करते' यह ज्ञानीको ही रागके अंगीकारका बोधक शास्त्र य दोनों रागके निषेधक और बोधक शास्त्र दोनोंका तत्त्ववेत्ताको दृढरागके अभावमें बन सकते हैं क्योंकि दोनोंका कोई परस्पर विरोध नहीं आता है भावार्थ यह है कि अज्ञानका कारण राग है और ज्ञानीमें राग होय तो कुछ चिंता नहीं ये दोनों शास्त्र अविरोधसे चरितार्थ होते हैं अर्थात् रागनिषेधक शास्त्र दृढराग विषयक है और राग-बोधक शास्त्र रागाभास विषयक है अतः दोनोंका अविरोध होनेसे दोनो सार्थक हैं क्यों-कि ज्ञानीका राग दृढ राग न होकर रागाभासमात्र है ॥ ९१ ॥

जगन्मिथ्यात्ववत्स्वात्मासंगत्वस्य समीक्षणात् ॥
कस्य कामायेति वचो भोक्त्रभावविवक्षया ॥ ९२ ॥

इस प्रकार 'किसकी इच्छा करता हुआ' इस अंशके अभिप्रायका वर्णन करके 'किसकी कामनाके लिये शरीरको दुःख दे' इस अंशका अभिप्राय कहते हैं कि जैसे जगत्के मिथ्याज्ञानसे वास्तविक काम्यके अभावकी विवक्षासे 'किमिच्छन्' यह मंत्र कहा है इसी प्रकार आत्माको असंग जानकर वास्तविक (यथार्थ) भोक्ताके अभावकी विवक्षासे 'कस्य कामाय' यह श्रुतिने कहा है ॥ ९२ ॥

पतिजायादिकं सर्वं तत्तद्भोगाय नेच्छति ॥
किंत्वात्मभोगार्थमिति श्रुतावुद्घोषितं बहु ॥ ९३ ॥

कदाचित् कहो कि आत्माको भोक्ताका निषेध आसक्ति होनेपर कहना चाहिये और आसक्ति असंग होनेसे आत्मामें है नहीं यह ठीक नहीं क्योंकि आत्मामें आसक्ति अनुभवसिद्ध है इस अभिप्रायसे आसक्तिकी बोधक श्रुतिके अर्थको पढते हैं कि पति और जाया आदि सबकी जो प्राणी इच्छा करता है वह पति जाया आदिके भोगके लिये नहीं करता किंतु अपने भोगके लिये करता है इस प्रकार इसें श्रुतिमें बहुत वर्णन किया है कि 'अरे पतिकी कामनाके लिये पति प्यारा नहीं होता किंतु अपनी कामनाके लिये सब प्रिय होते हैं' इत्यादि ग्रंथ आत्माको भोगका साधन कहते हैं इससे आत्मा भोक्ता है ॥ ९३ ॥

किं कूटस्थश्चिदाभासोऽथवा किंवोभयात्मकः ॥
भोक्ता तत्र न कूटस्थोऽसंगत्वाद्भोक्तृतां व्रजेत् ॥ ९४ ॥

---

१ न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति—आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति—

इस प्रकार आत्माको भोक्ता दिखाकर उसके निषेधके लिये भोक्तामें विकल्पकी शंका करते हैं कि क्या कूटस्थ भोक्ता है वा चिदाभासरूप जीव है वा दोनों हैं ? उन तीनोंमें प्रथम कूटस्थ तो भोक्ता असंग होनेसे नहीं हो सकता है ॥९४॥

सुखदुःखाभिमानाख्यो विकारो भोग उच्यते ॥
कूटस्थश्च विकारी चेत्येतन्न व्याहतं कथम् ॥ ९५ ॥

कदाचित् कहो कि कूटस्थ असंग व भोक्ता दोनोंरूप रहे क्या दोष है ? सो ठीक नहीं क्योंकि सुखदुःखके विकाररूप अभिमानको भोग कहते हैं इससे कूटस्थ है और विकारी है यह वचन किस प्रकार व्याहत (कहनेके अयोग्य) कैसे न होगा अर्थात् अवश्य होगा क्योंकि कूटस्थत्व और विकारित्व ये दोनों धर्म एकमें नहीं रह सकते ॥ ९५ ॥

विकारिबुद्धयधीनत्वादाभासे विकृतावपि ॥
निरधिष्ठानविभ्रांतिः केवला नहि तिष्ठति ॥ ९६ ॥

कदाचित् कहो कि विकारीरूप चिदाभास भोक्ता रहे सो भी ठीक नहीं क्योंकि चिदाभास भी विकारी बोधके अधीन है अत एव आभासमें विकारके होनेपर भी आरोप किये (माने हुए) विकारके अधिष्ठानभूत कूटस्थको छोडकर स्वतंत्ररूपसे चिदाभासकी स्थितिका असंभव है इससे केवल चिदाभास भी भोक्ता नहीं हो सकता क्योंकि अधिष्ठानके विना भ्रम कहीं नहीं होता है इससे निरपेक्ष दोनोंको भी भोक्ता नहीं कह सकते ॥ ९६ ॥

उभयात्मक एवातो लोके भोक्ता निगद्यते ॥
तादृगात्मानमारभ्य कूटस्थः शेषितः श्रुतौ ॥ ९७ ॥

इससे तीसरा पक्ष ही शेष रहता है उसको दिखाते हैं कि एक भोक्ता नहीं हो सकता इससे कूटस्थरूप अधिष्ठान सहित चिदाभास लोकमें अर्थात् व्यवहारदशामें भोक्ता कहा जाता है, परमार्थदृष्टिसे तो उभयरूप भी नहीं घट सकता है कदाचित् कहो कि 'यह पुरुष असंगरूप है' इत्यादिमें असंगके और 'जो यह प्राणियोंमें विज्ञानरूप है' इत्यादिमें बुद्धिसाक्षीके सुननेसे भोक्ताके दोनों रूप पारमार्थिक (सत्य) हैं लोकव्यवहारसे ही सिद्ध नहीं सो भी ठीक नहीं क्योंकि पूर्वोक्त श्रुतिका वह अभिप्राय नहीं इससे उक्त शंकाका निवारण करते हैं कि बुद्धि है उपाधि जिसकी ऐसे आत्मासे लेकर बुद्धि आदिकी कल्पनाका अधिष्ठानरूप जो कूटस्थ उसको ही बुद्धि आदि अनात्माके निषेधद्वारा बृहदारण्यक आदि श्रुतिमें शेष रक्खा है। भावार्थ यह है कि उभयरूप ही भोक्ता इससे जगत्में

कहा है क्योंकि उसी आत्मासे प्रारंभ करके श्रुतिमें कूटस्थको ही सत्यरूप होनेसे शेष रक्खा है ॥ ९७ ॥

आत्मा कतम इत्युक्ते याज्ञवल्क्यो विबोधयन् ॥
विज्ञानमयमारभ्यासंगं तं पयशेषयत् ॥ ९८ ॥

उसमें बृहदारण्यकके वाक्यको संक्षेपसे दिखाते हैं कि जब राजा जनकने 'आत्मा कौनसा है' यह पूछा तब याज्ञवल्क्यने उनको विबोधन करते(समझाते) हुए 'जो यह प्राणोंमें विज्ञानमय है वह है' इस प्रकार विज्ञानमयसे लेकर 'असंग यह पुरुष है' इस वचनसे असंग कूटस्थका ही परिशेष किया है अर्थात् कूटस्थ ही सत्यरूप शेष रक्खा है अन्य सब मिथ्या कहा है ॥ ९८ ॥

कोऽयमात्मेत्येवमादौ सर्वत्रात्मविचारतः ॥
उभयात्मकमारभ्य कूटस्थः शेष्यते श्रुतौ ॥ ९९ ॥

इस प्रकार बृहदारण्यकके असंग आत्माके प्रकारको दिखाकर ऐतरेय आदि श्रुतियोंमें कहे प्रकारको दिखाते हैं कि 'जिसकी हम उपासना करते हैं वह यह आत्मा कौन है' इत्यादि वचनोंमें सर्वत्र आत्माके विचारसे अर्थात् अंतःकरणोपाधि आत्माके प्रारंभसे प्रज्ञानमात्ररूप कूटस्थको ही श्रुतिमें शेष रक्खा है इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना ऐसे श्रुतियोंके देखनेसे उभयरूप भोक्ताका मिथ्यात्व है और असंग कूटस्थको अभोक्तृत्व है यह सिद्ध हुआ ॥ ९९ ॥

कूटस्थसत्यतां स्वस्मिन्नध्यस्यात्माऽविवेकतः ॥
तात्त्विकीं भोक्ततां मत्वा न कदाचिज्जिहासति ॥ २०० ॥

कदाचित् कहो कि पूर्वोक्त रीतिसे भोक्ताके मिथ्यात्व होनेपर उसमें प्राणियोंकी सत्य बुद्धि किससे हो जाती है सो ठीक नहीं क्योंकि लोकमें प्रसिद्ध आत्मा जो भोक्ता है वह अज्ञानसे अर्थात् मैं कूटस्थसे भिन्न हूं इस ज्ञानके अभावसे कूटस्थकी सत्यताको अपनेमें मानकर और उसीके द्वारा अपनेको सत्य भोक्ता मानकर कदाचित् भोगके त्यागकी इच्छा नहीं करता ॥ २०० ॥

भोक्ता स्वस्यैव भोगाय पतिजायादिमिच्छति ॥
एष लौकिकवृत्तांतः श्रुत्या सम्यगनूदितः ॥ १ ॥

कदाचित् कहो कि भोगको आत्माका शेष कैसे प्रतिपादन करते हो सो ठीक नहीं क्योंकि हम कूटस्थ आत्माका शेष प्रतिपादन नहीं करते किंतु लोकप्रसिद्ध उभयरूप जो भोक्ता उसका शेष प्रतिपादन करना ही श्रुतिसे सुना जाता है कारण कि जगत्में जो भोक्ता है वह भी अपने ही भोगके लिये पति जाया आदिकी इच्छा करता है अन्यके लिये नहीं यह लोकका वृत्तांत श्रुतिने भले प्रकार कहा है ॥ १ ॥

भोग्यानां भोक्तृशेषत्वान्मा भोग्येष्वनुरज्यताम् ॥
भोक्तर्येव प्रधानेऽतोऽनुरागं त विधित्सति ॥ २ ॥

अब भोक्तामें ही प्रेमके लिये अनुवादको कहते हैं कि पति जाया आदि जो भोगकी वस्तु हैं वे भोक्ताकी ही उपकरण हैं इससे भोगोंमें अनुराग नहीं करना किंतु प्रधानरूप भोक्तामें ही करना इसका विधान श्रुति करती है ॥ २ ॥

या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी ॥
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु ॥ ३ ॥

अब भोग्य विषयोंमें त्यागपूर्वक आत्मामें प्रेम करनेमें दृष्टांतसे ईश्वरमें प्रेमकी प्रार्थनापूर्वक पुराणके वचनको कहते हैं कि अविवेकी अर्थात् आत्मज्ञानसे शून्य मनुष्योंको जैसी दृढ प्रीति विषयोंमें होती है हे लक्ष्मीपते! वह प्रीति तेरा स्मरण करते हुए मेरे हृदयसे चली जाय अर्थात् मेरा मन विषयोंमें आसक्तिको छोडकर आपमें ही सदा टिके अथवा अविवेकियोंकी जैसी दृढप्रीति विषयोंमें है वैसी प्रीति तेरा स्मरण करते हुए मेरे हृदयसे मत जाय अर्थात् सदा आपमें ही प्रीति बनी रहे ॥ ३ ॥

इति न्यायेन सर्वस्माद्भोग्यजाताद्विरक्तधीः ॥
उपसंहृत्य तां प्रीतिं भोक्तर्येनं बुभुत्सते ॥ ४ ॥

इस पुराणोक्त न्यायसे संपूर्ण पति जाया आदि भोगके समूहसे विरक्त है बुद्धि जिसकी ऐसा मनुष्य उस प्रीतिका भोक्तामें उपसंहार करके इस आत्माके जाननेकी इच्छा करता है ॥ ४ ॥

स्रक्चन्दनवधूवस्त्रसुवर्णादिषु पामरः ॥
अप्रमत्तो यथा तद्वन्न प्रमाद्यति भोक्तरि ॥ ५ ॥

इस प्रकार आत्मामें ही भोगके उपसंहारसे जो फलित हुआ उसको दृष्टांतपूर्वक कहते हैं कि पामर (मूढ) मनुष्य स्रक् चंदन स्त्री वस्त्र सुवर्ण आदिमें जिस प्रकार अप्रमत्त रहता है अर्थात् सावधान होता है इसी प्रकार मुमुक्षु भी भोक्तारूप आत्मामें प्रमाद नहीं करता है किंतु सदा आत्मामें ही स्थित रहता है ॥ ५ ॥

काव्यनाटकतर्कादिमभ्यस्यति निरंतरम् ॥
विजिगीषुर्यथा तद्वन्मुमुक्षुः स्वं विचारयेत् ॥ ६ ॥

अब सावधानीको ही बहुतसे दृष्टांतोंसे स्पष्ट करते हैं कि जैसे विजिगीषु (वादीकी पराजयका अभिलाषी) मनुष्य इस लोकमें काव्य नाटक तर्क आदिका निरंतर अभ्यास करता है इसी प्रकार मुमुक्षु भी सदैव अपने आत्माको विचारे ॥ ६ ॥

जपयागोपासनादि कुरुते श्रद्धया यथा ॥
स्वर्गादिवांछया तद्वच्छ्रद्दध्यास्वे मुमुक्षया ॥ ७ ॥

जैसे जप यज्ञ उपासना आदिको श्रद्धासे स्वर्ग आदिकी वांछासे करता है इसी प्रकार मुक्त होनेकी इच्छासे आत्मामें श्रद्धा करे अर्थात् विश्वाससे आत्माका विचार करे ॥ ७ ॥

चित्तैकाग्र्यं यथा योगी महायासेन साधयेत् ॥
अणिमादिप्रेप्सयैवं विविच्यात् स्वं मुमुक्षया ॥ ८ ॥

जिस प्रकार योगी चित्तकी एकाग्रताको अणिमा आदि सिद्धियोंकी इच्छासे सिद्ध करता है इसी प्रकार मुमुक्षु भी अपनी आत्माको देह आदिसे विविक्त (पृथक्) जाने ॥ ८ ॥

कौशलानि विवर्धन्ते तेषामभ्यासपाटवात् ॥
यथा तद्वद्विवेकोऽस्याप्यभ्यासाद्विशदायते ॥ ९ ॥

अब अभ्यासके फलको दिखाते हैं कि जैसे अभ्यासके पाटव (चतुरता) से उनकी कुशलता उस २ विषयमें बढती है इसी प्रकार मुमुक्षुका भी विवेक अभ्याससे विशद (स्पष्ट) हो जाता है ॥ ९ ॥

विविञ्चता भोक्तृतत्त्वं जाग्रदादिष्वसंगता ॥
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां साक्षिण्यध्यवसीयते ॥ २१० ॥

अब विवेककी स्पष्टताका फल कहते हैं कि पूर्वोक्त अन्वयव्यतिरेकसे भोक्ताके तत्त्वका अर्थात् पारमार्थिक स्वरूपका विवेक (भोग्योंसे पृथक् जानना) करते हुए मनुष्यको जाग्रत् आदिमें जो साक्षीकी असंगता है उसका निश्चय हो जाता है अर्थात् साक्षीको असंग जान लेता है ॥ २१० ॥

यत्र यद्दृश्यते द्रष्टा जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु ॥
तत्रैव तन्नेतरत्रेत्यनुभूतिर्हि संमता ॥ ११ ॥

अब अन्वयव्यतिरेकोंको दिखाते हैं कि जाग्रत् आदिके मध्यमें जिस स्थानमें द्रष्टा जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति अवस्थामें जिस स्थूलसूक्ष्म आनंदरूप तीन प्रकारके भोग्य पदार्थको साक्षी होकर देखता है अर्थात् जानता है वह देखने योग्य पदार्थ उसी अवस्थामें टिकता है और दूसरी अवस्थामें नहीं होता और द्रष्टा तो सर्वत्र अनुगत (एकरूप) है यह अनुभव सबको संमत है ॥ ११ ॥

स यत्तत्रेक्षते किंचित्तेनानन्वागतो भवेत् ॥
दृष्ट्वैव पुण्यं पापं चेत्येवं श्रुतिषु डिंडिमः ॥ १२ ॥

अब अनुभवको दिखाकर वेदको भी दिखाते हैं कि 'वह आत्मा' जो कुछ [1]उस अवस्थामें देखता है अर्थात् भोग्य पदार्थको भोगता है उस भोग्य पदार्थसे अन्वागत (आसक्त)न होकर रहता है अर्थात् उसका अनुयायी नहीं होता है उसके पुण्य पापके सुख दुःखरूप फलको देख ही अर्थात् उसको ग्रहण न करके स्वयं ही दूसरी अवस्थामें प्राप्त होजाता है' यही इत्यादि श्रुतियोंमें डिंडिम (ढंडोरा) है कि सो वहां जो कुछ देखता है उसमें अनासक्त असंग यह पुरुष जो है वह इसमें रमकर पुण्य पापके संबंध विना फिर प्रतियोनिमें गमन करता है ॥ १२ ॥

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादिप्रपंचं यत्प्रकाशते ॥
तद्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा सर्वबंधैः प्रमुच्यते ॥ १३ ॥

अब भोक्ताके तत्त्वका विवेक जिनसे हो ऐसी अन्य श्रुतियोंको दिखाते हैं कि जो सत्य ज्ञान आनंदरूप ब्रह्म साक्षीरूपसे स्थित होकर जाग्रत् आदि प्रपंचको प्रकाशित करता है वही ब्रह्मरूप मैं हूं और बुद्धि चिदाभास रूप नहीं हूं यह जानकर अर्थात् श्रुति और अनुभवसे निश्चय करके ममातृत्व कर्तृत्व आदि संपूर्ण बंधनोंसे छूटता है ॥ १३ ॥

एक एवात्मा मंतव्यो जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु ॥
स्थानत्रयव्यतीतस्य पुनर्जन्म न विद्यते ॥ १४ ॥

जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओंमें एक ही आत्मा मानना इस प्रकारके विवेक ज्ञानसे तीनों अवस्थाओंसे विविक्त (पृथक्) आत्माका पुनर्जन्म अर्थात् इस शरीरके पातके अनंतर दूसरे शरीरकी प्राप्ति नहीं होती ॥ १४ ॥

त्रिषु धामसु यद्भोग्यं भोक्ता भोगश्च यद्भवेत् ॥
तेभ्यो विलक्षणः साक्षी चिन्मात्रोऽहं सदाशिवः ॥ १५ ॥

तीनों अवस्थाओंमें जो भोग्य पदार्थ है और भोक्ता और जो भोग है इन तीनोंसे विलक्षण जो चिन्मात्र साक्षी सदाशिव अर्थात् सर्वोत्तम आनंदरूपसे सदैव शोभायमान है वह आत्मा मैं हूं ॥ १५ ॥

---

१ स यत्तत्र किंचित्पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवत्यसंगो ह्ययं पुरुषः। स वा एष एतस्मिन्संप्रसादे रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्यां द्रवति ।

एव विवेचिते तत्त्वे विज्ञानमयशब्दितः ॥
चिदाभासो विकारी यो भोक्तृत्वं तस्य शिष्यते ॥१६॥

इस पूर्वोक्त प्रकारसे जब तत्त्वका विवेक हो गया अर्थात् असंग आत्माका निश्चय होनेपर विज्ञानमय जिसको कहते हैं ऐसा जो विकारी चिदाभास उसको ही भोक्तृत्व शेष रहता है अर्थात् वही भोक्ता है ॥ १६ ॥

मायिकोऽयं चिदाभासः श्रुतेरनुभवादपि ॥
इंद्रजालं जगत्प्रोक्तं तदंतःपात्ययं यतः ॥ १७ ॥

कदाचित् कहो कि चिदाभासको भोक्ता मानोगे तो 'किसकी कामनाके लिये शरीरको दुःख दे' यह वचन भोक्ताके अभावकी विवक्षाके लिये है यह जो पूर्व कहा है वह असंगत होगा यह शंका करके और उस वचनको पारमार्थिक भोक्ताके अभावका बोधक स्वीकार करके चिदाभासरूप भोक्ताको मायिक सिद्ध करते हैं कि यह चिदाभास मायिक (मिथ्या) है क्योंकि 'माया आभाससे जीव ईश्वरको करती है' यह श्रुति है और अनुभव भी है कि यह चिदाभास द्रष्टा आदि तीनोंके मध्यमें है उसको ही दिखाते हैं कि इस जगत्को इंद्रजाल कहते हैं और जगत्के ही मध्यमें यह चिदाभास है अर्थात् इंद्रजालके समान मिथ्या जगत्के अंतर्गत होनेसे चिदाभास भी मिथ्या है यह सब विद्वानोंका अनुभव है ॥ १७ ॥

विलयोऽप्यस्य सुप्त्यादौ साक्षिणा ह्यनुभूयते ॥
एतादृशं स्वस्वभावं विविनक्ति पुनः पुनः ॥ १८ ॥

और जगत्के समान चिदाभास विनाशी है यह भी अनुभव दिखाते हैं कि, सुप्ति मूर्च्छा आदिकोंमें इस चिदाभासके विलय (नाश) को भी साक्षी देखता है और यह चिदाभास भी एतादृश (मिथ्या) अपने स्वभावको बारंबार विवेकसे जानता है अर्थात् कूटस्थसे पृथक् जब चिदाभासको जाना तब मिथ्यारूप अपने तत्त्वको कूटस्थसे पृथक् जानता है ॥ १८ ॥

विविच्य नाश निश्चित्य पुनर्भोगं न वांछति ॥
मुमूर्षुः शायितो भूमौ विवाहं कोऽभिवांछति ॥ १९ ॥

कूटस्थसे पृथक् अपने स्वरूपको जानकर और अपने नाशका निश्चय करके फिर भोगकी इच्छा नहीं करता जैसे मुमूर्षु (मरनेयोग्य) भूमिपर शयन कराया कौन मनुष्य अपने विवाहकी वांछा करता है अर्थात् कोई भी नहीं करता है ॥ १९ ॥

जिह्रेति व्यवहर्तुं च भोक्ताऽहमिति पूर्ववत् ॥
छिन्ननास इव ह्रीतः क्लिश्यन्नारब्धमश्नुते ॥ २२० ॥

और पूर्वके समान मैं भोक्ता हूं ऐसा व्यवहार करनेमें भी लज्जित होता है। कदाचित् कहो कि ज्ञानकी उत्पत्तिके अनंतर प्रारब्धके अंतपर्यंत कैसे व्यवहार करता है सो ठीक नहीं क्योंकि छिन्न है नासिका जिसकी ऐसे (नकटे) पुरुषके समान लज्जित होकर क्लेशको प्राप्त होता हुआ अर्थात् अब भी प्रारब्धकर्म नष्ट नहीं होता यह मानता हुआ प्रारब्धकर्मके फलको भोगता है ॥ २२० ॥

यदा स्वस्यापि भोक्तृत्वं मंतुं जिह्रेत्ययं तदा ॥
साक्षिण्यारोपयेदेतदिति कैव कथा वृथा॥ २१ ॥

अब ज्ञानके अनंतर साक्षी भोक्ता नहीं है यह कैमुतिकन्यायसे दिखाते हैं कि जब यह चिदाभास अपनेको भी भोक्ता माननेको अर्थात् मैं भोक्ता हूं यह जाननेको लज्जित होता है तब अपनेमें वर्तमान भोक्तृत्वको असंग साक्षीमें आरोप (मानना) करता है यह वृथा कथा कौन है अर्थात् कोई भी नहीं है क्योंकि आरोप मिथ्या होता है ॥ २१ ॥

इत्यभिप्रेत्य भोक्तारमाक्षिपत्यविशंकया ॥
कस्य कामायेति ततः शरीरानुज्वरो न हि ॥ २२ ॥

अब पूर्वोक्त अर्थको श्रुतिके आरूढ (अनुकूल) करते हैं कि 'किसकी कामनाके लिये' यह पूर्वोक्त श्रुति इसी अभिप्रायसे अर्थात् कूटस्थ वा चिदाभासको पारमार्थिक भोक्तृत्वके अभावके तात्पर्यसे शंकाको छोडकर भोक्ताका निषेध करती है इससे शरीरका संताप नहीं है ॥ २२ ॥

स्थूलं सूक्ष्मं कारणं च शरीरं त्रिविधं स्मृतम् ॥
अवश्यं त्रिविधोऽस्त्येव तत्र तत्रोचितो ज्वरः ॥ २३ ॥

अब तत्त्वज्ञानीको शरीरके अनुसार ज्वरका अभाव दिखानेके लिये शरीरके भेद और उनमें ज्वरके संभवको दिखाते हैं कि स्थूल सूक्ष्म कारण इन भेदोंसे शरीर तीन प्रकारका कहा है और उस २ शरीरमें उचित ज्वर भी अवश (अयत्नसे) है अर्थात् सर्वत्र संताप है ॥ २३ ॥

वातपित्तश्लेष्मजन्यव्याधयः कोटिशस्तनौ ॥
दुर्गंधित्वकुरूपत्वदाहभंगादयस्तथा ॥ २४ ॥

अब स्थूल शरीरके ज्वरोंको कहते हैं कि वात पित्त श्लेष्म (कफ) इनसे उत्पन्न कोटियों व्याधि और वैसे ही दुर्गंधित्व विरूप होना और देहका भंग आदि दुःख स्थूल देहमें होते हैं ॥ २४ ॥

कामक्रोधादयः शांतिदांत्याद्या लिंगदेहगाः ॥
ज्वरा द्वयेऽपि बाधंते प्राप्त्याऽप्राप्त्या नरं क्रमात्॥ २५ ॥

अब सूक्ष्म शरीरके ज्वरोंको दिखाते हैं कि काम क्रोध आदि और शांति दांति आदि ज्वर लिंगदेहमें होते हैं ये दोनों प्रकारके भी ज्वर मिलने और न मिलनेसे मनुष्यको क्रमसे बाधते हैं इसीसे ज्वरके तुल्य होनेसे ज्वर कहाते हैं ॥ २५ ॥

स्वं परं च न वेत्त्यात्मा विनष्ट इव कारणे ॥
आगामि दुःखबीजं चेत्येतदिंद्रेण दर्शितम् ॥ २६ ॥

कारण शरीरका ज्वर छांदोग्य श्रुतिमें कहा है कि 'कारणशरीरमें आत्मा नष्टके समान अपने और परको नहीं जानता और कारणशरीर आगामी (भविष्य) दुःखोंका बीज है' यह इंद्रने प्रजापति गुरुके आगे निवेदन इस श्रुतिसे किया है कि कारणशरीरमें यह आत्मा ऐसे नहीं जानता कि यह मैं हूं और न इन भूतोंको जानता है, विनाशमें लीन हुआ यह जानता है कि इस समय मैं भोगने योग्य विषयको नहीं देखता हूं' इस मंत्रसे अपने पराये ज्ञानसे शून्यता और अज्ञानसे नष्टप्रायता और अग्रिम दिनमें भविष्य दुःखोंका हेतु कारणशरीर है यह इंद्रने गुरुके आगे निवेदन किया है ॥ २६ ॥

एते ज्वराः शरीरेषु त्रिषु स्वाभाविका मताः ॥
वियोगे तु ज्वरैस्तानि शरीराण्येव नासते ॥ २७ ॥

इस प्रकार तीनों देहोंमें ज्वरोंको कहकर उनकी निवृत्तिके अभावको कहते हैं कि तीनों प्रकारके भी शरीरोंमें प्रतीत हुए ये ज्वर स्वाभाविक हैं अर्थात् शरीरके संग उत्पन्न होनेसे स्वाभाविक माने हैं अब स्वाभाविक होनेको ही व्यतिरेक (निषेध) मुखसे दृढ करते हैं कि जिस कारणसे जब ज्वरोंसे उन शरीरोंका वियोग होता है अर्थात् दुःखोंका अभाव होता है तब वे शरीर ही नहीं रहते इससे स्वाभाविक हैं अर्थात् शरीरके संग ही हैं ॥ २७ ॥

तंतोर्वियुज्येत पटो वालेभ्यः कम्बलो यथा ॥
मृदो घटस्तथा देहो ज्वरेभ्योऽपीति दृश्यताम् ॥ २८ ॥

---

१ नहि खल्वयमेवं संप्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि विनाशमेवापीतो भवति नाहमत्र भोग्यं पश्यामि ।

अब वियोगमें दृष्टांतको कहते हैं कि जैसे तंतुओंसे पट और जैसे बालोंसे कंबल और जैसे मिट्टीसे घट वियुक्त (पृथक्) होता है ऐसे ही देह भी ज्वरोंसे पृथक् होता है यह तुम देखो ॥ २८ ॥

चिदाभासे स्वतः कोऽपि ज्वरो नास्ति यतश्चितः ॥
प्रकाशैकस्वभावत्वमेव दृष्टं न चेतरत् ॥ २९ ॥

अब कूटस्थमें कैमुतिकन्यायसे ज्वराभाव दिखानेके अभिलाषी आचार्य प्रथम चिदाभासमें ज्वरका अभाव दिखाते हैं कि चिदाभासमें तीनों शरीरोंमें वर्तमान जो ज्वर उसके संबंध विना कोई भी ज्वर नहीं है क्योंकि जिससे प्रकाश है एक स्वभाव जिसका ऐसे चित्को प्रकाशरूप देखा है अन्य रूप नहीं देखा ॥ २९ ॥

चिदाभासेऽप्यसंभाव्या ज्वराः साक्षिणि का कथा ॥
एवमप्येकतां मेने चिदाभासो ह्यविद्यया ॥ २३० ॥

अब जिसके लिये चिदाभासमें ज्वरका अभाव कहा उसको दिखाते हैं- कि जब चिदाभासमें भी ज्वर नहीं हो सकते तो साक्षीके विषे ज्वरकी क्या कथा है अर्थात् साक्षीमें नहीं हो सकते ऐसा होनेपर भी चिदाभास अज्ञानसे एकताको मान लेता है इससे ही मैं ज्वरवान् हूं यह अनुभव होता है ॥ २३० ॥

साक्षिसत्यत्वमध्यस्य स्वेनोपेते वपुस्त्रये ॥
तत्सर्वं वास्तवं स्वस्य स्वरूपमिति मन्यते ॥ ३१ ॥

संक्षेपसे कही एकताका विस्तारसे वर्णन करते हैं-चिदाभास अपनेसे युक्त तीनों शरीरोंमें साक्षीकी सत्यताका अध्यास करके उन ज्वरवाले तीनों शरीरोंको अपना वास्तवरूप मानता है ॥ ३१ ॥

एतस्मिन् भ्रांतिकालेऽयं शरीरेषु ज्वरत्स्वथ ॥
स्वयमेव ज्वरामीति मन्यते हि कुटुंबिवत् ॥ ३२ ॥

अब पूर्वोक्त भ्रमके फलको दिखाते हैं कि यह चिदाभास इस पूर्वोक्त भ्रांतिके समयमें शरीरोंके दुःखी होनेपर मैं ही दुःखी हूं ऐसे कुटुंबी मनुष्योंके समान अपनेको ही दुःखी समझता है ॥ ३२ ॥

पुत्रदारेषु तप्यत्सु तपामीति वृथा यथा ॥
मन्यते पुरुषस्तद्वदाभासोऽप्यभिमन्यते ॥ ३३ ॥

अब दृष्टांतको स्पष्टरीतिसे दिखाते हैं कि जैसे कुटुंबी मनुष्य पुत्र स्त्री इनके तपायमान होनेसे मैं तपता हूं ऐसे अपनेमें ही वृथा दुःख मानता है इसी प्रकार चिदाभास भी अपनेमें शरीरोंके दुःखोंको मानता है ॥ ३३ ॥

विविच्य भ्रांतिमुज्झित्वा स्वमप्यगणयन्सदा ॥
चिंतयन्साक्षिणं कस्माच्छरीरमनुसंज्वरेत् ॥ ३४ ॥

इस प्रकार अज्ञानदशामें चिदाभासको भ्रांतिसे ज्वरको दिखाकर विवेक अवस्थामें ज्वरके अभावको दिखाते हैं- चिदाभास पूर्वोक्त भ्रान्तिको छोडकर और कूटस्थ अपनी आत्मा, शरीर इनको पृथक् २ जानकर और अपनी आत्माको भी नहीं गिनता हुआ अर्थात् अपने भी अभावके ज्ञानसे अपनेमें भी आदरको नहीं करता हुआ और अपने आत्मारूप ज्वर आदिसे रहित साक्षीकी सदा चिंता करता हुआ किस कारणसे ज्वरवाले शरीरका अनुयायी होकर ज्वरको प्राप्त हो अर्थात् नहीं हो सकता ॥ ३४ ॥

अयथावस्तुसर्पादिज्ञानं हेतुः पलायने ॥
रज्जुज्ञानेऽहिधीध्वस्तौ कृतमप्यनुशोचति ॥ ३५ ॥

अब भ्रांतिज्ञान ज्वरका और तत्त्वज्ञान ज्वरके अभावका कारण है यह बात दृष्टान्तको दिखाकर स्पष्ट करते हैं-जैसे मनुष्यके पलायन (भागने) में मिथ्या वस्तुरूप सर्प आदिका ज्ञान हेतु है अर्थात् रज्जुको सर्प जानकर मनुष्य भागता है और आदि शब्दसे स्थाणुमें कल्पित चौर समझना और जब रज्जुज्ञानसे सर्प आदिकी बुद्धि निवृत्त होगयी तब अपने किये पलायनको सोचता है कि मैंने वृथा धावन किया क्योंकि यह तो रज्जु है, सर्प नहीं ॥ ३५ ॥

मिथ्याभियोगदोषस्य प्रायश्चित्तप्रसिद्धये ॥
क्षमापयन्निवात्मानं साक्षिणं शरणं गतः ॥ ३६ ॥

अब साक्षीकी सदैव चिंता करता हुआ इस पूर्वोक्त अर्थको दृष्टांतसे स्पष्ट करते हैं कि जैसे लोकमें मिथ्या अभियोग (दोष) का कर्ता मनुष्य उस दोषके प्रायश्चित्तके लिये जिसको दोष लगाया था उसकी बारंबार क्षमा कराता है अर्थात् मेरे अपराधको क्षमा करो यह कहता है इसीप्रकार यह चिदाभास भी साक्षी असंग आत्मामें भोक्तृत्वका आरोपरूप जो मिथ्या अभियोगरूप दोष उसके प्रायश्चित्तके लिये साक्षीरूप आत्माकी शरण क्षमा करानेवालेके समान गया है ॥ ३६ ॥

आवृत्तपापनुत्त्यर्थं स्नानाद्यावर्त्यते यथा ॥
आवर्तयन्निव ध्यानं सदा साक्षिपरायणः ॥ ३७ ॥

उसमें ही अन्य दृष्टांतको कहते हैं कि जैसे पापका कर्ता पुरुष आवृत्त (अभ्यास किये) पापके दूर करनेके लिये शास्त्रोंमें विहित स्नानदान आदिकी आवृत्ति करता है उसी प्रकार यह साक्षीमें तत्पर हुआ चिदाभास भी उसीमें आरोप किये संसारित्व दोषकी शांतिके लिये ध्यानकी आवृत्ति करनेवालेके समान होता है ॥ ३७ ॥

उपस्थकुष्ठिनी वेश्या विलासेषु विलज्जते ॥
जानतोऽग्रे तथाभासः स्वप्रख्यातौ विलज्जते ॥ ३८ ॥

इस प्रकार दृष्टांतोंसे साक्षीमें तत्परताका वर्णन करके चिदाभास अपने गुणोंके कथनमें लज्जित होता है इसको दृष्टांतसे स्पष्ट करते हैं कि जिसकी उपस्थ (योनि) में कुष्ठरोग है ऐसी वेश्या जैसे जानते हुएके आगे विलासों (भोगों) में लज्जित होती है ऐसे ही चिदाभास भी जानते हुए साक्षीके आगे अपने गुणोंके वर्णनमें लज्जित होता है ॥ ३८ ॥

गृहीतो ब्राह्मणो म्लेच्छैः प्रायश्चित्तं चरन् पुनः ॥
म्लेच्छैः संकीर्यते नैव तथाभासः शरीरकैः ॥ ३९ ॥

अब तीनों शरीरोंसे पृथक् किये चिदाभासका फिर उन शरीरोंके संग तादात्म्य (एकता) भ्रमके अभावमें दृष्टांत कहते हैं कि म्लेच्छोंसे ग्रहण किया (मिलाया) ब्राह्मण जैसे प्रायश्चित करनेके अन्तर फिर म्लेच्छोंमें नहीं मिलता है इसी प्रकार चिदाभास भी शरीरोंके संग नहीं मिलता है ॥ ३९ ॥

यौवराज्य स्थितो राजपुत्रः साम्राज्यवांछया ॥
राजानुकारी भवति तथा साक्ष्यनुकाययम् ॥ २४० ॥

केवल अपराधकी निवृत्तिके लिये ही साक्षीका शरण लेना नहीं किंतु महान् फल भी है इस बातको दृष्टांतपूर्वक कहते हैं कि जैसे युवराज पदवीपर स्थित राजाका पुत्र साम्राज्य (चक्रवर्ती होने) की वांछासे राजाका अनुकारी होता है अर्थात् राजाके समान प्रजाका अनुरंजन करता है वैसे ही यह चिदाभास भी साक्षीका अनुकारी हो जाता है ॥ २४० ॥

यो ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवत्येव इति श्रुतिः ॥
श्रुत्वा तदेकचित्तः सन् ब्रह्म वेत्ति न चेतरत् ॥ ४१ ॥

कदाचित् कहो कि युवराजको तो राजाके अनुसरणमें साम्राज्यका फल दीखता है ऐसे ही साक्षीके अनुसरणमें फलको नहीं देखते इससे चिदाभास साक्षीके अनुसरणमें क्यों प्रवृत्त होता है सो ठीक नहीं क्योंकि 'जो ब्रह्मको जानता है वह ब्रह्म ही होता है और इसके कुलमें कोई ब्रह्मज्ञानीसे भिन्न नहीं होता, शोक और पापको तरता है गुहाकी ग्रंथि (वासना) ओंसे रहित होकर अमृत हो जाता है' इस श्रुतिमें कहे ब्रह्म होनेरूप फलको सुनकर साक्षीमें एकचित होकर ब्रह्मको जानता है अन्यको नहीं, इससे इस फलकी वांछाके लिये साक्षीका अनुसरण युक्त है । भावार्थ यह है जो ब्रह्मको जाने वह ब्रह्म होता है इस श्रुतिको सुनकर ब्रह्ममें एकचित्त चिदाभास ब्रह्मको जानता है अन्यको नहीं ॥ ४१ ॥

देवत्वकामा ह्यग्न्यादौ प्रविशंति यथा तथा ॥
साक्षित्वेनावशेषाय स्वविनाशं स वाञ्छति ॥ ४२ ॥

कदाचित् कहो कि ब्रह्मज्ञानसे ब्रह्म होनेपर चिदाभास नष्ट ही हो जायगा तो कैसे अपने नाशमें चिदाभास प्रवृत्त होता है सो ठीक नहीं क्योंकि जैसे जगतमें देवता होनेके कामी मनुष्य अग्नि पर्वत प्रयाग गंगाप्रवेश आदिमें प्रवृत्त होते हैं ऐसे ही साक्षीरूपसे स्थितिके लिये और चिदाभासरूपकी निवृत्तिके अर्थ ब्रह्मज्ञानमें प्रवृत्त होता है ॥ ४२ ॥

यावत्स्वदेहदाहं स नरत्वं नैव मुञ्चति ॥
यावदारब्धदेहं स्यान्नाभासत्वविमोचनम् ॥ ४३ ॥

कदाचित् कहो कि तत्त्वज्ञानसे आभासता चली जाती है तो तत्त्वज्ञानी भी जीव है यह व्यवहार कैसे होता है सो ठीक नहीं क्योंकि जैसे अग्नि आदिमें प्रविष्ट पुरुष दाह आदिसे जबतक अपने देहके दाहको नहीं करता तबतक मनुष्यभावको नहीं छोड़ता है इसी प्रकार जबतक प्रारब्धकर्मका क्षय नहीं होता तबतक चिदाभास रूपकी निवृत्ति नहीं होती है ॥ ४३ ॥

रज्जुज्ञानेऽपि कंपादिः शनैरेवोपशाम्यति ॥
पुनर्मंदांधकारे सा रज्जुः क्षिप्तोरगी भवेत् ॥ ४४ ॥

कदाचित् कहो कि भोक्ताके भ्रमका उपादान कारण जो अज्ञान उसके निवृत्त होनेसे फिर कैसे भोगोंमें प्रवृत्ति और मैं मर्त्य हूं यह विपरीत ज्ञान कैसे होते

१ स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति । नास्याब्रह्मवित्कुले भवति । तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रंथिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति ।

हैं सो ठीक नहीं क्योंकि जैसे रज्जुका ज्ञान होनेपर भी सर्पसे पैदा हुए कंप आदिकी शांति शनैः २ ही होती है और फिर भी मंद अंधकारमें फेंकी हुई वह रज्जु सर्पिणी हो जाती है इसी प्रकार तत्त्वज्ञानके होनेपर भी भोगोंमें प्रवृत्ति और मर्त्य हूं यह ज्ञान होसकते हैं ॥ ४४ ॥

एवमारब्धभोगोऽपि शनैः शाम्यति नो हठात् ॥
भोगकाले कदाचित्तु मर्त्योऽहमिति भासते ॥ ४५ ॥

सोई दार्ष्टांतिकमें दिखाते हैं कि इसी प्रकार प्रारब्धका भोग भी शनैः २ ही शांत होता है, हठसे नहीं होता और भोगके समयमें कदाचित् यह भी भान होता है कि मैं मर्त्य हूं ॥ ४५ ॥

नैतावताऽपराधेन तत्त्वज्ञानं विनश्यति ॥
जीवन्मुक्तिव्रतं नेदं किन्तु वस्तुस्थितिः खलु ॥ ४६ ॥

कदाचित् कहो कि फिर मर्त्यबुद्धि होगी तो उससे तत्त्वज्ञानका बाध हो जायगा सो ठीक नहीं क्योंकि कदाचित् हुए 'मैं मर्त्य हूं' इस ज्ञानके होने रूप अपराधसे आगमरूप प्रमाणोंसे पैदा हुआ तत्त्वज्ञान नष्ट नहीं होता और यह मर्त्यबुद्धिका दूर करना रूप जो जीवन्मुक्तिका व्रत है वह नियमसे करने योग्य नहीं है किंतु सम्यक् (यथार्थ) ज्ञानसे भ्रांतिज्ञानकी निवृत्ति होती है यह वस्तुकी स्थिति (स्वभाव) है इससे कदाचित् मर्त्यबुद्धिके उदय होनेपर भी फिर तत्त्वज्ञानान्तरसे मर्त्यबुद्धिका ही बाध होता है मर्त्यबुद्धिसे तत्त्वज्ञानका बाध नहीं होता ॥ ४६ ॥

दशमोऽपि शिरस्ताडं रुदन्बुद्ध्वा न रोदिति ॥
शिरोव्रणस्तु मासेन शनैः शाम्यति नो तदा ॥ ४७ ॥

कदाचित् कहो कि रज्जु सर्प आदि स्थलमें विपरीत ज्ञानकी निवृत्ति होनेपर भी उसके कार्य कंप आदि होना रहे प्रकरणके (दशमस्त्वमसि) दशवां तू है इस दृष्टांतमें वाक्यके विचारसे उत्पन्न ज्ञानसे भ्रमकी निवृत्ति होनेपर उसके कार्यको नहीं देखते सो ठीक नहीं क्योंकि 'दशवां मैं हूं' यह जानकर दशवां मनुष्य अज्ञानदशामें शिरको पीटकर जैसे रोता था उस प्रकार नहीं रोता है परंतु शिरके ताडनेसे पैदा हुआ शिरका घाव तो मासभरसे शनैः २ ही शांत होता है अर्थात् भ्रमका कार्य शिरका व्रण बना रहता है ॥ ४७ ॥

दशमामृतिलाभेन जातो हर्षो व्रणव्यथाम् ॥
तिरोधत्ते मुक्तिलाभस्तथा प्रारब्धदुःखिताम् ॥ ४८ ॥

कदाचित् कहो कि ज्ञानके उत्तरकालमें भी संसार रहेगा तो जीवन्मुक्ति किस हेतुसे पुरुषार्थ होगी सो ठीक नहीं क्योंकि जैसे दशम मनुष्य अपने अमरणके लाभसे प्रसन्न हुआ घावके दुःखका आच्छादन करता है इसी प्रकार मुक्तिका लाभ भी प्रारब्धके दुःखका आच्छादन करता है इससे दुःखका आच्छादन होनेसे जीवन्मुक्ति भी पुरुषार्थ है ॥ ४८ ॥

व्रताभावाद्यदाऽध्यासस्तदा भूयो विविच्यताम् ॥
रससेवी दिने भुंक्ते भूयोभूयो यथा तथा ॥ ४९ ॥

जीवन्मुक्तिव्रतके अभावसे जब अध्यास हो तब ऐसे बारंबार विवेक करे जैसे रसका सेवक मनुष्य एक ही दिनमें बारंबार भोजन करता है इस प्रकार जीवन्मुक्तिको अध्यासकी निवृत्तिके लिये पुनः २ विवेक करना चाहिये ॥ ४९ ॥

शमयत्यौषधेनाय दशमः स्व व्रणं यथा ॥
भोगेन शमयित्वैतत्प्रारब्धं मुच्यते तथा ॥ २५० ॥

कदाचित् कहो कि ज्ञानसे भी निवृत्त होनेके अयोग्य प्रारब्धकर्मकी किससे निवृत्ति होती है सो ठीक नहीं क्योंक जैसे दशवां मनुष्य अपने शिरके घावको औषधसे शांत करता है ऐसे ही यह तत्त्वज्ञानी भी भोगसे प्रारब्धकर्मको शांत करके मुक्त होजाता है ॥ २५० ॥

किमिच्छन्निति वाक्योक्तः शोकमोक्ष उदीरितः ॥
आभासस्य ह्यवस्थैषा षष्ठीतृप्तिस्तु सप्तमी ॥ ५१ ॥

अपरोक्षज्ञान और शोकनिवृत्ति ये दोनों अवस्था जीवकी हैं यह 'आत्मानं चेत्' यह श्रुति कहती है इस पूर्वोक्त श्लोकसे इस मंत्रमें कही हुई कि 'आत्माको मनुष्य इस प्रकार यदि जान ले कि यह आत्मा मैं हूं तो किसकी इच्छा और कामनासे शरीरको दुःख दे' इससे पूर्वोक्त दोनों अवस्था जीवकी हैं यह पहले कह आये अब उन अवस्थाओंके कथनसे सूचित की जो जीवकी तृप्तिरूप सातवीं अवस्था है उसका वृत्तांतपूर्वक वर्णन करते हैं कि 'क्या इच्छा करता हुआ' इस पीछले आधे वाक्यसे कहा जो शोकका मोक्ष (त्याग) है वह इतने पूर्वोक्त ग्रंथक समूहसे कहा और अज्ञान, आवरण, विक्षेप, परोक्षज्ञान अपरोक्षज्ञान, शोकमोक्ष और निरंकुशतृप्ति इस श्लोकमें कही सातो जीवकी अवस्थाओंके मध्यमें यह शोकनिवृत्तिरूप शोक

मोक्ष जीवकी छठी अवस्था है और सातवीं तृप्ति अवस्थाका अब वर्णन करते हैं भावार्थ यह है कि क्या इच्छा करता हुआ शरीरको दुःख दे इस श्लोकमें कहा शोकका मोक्ष पूर्वोक्त ग्रंथसे वर्णन जो किया है वह चिदाभासकी छठी अवस्था है और सातवीं तृप्ति अवस्थाका अब वर्णन करते हैं कि ॥ ५१ ॥

सांकुशा विषयैस्तृतिरियं तृप्तिर्निरंकुशा ॥
कृतं कृत्यं प्रापणीयं प्राप्तमित्येव तृप्यति ॥ ५२ ॥

अपरोक्षज्ञानसे उत्पन्न जो तृप्ति उसको निरंकुशरूपका प्रतियोगि (सांकुश) को दिखाकर वर्णन करते हैं कि विषयोंके लाभसे जो तृप्ति होती है वह अंकुशसहित है क्योंकि उस तृतिके समयमें अन्य विषयकी कामना बनी रहती है और आत्माके ज्ञानसे जो तृप्ति होती है वह निरंकुश होती है क्योंकि इस तृप्तिमें इस प्रकार मुमुक्षु तृप्त होता है कि मैंने करनेके योग्य सब कर लिया और प्राप्त होने योग्य (ब्रह्म) मुझे प्राप्त हो गया अर्थात् करने वा प्राप्त होने योग्य कुछ भी शेष नहीं रहा ॥ ५२ ॥

ऐहिकामुष्मिकव्रातसिद्ध्यै मुक्तेश्च सिद्धये ॥
बहु कृत्यं पुराऽस्याभूत्तत्सर्वमधुना कृतम् ॥ ५३ ॥

अब कृतकृत्यताका ही वर्णन करते हैं कि इस विद्वान्‌को तत्त्वज्ञानके उदयसे पहले इस लोककी इष्टप्राप्ति और अनिष्टकी निवृत्तिके लिये कृषि वाणिज्य आदि और स्वर्ग आदिकी सिद्धिके लिये यज्ञ उपासना आदि और मोक्षके साधन ज्ञानकी सिद्धिके लिये श्रवण मनन आदि बहुत प्रकारका कृत्य रहा, वह सब अब (ब्रह्मज्ञान होनेपर) कर लिया अर्थात् संसारके फलकी इच्छाके अभावसे और ब्रह्मानंदकी प्राप्तिसे वह सब कृषि वाणिज्य आदि प्रायः कृतसा ही है कारण उसके करनेका कुछ फल नहीं है भावार्थ यह है कि इस लोक और परलोक और मुक्तिकी सिद्धिके लिये ज्ञानीको ज्ञानसे पूर्व बहुत कृत्य रहा वह सब अब कर लिया ॥ ५३ ॥

तदेतत्कृतकृत्यत्वं प्रतियोगिपुरःसरम् ॥
अनुसंदधदेवायमेवं तृप्यति नित्यशः ॥ ५४ ॥

इस प्रकार कृतकृत्यको कह कर उसका फल जो तृप्ति उसका वर्णन करते हैं कि इस प्रकार प्रतियोगीके वर्णनपूर्वक जो यह कृतकृत्यता है उसका अनुसंधान (स्मरण) करता हुआ यह चिदाभास प्रतिक्षण तृप्त होता है ॥ ५४ ॥

दुःखिनोऽज्ञाः संसरंतु कामं पुत्राद्यपेक्षया ॥
परमानंदपूर्णोऽहं संसरामि किमिच्छया ॥ ५५ ॥

उसी अनुसंधानको विस्तारसे दिखाते हैं कि दुःखी और अज्ञानी मनुष्य पुत्र आदिकी कामनासे संसार (जन्म मरण) को यथेच्छ प्राप्त हो परंतु परमानंदसे पूर्ण मैं किसकी इच्छासे संसारको प्राप्त होऊं अर्थात् निरपेक्ष मेरा संसारसे कुछ प्रयोजन नहीं है ॥ ५५ ॥

अनुतिष्ठन्तु कर्माणि परलोकयियासवः ॥
सर्वलोकात्मकः कस्मादनुतिष्ठामि किं कथम् ॥ ५६ ॥

और परलोकमें गमनके अभिलाषी पुरुष कर्मोंको करे पर संपूर्ण लोकोंका स्वरूप मैं क्यों किसी कर्मको किस प्रकार करूं अर्थात् परलोकार्थ कर्म भी मुझे कर्तव्य नहीं है ॥ ५६ ॥

व्याचक्षतां ते शास्त्राणि वेदानध्यापयंतु वा ॥
येऽत्राधिकारिणो मे तु नाधिकारोऽक्रियत्वतः ॥ ५७ ॥

कदाचित् कहो कि अपने लिये प्रवृत्तिके न होनेपर भी परके अर्थ प्रवृत्ति हो जायगी सो भी ठीक नहीं क्योंकि वे शास्त्रोंकी व्याख्या करें वा वेदोंको पढावें जो इसमें अधिकारी हैं, मेरा तो इसमें अधिकार नहीं है क्योंकि मैं क्रियासे रहित हूं अर्थात् वाणीके व्यापारका अकर्ता हूं ॥ ५७ ॥

निद्राभिक्षे स्नानशौचे नेच्छामि न करोमि च ॥
द्रष्टारश्चेत्कल्पयंति किं मे स्यादन्यकल्पनात् ॥ ५८ ॥

कदाचित् कहो कि अपने देहके पोषणार्थ भिक्षा लाना और परलोकार्थ स्नान आदिका करना आपमें देखते हैं इससे क्रियासे रहितरूप कैसे आपमें घट सकता है सो भी ठीक नहीं क्योंकि निद्रा, भिक्षा, स्नान, शौच इनकी न मैं इच्छा करता हूं न इन्हें करता हूं यदि द्रष्टालोग मुझमें कल्पना करें; अन्योंकी कल्पनासे मुझे क्या अर्थात् वह मेरी बाधक नहीं है ॥ ५८ ॥

गुंजापुंजादि दह्येत नान्यारोपितवह्निना ॥
नान्यारोपितसंसारधर्मानेवमहं भजे ॥ ५९ ॥

कदाचित् कहो कि अन्यकी कल्पनासे भी बाध होता है सो ठीक नहीं क्योंकि गुंजा (लालघुंघचीके) समूहको कोई अग्नि समझे तो उस अग्निसे वह गुंजाका

ज जैसे नष्ट नहीं होता इसी प्रकार मुझमें अन्य पुरुषोंके आरोप किये जो संसारके र्म है उनको मैं भी नहीं भज सकता हूं ॥ ५९ ॥

शृण्वंत्वज्ञाततत्त्वास्ते जानन्कस्माच्छृणोम्यहम् ॥
मन्यंतां संशयापन्ना न मन्येऽहमसंशयः ॥ २६० ॥

कदाचित् कहो कि अन्य फलोंकी इच्छाके अभावसे कर्मका अनुष्ठान त हो तत्त्वज्ञानके लिये श्रवण आदि तो करने ही पडेंगे सो भी ठीक नहीं क्योंकि हीं जाना है तत्त्व जिन्होंने ऐसे वे अज्ञानी सुनें जानता हुआ मैं क्यों सुनूं और त्त्व ऐसा है वा अन्य प्रकारका है ऐसे संशयसे युक्त पुरुष मनन करे पूर्वोक्त शयसे रहित मैं क्यों मनन करूं अर्थात् अज्ञानके अभावसे श्रवण मनन आदिका र्ता भी मैं नहीं हो सकता भावार्थ यह है कि अज्ञान है तत्त्वका जिनको वे सुनें मैं ानता हुआ क्यों सुनूं और संशयसे युक्त मनुष्य मनन करे असंशय मैं यों करूं ? ॥ २६० ॥

विपर्यस्तो निदिध्यासेत्किं ध्यानमविपर्ययात् ॥
देहात्मत्वविपर्यासं न कदाचिद्भजाम्यहम् ॥ ६१ ॥

कदाचित् कहो कि श्रवण मनन मत हो विपरीतज्ञानकी निवृत्तिके लिये नेदिध्यासन तो ज्ञानीको अवश्य अपेक्षित है सो ठीक नहीं कारण कि जिसे विपरीत ज्ञान है वह निदिध्यासन करे विपरीतज्ञानके अभावसे मुझे निदिध्यासन करना निष्फल है क्योंकि देह आत्मा है यह जो विपरीतज्ञान उसको मैं कदाचित् भी नहीं भजता हूं अर्थात् वह मुझे कभी भी नहीं होता है ॥ ६१ ॥

अहं मनुष्य इत्यादिव्यवहारो विनाऽप्यमुम् ॥
विपर्यासं चिराभ्यस्तवासनातोऽवकल्पते ॥ ६२ ॥

कदाचित् कहो कि विपरीत ज्ञानके अभावमें मैं मनुष्य हूं यह व्यवहार कैसे घटेगा सो ठीक नहीं क्योंकि मैं मनुष्य हूं यह व्यवहार तो विपरीत ज्ञानके विना भी चिरकालसे है अभ्यास जिसका ऐसी वासनासे कल्पना किया जाता है ॥ ६२ ॥

प्रारब्धकर्मणि क्षीणे व्यवहारो निवर्तते ॥
कर्माक्षये त्वसौ नैव शाम्येद्ध्यानसहस्रतः ॥ ६३ ॥

कदाचित् कहो कि विपरीत ज्ञानके नाशार्थ ध्यान करना चाहिये सो ठीक नहीं क्योंकि प्रारब्धकर्मके नाश होनेपर ही इस व्यवहारकी निवृत्ति होती है और प्रारब्धके क्षय विना तो यह सहस्र प्रकारके ध्यानसे भी शांत नहीं होता ॥ ६३ ॥

विरलत्वं व्यवहृतेरिष्टं चेद्ध्यानमस्तु ते ॥
आबाधिकां व्यवहृतिं पश्यन् ध्यायाम्यहं कुतः ॥ ६४ ॥

कदाचित् कहो कि प्रारब्धसे उत्पन्न व्यवहारकी विरलता (श्रेष्ठता) के लिये ध्यान करने योग्य है सो ठीक नहीं क्योंकि यदि तू व्यवहारको विरल मानता है तो तू ध्यानको कर अर्थात् ध्यानसे व्यवहारनिवृत्ति तेरे मतमें रहे और व्यवहारको अबाधक (हानिका न कर्ता) देखता हुआ मैं क्यों ध्यान करूं अर्थात् मेरी दृष्टिमें ज्ञानीका व्यवहार बाधक नहीं है ॥ ६४ ॥

विक्षेपो नास्ति यस्मान्मे न समाधिस्ततो मम ॥
विक्षेपो वा समाधिर्वा मनसः स्याद्विकारिणः ॥ ६५ ॥

कदाचित् कहो कि ध्यानका न करना हो परंतु विक्षेपकी निवृत्तिके लिये समाधि तो करनी ही चाहिये सो ठीक नहीं किंतु जिससे मुझे विक्षेप नहीं है इससे समाधि भी मुझे नहीं है क्योंकि विक्षेप वा समाधि ये दोनों विकारी मनको होते हैं इससे विक्षेपकी निवर्तक समाधिमें भी मेरा अधिकार नहीं है ॥ ६५ ॥

नित्यानुभवरूपस्य को मे वाऽनुभवः पृथक् ॥
कृतं कृत्यं प्रापणीयं प्राप्तमित्येव निश्चयः ॥ ६६ ॥

कदाचित् कहो कि समाधिका फल अनुभव तो करना चाहिये सो भी ठीक नहीं कि नित्य अनुभव (ज्ञान) रूप जो मैं हूं उस मुझसे पृथक् अनुभव कौन है अर्थात् कोई नहीं इससे कृत्य (करनेयोग्य) कर लिया और प्राप्त होने योग्य प्राप्त हो गया यह निश्चय जो मेरा है सो सिद्ध हुआ ॥ ६६ ॥

व्यवहारो लौकिको वा शास्त्रीयो वाऽन्यथाऽपि वा ॥
ममाकर्तुरलेपस्य यथाऽऽरब्धं प्रवर्तताम् ॥ ६७ ॥

कदाचित् कहो कि सब कर्मोंमें आत्माको कर्ता न मानोगे तो सब व्यवहारोंमें नियम न रहेगा कि यही हो अन्य न हो सो भी ठीक नहीं क्योंकि लोकका वा शास्त्रोक्तव्यवहार अर्थात् भिक्षा, भोजन और जप समाधि आदि वा अन्यथा (हिंसा आदि) जो व्यवहार है वह कर्ता भोक्तासे भिन्न जो मैं हूं उसे प्रारब्धकर्मके अनुसार वर्ते अर्थात् उससे मेरी कुछ हानि नहीं है ॥ ६७ ॥

अथवा कृतकृत्योऽपि लोकानुग्रहकाम्यया ॥
शास्त्रीयेणैव मार्गेण वर्तेऽहं का मम क्षतिः ॥ ६८ ॥

अथवा कृतकृत्य भी मैं प्राणियोंके अनुग्रहकी कामनासे शास्त्रोक्त मार्गसे ही बर्तूं तो मेरी क्या हानि है अर्थात् कुछ नहीं है ॥ ६८ ॥

देवार्चनस्नानशौचभिक्षादौ वर्ततां वपुः ॥
तारं जपतु वाक् तद्वत्पठत्वाम्नायमस्तकम् ॥ ६९ ॥
विष्णुं ध्यायतु धीर्यद्वा ब्रह्मानंदे विलीयताम् ॥
साक्ष्यहं किंचिदप्यत्र न कुर्वे नापि कारये ॥ २७० ॥

कदाचित् कहो कि शास्त्रीय मार्गसे प्रवृत्ति मानोगे तो उसके अभिमानसे ही विकार हो जायगा सो ठीक नहीं क्योंकि देवपूजन,स्नान, शौच, भिक्षा आदिमें देह प्रवृत्त हो और वाणी ओंकारको जपे वा वेदांतशास्त्रको पढे और बुद्धि विष्णुका ध्यान करे वा ब्रह्मानंदमें लय हो इन सबका साक्षीस्वरूप मैं न करता हूं न कराता हूं ॥ ६९ ॥ २७० ॥

एवं च कलहः कुत्र संभवेत्कर्मिणो मम ॥
विभिन्नविषयत्वेन पूर्वापरसमुद्रवत् ॥ ७१ ॥

इस पूर्वोक्त प्रकारसे कर्मसे कर्ता भी मुझे कलह किस प्रकार हो सकता है क्योंकि पूर्व और पश्चिमके समुद्र जैसे भिन्न हैं इसी प्रकार मैं भी इनसे भिन्न हूं ॥ ७१ ॥

वपुर्वाग्धीषु निर्बंधः कर्मिणो न तु साक्षिणि ॥
ज्ञानिनः साक्ष्यलेपत्वे निर्बंधो नेतरत्र हि ॥ ७२ ॥

कर्मीका देह, वाणी, बुद्धि मनमें आग्रह है साक्षीमें नहीं और ज्ञानीका साक्षी निर्लेप है इसमें आग्रह है देह आदिमें नहीं ॥ ७२ ॥

एवं चान्योन्यवृत्तांतानभिज्ञौ बधिराविव ॥
विवदेतां बुद्धिमंतो हसंत्येव विलोक्य तौ ॥ ७३ ॥

इससे परस्परका जो वृत्तांत उसके अज्ञानी, जो ज्ञानी और कर्मी हैं वे दोनों बधिर मनुष्योंके समान विवादको करें उनको देखकर बुद्धिमान् मनुष्य हँसेहींगे प्रशंसा न करेंगे ॥ ७३ ॥

यं कर्मी न विजानाति साक्षिणं तस्य तत्त्ववित् ॥
ब्रह्मत्वं बुध्यतां तत्र कर्मिणः किं विहीयते ॥ ७४ ॥

विना विषय (निष्प्रयोजन) कलहके हेतुको कहते हैं कि कर्मका कर्ता मनुष्य कर्म करनेके उपयोगी जो देह, वाणी, बुद्धि हैं उन से भिन्न जिस प्रत्यगात्मारूप साक्षीको नहीं जानता है उस साक्षीको ही तत्त्वका ज्ञाता ब्रह्म समझ ले तो इसमें कर्मीकी क्या हानि है अर्थात् कुछ नहीं ॥ ७४ ॥

देहवाग्बुद्धयस्त्यक्ता ज्ञानिनाऽनृतबुद्धितः ॥
कर्मी प्रवर्तयत्वाभिर्ज्ञानिनो हीयतेऽत्र किम् ॥ ७५ ॥

और ज्ञानीने मिथ्या समझकर त्यागे हुए देह, वाणी, बुद्धियोंसे कर्मी मनुष्य प्रवृत्त हो अर्थात् देह आदिके द्वारा कर्मोंको करे उससे ज्ञानीकी क्या हानि है ? ॥ ७५ ॥

प्रवृत्तिर्नोपयुक्ता चेन्निवृत्तिः कोपयुज्यते ॥
बोधहेतुर्निवृत्तिश्चेद्बुभुत्सयां तथेतरा ॥ ७६ ॥

अब यह शंका करते हैं कि प्रयोजनसे शून्य होनेसे ज्ञानी कर्मके अनुष्ठानको नहीं मानते कि प्रवृत्तिका उपयोग नहीं हैं तो निवृत्तिका किसमें उपयोग है कदाचित् कहो कि निवृत्ति बोधका हेतु है तो बोधकी अभिलाषामें प्रवृत्तिका भी उपयोग है ॥ ७६ ॥

बुद्धश्चेन्न बुभुत्सेत नाप्यसौ बुध्यते पुनः ॥
अबाधादनुवर्तेत बोधो न त्वन्यसाधनात् ॥ ७७ ॥

कदाचित् कहो कि ज्ञानीको बोधकी इच्छाके अभावसे प्रवृत्तिका उपयोग नहीं है सो ठीक नहीं क्योंकि ज्ञानीको बोधकी इच्छा न मानोंगे तो पुनः (फिर) बोधके अभावसे ज्ञानीको निवृत्तिका भी उपयोग न होगा कदाचित् कहो कि एक बार पैदा हुए बोधकी स्थिरताके लिये निवृत्तिकी अपेक्षा है सो ठीक नहीं क्योंकि बाधके अभावसे ही बोधकी स्थिरता बनी रहेगी अन्य साधनसे नहीं अर्थात् वाक्यरूप प्रमाणोंसे पैदा हुआ ज्ञान किसी बलवान् प्रमाणसे भी नहीं बाधा जाता इससे उसकी अनुवृत्ति (स्थिरता) हो जायगी उसमें अन्य साधनकी अपेक्षा नहीं है ॥ ७७ ॥

नाविद्या नापि तत्कार्यं बोधं बाधितुमर्हति ॥
पुरैव तत्त्वबोधेन बाधिते ते उभे यतः ॥ ७८ ॥

कदाचित् कहो कि अन्य प्रमाणसे बाध मत हो परंतु अविद्या और अविद्याके कार्य वा कर्तृत्वक अध्याससे बोधका बाध हो जायगा सो ठीक नहीं क्योंकि अविद्या और उसके कार्य बोधको नहीं बाध सकते हैं क्योंकि पहले ही उन दोनोंका तत्त्वबोध बाध कर चुका है ॥ ७८ ॥

बाधितं दृश्यतामक्षैस्तेन बाधो न शक्यते ॥
जीवन्नाखुर्न मार्जारं हंति हन्यात्कथं मृतः ॥ ७९ ॥

कदाचित् कहो कि अविद्याके बाध होने पर भी प्रतीत हुए उसके कार्यका बाध नहीं हो सकता और उस कार्यसे बोधका बाध हो जायगा सो ठीक नहीं क्योंकि ज्ञानसे बाधा हुआ अविद्याका कार्य नेत्रोंसे दीखे, परंतु वह बोधको इस प्रकार नहीं बाध सकता जैसे जो मूसा जीता हुआ ही मार्जार (बिलाव) को नहीं मार सकता तो वह मरा हुआ किस प्रकार मार सकता है ॥ ७९ ॥

अपि पाशुपतास्त्रेण विद्धश्चेन्न ममार यः ॥
निष्फलेषु वितुन्नांगो नंक्ष्यतीत्यत्र का प्रमा ॥ २८० ॥

अब द्वैतके दर्शनसे तत्त्वबोधके बाधका अभाव कैमुतिकन्यायसे दृष्टांतके द्वारा दिखाते हैं कि जो समर्थ पाशुपत अस्त्रसे बिंधा भी नहीं मरा तो वह फल (भाल) से रहित बाणोंसे पीडाको प्राप्त है अंग जिसका ऐसा वह नाशको प्राप्त होजायगा इसमें क्या प्रमाण हैं अर्थात् कोई नहीं ॥ २८० ॥

आदावविद्यया चित्रैः स्वकार्यैर्जृंभमाणया ॥
युद्ध्वा बोधोऽजयत्सोऽद्य सुदृढो बाध्यतां कथम् ॥ ८१ ॥

दृष्टांतसे सिद्ध अर्थको दार्ष्टांतिकमें दिखाते हैं-प्रथम विद्याभ्यासके समयमें अनेक प्रकारके प्रमाता भोक्ता आदि अपने कार्योंसे वृद्धिको प्राप्त हुई अविद्याके संग युद्ध करके जिस बोधने अविद्याको जीत लिया; अभ्यासकी कुशलतासे भली भांति दृढ हुआ वही बोध अविद्याकी निवृत्ति होने पर निर्मूल उस अविद्याके कार्य अध्याससे किस प्रकार बाधित हो सकता है अर्थात् नहीं बाधा जाता है ॥ ८१ ॥

तिष्ठंत्वज्ञानतत्कार्यशवा बोधेन मारिताः ॥
न भीतिर्बोधसम्राजः कीर्तिः प्रत्युत तस्य तैः ॥ ८२ ॥

अब पूर्वोक्त अर्थको श्रोताओंकी बुद्धिमें आरूढ होनेके लिये रूपकसे वर्णन करते हैं कि अज्ञान और उसके कार्यरूप जो बोधके मारे हुए शव मुर्दे) हैं वे भूमिपर बनें रहें उनसे बोधरूपी चक्रवर्तीको भय नहीं प्रत्युत उनसे उसकी कीर्ति है ॥ ८२ ॥

य एवमतिशूरेण बोधेन न वियुज्यते ॥
प्रवृत्त्या वा निवृत्त्या वा देहादिगतयाऽस्य किम् ॥ ८३ ॥

जो मुमुक्षु पुरुष इस प्रकारके शूरवीर बोधसे वियुक्त नहीं होता अर्थात् अविद्या और उसके कार्योंके नाशक ब्रह्मज्ञानसे युक्त रहता है उस पुरुषको देह आदिकी प्रवृत्ति और निवृत्तिसे क्या इष्ट है और क्या अनिष्ट है अर्थात् कुछ नहीं ॥ ८३ ॥

प्रवृत्तावाग्रहो न्याय्यो बोधहीनस्य सर्वथा ॥
स्वर्गाय वाऽपवर्गाय यतितव्यं यतो नृभिः ॥ ८४ ॥

कदाचित् कहो कि ज्ञानीके समान अज्ञानीको भी प्रवृत्तिमें आग्रह युक्त नहीं सो ठीक नहीं किन्तु बोधसे हीन पुरुषको प्रवृत्तिमें आग्रह करना युक्त है क्योंकि मनुष्योंको स्वर्ग वा नरकके लिये यत्न करना योग्य है ॥ ८४ ॥

विद्वांश्चेत्तादृशां मध्ये तिष्ठेत्तदनुरोधतः ॥
कायेन मनसा वाचा करोत्येवाखिलाः क्रियाः ॥ ८५ ॥

कदाचित् कहो कि विद्वान् आग्रह न करे तो कर्मियोंके मध्यमें रहकर उसे क्या करना युक्त है इस लिये कहते हैं कि यदि विद्वान् कर्मियोंके मध्यमें रहे तो उनके अनुरोधसे अर्थात् उन्हींके अनुसार काया, मन, वाणीसे संपूर्ण कर्मोंको करे ही और उन कर्मियोंको भी मने न करे ॥ ८५ ॥

एष मध्ये बुभुत्सूनां यदा तिष्ठेत्तदा पुनः ॥
बोधायैषां क्रियाः सर्वा दूषयंस्त्यजतु स्वयम् ॥ ८६ ॥

अब तत्त्वज्ञानियोंके मध्यमें टिके विद्वान्के कृत्यको कहते हैं कि यदि यह विद्वान् तत्त्वबोधके अभिलाषियोंके मध्यमें टिके तो उनको बोधके लिये उनके सब कर्मोंमें दोष देता हुआ आप भी संपूर्ण कर्मोंको त्याग दे ॥ ८६ ॥

अविद्वदनुसारेण वृत्तिर्बुद्धस्य युज्यते ॥
स्तनंधयानुसारेण वर्तते तत्पिता यतः ॥ ८७ ॥

इस प्रकार ज्ञानीके कर्तव्यमें हेतुको कहते हैं कि ज्ञानीकी वृत्ति अज्ञानियोंके अनुसार युक्त है क्योंकि पिताका बर्ताव बालकके अनुसार होता है ॥ ८७ ॥

अधिक्षिप्तस्ताडितो वा बालेन स्वपिता तदा ॥
न क्लिश्नाति न कुप्येत बालं प्रत्युत लालयेत् ॥ ८८ ॥

जैसे बालक अपने पिताका अधिक्षेप (गाली देना) करे वा ताडना दे तो भी पिता उसका क्लेश नहीं मानता न उसपर क्रोध ही करता है प्रत्युत उसका लाड करता है ॥ ८८ ॥

निंदितः स्तूयमानो वा विद्वानज्ञैर्न निंदति ॥
न स्तौति किंतु तेषां स्याद्यथा बोधस्तथाऽऽचरेत् ॥ ८९ ॥

अब दृष्टान्तको दार्ष्टान्तिकमें दिखाते हैं अज्ञानी विद्वान्‌की निन्दा करे वा स्तुति करे पर ज्ञानी उनकी न निन्दा करता है न स्तुति किन्तु ऐसा आचरण करता है कि जिससे उनको बोध हो ॥ ८९ ॥

येनायं नटनेनात्र बुध्यते कार्यमेव तत् ॥
अज्ञप्रबोधान्नैवान्यत्कार्यमस्त्यत्र तद्विदः ॥ २९० ॥

ज्ञानीके इस प्रकार आचरणमें हेतुको कहते हैं कि इस अज्ञानीको जिस प्रकारके आचरणसे इस जगत्‌में बोध हो उस प्रकारके आचरणको ज्ञानी अवश्य करे अन्य कुछ न करे क्योंकि तत्त्वज्ञानीका इस लोकमें अज्ञानियोंको भले प्रकार बोध करानेसे अन्य कोई कार्य्य नहीं है ॥ २९० ॥

कृतकृत्यतया तृप्तः प्राप्तप्राप्यतया पुनः ॥
तृप्यन्नेवं स्वमनसा मन्यतेऽसौ निरंतरम् ॥ ९१ ॥

अब पूर्वोक्त और वक्ष्यमाणके तात्पर्यको कहते हैं कि यह ज्ञानी पूर्वोक्त प्रकारकी कृतकृत्यतासे और वक्ष्यमाण प्रकारसे प्राप्तिके योग्यकी प्राप्तिसे तृप्त हुआ अपने मनसे निरन्तर इस प्रकार मानता है कि ॥ ९१ ॥

धन्योऽहं धन्योऽहं नित्यं स्वात्मानमंजसा वेद्मि ॥
धन्योऽहं धन्योऽहं ब्रह्मानंदो विभाति मे स्पष्टम् ॥ ९२ ॥

जिससे मैं सदा देश काल आदिसे असंयुक्त अपने प्रत्यगात्माको साक्षात् जानता हूं इससे मुझे धन्य है धन्य है अर्थात् आत्मज्ञानके लाभसे मैं संतुष्ट हूं और ब्रह्मरूप आनंद मुझे स्पष्ट प्रकाशित होता है इससे मुझे धन्य है धन्य है अर्थात् आत्मज्ञानका फल जो ब्रह्मानंद उससे मैं संतुष्ट हूं ॥ ९२ ॥

धन्योऽहंधन्योऽहं दुःखं सांसारिकं न वीक्षेऽद्य ॥
धन्योऽहं धन्योऽहं स्वस्याज्ञानं पलायितं क्वापि ॥ ९३ ॥

इस प्रकार इष्टप्राप्तिके संतोषको कह कर अनिष्ट निवृत्तिके सन्तोषको कहते हैं कि अब मैं संसाररूप दुःखको नहीं देखता इससे मुझे धन्य है धन्य है और अनेक कर्मोंकी वासनाका समूहरूप मेरा अज्ञान कहीं पलायमान हो गया अर्थात् नष्ट हुआ इससे मुझे धन्य है धन्य है ॥ ९३ ॥

धन्योऽहं धन्योऽहं कर्तव्यं मे न विद्यते किंचित् ॥
धन्योऽहं धन्योऽहं प्राप्तव्यं सर्वमद्य संपन्नम् ॥ ९४ ॥

अब अज्ञान निवृत्तिके फलको दिखाते हैं-अब मुझे किंचित् भी कर्तव्य नहीं है इससे मैं धन्य हूं धन्य हूं और जो प्राप्त होने योग्य था वह सब प्राप्त होगया इससे मैं धन्य हूं ॥ ९४ ॥

धन्योऽहं धन्योऽहं तृप्तेर्मे कोपमा भवेल्लोके ॥
धन्योऽहं धन्योऽहं धन्यो धन्यः पुनःपुनर्धन्यः॥ ९५ ॥

इससे परे जगत्में मेरी तृप्तिकी क्या उपमा हो सकती है इससे मुझे धन्य है धन्य है अबसे आगे कोई वक्तव्य (कहने योग्य) नहीं दीखता इससे मुझे धन्य है, धन्य है, धन्य है और फिर भी धन्य है, धन्य है ॥ ९५ ॥

अहो पुण्यमहो पुण्यं फलितं फलितं दृढम् ॥
अस्य पुण्यस्य संपत्तेरहो वयमहो वयम् ॥ ९६ ॥

इस पूर्वोक्त संतोषके कारणरूप पुण्यपुंजका स्मरण करके जो संतोष उसको कहते हैं-बडा पुण्य है, बडा पुण्य है जिसका ऐसा दृढ फल हुआ और इस प्रकार पुण्यके संपादक जो हम वे भी महान् हैं अर्थात् ऐसे आत्मस्वरूप हम आश्चर्य स्वरूप हैं ॥ ९६ ॥

अहो शास्त्रमहो शास्त्रमहो गुरुरहो गुरुः ॥
अहो ज्ञानमहो ज्ञानमहो सुखमहो सुखम् ॥ ९७ ॥

अब सम्यक्ज्ञानके साधक शास्त्र और उसके उपदेशकर्ता आचार्यका स्मरण करके संतोष करते हैं कि यह शास्त्र आश्चर्यरूप है ! आश्चर्य रूप है !! इसके गुरु भी आश्चर्यरूप हैं २ और इस शास्त्रसे उत्पन्न हुआ ज्ञान और ज्ञानकी प्राप्तिका सुख भी आश्चर्यरूप है २ अर्थात् सबसे उत्तम है ॥ ९७ ॥

तृप्तिदीपमिमं नित्यं येऽनुसंदधते बुधाः ॥
ब्रह्मानंदे निमज्जंतस्ते तृप्यंति निरंतरम् ॥ २९८ ॥

जो बुद्धिमान् मनुष्य इस तृप्तिदीपका नित्य अनुसंधान (विचार) करते हैं ब्रह्मानंदमें स्नान करते हुए वे निरन्तर तृप्त होते हैं ॥ २९८ ॥

इति श्रीविद्यारण्यकृतपंचदश्यां पंडितमिहिरचंद्रकृतभाषा-
विवृतौ तृप्तिदीपविवेकप्रकरणम् ॥ ७ ॥

॥ इति तृप्तिदीपविवेकप्रकरणम् ॥ ७ ॥

अथ कूटस्थदीपप्रकरणम् ८.

स्वादित्यदीपिते कुड्ये दर्पणादित्यदीप्तिवत् ॥
कूटस्थभासितो देहो धीस्थजीवेन भास्यते ॥ १ ॥

इस कूटस्थदीप प्रकरणमें मुमुक्षुके मोक्षका साधन जो ब्रह्म और आत्माकी एकताका ज्ञान, उसको त्वं पदार्थके शोधनसे जन्य होनेके कारण त्वंपदार्थके शोधक कूटस्थ दीपका प्रारंभ करते हुए आचार्य त्वंपदके लक्ष्य अर्थ और वाच्य अर्थ जो क्रमसे कूटस्थ जीव हैं उनको भेदसे दृष्टांत देकर दिखाते हैं कि आकाशमें प्रसिद्ध जो सूर्य उसके प्रकाशसे प्रकाशित हुई भित्तिपर दर्पणमें प्रतिबिंबित सूर्यकी दीप्ति (प्रकाश) के समान अर्थात् दर्पणमें पड़कर लौटे सूर्यके और भित्तिपर आकाशके सूर्यके इन दोनोंसे भित्तिके प्रकाशके समान कूटस्थ (अविकारि चैतन्य) से प्रकाशित देहको बुद्धिमें प्रतिबिंबित चिदाभास प्रकाशित करता है. इससे यह प्रतिज्ञात हुआ कि जैसे भित्तिके प्रकाशक सामान्य विशेषरूप दो प्रकाश सूर्यके हैं इसी प्रकार देहके प्रकाशक दो चैतन्य हैं । भावार्थ यह है कि आकाशके सूर्यसे प्रकाशित किये कुड्य (भीत)को जैसे दर्पणका सूर्य प्रकाशित करता है उसी प्रकार कूटस्थके प्रकाशित किये देहको बुद्धिमें स्थित जीव प्रकाशित करता है ॥ १ ॥

अनेकदर्पणादित्यदीप्तीनां बहुसंधिषु ॥
इतरा व्यज्यते तासामभावेऽपि प्रकाशते ॥ २ ॥

कदाचित् कहो कि वहां दर्पणके सूर्यकी दीप्तिके अतिरिक्त आकाशके सूर्यकी दीप्ति नहीं मिलती है यह शंका करके दर्पणके सूर्यकी दीप्तियोंसे आकाशके सूर्यकी दीप्तिको पृथक्‌ करके दिखाते हैं कि जो अनेक दर्पणोंमें प्रतिबिंबित सूर्योंकी दीप्ति वहां २ मंडलाकार दीखती हैं उनकी संधियो (मध्य २) में आकाशके सूर्यकी दीप्ति भी सामान्य प्रकाश रूपसे प्रतीत होती है और दर्पणसे पैदा हुई प्रभाओंके अभावमें तथा होनेपर भी वह सर्वत्र स्वयं प्रकाशित होती है इससे वह उनसे भिन्न है । भावार्थ यह है कि अनेक दर्पणके सूर्योंकी दीप्तियोंके मध्य २ की अनेक संधियोंमें आकाशके सूर्यकी दीप्ति स्पष्ट है और उनके अभावमें भी प्रकाशित होती है ॥ २ ॥

चिदाभासविशिष्टानां तथाऽनेकधियामसौ ॥
संधिं धियामभावं च भासयन् प्रविविच्यताम् ॥ ३ ॥

अब दृष्टांतसे सिद्ध अर्थको दार्ष्टांतिकमें घटाते हैं कि उसी प्रकार चिदाभासविशिष्ट अर्थात् चित्‌के प्रतिबिंबसे युक्त जो अनेक बुद्धिकी वृत्ति (घटज्ञान आदि शब्दोंके अर्थरूप) हैं उनकी संधि (मध्य) को जाग्रत् आदि अवस्थाओंमें और उन्हीं पूर्वोक्त बुद्धिवृत्तियोंके अभावको सुषुप्ति आदि अवस्थाओंमें प्रकाशित करते हुए इस कूटस्थको उन वृत्तियोंसे भिन्न जानो । भावार्थ यह है कि चिदाभाससे युक्त अनेक बुद्धियोंको और बुद्धियोंके अभावको प्रकाशित करते हुए कूटस्थको भी आकाशके सूर्यकी प्रभाके समान भिन्न जानो ॥ ३ ॥

घटैकाकारधीस्था चिद् घटमेवावभासयेत् ॥
घटस्य ज्ञातता ब्रह्मचैतन्येनावभासते ॥ ४ ॥

अब देहके मध्यमें कूटस्थ और चिदाभासका भेद दिखानेके लिये देहसे बाहर भी चिदाभास और ब्रह्मको पृथक् २ दिखाते हैं कि एक घटके समान है आकार जिसका ऐसी बुद्धिमें वर्तमान जो चिदाभास वह एक घटको ही प्रकाशित करता है और उस घटका जो ज्ञातता नामका धर्म है अर्थात् मैंने घटको जाना इस व्यवहारका जो हेतु है वह घटकी कल्पनाका अधिष्ठानरूप जो साधनरूप ब्रह्मचैतन्य है उससे ही प्रकाशित होता है । भावार्थ यह है कि एक घटाकार बुद्धिमें स्थित चैतन्य घटका ही प्रकाश करता है और घटकी ज्ञातताका प्रकाश ब्रह्म चैतन्यसे होता है ॥ ४ ॥

अज्ञातत्वेन ज्ञातोऽयं घटो बुद्ध्युदयात्पुरा ॥
ब्रह्मणैवोपरिष्टात्तु ज्ञातत्वेनेत्यसौ भिदा ॥ ५ ॥

कदाचित् कहो कि ज्ञातताके प्रकाशक चैतन्यसे ही घटकी प्रतीति हो जायगी बुद्धिका क्या प्रयोजन है सो ठीक नहीं क्योंकि बुद्धिके उदयसे पूर्व ब्रह्मसे इसी घटका अज्ञातरूपसे प्रकाश हुआ था और बुद्धिकी उत्पत्तिके अनंतर ज्ञातरूपसे ब्रह्मने प्रकाशित किया है यही भेद है अन्य नहीं ॥ ५ ॥

चिदाभासांतधीवृत्तिर्ज्ञानं लोहांतकुंतवत् ॥
जाड्यमज्ञानमेताभ्यां व्याप्तः कुंभो द्विधोच्यते ॥ ६ ॥

कदाचित् कहो कि एक घटके ज्ञात और अज्ञात दो रूप कैसे हो सकते हैं यह शंका करके उनके ज्ञानार्थ ज्ञातता और अज्ञातताके निमित्त ज्ञान और अज्ञानके स्वरूपको पृथक् २ दिखाते हैं कि चित्प्रतिबिंबरूप जो चिदाभास वह पुरः (अग्र) भागमें है जिसके ऐसी जो बुद्धिकी वृत्ति वह ज्ञान कहलाती है क्योंकि आचार्योंने यह बुद्धिका स्वरूप कहा है कि जो बोधसे इद्ध हो वह बुद्धि है और

वह ऐसी है जैसा लोहेके सिरेमें कुंत (भाला) होता है और जडता अर्थात् स्वतः प्रकाशरहितको अज्ञान कहते हैं इन ज्ञान और अज्ञानोंसे व्याप्त जो घट वह दो प्रकारका कहलाता है अर्थात् जानें हुएको ज्ञात और न जाने हुएको अज्ञात कहते हैं। भावार्थ यह है कि लोहके अग्रभागमें कुंतके समान चिदाभासके अग्रभागमें जो बुद्धिकी वृत्ति उसे ज्ञान और जडताको अज्ञान कहते हैं इन दोनोंसे व्याप्त घट ज्ञात अज्ञानभेदसे दो प्रकारका होता है ॥ ६ ॥

अज्ञातो ब्रह्मणा भास्यो ज्ञातः कुंभस्तथा न किम् ॥
ज्ञानत्वजननेनैव चिदाभासपरिक्षयः ॥ ७ ॥

कदाचित् कहो कि अज्ञात घटका ब्रह्मसे प्रकाश रहे और ज्ञानसे व्याप्त (ज्ञात) जो घट उसका ब्रह्मचैतन्यसे प्रकाश क्यों मानते हो यह शंका करके यह कहते हैं कि जैसे अज्ञातताको पैदा करके अज्ञान उपक्षीण है ऐसे ज्ञातताको पैदा करके ज्ञान भी उपक्षीण है इससे अज्ञात घटके समान ज्ञात घटका भी ब्रह्मसे ही प्रकाश होता है। तात्पर्य यह कि जैसे अज्ञात घट ब्रह्मसे भासमान होता है वैसे ही ज्ञात घट भी ब्रह्मसे प्रकाशमान क्यों न होगा किन्तु अवश्य होगा क्योंकि ज्ञातताको पैदा करके ही चिदाभासका परिक्षय (नाश) हो जाता है ॥ ७ ॥

आभासहीनया बुद्ध्या ज्ञातत्वं नैव जन्यते ॥
तादृग्बुद्धेर्विशेषः को मृदादेः स्याद्विकारिणः ॥ ८ ॥

कदाचित् कहो कि अज्ञातताके जन्मार्थ जैसे अज्ञानको मानते हो ऐसे ही ज्ञातताके जन्मार्थ बुद्धि ही बहुत है चिदाभास माननेका क्या प्रयोजन है सो ठीक नहीं क्योंकि चिदाभाससे रहित जो बुद्धि है वह ज्ञातताको पैदा नहीं कर सकती है कारण यह है कि चिदाभाससे रहित बुद्धिमें और विकाररूप मिट्टी आदिमें कुछ विशेष (भेद) नहीं है अर्थात् चिदाभाससे रहित बुद्धि घट आदिके समान अप्रकाशरूप है इससे ज्ञातताको पैदा नहीं कर सकती है ॥ ८ ॥

ज्ञात इत्युच्यते कुंभो मृदा लिप्तो न कुत्रचित् ॥
धीमात्रव्याप्तकुंभस्य ज्ञातत्वं नेष्यते तथा ॥ ९ ॥

अब चिदाभास रहित बुद्धिसे व्याप्त घटको ज्ञातताका अभाव दृष्टांतसे स्पष्ट करते हैं कि जैसे जगत्में शुक्ल वा कृष्णरूप मिट्टीसे व्याप्त (लिपे) घटको कोई भी ज्ञात नहीं कहता इसी प्रकार चिदाभासरहित बुद्धिसे व्याप्त घटको भी ज्ञात नहीं मानते हैं ॥ ९ ॥

ज्ञातत्वं नाम कुंभेऽतश्चिदाभासफलोदयः ॥
न फलं ब्रह्मचैतन्यं मानात्प्रागपि सत्त्वतः ॥ १० ॥

अब फलितका वर्णन करते हैं कि जिससे केवल बुद्धि ज्ञातताके पैदा करनेमें समर्थ नहीं है इससे कुंभमें चिदाभासरूप फलकी जो उत्पत्ति वही ज्ञातता नामसे प्रसिद्ध है । कदाचित् कहो कि ब्रह्म चैतन्यरूप फलके रहते चिदाभासकी कल्पना न करनी चाहिये सो ठीक नहीं क्योंकि ब्रह्म चैतन्यको फल नहीं कह सकते क्योंकि वह मान (प्रमाणवृत्ति) से पूर्व कालमें भी विद्यमान है और फल प्रमाणके उत्तरकालमें ही हुआ करता है । भावार्थ यह है कि इससे घटमें चिदाभासरूप फलका उदय ही ज्ञातता प्रसिद्ध है और प्रमाणसे पहले भी विद्यमान होनेसे ब्रह्म चैतन्य फल नहीं हो सकता ॥ १० ॥

परागर्थप्रमेयेषु या फलत्वेन संमता ॥
संवित्सैवेह मेयोऽर्थो वेदांतोक्तिप्रमाणतः ॥ ११ ॥

कदाचित् कहो कि (परागर्थप्रमेयेषु) इत्यादि जो सुरेश्वरका वार्तिक उसके विरुद्ध है सो ठीक नहीं क्योंकि पराक् (बाह्य) जो घट आदि पदार्थ हैं उन प्रमेयों (प्रमाणके विषय) के विद्यमान होते हुए जो प्रमाणका फलरूप संवित् (ज्ञान) है वही इस वेदांतशास्त्रमें वेदांतरूप वाक्योंके प्रमाणसे मेय (जानने योग्य) अर्थ माना है अर्थात् उनके फलको ही हम मेय मानते हैं ॥ ११ ॥

इति वार्तिककारेण चित्सादृश्यं विवक्षितम् ॥
ब्रह्मचित्फलयोर्भेदः सहस्र्यां विश्रुतो यतः १२ ॥

और इस पूर्वोक्त सुरेश्वर वार्त्तिककारने ब्रह्म चैतन्य सदृश चिदाभास प्रमाणका फल माना है ब्रह्म चैतन्य नहीं और यह वार्तिककारका अभिप्राय इससे जानते हैं कि उनके गुरु श्रीमान् शंकराचार्यने उपदेशसहस्री ग्रंथमें ब्रह्म चैतन्य और चिदाभासका भेद कहा है ॥ १२ ॥

आभास उदितस्तस्माज्ज्ञातत्वं जनयेद्घटे ॥
तत्पुनर्ब्रह्मणा भास्यमज्ञातत्ववदेव हि ॥ १३ ॥

जिससे ब्रह्मचित् और फलका भेद प्रसिद्ध है इससे घटमें उत्पन्न हुआ आभास ज्ञातताको पैदा करता है और वह ज्ञातता अज्ञातताके समान ब्रह्मसे ही प्रकाशित होती है यह प्रसिद्ध है ॥ १३ ॥

धीवृत्याभासकुंभानां समूहो भास्यते चिदा ॥
कुंभमात्रफलत्वात्स एक आभासतः स्फुरेत् ॥ १४ ॥

इस प्रकार ब्रह्मचित् और आभासके कहे हुए भेदको विषयभेद दिखाकर स्पष्ट करते हैं कि ब्रह्मचैतन्यसे बुद्धिकी वृत्ति, चिदाभास, कुंभ इन तीनोंके समूहका प्रकाश होता है और चिदाभास तो केवल कुंभमें वर्तमान फलरूप है इससे चिदाभाससे केवल घटका ही स्फुरण (प्रकाश) होता है ॥ १४ ॥

चैतन्यं द्विगुणं कुंभे ज्ञातत्वेन स्फुरत्यतः ॥
अन्येऽनुव्यवसायाख्यमाहुरेतद्यथोदितम् ॥ १५ ॥

अब कुंभका प्रकाश चिदाभास और ब्रह्म दोनोंसे होता है इसमें लिंगको कहते हैं कि इसीसे घटमें द्विगुण चैतन्य है क्योंकि वह ब्रह्मसे ज्ञान होकर स्फुरता है अर्थात् ब्रह्म चिदाभास दोनोंसे प्रकाशित होता है और इसी घटकी ज्ञातताके अव भासक (प्रकाशक) चैतन्यको नैयायिक अनुव्यवसाय कहते हैं अर्थात् अनुव्यवसाय नामका अन्य ही ज्ञान मानते हैं ॥ १५ ॥

घटोऽयमित्यसावुक्तिराभासस्य प्रसादतः ॥
विज्ञातो घट इत्युक्तिर्ब्रह्मानुग्रहतो भवेत् ॥ १६ ॥

अब व्यवहारके भेदसे भी चिदाभास और ब्रह्मका भेद मानने योग्य है यह वर्णन करते हैं कि ' यह घट है ' यह कथन तो आभासके प्रसादसे होता है और 'मैंने घट जाना ' यह कथन ब्रह्मके अनुग्रहसे होता है ॥ १६ ॥

अभासब्रह्मणी देहाद्बहिर्यद्वद्विवेचिते ॥
तद्वदाभासकूटस्थौ विविच्येतां वपुष्यपि ॥ १७ ॥

जिस प्रकार चिदाभास और ब्रह्मका विवेक देहसे बाहर किया है उसी प्रकार चिदाभास और कूटस्थका विवेक देहके भीतर भी करना योग्य है ॥ १७ ॥

अहंवृत्तौ चिदाभासः कामक्रोधादिकासु च ॥
संव्याप्य वर्तते तप्ते लोहे वह्निर्यथा तथा ॥ १८ ॥

कदाचित् कहो कि जैसे बाहर चिदाभाससे व्याप्य घटाकारवृत्ति है ऐसे देहके भीतर किसी विषयकी वृत्ति नहीं है इससे उसके व्यापक चिदाभासको कैसे मानते हो सो ठीक नहीं क्योंकि विषयाकारवृत्तिके अभावमें भी अहमाकारवृत्तिके

होनेसे उसके व्यापक चिदाभासका स्वीकार दृष्टांतसे कहते हैं कि अहंवृत्ति और काम क्रोध आदिकोंमें चिदाभास उस प्रकार व्याप्त होकर वर्तता है जैसे तपायमान लोहेमें अग्नि एकरूप प्रतीत होती है॥ १८ ॥

स्वमात्रं भासयेत्तप्तं लोहं नान्यत्कदाचन ॥
एवमाभाससहिता वृत्तयः स्वस्वभासिकाः ॥ १९ ॥

अब अहम् आदि वृत्तियोंका चिदाभाससे प्रकाश दृष्टांतसे स्पष्ट करते हैं कि जैसे तपायमान लोहा अपने स्वरूपहीका प्रकाश करता है अन्यका प्रकाश कदाचित् नहीं करता है इसी प्रकार चिदाभास सहित अहम् आदि वृत्ति भी अपना २ हीं प्रकाश करती हैं अन्यका नहीं ॥ १९ ॥

क्रमाद्विच्छिद्य विच्छिद्य जायंते वृत्तयोऽखिलाः ॥
सर्वा अपि विलीयंते सुप्तिमूर्छासमाधिषु ॥ २० ॥

इस प्रकार चिदाभासको कह कर कूटस्थका स्वरूप कहनेके लिये उसके उपयोगी वृत्तियोंके अभावोंका समय दिखाते हैं कि इस प्रकार विच्छेद २ से (पृथक् २) संपूर्ण वृत्तियां क्रमसे होती हैं और वे संपूर्ण सुषुप्ति, मूर्छा, समाधियोंमे लय (नष्ट) हो जाती हैं अर्थात् नहीं रहतीं ॥ २० ॥

संधयोऽखिलवृत्तीनामभावाश्चावभासिताः ॥
निर्विकारेण येनासौ कूटस्थ इति चोच्यते ॥ २१ ॥

कदाचित् कहो कि इस प्रकार समाधि आदिकोंमें वृत्तियोंका अभाव रहे इससे कूटस्थकी सिद्धि कैसे हो सकती है सो ठीक नहीं क्योंकि संपूर्ण वृत्तियोंकी संधि और अभावोंका जिस निर्विकाररूपसे प्रकाश होता है वह कूटस्थ कहलाता है अर्थात साक्षी रूपको कूटस्थ कहते हैं ॥ २१ ॥

घटे द्विगुणचैतन्यं यथा बाह्ये तथान्तरे ॥
वृत्तिष्वपि ततस्तत्र वैशद्यं संधितोऽधिकम् ॥ २२ ॥

अब फलितका वर्णन करते हैं कि जैसे बाह्य घटमें द्विगुण चैतन्य है अर्थात घटमात्रका अवभासक चिदाभास और घटकी ज्ञातताका अवभासक ब्रह्मचैतन्य ये दो हैं वैसे ही आंतर (भीतर) अहंकार आदि वृत्तियोंमें भी कूटस्थ चतन्य और वृत्तियोंका अवभासक चिदाभास यह द्विगुण चैतन्य है और जिससे द्विगुण चैतन्य हैं इसीसे संधियोंकी अपेक्षा वृत्तियोंमें अधिक वैशद्य (निर्मलता) देखते हैं ॥ २२ ॥

ज्ञातताज्ञातते न स्तो घटवद्वृत्तिषु क्वचित् ॥
स्वस्य स्वेनागृहीतत्वात्ताभिश्चाज्ञाननाशनात् ॥ २३ ॥

कदाचित् कहो कि यहां भी घट आदिकोंके समान ज्ञातता अज्ञातताके भासक कूटस्थको क्यों नहीं मानते सो ठीक नहीं क्योंकि घटके समान कहीं भी वृत्तियोंमें ज्ञातता अज्ञातता नहीं होती क्योंकि ज्ञान और अज्ञानकी व्याप्तियोंसे ज्ञातता व अज्ञातता होती है और वृत्तियोंको स्वप्रकाशरूप होनेसे ज्ञानकी व्याप्ति नहीं हो सकती और उन वृत्तियोंने उत्पन्न होते ही अपने अज्ञानको नष्ट कर दिया इससे अज्ञानकी व्याप्ति भी नहीं हो सकती भावार्थ यह है कि घटके समान वृत्तियोंमें ज्ञातता अज्ञातता नहीं होती क्योंकि अपना ज्ञान अपनेसे नहीं होता और उन वृत्तियोंसे अज्ञानका नाश होजाता है ॥ २३ ॥

द्विगुणीकृतचैतन्ये जन्मनाशानुभूतितः ॥
अकूटस्थं तदन्यत्तु कूटस्थमविकारतः ॥ २४ ॥

कदाचित् कहो कि कूटस्थ और चिदाभास दोनों चित् हैं तो एकको कूटस्थ और दूसरेको अकूटस्थ यह किस कारणसे कहते हो सो ठीक नहीं क्योंकि उस द्विगुणकृत चैतन्यमें चिदाभासके तो जन्म और नाश अनुभवसिद्ध हैं इससे चिदाभास अकूटस्थ है और दूसरा अविकारी होनेसे कूटस्थ है ॥ २४ ॥

अंतःकरणतद्वृत्तिसाक्षीत्यादावनेकधा ॥
कूटस्थ एव सर्वत्र पूर्वाचार्यैर्विनिश्चितः ॥ २५ ॥

कदाचित् कहो कि चिदाभाससे भिन्न कूटस्थ स्वकपोलकल्पित (स्वयं माना) है सो ठीक नहीं क्योंकि 'अंतःकरण और अंतःकरणकी वृत्तियोंके साक्षी चैतन्यरूप, आनंदरूप, सत्यस्वरूप आत्माकी शरण क्यों नहीं होता' इत्यादि शास्त्रोंमें आचार्योंने सर्वत्र कूटस्थका ही वर्णन किया है ॥ २५ ॥

आत्माभासाश्रयाश्चैवं मुखाभासाश्रया यथा ॥
गम्यंते शास्त्रयुक्तिभ्यामित्याभासश्च वर्णितः ॥ २६ ॥

और कूटस्थसे भिन्न चिदाभासका भी वर्णन आचार्योंने ही किया है क्योंकि आत्मा, आभास और आश्रय ये तीनों इस प्रकार होते हैं जैसे मुख, आभास और आश्रय होते हैं अर्थात् जैसे मुख, आभास (प्रतिबिंब) आश्रय (दर्पण) ये तीनों हैं इसी प्रकार आत्मा (कूटस्थ),आभास (चिदाभास जीव) और आश्रय (अंतःकरण आदि) ये तीनों भी शास्त्र और युक्तियोंसे जाने जाते हैं यहां आभास

शब्दसे कूटस्थसे भिन्न चिदाभासका वर्णन किया है और 'मनका साक्षी, बुद्धिका साक्षी' यह शास्त्र बुद्धिके साक्षी कूटस्थका प्रतिपादक है और रूप २ के प्रतिरूप हुआ यह चिदाभासका प्रतिपादक शास्त्र है और एक विकारी दूसरा अविकारी है यह युक्ति पहले कह आये हैं। भावार्थ यह है कि जैसे मुख, प्रतिबिम्ब, दर्पण ये तीन होते हैं इसी प्रकार आत्मा, चिदाभास, अंतःकरण ये तीन होते हैं इस प्रकार शास्त्र और युक्तियोंसे आभासका वर्णन किया है ॥ २६ ॥

बुद्ध्यवच्छिन्नकूटस्थो लोकांतरगमागमौ ॥
कर्तुं शक्तो घटकाश इवाभासेन किं वद ॥ २७ ॥

अब चिदाभासके विषयमें शंका करते हैं कि अपनेमें कल्पनाकी बुद्धिसे अवच्छिन्न (युक्त) कूटस्थ ही घटके द्वारा घटाकाशके समान अन्य लोकोंमें गमन और अगमन करनेको समर्थ है तो चिदाभासकी कल्पना क्यों करते हो अर्थात् क्यों मानते हो ॥ २७ ॥

शृण्वसंगः परिच्छदमात्राज्जीवो भवेन्नहि ॥
अन्यथा घटकुड्याद्यैरवच्छिन्नस्य जीवता ॥ २८ ॥

पूर्वोक्त शंकाका समाधान करते हैं, कि सुनो असंग कूटस्थ, परिच्छेद (बुद्धि) मात्रसे जीव नहीं हो सकता यदि परिच्छेदमात्रसे ही जीव मानोगे तो घट, कुड्य आदिसे अवच्छिन्न कूटस्थ भी जीव हो जायगा इससे आभासका मानना आवश्यक है ॥ २८ ॥

न कुड्यसदृशी बुद्धिः स्वच्छत्वादिति चेत्तथा ॥
अस्तु नाम परिच्छद किं स्वाच्छयेन भवेत्तव ॥ २९ ॥

अब बुद्धि और कुड्यकी विषमतामें शंका करते हैं कि बुद्धि स्वच्छ (निर्मल) है इससे कुड्यके सदृश नहीं हो सकती इससे स्वच्छसे परिछिन्नके गमन अगमनमें दोष नहीं सो ठीक नहीं क्योंकि यह स्वच्छताका भेद रहे स्वच्छतासे परिच्छेदके विषे तुझे क्या है अर्थात् स्वच्छता परिच्छेदमें हेतु नहीं होती है ॥ २९ ॥

प्रस्थेन दारुजन्येन कांस्यजन्येन वा नहि ॥
विक्रेतुस्तंडुलादीनां परिमाणं विशिष्यते ॥ ३० ॥

अब पूर्वोक्त अर्थको दृष्टांतसे स्पष्ट करते हैं कि काष्ठका प्रस्थ हो चाहे कांसीका प्रस्थ हो उनसे तंडुल आदिका जो विक्रय (बेचना) करनेवाला है उसके

---

१ 'मनसः साक्षी बुद्धेः साक्षी'। २ 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव'।

परिमाण (तोल) में कुछ विशेषता नहीं होती है अर्थात् स्वच्छता, अस्वच्छता न्यून अधिक भावको पैदा नहीं कर सकते ॥ ३० ॥

परिमाणाविशेषेऽपि प्रतिबिंबो विशिष्यते ॥
कांस्ये यदि तदा बुद्धावप्याभासो भवेद्बलात् ॥ ३१ ॥

कदाचित् कहो कि परिमाणकी विशेषता न रहे तो भी कांसीके प्रस्थम प्रतिबिंब पडनेकी अधिकता है सो भी ठीक नहीं क्योंकि प्रतिबिंबकी विशेषता मानोगे तो बुद्धिमें भी स्वच्छ होनेसे आभास बलसे हो जायगा अर्थात् आपने ही आभासको मान लिया ॥ ३१ ॥

ईषद्भासनमाभासः प्रतिबिंबस्तथाविधः ॥
बिंबलक्षणहीनः सन् बिंबवद्भासते स हि ॥ ३२ ॥

कदाचित् कहो कि हमने प्रतिबिंब माना है चिदाभास नहीं सो ठीक नहीं क्योंकि ईषत्(किंचित्) प्रकाशको आभास कहते हैं और प्रतिबिंबका भी भासन किंचित् ही होता है क्योंकि बिंबके लक्षणोंसे हीन वह प्रतिबिंब बिंबके समान भासता है इससे बिंबका आभास है ॥ ३२ ॥

ससगत्वविकाराभ्यां बिंबलक्षणहीनता ॥
स्फूर्तिरूपत्वमेतस्य बिंबवद्भासनं विदुः ॥ ३३ ॥

अब आभासके लक्षणोंकी योग्यताको स्पष्ट करते हैं कि यह चिदाभास ससंग (संगसे युक्त) और विकारी है इससे बिंबके लक्षण जो असंग अविकारी हैं उनसे हीन है और जो इसमें स्फुरणरूप है वही बिंबके समान अवभासन है यह बुद्धिमान् मनुष्य जानते हैं और जैसे हेतुके लक्षणोंसे हीन होकर हेतुके समान जो दीखें वे हेत्वाभास होते हैं इसी प्रकार चैतन्यके लक्षणसे हीन होकर चेतनके समान जो दीखें वह चिदाभास होता है ॥ ३३ ॥

न हि धीभावभावित्वादाभासोऽस्ति धियः पृथक् ॥
इति चदल्पमेवोक्तं धीरप्येवं स्वदेहतः ॥ ३४ ॥

इस प्रकार चिदाभासकी अप्रयोजकताका निराकरण करके अब बुद्धिसे पृथक् उसकी सिद्धिके लिये पूर्वपक्षको कहते हैं कि जैसे मिट्टीके होनेपर ही होता हुआ घट मिट्टीसे पृथक् नहीं होता इसी प्रकार बुद्धिकी सत्तासे होनेवाला चिदाभास भी बुद्धिसे पृथक् नहीं होगा ऐसा यदि कहोगे तो अल्प ही तुमने कहा क्योंकि ऐसे ही देहसे भिन्न बुद्धि भी सिद्ध न होगी (यह प्रतिवंदी उत्तर है) ॥ ३४ ॥

देहे मृतेऽपि बुद्धिश्चेच्छास्त्रादस्ति तथासति ॥
बुद्धेरन्यश्चिदाभासः प्रवेशश्रुतिषु श्रुतः ॥ ३५ ॥

अब प्रतिबंदीसे छूटनेकी शंका करते हैं कि देहके मरनेपर भी बुद्धि है अर्थात् देहसे भिन्न बुद्धि इस शास्त्रसे सिद्ध है कि 'वह आत्मा विज्ञान सहित हुआ' इस श्रुतिके बलसे देहसे भिन्न बुद्धिको मानते हो तो बुद्धिसे अन्य चिदाभास भी प्रवेशकी बोधक श्रुतियोंमें सुना है अतः उसे भी मानना चाहिये ॥ ३५ ॥

धीयुक्तस्य प्रवेशश्चेन्नैतरेये धियः पृथक् ॥
आत्मा प्रवेशं संकल्प्य प्रविष्ट इति गीयते ॥ ३६ ॥

अब यह शंका करते हैं कि बुद्धिसे युक्तका ही प्रवेश है अन्यका नहीं, सो ठीक नहीं क्योंकि ऐतरेयश्रुतिमें यह कहा है कि बुद्धिसे अतिरिक्त आत्मा प्रवेशका संकल्प करके प्रविष्ट हुआ ॥ ३६ ॥

कथं न्विदं साक्षदेहं मद्दते स्यादितीरणात् ॥
विदार्य मूर्धसीमानं प्रविष्टः संसरत्ययम् ॥ ३७ ॥

अब उस श्रुतिके ही अर्थको पढ़ते हैं कि 'इंद्रिय और देह सहित यह जडका समूह मेरे विना कैसे होगा' यह विचार कर यह परमात्मा जगत्में प्रविष्ट होकर संसारको प्राप्त होता है अर्थात् जाग्रत् आदि अवस्थाओंको भोगता है ॥ ३७ ॥

कथं प्रविष्टोऽसंगश्चेत्सृष्टिर्वाऽस्य कथं वद ॥
मायिकत्वं तयोस्तुल्यं विनाशश्च समस्तयोः ॥ ३८ ॥

अब असंग आत्माके प्रवेशमें शंका करते हैं कि कदाचित् कहो कि असंग आत्माका प्रवेश कैसे हो सकता है तो इस आत्मासे सृष्टि कैसे सकती है यह तुम कहो अर्थात् यह शंका तुम्हारी सृष्टिमें भी तुल्य है कदाचित् कहो कि सृष्टिका कर्ता मायिक है तो प्रवेशका कर्ता भी मायिक है अर्थात् दोनों (सृष्टि,जीव) मायिक हैं और उनका विनाश तुल्य है अर्थात् दोनोंका नाश होता है ॥ ३८ ॥

समुत्थायैष भूतेभ्यस्तान्येवानुविनश्यति ॥
विस्पष्टमिति मैत्रेय्यै याज्ञवल्क्य उवाच हि ॥ ३९ ॥

अब प्रज्ञानघनं इस श्रुतिके अर्थको पढते हैं कि यह प्रज्ञानघन आत्मा इन देह इंद्रिय आदि पंचभूतोंके कार्यरूप निमित्तोंसे अर्थात् उपाधियोंकी महिमासे भले प्रकार उठकर अर्थात् मैं जीव हूं इस अभिमानको प्राप्त होकर उन्हीं देह आदिकोंके नाश होते नष्ट होता है अर्थात् जीव अभिमानको त्याग देता है इस प्रकार सोपाधिकका विनाश याज्ञवल्क्यने मैत्रेयीके प्रति स्पष्ट कहा है भावार्थ यह है कि, यह आत्मा भूतोंकी महिमासे जीव भावको प्राप्त होकर और उनके नाश होनेके समय नाशको प्राप्त होता है यह याज्ञवल्क्यने मैत्रेयीके प्रति स्पष्ट कहा है ॥ ३९ ॥

अविनाश्ययमात्मेति कूटस्थः प्रविवेचितः ॥
मात्रासंसर्ग इत्येवमसंगत्वस्य कीर्तनात् ॥ ४० ॥

'यह आत्मा अविनाशी अनुच्छित्ति (नाशका अभाव) धर्मवान् है' इस श्रुतिसे जीवसे भिन्न कूटस्थको अविनाशी दिखाया और मात्रा (देह आदि विषय) ओंका संसर्ग(संबंध) इस आत्माको नहीं होता है इस श्रुतिसे अविनाशितामें हेतुको असंगताको कहा है ॥ ४० ॥

जीवापेतं वाव किल शरीरं म्रियते न सः ॥
इत्यत्र न विमोक्षोऽर्थः किंतु लोकांतरे गतिः ॥ ४१ ॥

कदाचित् कहो कि 'जीवसे रहित यह शरीर मरता है और निश्चय है कि जीव नहीं मरता' इस श्रुतिसे औपाधिक जीवको भी अविनाशी कहा है सो ठीक नहीं क्योंकि वह श्रुति अन्य देहकी प्राप्तिके विषयमें है सर्वथा नाशके अभावका बोधन नहीं करती इससे जीवसे रहित शरीरका मरण है जीवका नहीं यहां विमोक्ष (अत्यंत नाशका न होना) अर्थ नहीं है किंतु लोकांतरमें गति अर्थात् जीवको अन्यदेहकी प्राप्ति अर्थ है ॥ ४१ ॥

नाहं ब्रह्मेति बुध्येत स विनाशीति चेन्न तत् ॥
सामानाधिकरण्यस्य बाधायामपि संभवात् ॥ ४२ ॥

कदाचित् कहो कि जीवको विनाशी माननेमें 'मैं ब्रह्म हूं' यह अविनाशी ब्रह्मके संग एकताका ज्ञान न घट सकेगा कि वह जीव विनाशी है तो उसको 'अहं ब्रह्मास्मि' यह बोध न होगा सो ठीक नहीं क्योंकि मुख्य सामानाधिकरण्यके

---

१ प्रज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्ति। २ अविनाशी वारेऽयमात्मा अनुच्छित्तिधर्मा। ३ मात्रासंसर्गस्त्वस्य भवति। ४ जीवापेतं वाव किल इदं म्रियते न जीवो म्रियते।

अभावमें भी जीवभावका बाध होनेपर सामानाधिकरण्य हो सकता है अर्थात् जीवभावके बाधसे ब्रह्मभावका ज्ञान हो सकता है इससे विनाशी जीव और अविनाशी ब्रह्मकी एकता होनेमें कोई बाधक नहीं है ॥ ४२ ॥

योऽयं स्थाणुः पुमानेष पुंधिया स्थाणुधीरिव ॥
ब्रह्मास्मीति धिया शेषाप्यहंबुद्धिर्निवर्त्यते ॥ ४३ ॥

अब बाधमें सामानाधिकरण्य करके वाक्यार्थज्ञानका प्रकार वार्तिककारोंने जो दृष्टांतपूर्वक कहा है उसको उदाहरणपूर्वक दिखलाते हैं कि 'जो यह स्थाणु है वह पुरुष है' इस वाक्यमें जैसे पुरुषबुद्धिसे स्थाणुबुद्धिकी निवृत्ति होती है इसी प्रकार 'अहं ब्रह्मास्मि' इस बोधसे अहं बुद्धि(कर्ता भोक्ता अहम्) की निवृत्ति हो जाती है ॥ ४३ ॥

नैष्कर्म्यसिद्धावप्येवमाचार्यैः स्पष्टमीरितम् ॥
सामानाधिकरण्यस्य बाधार्थत्वमतोऽस्तु तत् ॥ ४४ ॥

इसी प्रकार वार्तिककार आचार्योंने नैष्कर्म्यसिद्धि ग्रंथमें स्पष्ट कहा है कि सामानाधिकरण्य बाधके लिये है इसी कारणसे 'ब्रह्माहमस्मि' इस वाक्यमें बाधके लिये सामानाधिकरण्य रहे ॥ ४४ ॥

सर्वं ब्रह्मेति जगता सामानाधिकरण्यवत् ॥
अहं ब्रह्मेति जीवेन सामानाधिकृतिर्भवेत् ॥ ४५ ॥

कदाचित् कहो कि श्रुतिमें बाधके विषे सामानाधिकरण्य कहीं नहीं देखा सो ठीक नहीं क्योंकि 'सर्वं ह्येतद्ब्रह्म' (यह सब ब्रह्म है) इस श्रुतिमें जैसे जगत्के संग सामानाधिकरण्य है ऐसे ही 'अहं ब्रह्म' (मैं ब्रह्म हूं) यहां जीवके संग सामानाधिकरण्य हो जायगा ॥ ४५ ॥

सामानाधिकरण्यस्य बाधार्थत्वं निराकृतम् ॥
प्रयत्नतो विवरणे कूटस्थस्य विवक्षया ॥ ४६ ॥

कदाचित् कहो कि विवरणाचार्योंने बाधमें सामानाधिकरण्यका खंडन कैसे किया है सो भी ठीक है क्योंकि उन्होंने अहं शब्दसे कूटस्थ लेनेकी इच्छासे सामानाधिकरण्य बाधके लिये है' इसका निराकरण प्रयत्नसे विवरणग्रंथमें किया है ॥ ४६ ॥

शोधितस्त्वंपदार्थो यः कूटस्थो ब्रह्मरूपताम् ॥
तस्य वक्तुं विवरणे तथोक्तमितरत्र च ॥ ४७ ॥

अब कूटस्थकी विवक्षासे इस पूर्वोक्तका वर्णन करते हैं कि शोधित अर्थात् बुद्धि आदिसे पृथक् किया जो त्वंपदका लक्ष्य अर्थ कूटस्थ है उसको ब्रह्मरूप (सत्य आदिरूप) कहनेके लिये विवरण आदि और अन्य ग्रंथोंमें बाधसामानाधिकरण्यके निषेध पूर्वक मुख्य सामानाधिकरण्य कहा है अर्थात् त्वंपदके लक्ष्य कूटस्थ और ब्रह्मका सामानाधिकरण्य सिद्ध किया है ॥ ४७ ॥

देहेंद्रियादियुक्तस्य जीवाभासभ्रमस्य वा ॥
अधिष्ठानचितिः सैषा कूटस्थात्र विवक्षिता ॥ ४८ ॥

अब कूटस्थ और ब्रह्मकी एकताकी संभावनाके लिये कूटस्थ शब्दके अर्थको कहते हैं कि देह,इंद्रिय, मन आदिसे युक्त जो आभासरूप जीव उस भ्रमका अधिष्ठान जो चिति (चेतन) है वह इस वेदांतशास्त्रमें कूटस्थपदसे विवक्षित (कहने योग्य) है ॥ ४८ ॥

जगद्भ्रमस्य सर्वस्य यदधिष्ठानमीरितम् ॥
त्रय्यंतेषु तदत्र स्याद्ब्रह्मशब्दविवक्षितम् ॥ ४९ ॥

अब ब्रह्म शब्दके अर्थको कहते हैं कि संपूर्ण जगत्रूप जो भ्रम उसका जो अधिष्ठान कहा है वह यहां वेदांतोंमें ब्रह्मशब्दसे विवक्षित है अर्थात् उसको ब्रह्म कहते हैं ॥ ४९ ॥

एतस्मिन्नेव चैतन्य जगदारोप्यते यदा ॥
तदा तदेकदेशस्य जीवाभासस्य का कथा ॥ ५० ॥

कदाचित् कहो कि जीवभ्रमका अधिष्ठान कूटस्थ नहीं हो सकता क्योंकि जीव आरोपित नहीं है सो ठीक नहीं क्योंकि जब इसी चैतन्यमें जगत्का आरोप है तो जगत्का एकदेश जो जीवाभास उसकी क्या कथा है अर्थात् उसका आरोप अवश्य हो सकता है और जीव जगत्का एकदेश इस श्रुतिसे सिद्ध है कि 'इस जीवरूपसे जगत्में प्रविष्ट होकर नामरूप किये' ॥ ५० ॥

जगत्तदेकदेशाख्यसमारोप्यस्य भेदतः ॥
तत्त्वंपदार्थौ भिन्नौ स्तो वस्तुतस्त्वेकता चितेः ॥ ५१ ॥

कदाचित् कहो कि जगत्का अधिष्ठान चैतन्य एक है इससे तत् त्वं पदोंके अर्थका भेद नहीं होगा तो तत् त्वंपदके अर्थ भिन्न २ हैं यहां पुनरुक्ति दोष होगा सो ठीक नहीं क्योंकि आरोप करने योग्य जो जगत् और जगत्का एकदेश (जीव) हैं उनके भेदसे तत् त्वंपदोंके अर्थ भिन्न २ हैं और वस्तुतः (सिद्धांतसे) तो चिति (चेतन) की एकता है अर्थात् उपाधिसे भेद है स्वतः नहीं है ॥ ५१ ॥

कर्तृत्वादीन्बुद्धिधर्मान् स्फूर्त्याख्यां चात्मरूपताम् ॥
दधद्विभाति पुरत आभासोऽतो भ्रमो भवेत् ॥ ५२ ॥

कदाचित् कहो कि चिदाभासमें शुक्ति रजत आदिक समान अधिष्ठान और आरोप्य (भ्रमके योग्य) दोनों धर्म नहीं दीखते इससे आरोपित कैसे हो सकता है सो ठीक नहीं क्योंकि कर्तृत्व आदि जो बुद्धिके धर्म हैं और स्फुरणलक्षण जो आत्माका धर्म है उन दोनोंको धारण करता हुआ चिदाभास अग्रभागमें (स्पष्ट) दीखता है इससे आभास भ्रम होता है अर्थात् बुद्धिरूप उपाधिसे कर्तृत्व आदि और चैतन्यको धारण करनेसे भ्रमरूप हो सकता है ॥ ५२ ॥

का बुद्धिः कोऽयमाभासः को वात्माऽत्र जगत्कथम् ॥
इत्यनिर्णयतो मोहः सोऽयं संसार इष्यते ॥ ५३ ॥

अब बुद्धि आदिकोंके स्वरूपका जो अज्ञान उसको भ्रमका कारण कहते हैं कि बुद्धि कौन है ? और यह अभास कोन है ? इसमें आत्मा कौन है ? जगत् कैसे हुआ ? इस प्रकार निर्णयको न करते हुए मनुष्यको जो मोह है उसको ही संसार कहते हैं ॥ ५३ ॥

बुद्ध्यादीनां स्वरूपं यो विविनक्ति स तत्त्ववित् ॥
स एव मुक्त इत्येवं वेदांतेषु विनिश्चयः ॥ ५४ ॥

बुद्धि आदिके स्वरूपका जो विवेचन करता है अर्थात् पृथक् २ जानता है वही तत्त्ववेत्ता है और वही मुक्त है यह वेदांतोंमें निश्चय है अर्थात् बुद्धि आदिके स्वरूपका विवेक ही पूर्वोक्त भ्रमका निवर्तक है और वह विवेकी ही ज्ञानी है ॥ ५४ ॥

एवं च सति बंधः स्यात्कस्येत्यादिकुतर्कजाः ॥
विडंबना दृढं खंड्याः खंडनोक्तिप्रकारतः ॥ ५५ ॥

जब बंध और मोक्षका इस पूर्वोक्त प्रकारसे अविवेक ही मूल है तो अद्वैतवादमें किसको बंध और किसको मोक्ष होगा इत्यादि कुतर्कोंसे तार्किकोंकी जो विडंबना हैं वे खंडनमें कहे हुए प्रकारसे भले प्रकार खण्डन करने योग्य हैं ॥ ५५ ॥

वृत्तेः साक्षितया वृत्तिप्रागभावस्य च स्थितः ॥
बुभुत्सायां तथाऽज्ञोऽस्मीत्याभासाज्ञानवस्तुनः ॥ ५६॥

इस प्रकार श्रुति और युक्तियोंसे बुद्धि आदिसे पृथक् कूटस्थको दिखाकर पुराणोक्त कूटस्थके विवेकको कहते हैं कि काम आदि वृत्तियोंकी उत्पत्तिके समयमें और वृत्तियोंसे पूर्व वृत्तियोंके प्रागभावके समयमें और बोधकी इच्छाके समयमें और बोधसे पूर्व 'मैं अज्ञ हूं' इस प्रकार अनुभूयमान अज्ञानके समयमें साक्षीरूप शिव (कूटस्थ) ही टिकता है ॥ ५६ ॥

असत्यालंबनत्वेन सत्यः सर्वजडस्य तु ॥
साधकत्वेन चिद्रूपः सदा प्रेमास्पदत्वतः ॥ ५७ ॥
आनंदरूपः सर्वार्थसाधकत्वेन हेतुना ॥
सर्वसंबंधवत्त्वेन संपूर्णः शिवसंज्ञितः ॥ ५८ ॥

जो मिथ्याभूत जगत्का आलंबन (अधिष्ठान) होनेसे सत्यरूप, संपूर्ण जड पदार्थोंका प्रकाशक होनेसे चिद्रूप और सदा प्रेमका आस्पद होनेसे आनंदरूप है तथा जो संपूर्ण पदार्थोंका प्रकाशक होनेसे और संपूर्ण पदार्थोंका संबंधी होनेसे संपूर्णरूप शिव है यहां यह अनुमान है कि विवादका आस्पद शिव वृत्ति आदिसे भिन्न है वृत्ति आदिका साक्षी होनेसे जो वृत्ति आदिसे भिन्न नहीं वह वृत्ति आदिका साक्षी भी नहीं तथा वृत्ति आदि विवादका स्थान शिव सत्य होने योग्य है मिथ्याका अधिष्ठान होनेसे असत्य रजतके अधिष्ठान शुक्तिके समान विवादका स्थान शिव चिद्रूप है जडमात्रका आभासक होनेसे जो चिद्रूप नहीं होता वह जडका प्रकाशक भी नहीं होता जैसे घट आदि विवादका स्थान शिव परमानंद रूप है श्रेष्ठ प्रेमका आश्रय होनेसे जो परमानंद नहीं वह परम प्रेमका आस्पद नहीं जैसे घट आदि विवादका स्थान शिव परिपूर्ण है सबका संबंधी होनेसे आकाशके समान सबका संबंधी,संपूर्ण अर्थोंके प्रकाश करनेसे जानना । विवादका स्थान शिव सबका संबंधी है सबका प्रकाशक होनेसे जो सबका संबंधी नहीं होता वह सबका प्रकाशक भी नहीं होता जैसे दीप आदि ॥ ५७ ॥ ५८ ॥

इति शैवपुराणेषु कूटस्थः प्रविवेचितः ॥
जीवेशत्वादिरहितः केवलः स्वप्रभः शिवः ॥ ५९ ॥

अब पूर्वोक्त पुराण वाक्यके तात्पर्यको कहते हैं कि इस प्रकार सूत संहिता आदि शैवपुराणोंमें जीव, ईश्वर आदिकी कल्पनासे रहित केवल, अद्वितीय, स्वयंप्रकाश, चैतन्यरूप, शिवरूप जो कूटस्थ है उसका विवेचन किया है ॥ ५९ ॥

मायाभासेन जीवेशौ करोतीति श्रुतत्वतः ॥
मायिकावेव जीवेशौ स्वच्छौ तौ काचकुंभवत् ॥ ६० ॥

अब जीव ईशसे भिन्न कूटस्थको दिखाते हैं कि, 'माया आभाससे जीव और ईश्वरको करती है' इस श्रुतिसे जीव और ईश मायिक हैं अर्थात् माया और अविद्याके अधीन वे दोनों चिदाभास मायिक हैं। कदाचित् कहो कि मायिक माननेसे वे देह आदिसे विलक्षण न होंगे सो ठीक नहीं क्योंकि कांचके कुंभके समान वे दोनों स्वच्छ हैं अर्थात् जैसे काचका कुंभ पार्थिव होनेपर भी घट आदिसे स्वच्छ है इसी प्रकार मायिक भी जीव ईश्वर देह आदिसे स्वच्छ हैं ॥ ६० ॥

अन्नजन्यं मनो देहात्स्वच्छं यद्वत्तथैव तौ ॥
मायिकावपि सर्वस्मादन्यस्मात्स्वच्छतां गतौ ॥ ६१ ॥

कदाचित् कहो कि घट और काचके कुंभके हेतु जो मृद्विशेष (भिन्न २ मिट्टी) हैं उनके भेदसे उनकी विलक्षणता उचित है पर जगत् और जीव ईश्वरके भेदका हेतु जो माया है वह एक है इससे जीव ईश्वर जगत्से विलक्षण कैसे हो सकते हैं सो ठीक नहीं क्योंकि जैसे अन्नसे पैदा हुआ मन अन्नसे पैदा हुए देहसे स्वच्छ है वैसे ही जीव और ईश मायिक होने पर भी अन्य सबसे स्वच्छ हैं ॥ ६१ ॥

चिद्रूपत्वं च संभाव्यं चित्त्वेनैव प्रकाशनात् ॥
सर्वकल्पनशक्ताया मायाया दुष्करं नहि ॥ ६२ ॥

कदाचित् कहो कि काच आदिके समान स्वच्छ रहे जीव और ईश चेतन कैसे हो सकते हैं सो ठीक नहीं क्योंकि चिद्रूपसे प्रकाश होनेसे जीव और ईशको चिद्रूप होनेकी संभावना हो सकती है। कदाचित् कहो कि मायिक जीव और ईश चिद्रूप नहीं हो सकते सो ठीक नहीं क्योंकि संपूर्ण कल्पना करनेमें समर्थ मायाको कौन वस्तु दुष्कर है अर्थात् मायामें सब वस्तु बन सकती हैं ॥ ६२ ॥

अस्मन्निद्राऽपि जीवेशौ चेतनौ स्वप्नगौ सृजेत् ॥
महामाया सृजत्येतावित्याश्चर्यं किमत्र ते ॥ ६३ ॥

अब कैमुतिकन्यायसे पूर्वोक्त अर्थको दृढ करते हैं-कि हमारी निद्रा भी स्वप्नके चेतन जीव ईशको रच लेती है तो महामाया जीव ईशको रचती है इस बातमें आपको क्या आश्चर्य है ? ॥ ६३ ॥

सर्वज्ञत्वादिकं चेशे कल्पयित्वा प्रदर्शयेत ॥
धर्मिणं कल्पयेद्याऽस्याः को भारो धर्मकल्पने ॥ ६४ ॥

कदाचित् कहो कि ईश्वरको मायिक मानोगे तो जीवके समान असर्वज्ञ हो जायगा सो ठीक नहीं क्योंकि वह माया ईश्वरमें सर्वज्ञत्व आदिको भी कल्पना करके दिखाती है क्योंकि जिसने धर्मी (ईश्वर) की कल्पना की उसको धर्मकी कल्पना करनेमें कौन भार है अर्थात् सर्वज्ञत्वरूप धर्मकी भी कल्पना माया कर सकती है ॥ ६४ ॥

कूटस्थेऽप्यतिशंका स्यादिति चेन्माऽतिशंक्यताम् ॥
कूटस्थमायिकत्वे तु प्रमाणं नहि विद्यते ॥ ६५ ॥

कदाचित् कहो कि यह अतिप्रसंग (शंका) कूटस्थमें भी हो सकती है अर्थात् कूटस्थ भी मायिक हो जायगा सो ठीक नहीं कारण कूटस्थमें शंका मत करो क्योंकि कूटस्थ भी मायिक है इसमें कोई प्रमाण नहीं है ॥ ६५ ॥

वस्तुत्वं घोषयंत्यस्य वेदांताः सकला अपि ॥
सपत्नरूपं वस्त्वन्यन्न सहंतेऽत्र किंचन ॥ ६६ ॥

कदाचित् कहो कि कूटस्थके वास्तवरूपमें भी कोई प्रमाण नहीं मिलता सो ठीक नहीं क्योंकि संपूर्ण वेदांत इस कूटस्थको वस्तु कहते हैं और कूटस्थके पारमार्थिक होनेमें जो तर्क आदि सपत्न (शत्रु) हैं उनको किंचित् भी विद्वान् मनुष्य नहीं सहते ॥ ६६ ॥

श्रुत्यर्थं विशदीकुर्मो न तर्काद्वच्मि किंचन ॥
तेन तार्किकशंकानामत्र कोऽवसरो वद ॥ ६७ ॥

कदाचित् कहो कि जीव ईशके अवास्तव वास्तवमें श्रुतियोंको पढते हो तर्क तो कहते ही नहीं सो ठीक नहीं क्योंकि हम श्रुतिके अर्थको विशद करते हैं तर्कसे किंचित् भी नहीं कहते इससे तार्किकोंकी शंकाका यहां कौन अवसर है अर्थात् नहीं है ॥ ६७ ॥

तस्मात्कुतर्कं संत्यज्य मुमुक्षुः श्रुतिमाश्रयेत् ॥
श्रुतौ तु माया जीवेशौ करोतीति प्रदर्शितम् ॥ ६८ ॥

इससे मुमुक्षु पुरुष कुतर्कको त्यागकर श्रुतिका आश्रय ले और श्रुतिमें तो यह दिखाया ही है कि माया जीव और ईशको करती है ॥ ६८ ॥

ईक्षणादिप्रवेशांता सृष्टिरीशकृता भवेत् ॥
जाग्रदादिविमोक्षांतः संसारो जीवकर्तृकः ॥ ६९ ॥

ईक्षण आदि और प्रवेशपर्यंत सृष्टि तो ईश्वरकी की हुई है और जाग्रत्से मोक्षपर्यंत संसार जीवका किया है ॥ ६९ ॥

असंग एव कूटस्थः सर्वदा नास्य कश्चन ॥
भवत्यतिशयस्तेन मनस्येवं विचार्यताम् ॥ ७० ॥

कूटस्थकी असंगता और मरण जन्म आदिरूप व्यवहारकी असत्ताका वर्णन कर चुके इससे मुमुक्षु सदैव अपने मनमें यह विचारे कि कूटस्थ असंग ही है और इस कूटस्थको किंचन (कोई) भी व्यवहारका अतिशय (जन्म मरण आदि) नहीं है ॥ ७० ॥

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः ॥
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥ ७१ ॥

अब कूटस्थमें जन्म आदिका अतिशय नहीं इसमें श्रुतिको प्रमाण कहते हैं कि न निरोध (नाश) है न उत्पत्ति है न कोई बद्ध (बँधा हुआ) है और न कोई साधक है और न कोई मुमुक्षु है और न कोई मुक्त है यही परमार्थता है अर्थात् सिद्धांत है ॥ ७१ ॥

अवाङ्मनसगम्यं तं श्रुतिर्बोधयितुं सदा ॥
जीवमीशं जगद्वापि समाश्रित्य प्रबोधयेत् ॥ ७२ ॥

कदाचित् कहो कि जहां तहां श्रुतियोंमें जीव ईश्वरका प्रतिपादन किस लिये किया है सो ठीक नहीं क्योंकि जीव ईश वा जगत्का आश्रय लेकर श्रुति वाणी और मनसे अगम्य कूटस्थके बोधनार्थ मुमुक्षुको बोधन करती है ॥ ७२ ॥

यया यया भवेत्पुंसां व्युत्पत्तिः प्रत्यगात्मनि ॥
सा सैव प्रक्रियेह स्यात् साध्वीत्याचार्यभाषितम् ॥ ७३ ॥

कदाचित् कहो कि यदि एक ही तत्त्व श्रुतियोंसे जाना जाता है तो श्रुतियोंमें विगान (फरक) क्यों दीखता है सो ठीक नहीं क्योंकि तत्त्वमें भेद नहीं है किंतु उसके बोधनकी रीतियोंमें भेद है और वह भी बोधनके योग्य पुरुषके चित्तकी विषमताके अनुसार होता है यह सुरेश्वराचार्योंने कहा है कि जिस२प्रक्रियासे पुरुषोंको प्रत्यगात्माका ज्ञान हो वही २ प्रक्रिया यहां श्रेष्ठ है यह आचार्योंने कहा है ॥ ७३ ॥

श्रुतितात्पर्यमखिलमबुद्ध्वा भ्राम्यते जडः ॥
विवेकी त्वखिलं बुद्ध्वा तिष्ठत्यानंदवारिधौ ॥ ७४ ॥

कदाचित् कहो कि श्रुति एकरूप है तो उसके वक्ता क्यों विवाद करते हैं सो ठीक नहीं क्योंकि श्रुतिके संपूर्ण तात्पर्यको न जानकर जड मनुष्य भ्रमको प्राप्त होता है और विवेकी तो श्रुतिके संपूर्ण तात्पर्यको जानकर आनंदके समुद्रमें टिकता है ॥ ७४ ॥

मायामेघो जगन्नीरं वर्षत्वेष यथा तथा ॥
चिदाकाशस्य नो हानिर्न वा लाभ इति स्थितिः ॥७५॥

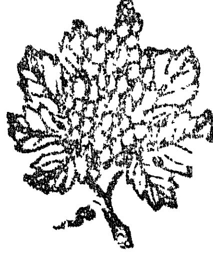
अब विवेकीके निश्चयको कहते हैं कि यह मायारूप मेघ जगत्रूप जलकी वर्षा जैसे वैसे करे न इससे चिदाकाशका कुछ लाभ है और न हानि है यह सिद्धांत है ॥ ७५ ॥

इमं कूटस्थदीपं योऽनुसंधत्ते निरंतरम् ॥
स्वयं कूटस्थरूपेण दीप्यतेऽसौ निरंतरम् ॥ ७६ ॥

अब ग्रंथके अभ्यासका फल कहते हैं कि इस कूटस्थदीपका जो मुमुक्षु स्मरण करता है वह स्वयं कूटस्थरूपसे सदैव प्रकाशित होता है ॥ ७६ ॥

इति श्रीविद्यारण्यकृतपंचदश्याः पं० मिहिरचंद्रकृतभाषा-
विवृतौ कूटस्थदीपं प्रकरणम् ॥ ८ ॥

इति कूटस्थदीपप्रकरणम् ८.



अथ ध्यानदीपप्रकरणम् ९.



संवादिभ्रमवद्ब्रह्मतत्त्वोपास्त्याऽपि मुच्यते ॥
उत्तरे तापनीयेऽतः श्रुतोपास्तिरनेकधा ॥ १ ॥

इस वेदांतशास्त्रमें नित्य अनित्य वस्तुके विवेक आदि चार साधनोंसे युक्त और श्रवण, मनन, निदिध्यासनशील मुमुक्षुको तत् त्वंपदके अर्थकी विवेचनाके द्वारा महावाक्योंके अर्थज्ञानसे मोक्ष होता है यह प्रतिपादन (वर्णन) किया है उसमें उपनिषदोंके सुननेसे भी जिसको बुद्धिकी मंदता आदि प्रतिबंधसे महावाक्योंके अर्थका अपरोक्षज्ञान न हुआ हो उसको भी महावाक्योंके अर्थज्ञानार्थ उपासनाओंके दिखानेका अभिलाषी आचार्य प्रथम दृष्टांतसहित यह कहते हैं कि ब्रह्मतत्त्वकी उपासनासे भी मुक्ति होती है कि संवादी भ्रमसे प्रवृत्त हुए पुरुषको इष्टलाभके समान ब्रह्मतत्त्वकी उपासनासे भी मुक्ति होती है इसीसे उत्तरतापनीयमें अनेक प्रकारसे ब्रह्मतत्त्वकी उपासना सुनी है अर्थात् वर्णन की है ॥ १ ॥

मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्ध्याऽभिधावतोः ॥
मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति ॥ २ ॥

अब संवादी भ्रमको ही दिखाते हैं कि मणि और दीपककी जो दो प्रभा हैं उनको मणि समझ कर दौडते हुए जो दो मनुष्य हैं उन दोनोंके मिथ्याज्ञानमें कोई विशेष नहीं है अर्थात् दोनोंको भ्रम है तथापि अर्थक्रियामें विशेष है अर्थात् मणिकी प्रभामें मणिकी बुद्धिसे तो मणि मिलती है और दीपककी प्रभामें मणिका लाभ नहीं होता ॥ २ ॥

दीपोऽपवरकस्यांतर्वर्तते तत्प्रभा बहिः ॥
दृश्यते द्वार्यथान्यत्र तद्वद्दृष्टा मणेः प्रभा ॥ ३ ॥

अब वार्तिकका व्याख्यान करते हैं कि किसी मंदिरमें अपवरक (आच्छादनकर्ता) के मध्यमें दीपक वर्तता है और दीपककी प्रभा बाहर द्वारपर रत्नके समान वर्तुल (गोल) दीखती है और वैसे ही दूसरे मंदिरमें अपवरकके मध्यमें स्थित रत्न (मणि) की प्रभा बाहर द्वारदेशमें दीपककी प्रभाके समान रत्नके तुल्य वर्तुल नहीं दीखती है किंतु अन्यथा दीखती है ॥ ३ ॥

दूरे प्रभाद्वयं दृष्ट्वा मणिबुद्ध्याऽभिधावतोः ॥
प्रभायां मणिबुद्धिस्तु मिथ्याज्ञानं द्वयोरपि ॥ ४ ॥

दूरसे इन दोनों प्रभाओंको देखकर दौड़ते हुए जो दो मनुष्य हैं उन दोनोंकी जो प्रभाओंमें मणिबुद्धि है वह दोनोंका मिथ्याज्ञान है अर्थात् दोनों भ्रांत हैं ॥ ४ ॥

न लभ्यते मणिर्दीपप्रभां प्रत्यभिधावता ॥
प्रभायां धावताऽवश्य लभ्यैतैव मणिर्मणेः ॥ ५ ॥

तथापि दीपककी प्रभाके प्रति दौड़ते हुए मनुष्यको मणिका लाभ नहीं होता है और मणिकी प्रभामें दौड़ते हुए मनुष्यको तो मणिका लाभ अवश्य होता है ॥ ५ ॥

दीपप्रभा मणिभ्रांतिर्विसंवादिभ्रमः स्मृतः ॥
मणिप्रभामणिभ्रांतिः संवादिभ्रम उच्यते ॥ ६ ॥

कदाचित् कहो कि यह वार्तिकका अर्थ रहे, प्रकरणमें क्या आया ? सो ठीक नहीं क्योंकि दीपककी प्रभामें जो मणिकी भ्रांति है वह विसंवादी भ्रम कहा है और मणिकी प्रभामें जो मणिकी भ्रांति है वह संवादी भ्रम कहलाता है ॥ ६ ॥

बाष्पं धूमतया बुद्धा तत्रांगारानुमानतः ॥
वह्निर्यदृच्छया लब्धः स सवादिभ्रमो मतः ॥ ७ ॥

इस प्रकार प्रत्यक्षके विषयमें संवादी भ्रमको दिखाकर अनुमानमें भी दिखाते ह कि किसी देशमें टिके बाष्प (भाफ) को धूम जानकर वहां यह अनुमान कोई कर कि यह देश अग्निमान् है, धूप होनेसे, महानसके समान और उस देशमें गये पुरुषको यदि दैवगतिसे अग्नि मिल जाय तो बाष्पमें जो उसका धूमज्ञान है वह संवादी भ्रम माना है ॥ ७ ॥

गोदावर्युदकं गंगोदकं मत्वा विशुद्धय ॥
सम्प्रोक्ष्य शुद्धिमाप्नोति स सवादिभ्रमो मतः ॥ ८ ॥

अब शास्त्रमें संवादी भ्रमको कहते हैं कि गोदावरीके जलको गंगाजल मानकर और शुद्धिके लिये अपने देहपर छिड़ककर मनुष्य शुद्धिको प्राप्त होता है वह भी संवादी भ्रम माना है अर्थात् गोदावरीका जल भी शास्त्रमें शुद्धिका हेतु प्रसिद्ध है इससे उसके प्रोक्षणसे भी शुद्धि है तथापि गोदावरीके जलमें जो गंगाजलकी बुद्धि है वह भ्रम ही है ॥ ८ ॥

ज्वरेणाप्तः सन्निपात भ्रांत्या नारायणं स्मरन् ॥
मृतः स्वर्गमवाप्नोति स संवादिभ्रमो मतः ॥ ९ ॥

अन्य भी संवादी भ्रमके उदाहरण देते हैं कि ज्वरसे संनिपातको प्राप्त हुआ मनुष्य यह नारायणका स्मरण मेरे स्वर्गका साधन है इस ज्ञानके विना भी संनिपातसे पैदा हुए भ्रमके वश अन्य सावधान पुरुषके समान नारायणका स्मरण करता हुआ जो मरकर स्वर्गको प्राप्त होता है वह संवादी भ्रम कहाता है क्योंकि 'दुष्टचित्तोंसे स्मरण किया भी हरि पापोंको हरता है' और 'पापी अजामिल भी पुत्रके नारायण-नामका उच्चारण करके मुक्तिको प्राप्त हुआ' इत्यादि पुराणके वचनोंसे नारायण नामको पुत्रनाम समझना भ्रम है ॥ ९ ॥

प्रत्यक्षस्यानुमानस्य तथा शास्त्रस्य गोचरे ॥
उक्तन्यायेन संवादिभ्रमाः सन्ति हि कोटिशः ॥ १० ॥

इस प्रकार प्रत्यक्ष, अनुमान और शास्त्रके विषयमें पूर्वोक्त न्यायसे कोटियों संवादी भ्रम हैं अर्थात् कार्यकारी भ्रम हैं ॥ १० ॥

अन्यथा मृत्तिकादारुशिलाः स्युर्देवताः कथम् ॥
अग्नित्वादिधियोपास्याः कथं वा योषिदादयः ॥ ११ ॥

अब विपक्ष (न मानने) में बाधकको कह कर पूर्वोक्त अर्थको दृढ करते हैं कि अन्यथा (संवादी भ्रमको न मानोगे तो) फलसिद्धिके लिये मिट्टी, काष्ठ, शिला ये देवता मानकर पूजनके योग्य किस प्रकार हो क्योंकि ये स्वतः देवता नहीं हैं और योषित (स्त्री) आदि भी अग्नि आदिकी बुद्धिसे उपासनाके योग्य कैसे होते अर्थात् नहीं होते जैसे कि पंचाग्निविद्यामें जो यह कहा है कि स्त्रीपुरुष दोनों गोतमाग्नि हैं और पृथिवी मेघ और यह स्वर्गलोक ये सब गोतमाग्नि हैं अर्थात् इनको अग्नि समझ कर जो उपासना करना है उससे ब्रह्मलोक मिलता है और आदि पदसे (मनकी ब्रह्मरूपसे उपासना करे) इसका ग्रहण और 'आदित्यका ब्रह्म नाम है' इसका ग्रहण समझना। अर्थात् भ्रमके न माननेमें ये सब असंगत हो जायँगे। भावार्थ यह है कि उक्त भ्रम न मानोगे तो मिट्टी, काठ, शिला देवता कैसे होंगे और स्त्री आदिकोंकी अग्नि आदिकी बुद्धिसे उपासना कैसे होगी इससे संवादी भ्रमका मानना आवश्यक है ॥ ११ ॥

---

१ 'हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृतः' 'आक्रुश्य पुत्रमघवान्यदजामिलोऽपि नारायणेति म्रियमाण इयाय मुक्तिम्' । २ योषा वाव गोतमाग्निः पुरुषो वाव गोतमाग्निः पृथिवी वाव गोतमाग्निः पर्जन्यो वाव गोतमाग्निरसौ वाव द्युलोको गोतमाग्निः । ३ मनो ब्रह्मेत्युपासीत । ४ आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः ।

अयथावस्तुविज्ञानात्फलं लभ्यत ईप्सितम् ॥
काकतालीयतः सोऽयं संवादिभ्रम उच्यते ॥ १२ ॥

अब अनेक ग्रंथोंमें वर्णन किये संवादी भ्रमको संक्षेपसे दिखाते हैं कि जहां अयथार्थ वस्तु (विपरीत) के ज्ञानसे काकतालीयन्याय (दैवगति) से वांछित फलकी प्राप्ति हो जाय वह यह संवादी भ्रम माना है और काकके आते ही तालके फलके पडनेसे जो अकस्मात् काकका मरण उसे काकतालीय कहते हैं॥ १२॥

स्वयभ्रमोऽपि संवादी यथा सम्यक्फलप्रदः ॥
ब्रह्मतत्त्वोपासनाऽपि तथा मुक्तिफलप्रदा ॥ १३ ॥

कदाचित् कहो कि अयथाथ वस्तुविषयक ब्रह्मकी उपासनासे मुक्ति न हागी सो ठीक नहीं क्योंकि जैसे स्वयं भ्रमरूप भी संवादी भ्रम सम्यक् फलका दाता है इसी प्रकार ब्रह्मतत्त्वकी उपासना भी मुक्तिरूप फलकी दाता है ॥ १३ ॥

वदांतेभ्यो ब्रह्मतत्त्वमखंडैकरसात्मकम् ॥
परोक्षमवगम्यैतदहमस्मीत्युपासते ॥ १४ ॥

कदाचित् कहो कि ब्रह्मतत्त्वको जानकर उपासना करते हो वा विना जाने ? जानकर तो नहीं कह सकते क्योंकि मोक्षके हेतु ज्ञानके होते हुए उपासना ही व्यर्थ हो जायगी और दूसरा पक्ष इससे नहीं घट सकता कि उपासनाके विषयके ज्ञान विना उपासना किसकी होगी ? सो ठीक नहीं क्योंकि वदांतोंसे अखंड एक रसरूप ब्रह्मतत्त्वको परोक्ष जानकर 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूं) ऐसी उपासना की जाती है अर्थात् ब्रह्म आत्माकी एकताका जो अपरोक्ष ज्ञान है वह वेदांतोंसे नहीं होता इससे उपासना व्यर्थ नहीं है और शास्त्रके द्वारा परोक्ष जाना जो ब्रह्म है वह उपासनाका विषय है ॥ १४ ॥

प्रत्यग्व्यक्तिमनुल्लिख्य शास्त्राद्विष्णवादिमूर्तिवत् ॥
अस्ति ब्रह्मेतिसामान्यज्ञानमत्र परोक्षधीः ॥ १५ ॥

अब उपासनाके योग्य ब्रह्मतत्त्वके परोक्षज्ञानका स्वरूप वर्णन करते हैं कि जहां बुद्धि आदिके साक्षी आनंदरूप आत्माकी प्रत्यक् व्यक्तिका उल्लेख (नाम) न हो ऐसा जो सत्यज्ञान आदि शास्त्रके वाक्योंसे पैदा हुआ ब्रह्म है यह ज्ञान वह सामान्य ज्ञान इस उपासनामें इस प्रकार परोक्षज्ञान कहा है जैसे विष्णु आदिकी मूर्तिके प्रतिपादक शास्त्रसे विष्णुका परोक्षज्ञान होता है ॥ १५ ॥

चतुर्भुजाद्यवगतावपि मूर्तिमनुल्लिखन् ॥
अक्षैः परोक्षज्ञान्येव न तदा विष्णुमीक्षते ॥ १६ ॥

कदाचित् कहो कि शास्त्रसे विष्णु आदिकी चतुर्भुज मूर्ति आदिका ज्ञान होनेसे उसका ज्ञान परोक्ष कैसे हो सकता है ? सो ठीक नहीं क्योंकि चतुर्भुज आदिका ज्ञान होनेपर भी मूर्तिको नेत्रोंसे विषय नहीं करता हुआ पुरुष उस समय विष्णुको नहीं देखता इससे परोक्षज्ञानी ही है ॥ १६ ॥

परोक्षत्वापराधेन भवेन्नातत्त्ववेदनम् ॥
प्रमाणेनैव शास्त्रेण सत्त्वमूर्तेर्विभासनात् ॥ १७ ॥

कदाचित् कहो कि विष्णु आदिके परोक्ष ज्ञानमें व्यक्तिके उल्लेखका अभाव होनेसे भ्रमत्व हो जायगा सो ठीक नहीं क्योंकि परोक्षताके अपराधसे अतत्त्व-वेदन नहीं होता अर्थात् परोक्षज्ञान भ्रमका कारण नहीं होता किंतु प्रमाणरूप शास्त्रसे सत्त्वमूर्तिके भासमान होनसे यह ज्ञान यथार्थ है क्योंकि भ्रम वही होता है जिसका विषय असत्य हो ॥ १७ ॥

सच्चिदानंदरूपस्य शास्त्राद्भानेऽप्यनुल्लिखन् ॥
प्रत्यंचं साक्षिणं तत्तु ब्रह्मसाक्षान्न वीक्षते ॥ १८ ॥

कदाचित् कहो कि सच्चिदानंद व्यक्तिका उल्लेखी ब्रह्मतत्त्वका ज्ञान जो शास्त्रसे पैदा होता है वह परोक्ष कैसे हो सकता है ? सो ठीक नहीं क्योंकि 'सत्य ज्ञान अनंत ब्रह्म है, नित्य शुद्ध बुद्ध सत्य मुक्त निरंजन जो है वही सब है तत् सत् रूप है' इत्यादि शास्त्रसे सच्चिदानंदरूप ब्रह्मका भान होनेपर भी प्रत्यक् साक्षीरूपके अनुल्लेखसे उस ब्रह्मके प्रत्यक् आत्मास्वरूपको न जानता हुआ मुमुक्षु पुरुष उस ब्रह्मको साक्षात् नहीं देखता भावार्थ यह है कि शास्त्रसे सच्चिदानंदरूपके भान होनेपर भी साक्षीरूप प्रत्यक् व्यक्तिको विषय न करनेसे वह मुमुक्षु उस ब्रह्मको साक्षात् नहीं देखता है ॥ १८ ॥

शास्त्रोक्तेनैव मार्गेण सच्चिदानंदनिश्चयात् ॥
परोक्षमपि तज्ज्ञानं तत्त्वज्ञानं न तु भ्रमः ॥ १९ ॥

कदाचित कहो कि उस पूर्वोक्त ब्रह्मज्ञानको तत्त्वज्ञान कैसे कहते हो ? सो ठीक नहीं क्योंकि शास्त्रोक्त मार्गसे ही सच्चिदानंदरूपके निश्चयसे परोक्ष भी ब्रह्मज्ञान तत्त्वज्ञान ही है, भ्रमरूप नहीं अर्थात् यथार्थ ज्ञान है ॥ १९ ॥

---

[1] सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म । नित्यः शुद्धो बुद्धः सत्यो मुक्तो निरंजनः सद्धीदं सर्वं तत्सत् ।

ब्रह्म यद्यपि शास्त्रेषु प्रत्यक्त्वेनैव वर्णितम् ॥
महावाक्यैस्तथाऽप्येतद्दुर्बोधमविचारिणः ॥ २० ॥

कदाचित् कहो कि जैसे सत्य ज्ञान आदि वाक्योंसे ब्रह्म सच्चिदानंदरूप जाना जाता है इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' आदि वाक्योंसे प्रत्यक् रूपका भी बोध हो जायगा इससे शास्त्रसे जन्य ज्ञान भी प्रत्यक् व्यक्तिको विषयकरनेसे अपरोक्ष ही हो जायगा सो ठीक नहीं क्योंकि यद्यपि वेदांतशास्त्रोंमें महावाक्योंसे ब्रह्मका प्रत्यक् रूपसे वर्णन किया है तथापि वह वर्णन किया प्रत्यक्रूप अन्वयव्यतिरेकसे उस मनुष्यको जाननेको अशक्य है जिसको तत् त्वं पदके अर्थका विवेक नहीं है इससे केवल वाक्यसे अपरोक्ष ज्ञान नहीं होता है भावार्थ यह है कि यद्यपि शास्त्रोंमें महावाक्यासे प्रत्यक् ब्रह्मका वर्णन किया है तथापि विचारहीनको उसका ज्ञान दुर्लभ है ॥ २० ॥

देहाद्यात्मत्वविभ्रांतौ जाग्रत्यां न हठात्पुमान् ॥
ब्रह्मात्मत्वेन विज्ञातुं क्षमते मंदधीत्वतः ॥ २१ ॥

कदाचित् कहो कि सम्यक् ज्ञान प्रमाण वस्तुके अधीन है और प्रमाण भी 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यरूप है और ब्रह्म आत्माकी एकतारूप वस्तु भी है तो विचारके विना प्रत्यक् ब्रह्म दुर्बोध कैसे है सो ठीक नहीं क्योंकि जबतक देह आदिकोंमें आत्मत्व बुद्धि जागती है तबतक मनुष्य हठसे और मंदबुद्धिके कारण ब्रह्मको आत्मस्वरूप जाननेमें समर्थ नहीं होता है अर्थात् ब्रह्म आत्माकी एकताका विरोधी और विचारसे निवृत्ति होने योग्य जो देह इंद्रिय आदिमें आत्मत्वका भ्रम उसके लिये विचार अपेक्षित है। भावार्थ यह है कि देह आदिमें आत्माका भ्रम रहनेपर मंदबुद्धि मनुष्य हठसे ब्रह्मको आत्मस्वरूप नहीं जान सकता ॥ २१ ॥

ब्रह्ममात्रं सुविज्ञेयं श्रद्धालोः शास्त्रदर्शिनः ॥
अपरोक्षद्वैतबुद्धिः परोक्षाद्वैतबुद्ध्यनुत् ॥ २२ ॥

कदाचित् कहो कि देह इंद्रिय आदि द्वैतभ्रमके रहते अद्वितीय ब्रह्मका परोक्षज्ञान भी न होगा सो ठीक नहीं क्योंकि जो शास्त्रका द्रष्टा श्रद्धावान् है उसको ब्रह्ममात्रका ज्ञान भले प्रकार हो सकता है क्योंकि अपरोक्ष द्वैतका ज्ञान परोक्ष अद्वैतज्ञानका निवर्तक नहीं हो सकता है अर्थात् वे परस्पर विरोधी नहीं हैं ॥२२॥

अपरोक्षशिलाबुद्धिर्न परोक्षेशतां नुदेत् ॥
प्रतिमादिषु विष्णुत्वे को वा विप्रतिपद्यते ॥ २३ ॥

अब अपरोक्ष भ्रम परोक्ष यथार्थ ज्ञानका अविरोधी है इसमें दृष्टांत कहते हैं कि प्रत्यक्ष जो शिलाका ज्ञान है वह अपरोक्ष ईश्वरज्ञानको दूर नहीं कर सकता क्योंकि प्रतिमा आदिकोंमें विष्णुके स्वरूपमें कौन विवाद करता है अर्थात् सब विष्णुरूप मानते हैं ॥ २३ ॥

अश्रद्धालोरविश्वासो नोदाहरणमर्हति ॥
श्रद्धालोरेव सर्वत्र वैदिकेष्वधिकारतः ॥ २४ ॥

कदाचित् कहो कि कोई २ विवाद भी करते हैं सो ठीक नहीं किंतु अश्रद्धालु जो है उसके अविश्वासमें तो उदाहरण देना ही योग्य नहीं है क्यों कि सब वेदोक्त कर्मोंमें श्रद्धावान् पुरुषका ही अधिकार है ॥ २४ ॥

सकृदाप्तोपदेशेन परोक्षज्ञानमुद्भवेत् ॥
विष्णुमूर्त्युपदेशो हि न मीमांसामपेक्षते ॥ २५ ॥

एकबार ही यथार्थ वक्ता जो आप्त मनुष्य उसके उपदेशसे परोक्षज्ञान होता है क्योंकि विष्णुकी मूर्तिके उपदेशमें कुछ मीमांसा (विचार) की अपेक्षा नहीं है, कहते ही विष्णुबुद्धि हो जाती है ॥ २५ ॥

कर्मोपास्ती विचार्येते अनुष्ठेयाविनिर्णयात् ॥
बहुशाखाविप्रकीर्णं निर्णेतुं कः प्रभुर्नरः ॥ २६ ॥

कदाचित् कहो कि फिर शास्त्रोंमें विचार क्यों किये जाते हैं यह शंका करके करने योग्य कर्म और उपासनाके भेदसे सदहकी निवृत्तिके लिये विचारकी कर्तव्यताको कहते हैं कि करने योग्यके अनिर्णयसे कर्म और उपासनाका विचार करते हैं क्योंकि अनेक शाखाओंसे युक्त जो वेद है उसके निर्णय करनेको कौन मनुष्य प्रभु (समर्थ) है ॥ २६ ॥

निर्णीतोऽर्थः कल्पसूत्रैर्ग्रथितस्तावताऽस्तिकः ॥
विचारमंतरेणापि शक्तोऽनुष्ठातुमंजसा ॥ २७ ॥

कदाचित् कहो कि, तो कर्म उपासनाका भी न करना ही प्राप्त हुआ सो ठीक नहीं क्योंकि जैमिनि आदि पूर्वाचार्योंने जिस अर्थका निश्चय किया है वह कल्पसूत्रोंमें ग्रथित (संग्रह किया) है उससे ही अर्थात् कल्पसूत्रोंके लाभसे ही उनमें जिसका विश्वास है ऐसा पुरुष विचारके विना भी सुखपूर्वक अनुष्ठान करनेको समर्थ है अर्थात् कर सकता है ॥ २७ ॥

विचार्याप्यापरोक्ष्येण ब्रह्मात्मानं न वेत्ति चेत् ॥
आपरोक्ष्यावसानत्वाद्भूयो भूयो विचारयेत् ॥ ३२ ॥

कदाचित् कहो कि विचार करनेपर भी जब अपरोक्ष ज्ञान न हो तब क्या करे सो ठीक नहीं किंतु विचार करके भी अर्थात् तत् त्वंपदके अर्थका निश्चय होनेके अनंतर भी ब्रह्म आत्माकी एकताका अपरोक्षज्ञान न हो तो भी बारंबार विचार ही करना क्योंकि विचारसे अन्य कोई अपरोक्ष ज्ञानका हेतु नहीं है ॥ ३२ ॥

विचारयन्नामरणं नैवात्मानं लभेत चेत् ॥
जन्मांतरे लभेतैव प्रतिबंधक्षये सति ॥ ३३ ॥

कदाचित् कहो कि बारंबार विचार करनेपर भी साक्षात्कार न हो तो विचार व्यर्थ हो जायगा सो ठीक नहीं क्योंकि यदि विचार करता हुआ मरण पर्यंत आत्माको प्राप्त न हो तो जन्मांतरमें प्रतिबंधका क्षय होनेपर अवश्य प्राप्त होगा अर्थात् उसको आत्मज्ञान हो जायगा ॥ ३३ ॥

इह वाऽमुत्र वा विद्येत्येवं सूत्रकृतोदितम् ॥
शृण्वंतोऽप्यत्र बहवो यन्न विद्युरिति श्रुतिः ॥ ३४ ॥

कदाचित् कहो कि यह किससे जाना कि जन्मांतरमें फल होता है इस शंकाका उत्तर ब्रह्मसूत्रके कर्ता व्यासके वचनसे कहते हैं कि 'इस लोकमें वा परलोकमें विद्या फल देती है' यह सूत्रकारने कहा है और 'सुनते हुए भी बहुतसे मुमुक्षु इस जन्ममें जिस आत्माको नहीं जानते' यह श्रुति है ॥ ३४ ॥

गर्भ एव शयानः सन् वामदेवोऽवबुद्धवान् ॥
पूर्वाभ्यस्तविचारेण यद्वदध्ययनादिषु ॥ ३५ ॥

इस जन्ममें श्रवण आदिका जो कर्ता है उसको जन्मांतरमें अपरोक्ष ज्ञान होता है इसमें भी इस श्रुतिके अर्थको पढ़ते हैं कि गर्भमें सोता हुआ ही वामदेव पूर्वजन्माभ्यासके विचारसे ब्रह्मको जानता हुआ कि 'गर्भमें ही रहता मैं इन देवताओंको जानता हूं' जैसे अध्ययन आदिकोंमें फल जन्मांतरमें होता है ॥ ३५ ॥

बहुवारमधीतेऽपि तदा नायाति चेत्पुनः ॥
दिनांतरेऽनधीत्यैव पूर्वाधीतं स्मरेत्पुमान् ॥ ३६ ॥

---

१ गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा ।

अब दृष्टांतको स्पष्ट करते हैं कि यदि बहुत बार पढने पर भी न आवे तो पुनः दूसरे दिन विना पढे ही पूर्व पढे हुएका पुरुष स्मरण कर लेता है अर्थात् स्वतः ही आ जाता है ॥ ३६ ॥

कालेन परिपच्यंते कृषिगर्भादयो यथा ॥
तद्वदात्मविचारोऽपि शनैः कालेन पच्यते ॥ ३७ ॥

अब अन्य भी दृष्टांत दिखाते हैं कि जैसे कृषि, गर्भ आदिका परिपाक समयपर होता है ऐसे ही आत्मविचार भी शनैः २ काल पाकर ही पकता है ॥ ३७ ॥

पुनः पुनर्विचारेऽपि त्रिविधप्रतिबंधतः ॥
न वेत्ति तत्त्वमित्येतद्वार्तिके सम्यगीरितम् ॥ ३८ ॥

वारंवार विचार करनेपर भी तीन प्रकारके प्रतिबंधसे तत्त्वको नहीं जानता यह वार्तिककारोंने भले प्रकार वर्णन किया है अर्थात् पुनः २ विचारको बाधकर प्रतिबंधसे ब्रह्मसाक्षात्कार नहीं होता ॥ ३८ ॥

कुतस्तज्ज्ञानमिति चेत्तद्धि बंधपरिक्षयात् ॥
असावपि च भूतो वा भावी वा वर्ततेऽथ वा ॥ ३९ ॥

अब उनहीं वार्तिकोंको कहते हैं और प्रथम पहले जिसको ज्ञान न हुआ हो इस कालमें ज्ञान होनेके कारणको पूछते हैं कि वह ज्ञान कैसे होता है ऐसा यदि कोई कहे तो वह ज्ञान बंधनके परिक्षय (नाश) से होता है और वह बंध भी भूत, भविष्यत्, वर्तमानके भेदसे तीन प्रकारका है ॥ ३९ ॥

अधीतवेदवेदार्थोऽप्यत एव न मुच्यते ॥
हिरण्यनिधिदृष्टांतादिदमेव हि दर्शितम् ॥ ४० ॥

कदाचित् कहो कि प्रतिबंध रहे वह क्या करेगा सो ठीक नहीं क्योंकि जिसने वेद और वेदके अर्थको पढ लिया है वह प्रतिबंधके होनेसे ही मुक्त नहीं होता और प्रतिबंधके रहते ज्ञान नहीं होता यह बात हिरण्यनिधि (सोनेके खजाना) के दृष्टांतसे दिखायी है कि दबी हुई हिरण्यकी निधिको ऊपर २ विचरते क्षेत्रज्ञों(स्थानज्ञों) से अन्य जैसे नहीं जानते इसी प्रकार ये संपूर्ण प्रजा, प्रतिदिन ब्रह्मलोकमें जाती हुई असत्यसे युक्त हुई इस ब्रह्मलोकको नहीं जानती ॥ ४० ॥

---

१ हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि संचरंतो न विंदेयुः एवमेवेमाः सर्वाः प्रजाः अहरहर्ब्रह्मलोकं गच्छंत्य एतं ब्रह्मलोकं न विदंति अनृतेन हि प्रत्यूढाः ।

अतीतेनापि महिषीस्नेहेन प्रतिबंधतः ॥
भिक्षुस्तत्त्वं न वेदेति गाथा लोके प्रगीयते ॥ ४१ ॥

अब व्यतीत हुए प्रतिबंधसे ज्ञानके अभावको कहते हैं कि भूत भी महिषीके स्नेहरूप प्रतिबंधसे कोई भिक्षु तत्त्वको न जानता हुआ यह गाथा लोकमें गायी जाती है। वह गाथा यह है कि कोई संन्यासी गृहस्थके समय किसी महिषीमें स्नेह करके फिर संन्यासके अनंतर श्रवणमें प्रवृत्त हुआ भी उसी स्नेहरूप प्रतिबंधसे गुरुके उपदेश किये तत्त्वको न जानता हुआ ॥ ४१ ॥

अनुसृत्य गुरुः स्नेहं महिष्यां तत्त्वमुक्तवान् ॥
ततो यथावद्वेदैष प्रतिबंधस्य संक्षयात् ॥ ४२ ॥

कदाचित् कहो कि फिर महिषीके स्नेही उसको कैसे ज्ञान हुआ सो ठीक नहीं क्योंकि उसको तत्त्वके उपदेशकर्ता गुरुने माहिषिमें स्नेहके अनुसार ही तत्त्वको कहा अर्थात् माहिषीरूप उपाधिवाले ब्रह्मका वर्णन किया इससे उस संन्यासीने प्रतिबंधके नाश होनेपर यथार्थ ब्रह्मको जाना अर्थात् महिषीको असत्य समझ कर ब्रह्मज्ञानी होगया ॥ ४२ ॥

प्रतिबंधो वर्तमानो विषयासक्तिलक्षणः ॥
प्रज्ञामांद्यं कुतर्कश्च विपर्ययदुराग्रहः ॥ ४३ ॥

इस प्रकार भूत प्रतिबंधको दिखाकर वर्तमानको दिखाते हैं कि वर्तमान प्रति-बंध ये चित्तके विषयोंमें आसक्ति और बुद्धिकी मंदता अर्थात् तीक्ष्ण बुद्धिका न होना, कुतर्क अर्थात् शुष्कतर्कोंसे श्रुतिके अन्यथा अर्थ करने और विपर्ययमें दुराग्रह अर्थात् आत्माको कर्ता आदि माननेमें हठ करना युक्तिसे रहित आग्रहको दुराग्रह कहते हैं। इन प्रतिबंधोंमें एकके भी होनेमें ज्ञान नहीं हुआ करता है ॥ ४३ ॥

शमाद्यैः श्रवणाद्यैश्च तत्र तत्रोचितैः क्षयम् ॥
नीतेऽस्मिन्प्रतिबंधेऽतः स्वस्य ब्रह्मत्वमश्नुते ॥ ४४ ॥

अब इस प्रतिबंधकी भी निवृत्तिके हेतुओंको कहते हैं कि शम, दम, उपराम, तितिक्षा, सावधानता और श्रवण, मनन, निदिध्यासन ये जो उस २ समयमें उचित हैं उनसे प्रतिबंधके क्षय होनेपर अपने प्रत्यगात्माके ब्रह्मरूपको प्राप्त होता है ॥ ४४ ॥

आगामिप्रतिबंधश्च वामदेवे समीरितः ॥
एकेन जन्मना क्षीणो भरतस्य त्रिजन्मभिः ॥ ४५ ॥

अब भावी प्रतिबंधको दिखाते हैं कि आगामी प्रतिबंध वामदेवमें भले प्रकार कहा कि जन्मांतरका हेतु आगामी प्रतिबंध (प्रारब्धका शेष) जिसकी भोगके बिना निवृत्ति ही नहीं होती है और निवृत्तिमें भी कालका नियम नहीं है वह प्रतिबंध वामदेवका तो एक जन्मसे नष्ट हुआ और भरतका तीन जन्ममें क्षीण हुआ ॥४५॥

योगभ्रष्टस्य गीतायामतीते बहुजन्मनि ॥
प्रतिबंधक्षयः प्रोक्तो न विचारोऽप्यनर्थकः ॥ ४६ ॥

कदाचित् कहो कि एक जन्म तीन जन्मके कहनेसे कालका नियम तो तुमने ही कह दिया सो ठीक नहीं किंतु योगभ्रष्टके प्रतिबंधका क्षय गीतामे बहुत जन्मोंके बीतनेपर कहा है इससे विचार भी निष्फल नहीं क्योंकि प्रतिबंधकी निवृत्ति होनेपर ही अपरोक्षज्ञानरूप फलका संभव है ॥ ४६ ॥

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानात्मतत्त्वविचारतः ॥
शुचीनां श्रीमतां गेहे साभिलाषोऽभिजायते ॥ ४७ ॥

अब गीतामें कहे अर्थको ही कहते हैं कि योगसे भ्रष्ट मनुष्य पुण्यात्माओंके लोकोंमें प्राप्त होकर अर्थात् स्वर्ग आदिमें जाकर वहां बहुत कालतक सुख भोगकर उस भोगके अनंतर अभिलाषा हो तो इस लोकमें मातापिताके वीर्यसे शुद्ध जो लक्ष्मीवालोंका कुल उसमें जन्म लेता है ॥ ४७ ॥

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ॥
निस्पृहो ब्रह्मतत्त्वस्य विचारात्तद्धि दुर्लभम् ॥ ४८ ॥

अथवा वह योगभ्रष्ट निस्पृह अर्थात् विषयोंसे अत्यंत विरक्त हो तो बुद्धिमान् योगियोंके कुलमें ही ब्रह्मतत्त्वके विचारसे पैदा होता है क्योंकि वह योगियोंके कुलमें जन्म अत्यंत दुर्लभ है और आत्मतत्त्वके विचारसे जिनका चित्त एकाग्र है वे योगी होते हैं, उनके कुलमें जन्म होना पुण्यका फल है ॥ ४८ ॥

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ॥
यतते च ततो भूयस्तस्मादेतद्धि दुर्लभम् ॥ ४९ ॥

अब उसकी दुर्लभताको कहते हैं कि जिससे उस जन्ममें पूर्वदेहके उसी बुद्धिके संयोगको अर्थात् तत्त्वविचारके योग्य बुद्धिको प्राप्त होता है और कुछ

यही लाभ नहीं है किंतु उसी पूर्वजन्मके यत्नसे फिर भी आत्माके विचारमें अधिक यत्न करता है उससे यह योगियोंके कुलमें जन्म दुर्लभ है. अर्थात् पुण्यके विना मिलना कठिन है ॥ ४९ ॥

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ॥
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥ ५० ॥

अब पुनः अभ्यासमें कारणको कहते हैं कि योगभ्रष्ट वह मनुष्य उसी पूर्वजन्मके अभ्याससे अवश (पराधीन) आकर्षण (खींचना) किया जाता है अर्थात् वह पूर्वाभ्यास उसी तरफ खींच ले जाता है इस प्रकार करते २ अनेक जन्मोंमें सिद्धिको भले प्रकार प्राप्त हुआ, वह परमगतिको प्राप्त हो जाता है अर्थात् मुक्त होजाता है ॥ ५० ॥

ब्रह्मलोकाभिवांछायां सम्यक् सत्यां निरुध्य ताम् ॥
विचारयेद्य आत्मानं न तु साक्षात्करोत्ययम् ॥५१ ॥

अब अन्य भी आगामी प्रतिबंधको दिखाते हैं कि ब्रह्मलोककी वांछा होनेपर उसको भले प्रकार रोक कर जो आत्मविचारको करे वह आत्माके साक्षात्कारको प्राप्त नहीं होता अर्थात् ब्रह्मलोककी वांछारूप प्रतिबंधसे वह ब्रह्मज्ञानी नहीं होता ॥ ५१ ॥

वेदांतविज्ञानसुनिश्चितार्था इति शास्त्रतः ॥
ब्रह्मलोके स कल्पांते ब्रह्मणा सह मुच्यते ॥ ५२॥

कदाचित् कहो कि फिर उसकी कभी भी मुक्ति न होगी सो ठीक नहीं किंतु वेदांतके ज्ञानसे भले प्रकार निश्चित किया है अर्थ जिन्होंने ऐसे संन्यासी शुद्ध अंतःकरण हुए अंतसमयमें ब्रह्मलोकमें सब मुक्त हो जाते हैं और ब्रह्माके संग वे सब प्रलयके समय परंपद परमेश्वरके मध्यमें प्रविष्ट हो जाते हैं इस शास्त्रके कथनानुसार वे ब्रह्मलोककी प्राप्तिके अनंतर तत्त्वको जानकर ब्रह्मके संग उनकी मुक्ति हो जाती है ॥ ५२ ॥

केषांचित्स विचारोऽपि कर्मणा प्रतिबध्यते ॥
श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्य इति श्रुतेः ॥ ५३ ॥

---

१ वेदांतविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः।ते ब्रह्मलोके तु परांतकाले परामृताः परिमुच्यंति सर्वे ॥ ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसंचरे । परस्यांते कृतात्मानः प्रविशंति परं पदम् ।

इस प्रकार तत्त्वविचार करनेपर प्रतिबंधके वश यहां ब्रह्मसाक्षात्कार नहीं होता यह कह कर जो मनुष्य महापापी हैं उनको वह विचार भी दुर्लभ है इसका वर्णन करते हैं कि किन्हीं २ मनुष्योंके तो उस विचारका भी कर्मसे प्रतिबंध हो जाता है क्योंकि 'श्रवणके लिये भी वह ब्रह्म बहुतसे मनुष्योंको लभ्य नहीं अर्थात् ब्रह्मकी वार्ताओंका श्रवण भी दुर्लभ है' यह श्रुतिमें लिखा है ॥ ५३ ॥

अत्यंतबुद्धिमांद्याद्वा सामग्र्या वाप्यसंभवात् ॥
यो विचारं न लभते ब्रह्मोपासीत सोऽनिशम् ॥ ५४ ॥

इतने ग्रंथसे प्रतिबंधके रहते तत्त्वका साक्षात्कार और उसका हेतु विचार नहीं होता यह कहकर अब यह कहते हैं कि विचारमें असमर्थ मनुष्य पुरुषार्थ चाहे तो वह क्या करे कि अत्यन्त बुद्धिकी मंदतासे वा सामग्रीके न होनेसे जिसको विचारकी प्राप्ति न हो अर्थात् उपदेशका कर्ता गुरु न मिले वा देशकालके अभावसे विचार न कर सके तो वह रात्रिदिन ब्रह्मकी उपासना करे ॥ ५४ ॥

निर्गुणब्रह्मतत्त्वस्य न ह्युपास्तेरसंभवः ॥
सगुणब्रह्मणीवात्र प्रत्ययावृत्तिसंभवात् ॥ ५५ ॥

कदाचित् कहो कि निर्गुणब्रह्मतत्त्वको गुणरहित होनेसे उसकी उपासना न घटेगी सो ठीक नहीं किन्तु निर्गुणब्रह्मतत्त्वकी उपासनाका असंभव नहीं है क्योंकि सगुण ब्रह्मके समान निर्गुण ब्रह्ममें भी प्रत्ययावृत्ति (ब्रह्माकारवृत्ति) का संभव है अर्थात् ब्रह्माकार प्रतीतिको ही उपासना कहते हैं ॥ ५५ ॥

अवाङ्मनसगम्यं तन्नोपास्यमिति चेत्तदा ॥
अवाङ्मनसगम्यस्य वेदनं न च संभवेत् ॥ ५६ ॥

कदाचित् कहो कि निर्गुणब्रह्म वाणी और मनका अविषय होनेसे उपासनाके योग्य नहीं है सो ठीक नहीं क्योंकि यदि वाणी और मनके अविषयकी उपासना न मानोगे तो वाणी और मनके अविषयका वेदन (ज्ञान) भी न होगा अर्थात् यह दोष उसके ज्ञानमें भी आ सकता है ॥ ५६ ॥

वागाद्यगोचराकारमित्येवं यदि वेत्त्यसौ ॥
वागाद्यगोचराकारमित्युपासीत नो कुतः ॥ ५७ ॥

कदाचित् कहो कि ब्रह्म वाणी और मनका अगोचर है यही ज्ञान इस मुमुक्षुको होता है तो वाणी आदिका अविषयाकार ब्रह्म है यह उपासना भी क्यों न होगी अर्थात् अवश्य होगी ॥ ५७ ॥

सगुणत्वमुपास्यत्वाद्यदि वेद्यत्वतोऽपि तत् ॥
वेद्यं चेल्लक्षणावृत्त्या लक्षितं समुपास्यताम् ॥ ५८ ॥

कदाचित् कहो कि ब्रह्मको उपासनायोग्य मानोगे तो सगुण हो जायगा सो भी ठीक नहीं, आपके मतमें भी ब्रह्मको जानने योग्य होनेसे सगुण हो जाना तुल्य है। कदाचित् कहो कि वेद्य तो लक्षणावृत्तिसे ब्रह्मको मानते हैं तो लक्षणासे ज्ञातकी ही उपासना करो इसमें क्या दोष है ॥ ५८ ॥

ब्रह्मविद्धि तदेव त्वं न त्विदं यदुपासते ॥
इति श्रुतेरुपास्यत्वं निषिद्धं ब्रह्मणो यदि ॥ ५९ ॥

अब यह शंका करते हैं कि ब्रह्मकी उपासना श्रुतिमें निषिद्ध है कि तू उसीको ब्रह्म जान और यह ब्रह्म नहीं है जिसकी सब लोग उपासना करते हैं; इस श्रुतिसे ब्रह्मकी उपासनाका निषेध है कि जिसको मनसे नहीं जानता और मन जिससे माना जाता है उसीको तू ब्रह्म जान, और जिसकी उपासना करते हैं वह ब्रह्म नहीं है ॥ ५९ ॥

विदितादन्यदेवेति श्रुतेर्वेद्यत्वमस्य न ॥
यथा श्रुत्यैव वेद्यं चेत्तथा श्रुत्याऽप्युपास्यताम् ॥ ६० ॥

अब उपासनाके समान वेद्य (जानने योग्य) में भी तुल्य दोषको कहते हैं कि वह ब्रह्म विदित (ज्ञात) और अविदितसे अन्य है इस श्रुतिसे ब्रह्मको वेद्यत्व भी नहीं है कदाचित कहो कि ऐसे विदित अविदितसे अन्य ब्रह्मका ज्ञान श्रुति कहती है तो वैसे ही ब्रह्मकी उपासना करो अर्थात् उपासनामें भी यह समाधान तुल्य है ॥ ६० ॥

अवास्तवी वेद्यता चेदुपास्यत्वं तथा न किम् ॥
वृत्तिव्याप्तिर्वेद्यता चेदुपास्यत्वेऽपि तत्समम् ॥ ६१ ॥

कदाचित् कहो कि ब्रह्मकी वेद्यता वास्तव नहीं है तो ब्रह्मकी उपासनाको भी अवास्तवी क्यों न मानो। कदाचित् कहो ब्रह्मकी वेद्यता तो ब्रह्माकार वृत्तिकी व्याप्तिसे हो जाती है तो उपासनामें भी ब्रह्माकार वृत्तिकी व्याप्ति तुल्य है ॥ ६१ ॥

का ते भक्तिरुपास्तौ चेत्कस्ते द्वेषस्तदीरय ॥
मानाभावो न वाच्योऽस्यां बहुश्रुतिषु दर्शनात् ॥ ६२ ॥

---

१ यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनोमतं तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते । २ तद्विदिता-दथोऽविदितादधि ।

कदाचित् कहो कि ब्रह्मकी उपासनामें आपकी क्या भक्ति है अर्थात् क्यों मानते हो तो ब्रह्मकी उपासनामें आपका क्या द्वेष है यह तुम कहो। कदाचित् कहो कि निर्गुण ब्रह्मकी उपासनामें कोई प्रमाण नहीं है सोभी ठीक नहीं है क्योंकि बहुतसी श्रुतियोंमें निर्गुण ब्रह्मकी उपासनाको देखते हैं ॥ ६२ ॥

उत्तरस्मिंस्तापनीये शैब्यप्रश्नेऽथ काठके ॥
मांडूक्यादौ च सर्वत्र निर्गुणोपास्तिरीरिता ॥ ६३ ॥

अब बहुत श्रुतियोंमें उपासनाको दिखाते हैं कि उत्तर तापनीय उपनिषदमें कहा है कि 'प्रथम देवता प्रजापतिको बोले सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म इस ओंकाररूप आत्माको हमारे प्रति कहो' इत्यादिसे बहुधा निर्गुणकी उपासना कही है और वैसेही शैब्यके प्रश्नके विषे प्रश्नोपनिषद्में पंचम प्रश्नके विषे कहा है कि 'जो इस ब्रह्मको तीन मात्रावाले ओम् इस अक्षरसेही कहता है' इस काठकमें अर्थात् कठवल्लीमें कि 'संपूर्ण वेद जिस पदको मानते हैं यह प्रारंभ करके यही अक्षर ब्रह्म है यही श्रेष्ठ आलंबन है' इत्यादिसे ओंकारकी उपासना कही है और मांडूक्य उपनिषद्में भी 'ओं यह अक्षर ही संपूर्ण जगत्रूम है' इत्यादिसे अवस्थाओंसे अतीत तुरीय ब्रह्मकी उपासना कही है, आदि पदसे तैत्तिरीय, मुंडक आदि उपनिषद् समझने। भावार्थ यह है कि उत्तर तापनीय शैब्य प्रश्न और कठवल्ली और मांडूक्य आदि संपूर्ण उपनिषदोंमें निर्गुण ब्रह्मकी उपासना कही है ॥ ६३ ॥

अनुष्ठानप्रकारोऽस्याः पंचीकरण ईरितः ॥
ज्ञानसाधनमेतच्चेन्नेति केनात्र वारितम् ॥ ६४ ॥

अब निर्गुण उपासना करनेका प्रकार कहते हैं कि निर्गुण उपासना करनेका प्रकार पंचीकरणके विषे कहा है, कदाचित् कहो कि वह तो ज्ञानका साधन है मुक्तिका साधन नहीं सो भी ठीक नहीं क्योंकि ब्रह्मतत्त्वकी उपासनासे भी मुक्त होता है यह कहते हुए हमको वह भी अनुकूल है अर्थात् वह ज्ञानसाधन नहीं यह कौन निवारण करता है ॥ ६४ ॥

नानुतिष्ठति कोऽप्येतदिति चेन्माऽनुतिष्ठतु ॥
पुरुषस्यापराधेन किमुपास्तिः प्रदुष्यति ॥ ६५ ॥

---

१ तावद्देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्नणोरणीयांसमिममात्मानमोंकारं नो व्याचक्ष्व । २ यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्यनेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत । ३ सर्वे वेदा यत्पदमामनंति एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतदालंबनं श्रेष्ठम् । ४ ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम् ।

कदाचित् कहो कि निर्गुण उपासनाको कोई भी नहीं करता किंतु सगुणोपासना करते हैं तो मत करे क्या पुरुषोंके अपराध (न करने) से निर्गुण उपासनामें दोष हो सकता है अर्थात् नहीं होता ॥ ९५ ॥

इतोऽप्यतिशयं मत्वा मंत्रान्वश्यादिकारिणः ॥
मूढा जपंतु तेभ्योऽतिमूढाः कृषिमुपासताम् ॥ ९६ ॥

अब प्रमाणसिद्धके न करनेसे त्याग नहीं होता इसमें दृष्टांत कहते हैं कि जैसे कालांतरमें फलकी दाता सगुणउपासनाओंसे वशीकरण आदिके मंत्रोंमें इस लोकके फलकी अधिकताको देखकर मूढोंकी वशीकरण मंत्रके जप आदिमें प्रवृत्ति होनेपर भी विवेकी पुरुष सगुण उपासनाको नहीं त्यागते और जैसे नियमसे करनेकी है अपेक्षा जिनको ऐसे वशीकरण आदि मंत्रोंसे भी कृषि आदिमें अधिकता और नियमकी अपेक्षाके अभावको मानकर अत्यंत मूढोंकी उसमें प्रवृत्ति होनेपर भी उन मंत्रोंके अनुष्ठानको कोई नहीं त्यागते वैसे संसारके फलाभिलाषी पुरुष निर्गुण उपासनाको न भी करे तो भी मुमुक्षु पुरुष निर्गुण उपासनाको नहीं त्यागते । भावार्थ यह है कि इनसे भी अधिकताको मानकर मूढपुरुष वशीकरण मंत्रोंको जपो और उनसे भी अधिकता मान मूढपुरुष कृषिको करें ॥ ९६ ॥

तिष्ठंतु मूढाः प्रकृता निर्गुणोपास्तिरीर्यते ॥
विद्यैक्यात्सर्वशाखास्थान् गुणानत्रोपसंहरेत् ॥ ९७ ॥

अब प्रासंगिकको समाप्त करके प्रकरणमें आते हैं कि जगत्में मूढ रहो अब प्रकृत जो निर्गुण उपासना उसका वर्णन करते हैं कि विद्या (ज्ञान) की एकतासे संपूर्ण शाखाओंके गुणोंका एकस्थानमें ही उपसंहार (समाप्ति) करे अर्थात् निर्गुण उपासनाको एक होनेसे उस २ शाखामें सुने जो उपासना योग्योंके गुण हैं उनको एक निर्गुणमें ही समाप्त करके उपासना करनी ॥ ९७ ॥

आनंदादेर्विधेयस्य गुणसंघस्य संहृतिः ॥
आनंदादय इत्यस्मिन् सूत्रे व्यासेन वर्णिता ॥ ९८ ॥

वे गुण दो प्रकारके हैं विधेय और निषेध्य; अर्थात् कर्तव्य और न कर्तव्य हैं उनमें 'आनंद ब्रह्म है. विज्ञान आनंदब्रह्म है, नित्य शुद्ध बुद्ध सत्य मुक्त निरंजन विभु अद्वय आनंदपर प्रत्यक् एकरस है'[1] इत्यादि जो विधान करनेके योग्य गुण हैं उनका उपसंहार आनंद आदि गुण प्रधानके हैं इस अधिकरणमें व्यासजीने कहा

---

१ आनंदो ब्रह्म । विज्ञानमानंदं ब्रह्म । नित्यः शुद्धः बुद्धः सत्यो मुक्तः निरंजनः विभुरद्वयः आनंदः यः प्रत्यगेकरसः ।

है। भावार्थ-यह है कि विधानके योग्य आनंद आदि गुणोंका उपसंहार 'आनंदादयः' इस सूत्रमें व्यासजीने वर्णन किया है ॥ ६८ ॥

अस्थूलादेर्निषेध्यस्य गुणसंघस्य संहृतिः ॥
तथा व्यासेन सूत्रेऽस्मिन्नुक्ताऽक्षरधियां त्विति ॥ ६९ ॥

और जो अस्थूल अनणु अहृस्व अदृश्य अग्राह्य अशब्द अस्पर्श अरूप अव्यय आदि निषेधके योग्य गुण हैं उनके समूहका उपसंहार 'अक्षरधियां त्ववरोधः' इस सूत्रमें व्यासजीने वर्णन किया है अर्थात् जिनकी अक्षररूप ब्रह्ममें बुद्धि है उनको सामान्यरूप और उनकी भावनासे अवरोध होता है अर्थात् उपसंहार हो जाता है ॥ ६९ ॥

निर्गुणब्रह्मतत्त्वस्य विद्यायां गुणसंहृतिः ॥
न युज्येतेत्युपालंभो व्यासं प्रत्येव मां न तु ॥ ७० ॥

कदाचित् कहो कि निर्गुण विद्यामें गुणोंका उपसंहार उचित नहीं है क्योंकि उसकी निर्गुणता ही न रहेगी सो ठीक नहीं किन्तु निर्गुण ब्रह्मतत्त्वकी विद्या (ज्ञान) में गुणोंका उपसंहार उचित नहीं यह आपकी शंका व्यासजीके प्रति ही है हमारे प्रति नहीं क्योंकि हम तो व्यासजीके कहे हुएका ही वर्णन करते हैं अपनी उक्तिसे नहीं कहते॥ ७० ॥

हिरण्यश्मश्रुसूर्यादिमूर्तीनामनुदाहृतेः ॥
अविरुद्धं निर्गुणत्वमिति चेत्तुष्यतां त्वया ॥ ७१ ॥

कदाचित् कहो कि सुवर्णके समान हैं श्मश्रु जिसकी ऐसी जो सूर्य आदिकी मूर्ति हैं उनक न कहनेसे यह भी निर्गुणकी ही उपासना है ऐसा मानोगे तो निर्गुण माननेमें कोई विरोध नहीं इससे आपको भी संतोष करना चाहिये ॥ ७१ ॥

गुणानां लक्षकत्वेन न तत्त्वेंऽतःप्रवेशनम् ॥
इति चेदस्त्वेवमेव ब्रह्म तत्त्वमुपास्यताम् ॥ ७२ ॥

कदाचित् कहो कि आनंद आदि और अस्थूल आदि गुणोंका उपासनाके योग्य ब्रह्मतत्त्वके मध्यमें अप्रवेश है तो उन गुणोंसे विशिष्टकी उपासना कैसे होगी सो ठीक नहीं क्योंकि उनका तत्त्वके मध्यमें प्रवेश न हो तो भी वे गुण लक्षक हैं उनसे लक्षित जो ब्रह्म वही उपासनाके योग्य है ॥ ७२ ॥

---

१ अस्थूलमनण्वहृस्वं यत्तददृश्यमग्राह्यमशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम् ।

आनंदादिभिरस्थूलादिभिश्चात्माऽत्र लक्षितः ॥
अखंडैकरसः सोऽहमस्मीत्येवमुपासते ॥ ७३ ॥

अब उसी उपासनाके प्रकारका दिखाते हैं कि इन पूर्वोक्त श्रुतियोंमें आनन्द आदि और अस्थूल आदि गुणोंसे जो आत्मा लक्षित किया है वह अखंड एकरसरूप मैं हूं इस प्रकार मुमुक्षुजन उपासना करते हैं ॥ ७३ ॥

बोधोपास्त्योर्विशेषः क इति चेदुच्यते शृणु ॥
वस्तुतंत्रो भवेद्बोधः कर्तृतंत्रमुपासनम् ॥ ७४ ॥

अब विद्या और उपासनाके भेदको कहते हैं कि बोध और उपासनाका भेद क्या है ऐसा कहोगे तो सुना कि बोध वस्तुके अधीन है और उपासना कर्ताके अधीन है ॥ ७४ ॥

विचाराज्जायते बोधोऽनिच्छायां न निवर्तयेत् ॥
स्वोत्पत्तिमात्रात्संसारे दहत्यखिलसत्यताम् ॥ ७५ ॥

अब अन्य विशेषताके लिये बोधके हेतु आदिको दिखाते हैं कि वस्तुके तत्त्वविचारसे वह बोध होता है जिसको, बोध मत हो, यह अनिच्छा निवृत्त (नष्ट) नहीं कर सकती और उत्पन्न होता ही वह बोध संसारमें संपूर्ण प्रपंचकी सत्यताको नष्ट कर देता है अर्थात् उस ज्ञानसे संसारमें मिथ्यात्वबुद्धिका निश्चय हो जाता है ॥ ७५ ॥

तावता कृत्यकृत्यः सन्नित्यतृप्तिमुपागतः ॥
जीवन्मुक्तिमनुप्राप्य प्रारब्धक्षयमीक्षते ॥ ७६ ॥

उतने ही तत्त्वज्ञानकी उत्पत्तिमात्रसे कृतकृत्यताको प्राप्त हुआ और सदैव तृप्त मुमुक्षु जीवन्मुक्तिको प्राप्त होकर प्रारब्धके क्षयको देखता है ॥ ७६ ॥

आप्तोपदेशं विश्वस्य श्रद्धालुरविचारयन् ॥
चिंतयेत् प्रत्ययैरन्यैरनंतरितवृत्तिभिः ॥ ७७ ॥

अब उपासनाको बोधसे विलक्षणताकी सिद्धिके लिये उपासनाकी विलक्षणताको दिखाते हैं कि आप्त जो गुरु उनके उपदेशको अर्थात् उपासनाके योग्यस्वरूपके प्रतिपादक जो वाक्य उनके समूहको विश्वाससे मानकर विचारता हुआ पुरुष उपासनाके योग्य तत्त्वको इस प्रकार चिंतन करे जो विजातीय प्रतीतियोंसे व्यवहित न हो अर्थात् तदाकार वृत्ति ही रक्खे ॥ ७७ ॥

यावच्चिंत्यस्वरूपत्वाभिमानः स्वस्य जायते ॥
तावद्विचिंत्य पश्चाच्च तथैवामृति धारयेत् ॥ ७८ ॥

अब चिंताके कालकी अवधिको कहते हैं कि जबतक चिंताके योग्य स्वरूप (ब्रह्म) का अभिमान अपनेको न हो अर्थात् वह ब्रह्म मैं हूं यह बुद्धि न हो तबतक चिंताको करके फिर उसी प्रकारकी वृत्तिको मरणपर्यंत धारण करे ॥ ७८ ॥

ब्रह्मचारी भिक्षमाणो युतः संवर्गविद्यया ॥
संवर्गरूपतां चित्ते धारयित्वा ह्यभिक्षत ॥ ७९ ॥

अब उपासकको तद्रूपताका अभिमान उदाहरण दिखाकर स्पष्ट करते हैं कि कोई संवर्गविद्यासे युक्त ब्रह्मचारी अर्थात् प्राणका उपासक भिक्षा मांगता हुआ अपने चित्तमें संवर्गरूपताको धार कर भिक्षाको मांगता हुआ कि हे अभिप्रतारिन् राजन्! चार महात्माओंको (उदान, व्यान, समान, अपान) कौन एक वह देव निगलता हुआ और वह भुवनका रक्षक है और देहमें टिके और बसते हुए उसको बहुधा मनुष्य नहीं देखते हैं अर्थात् उदान आदिका लय जिसमें हो ऐसे प्राणको नहीं जानते हैं इस मंत्रको पढकर ही उक्त ब्रह्मचारीने भिक्षाटन किया ॥ ७९ ॥

पुरुषस्येच्छया कर्तुमकर्तुं कर्तुमन्यथा ॥
शक्योपास्तिरतो नित्यं कुर्यात्प्रत्ययसंततिम् ॥ ८० ॥

मरणपर्यंत धारण करनेमें निमित्तको दिखाते हुए अनिच्छा (इच्छाका अभाव) जिसका निवारण नहीं कर सकती यह जो बोधका धर्म, उससे विलक्षणता कहते हैं कि उपासना पुरुषकी इच्छासे करनेको न करनेको और अन्यथा करनेको शक्य है अर्थात् चाहे जैसे कर सकते हैं, इससे पुरुषकी इच्छाके अधीन होनेसे उपासना सर्वदा करने योग्य है अर्थात् सदैव ब्रह्माकार प्रतीतियोंका विस्तार करे ॥ ८० ॥

वेदाध्यायी ह्यप्रमत्तोऽधीते स्वप्नेऽधिवासतः ॥
जपिता तु जपत्येव तथा ध्याताऽपि वासयेत् ॥ ८१ ॥

अब सदा चिंतनका फल कहते हैं कि अप्रमत्त (सावधान) वेदका पाठी अर्थात् सदैव पढनेवाला और सदैव जपका कर्ता ये दोनों स्वप्नमें भी अधिवास (दृढवासना) से पढना और जपको ही करते रहें इसी प्रकार उपासक भी वासनाकी दृढतासे स्वप्न आदिमें भी ध्यानको ही करता है ॥ ८१ ॥

---

१ महात्मनश्चतुरो देव एकः कः स जगार भुवनस्य गोपा तं कापेयं नाभिपश्यंति मर्त्या अभिप्रतारिन् बहुधा वसंतम्।

विरोधिप्रत्ययं त्यक्त्वा नैरंतर्येण भावयन् ॥
लभते वासनावेशात्स्वप्नादावपि भावनाम् ॥ ८२ ॥

अब स्वप्नआदिमें भी ध्यानके अनुवर्तनमें कारणको कहते हैं कि विरोधी जो प्रत्यय (प्रतीति) उसको छोडकर निरंतर भावना करता हुआ मनुष्य वासनाकी दृढतासे स्वप्न आदिमें भी भावना (ध्यान) को प्राप्त होता है ॥ ८२ ॥

भुंजानोऽपि निजारब्धमास्थातिशयतोऽनिशम् ॥
ध्यातुं शक्तो न संदेहो विषयव्यसनी यथा ॥ ८३ ॥

कदाचित् कहो कि प्रारब्धकर्मके वश विषयोंका भोगते हुएको कैसे भावनाकी सिद्धि होगी सो ठीक नहीं क्योंकि विषयोंके व्यसनीके समान विश्वासका आतिशय (अधिकता) होनेपर ध्यानकी सिद्धिको कहते हैं कि विश्वासकी अधिकतासे रात्रिदिन अपने प्रारब्धको भोगता हुआ विषयोंके व्यसनवालेके समान ध्यान कर सकता है इसमें संदेह नहीं ॥ ८३ ॥

परव्यसनिनी नारी व्यग्राऽपि गृहकर्मणि ॥
तदेवास्वादयत्यंतः परसंगरसायनम् ॥ ८४ ॥

अब दृष्टांतका विवरण करते हैं कि परपुरुषमें है व्यसन जिसका एसी स्त्री घरके कार्यमें व्यग्र (लगी) भी हुई उसी परपुरुषके संगरूप रसायन (औषध) का अपने मनमें स्वाद लेती है ॥ ८४ ॥

परसंगं स्वादयंत्या अपि नो गृहकर्म तत् ॥
कुंठीभवेदपि त्वेतदापातेनैव वर्तते ॥ ८५ ॥

परपुरुषके संगका स्वाद लेती हुई स्त्रीका वह घरका कर्म कुंठित नहीं होता अर्थात् ज्योंका त्यों ऊपरी तौरसे चला जाता है परंतु उसकी वासना परपुरुषके संगमें रहती है ॥ ८५ ॥

गृहकृत्यव्यसनिनी यथा सम्यक्करोति तत् ॥
परव्यसनिनी तद्वन्न करोत्येव सर्वथा ॥ ८६ ॥

अब मरणपर्यंत गृहके कार्यकी स्थितिका वर्णन करते हैं कि घरके कार्योंका जिसे व्यसन है वह स्त्री गृहकार्यको जैसे भले प्रकार करती है उस प्रकार परपुरुषका जिसको व्यसन है वह सर्वथा नहीं करती ॥ ८६ ॥

एवं ध्यानैकनिष्ठोऽपि लेशाल्लौकिकमारभेत् ॥
तत्त्ववित्त्वविरोधित्वाल्लौकिकं सम्यगाचरेत् ॥ ८७ ॥

अब दार्ष्टांतिकमें बताते हैं कि इसी प्रकार एक ध्यानमें ही है निष्ठा जिसकी ऐसा पुरुष भी लेशमात्र (थोडासा) लौकिक कर्म करता है । कदाचित् कहो कि तत्त्वज्ञानी लौकिक व्यवहारको लेशमात्रसे करता है वा भले प्रकारसे, सो ठीक नहीं किंतु तत्त्वज्ञानी तो लौकिक व्यवहारको भले प्रकार करता है क्योंकि व्यवहार तत्त्वज्ञानका विरोधी नहीं है ॥ ८७ ॥

मायामयः प्रपंचोऽयमात्मा चैतन्यरूपधृक् ॥
इति बोधे विरोधः को लौकिकव्यवहारिणः ॥ ८८ ॥

अविरोधको ही दिखाते हैं कि प्रपंच मायामय है और आत्मा चैतन्यरूपधारी है ऐसा बोध होनेपर लौकिक व्यवहारके कर्ताका कौन विरोध है अर्थात् कोई नहीं ॥ ८८ ॥

अपेक्षते व्यवहृतिर्न प्रपंचस्य वस्तुताम् ॥
नाप्यात्मजाडयं किं त्वेषा साधनान्येव कांक्षति ॥ ८९ ॥

व्यवहारको प्रपंचकी सत्यताकी अपेक्षा नहीं है और न आत्माकी जडताकी अपेक्षा है अर्थात् ऐसा नहीं है कि प्रपंच सत्य और आत्मा जड हो तो व्यवहार चले किंतु व्यवहार अपने साधनोंकी ही अपेक्षा करता है ॥ ८९ ॥

मनोवाक्कायतद्बाह्यपदार्थाः साधनानि तान् ॥
तत्त्वविन्नोपमृद्नाति व्यवहारोऽस्य नो कुतः ॥ ९० ॥

अब व्यवहारके साधनोंको दिखाते हैं कि मन, वाणी, देह और गृह क्षेत्र आदि बाह्य पदार्थ ये साधन हैं;इनको तत्त्वज्ञानी निवारण नहीं करता है तो तत्त्वज्ञानीका व्यवहार क्यों न होगा अर्थात् अवश्य होगा ॥ ९० ॥

उपमृद्नाति चित्तं चेद्ध्यातोऽसौ न तु तत्त्ववित् ॥
न बुद्धिमर्दयन् दृष्टो घटतत्त्वस्य वेदिता ॥ ९१ ॥

कदाचित् कहो कि विषयका निवारण तत्त्वज्ञानीको मत हो चित्तकी निवृत्ति तो होनी ही चाहिये सो ठीक नहीं किंतु यदि तत्त्वज्ञानी चित्तका उपमर्दन करता है तो वह ध्यानी है तत्त्वज्ञानी नहीं क्योंकि घटके तत्त्वका ज्ञाता कोई भी बुद्धिको पीडित करता नहीं देखा ॥ ९१ ॥

सकृत्प्रत्ययमात्रेण घटश्चेद्भासते सदा ॥
स्वप्रकाशोऽयमात्मा किं घटवच्च न भासते ॥ ९२ ॥

कदाचित् कहो कि स्थूल घटके दर्शनमें चित्तकी पीडाकी अपेक्षा नहीं है, सूक्ष्मरूप ब्रह्मके ज्ञानमें चित्तकी पीडा अवश्य चाहिये सो ठीक नहीं किंतु यदि एकवार ही प्रतीतिमात्रसे घट भासता है तो सदैव स्वप्रकाशरूप यह आत्मा क्या घटके समान नहीं भासता अर्थात् स्वप्रकाश आत्मा घटसे भी अत्यंत स्पष्ट रीतिसे भासता है ॥ ९२ ॥

स्वप्रकाशतया किं त तद्बुद्धिस्तत्त्ववेदनम् ॥
बुद्धिश्च क्षणनाश्यति चोद्यं तुल्यं घटादिषु ॥ ९३ ॥

कदाचित् कहो कि ब्रह्म स्वप्रकाश रहे ब्रह्मविषयक जो बुद्धि है वही तत्त्वज्ञान है और वह बुद्धि क्षणिक है इससे ब्रह्ममें पुनः २ (बारंबार) स्थितिकी अपेक्षा है सो ठीक नहीं क्योंकि स्वप्रकाशरूप ब्रह्मबुद्धिको तत्त्वज्ञानरूप और बुद्धिको क्षणिक मानोगे तो यह शंका घट आदिमें भी तुल्य है ॥ ९३ ॥

घटादौ निश्चिते बुद्धिर्नश्यत्येव यदा घटः ॥
इष्टो नेतुं तदा शक्य इति चेत्सममात्मनि ॥ ९४ ॥

यदि घटका ज्ञान क्षणिक भी है तो भी एक वार निश्चित किये घटसे सदा व्यवहार कर सकते हैं उसमें चित्तकी स्थिरताका कुछ प्रयोजन नहीं सो ठीक नहीं क्योंकि यदि घट आदिके निश्चय होनेपर बुद्धि नष्ट हो जाती है और उस घटको अन्य स्थानमें ले जा सकते हैं तो यह बात आत्मामें भी तुल्य है ॥ ९४ ॥

निश्चित्य सकृदात्मानं यदापेक्षा तदैव तम् ॥
वक्तुं मंतुं तथा ध्यातुं शक्नोत्येव हि तत्त्ववित् ॥ ९५ ॥

अब आत्मामें समताका ही वर्णन करते हैं कि एकवार आत्माके निश्चयको करके तत्त्वज्ञानी जिस समय अपेक्षा हो उसी समय उस आत्माके कहने, माननेमें और ध्यान करनेमें समर्थ है अर्थात् कथन आदि कर सकता है ॥ ९५ ॥

उपासक इव ध्यायँल्लौकिकं विस्मरेद्यदि ॥
विस्मरत्वेव सा ध्यानाद्विस्मृतिर्न तु वेदनात् ॥ ९६ ॥

कदाचित् कहो कि तत्त्वज्ञानीको भी उपासकके समान आत्माके स्मरणवश जगत्का अनुसंधान नहीं देखते सो ठीक नहीं किन्तु यदि उपासकके समान ध्यानीको भी लौकिक पदार्थोंका विस्मरण हो जायगा तो वह विस्मरण हो परंतु वह विस्मरण ध्यानसे होता है ज्ञानसे नहीं ॥ ९६ ॥

ध्यानं त्वैच्छिकमतस्य वेदनान्मुक्तिसिद्धितः ॥
ज्ञानादेव तु कैवल्यमिति शास्त्रेषु डिंडिमः ॥ ९७ ॥

कदाचित् कहो कि तत्त्वज्ञानीको भी मुक्तिके लिये ध्यान कर्तव्य है सो ठीक नहीं कि इस तत्त्वज्ञानीको ध्यान तो इच्छाके अनुसार कर्तव्य है क्योंकि मुक्ति तो ज्ञानसे ही सिद्ध है और वेदांतशास्त्रोंमें यह डिंडिम (प्रसिद्धि वा ढंडोरा) है कि ज्ञानसे ही इन श्रुतियोंके अनुसार मोक्ष होता है कि ज्ञानसे वह कैवल्य होता है जिससे मुक्ति होती है उस ब्रह्मको जानकर मृत्युका अवलंघन करता है अन्य मार्ग मोक्षके लिये नहीं है देवको जानकर सब पापोंसे छूटता है ॥ ९७ ॥

तत्त्वविद्यदि न ध्यायेत्प्रवर्तेत तदा बहिः ॥
प्रवर्ततां सुखेनायं को बाधोऽस्य प्रवर्तने ॥ ९८ ॥

कदाचित् तत्त्वज्ञानीको ध्यानकी आवश्यकता न मानोगे तो वह बाह्य विषयोंमें प्रवृत्त हो जायगा सो ठीक नहीं क्योंकि यदि यह कहोगे कि तत्त्वज्ञानी ध्यान न करेगा तो बाह्य विषयोंमें प्रवृत्त हो जायगा तो सुखसे प्रवृत्त हो इसकी प्रवृत्तिमें कोई बाध (हानि) नहीं है ॥ ९८ ॥

अतिप्रसंग इति चेत् प्रसंगं तावदीरय ॥
प्रसंगो विधिशास्त्रं चेन्न तत्तत्त्वविदं प्रति ॥ ९९ ॥

कदाचित् कहो कि बाह्य विषयोंमें प्रवृत्ति माननेमें अतिप्रसंग (दोष) होगा सो ठीक नहीं क्योंकि यदि अतिप्रसंग कहोगे तो प्रथम उस प्रसंगको कहो विधिशास्त्रको प्रसंग कहोगे तो सो भी नहीं कह सकते क्योंकि वह विधिशास्त्र तत्त्व-ज्ञानीके लिये नहीं है किंतु विधि और निषेध दोनों भी अज्ञानीके लिये हैं ॥ ९९ ॥

वर्णाश्रमवयोवस्थाभिमानो यस्य विद्यते ॥
तस्यैव च निषेधाश्च विधयः सकला अपि ॥ १०० ॥

विधि और निषेध शास्त्रको अज्ञानीके विषयमें ही दिखाते हैं कि वर्ण, आश्रम, वय (आयु) की स्थिति इनका अभिमान जिसको है उसके लिये ही संपूर्ण विधि और निषेध हैं ज्ञानीके लिये तो न विधि है और न निषेध है ॥ १०० ॥

वर्णाश्रमादयो देहे मायया परिकल्पिताः ॥
नात्मनो बोधरूपस्येत्येवं तस्य विनिश्चयः ॥ १ ॥

---

१ ज्ञानादेव तु कैवल्यं प्राप्यते येन मुच्यते । तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पंथा विद्यते-ऽयनाय ॥ ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपापैः ।

कदाचित् कहो कि तत्त्वज्ञानीको भी देहधारी होनेसे वर्ण आश्रम आदिका अभिमान है सो ठीक नहीं क्योंकि वर्ण आश्रम आदि देहके विषे मायासे कल्पित हैं बोधरूप आत्मामें नहीं हैं इस प्रकारका निश्चय तत्त्वज्ञानीको होता है ॥ १ ॥

समाधिमथ कर्माणि मा करोतु करोतु वा ॥
हृदयेनास्तसर्वास्थो मुक्त एवोत्तमाशयः ॥ २ ॥

कदाचित् कहो कि ज्ञानीको पूर्वोक्त तत्त्वका निश्चय रहो शास्त्रने तो उसके भी कर्म कहे हैं सो ठीक नहीं क्योंकि जिस ज्ञानीने हृदयमेंसे संपूर्ण आस्था (आसक्ति विशेष) ओंका त्याग कर दिया है और उत्तम है अभिप्राय (निर्मल) ज्ञान जिसका ऐसा मुक्त पुरुष समाधि वा कर्मको मत करे वा करे कोई हानि उसकी नहीं है ॥ २ ॥

नैष्कर्म्येण न तस्यार्थस्तस्यार्थोऽस्ति न कर्मभिः ॥
न समाधानजप्याभ्यां यस्य निर्वासनं मनः ॥ ३ ॥

अब विद्वानको कुछ भी कर्तव्य नहीं इसमें अन्य वचनका भी उदाहरण देते हैं कि नैष्कर्म्य (कर्मके त्याग) से उसका कुछ अर्थ नहीं है और न कर्मोंसे है और न समाधिसे और न जपसे कुछ अर्थ है जिसका मन वासनाओंसे रहित है ॥ ३ ॥

आत्मासंगस्ततोऽन्यत्स्यादिंद्रजालं हि मायिकम् ॥
इत्यचंचलनिर्णीते कुतो मनसि वासना ॥ ४ ॥

कदाचित् कहो कि विद्वान्को भी वासना निवृत्तिके लिये ध्यान कर्तव्य है सो ठीक नहीं क्योंकि आत्मा असंग है और उससे अन्य सब मायाका इंद्रजाल है इस प्रकार अचंचल निर्णय किये मनमें वासना कहांसे हो सकती है अर्थात् नहीं हो सकती है ॥ ४ ॥

एवं नास्ति प्रसंगोऽपि कुतोऽस्यातिप्रसंजनम् ॥
प्रसंगो यस्य तस्यैव शंक्येतातिप्रसंजनम् ॥ ५ ॥

इस प्रकार जब ज्ञानीको प्रसंग ही नहीं तो अतिप्रसंग कहांसे होगा क्योंकि जिसके प्रसंग (विषयोंका संग) होता है उसको ही अतिप्रसंगकी शंका हुआ करती है ॥ ५ ॥

विध्यभावान्न बालस्य दृश्यतेऽतिप्रसंजनम् ॥
स्यात्कुतोऽतिप्रसंगोऽस्य विध्यभावे समे सति ॥ ६ ॥

अब इसका उदाहरण देते हैं कि जैसे बालकको विधिके अभावसे अतिप्रसंग (दोष) नहीं देखते हैं इसी प्रकार विधिका अभाव समान होनेपर ज्ञानीको भी अतिप्रसंग कैसे हो सकता है ॥ ६ ॥

न किंचिद्वेत्ति बालश्चेत्सर्वं वेत्त्येव तत्त्ववित् ॥
अल्पज्ञस्यैव विधयः सर्वे स्युर्नान्ययोर्द्वयोः ॥ ७ ॥

कदाचित् कहो कि बालकको तो विधिके अभावमें अज्ञता हेतु है विद्वान्में वह अज्ञता नहीं है सो भी ठीक नहीं किंतु यदि बालक किंचित् भी नहीं जानता है तो तत्त्वज्ञानी सबको जानता है अर्थात् उसकी सर्वज्ञता ही विधिके अभावमें हेतु है क्योंकि अल्पज्ञको ही सब विधि होती हैं अन्य जो अज्ञ सर्वज्ञ दोनों हैं उनके लिये विधि नहीं होती है ॥ ७ ॥

शापानुग्रहसामर्थ्यं यस्यासौ तत्त्वविद्यदि ॥
तन्न शापादिसामर्थ्यं फलं स्यात्तपसो यतः ॥ ८ ॥

कदाचित् कहो कि व्यास आदिके समान शाप और अनुग्रहमें जिसकी सामर्थ्य हो वही तत्त्वज्ञानी है अन्य नहीं सो ठीक नहीं क्योंकि शाप आदिका जो सामर्थ्य है वह तपका फल है ॥ ८ ॥

व्यासादेरपि सामर्थ्यं दृश्यते तपसो बलात् ॥
शापादिकारणादन्यत्तपो ज्ञानस्य कारणम् ॥ ९ ॥

कदाचित् कहो कि व्यास आदि ज्ञानियोंको भी शाप आदिका सामर्थ्य देखते हैं सो भी ठीक नहीं क्योंकि व्यास आदिका जो शाप और अनुग्रहका सामर्थ्य है वह तपके बलसे है तत्त्वज्ञानसे नहीं। कदाचित् कहो कि 'तपसे ब्रह्मको जाननेकी इच्छा कर' इस श्रुतिसे तपसे हीनको तत्त्वज्ञान भी न होना चाहिये सो भी ठीक नहीं क्योंकि शाप आदिके कारण तपसे भिन्न जो तप वह ज्ञानका कारण होता है अर्थात् तप भी अनेक प्रकारका है ॥ ९ ॥

द्वयं यस्यास्ति तस्यैव सामर्थ्यज्ञानयोर्जनिः ॥
एकैकं तु ततः कुर्वन्नेकैकं लभते फलम् ॥ ११० ॥

कदाचित् कहो कि तो उन व्यास आदिकोंको तत्त्वज्ञानी होनेपर शाप आदिकीकारणता कैसे देखते हैं सो ठीक नहीं क्योंकि दोनों प्रकारका तप जिसने किया है उसको ही शाप आदिका सामर्थ्य और ज्ञान दोनों पैदा होते हैं और एक २ तपको करता हुआ मनुष्य एक २ फलको ही प्राप्त होता है, दोनोंको नहीं ॥ ११० ॥

---

१ 'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व।'

सामर्थ्यहीनो निंद्यश्चेद्यतिभिर्विधिवर्जितः ॥
निंद्यंते यतयोऽप्यन्यैरनिशं भोगलंपटैः ॥ ११ ॥

कदाचित् कहो कि सामर्थ्यसे हीन जो विधिवर्जित (शास्त्रोक्तका त्यागी) है उसकी संन्यासी निंदा करेंगे तो करें उन संन्यासियोंकी भी तो भोगलंपट मनुष्य सदा निंदा करते हैं ॥ ११ ॥

भिक्षावस्त्रादि रक्षेयुर्यद्येते भोगतुष्टये ॥
अहो यतित्वमेतेषां वैराग्यभरमंथरम् ॥ १२ ॥

कदाचित् कहो कि तो संन्यासी भी भोगोंसे संतोषके लिये विषयोंका संचय करें सो ठीक नहीं किन्तु यदि ये संन्यासी भी भोगोंसे प्रसन्न होनेके लिये भिक्षा और वस्त्र आदिकी रक्षा करें तो इनका संन्यासी होना आश्चर्य है क्योंकि वह वैराग्यके भारसे मंद है अर्थात् वैराग्यरहित हैं ॥ १२ ॥

वर्णाश्रमपरान्मूढा निंदंत्वित्युच्यते यदि ॥
देहात्ममतयो बुद्धं निंदंत्वाश्रममानिनः ॥ १३ ॥

कदाचित् कहो कि विषयोंमें लंपट पामरोंकी की हुई निंदासे कर्मके कर्ताओंकी कुछ हानि नहीं सो भी ठीक नहीं क्योंकि यदि वर्ण आश्रममें तत्परोंकी मूढ निंदा करेंगे ऐसा कहोगे तो देहाभिमानी, कर्ममें तत्पर, मूर्ख, आश्रमके अभिमानी ज्ञानीकी भी निंदा करे उससे तत्त्वज्ञानीकी कुछ हानि नहीं ॥ १३ ॥

तदित्थं तत्त्वविज्ञाने साधनानुपमर्दनात् ॥
ज्ञानिनाऽऽचरितुं शक्यं सम्यग्राज्यादि लौकिकम् ॥ १४ ॥

अब प्रसंगसे कहेकी समाप्ति करके प्रकरणमें आते हैं कि इससे इस पूर्वोक्त प्रकारसे तत्त्वविज्ञानके होनेपर लौकिक व्यवहारके साधन जो मन आदि हैं उनके लयका जो अभाव उससे ज्ञानी मनुष्य लौकिक राज्य आदिको भले प्रकार कर सकता है अर्थात् राज्य आदि करनेमें उसकी कुछ भी हानि नहीं है ॥ १४ ॥

मिथ्यात्वबुद्ध्या तत्रेच्छा नास्ति चेत्तर्हि माऽस्तु तत् ॥
ध्यायन्वाऽथ व्यवहरन्यथाऽरब्धं वसत्वयम् ॥ १५ ॥

कदाचित् कहो कि तत्त्वज्ञानीकी प्रपंचके मिथ्याज्ञानसे राज्य आदिमें इच्छा ही न होगी इसपर कहते हैं कि यदि मिथ्यात्वबुद्धिसे उनमें इच्छा नहीं है तो मत हो क्योंकि यह ज्ञानी ध्यान वा व्यवहारको करता हुआ अपने प्रारब्धके अनुसार बसे कुछ चिंता नहीं है ॥ १५ ॥

उपासकस्तु सततं ध्यायन्नेव वसेद्यतः ॥
ध्यानेनैव कृतं तस्य ब्रह्मत्वं विष्णुतादिवत् ॥ १६ ॥

अब उपासककी ज्ञानीसे विषमताको दिखाते हैं कि जिससे उपासकको ब्रह्मभाव ध्यानसे ही हुआ है अन्य प्रमाणोंसे नहीं, इससे उपासक निरंतर ध्यान करता हुआ ही बसे उसमें यह दृष्टांत है कि जैसे अपनेमें ध्यानसे संपादन किया विष्णुत्व पारमार्थिक (सत्य) नहीं होता है ऐसे ही उपासकका ब्रह्मत्व भी पारमार्थिक नहीं है ॥ १६ ॥

ध्यानोपादानकं यत्तद्ध्यानाभावे विलीयते ॥
वास्तवी ब्रह्मता नैव ज्ञानाभावे विलीयते ॥ १७ ॥

कदाचित् कहो कि ध्यानसे संपादन किया ब्रह्मभाव भी पारमार्थिक हो जायगा सो ठीक नहीं क्योंकि ध्यान जिसका उपादान कारण है ऐसे वाग्धेनु आदि ध्यानका अभाव होनेपर नष्ट हो जाते हैं और जिससे ब्रह्मता वास्तव है इससे ज्ञानके अभावमें लय नहीं होती ॥ १७ ॥

ततोऽभिज्ञापकं ज्ञानं न नित्यं जनयत्यदः ॥
ज्ञापकाभावमात्रेण नहि सत्यं विलीयते ॥ १८ ॥

और वास्तव होनेसे ही ब्रह्मत्व ज्ञानसे पैदा भी नहीं होता यह कहते हैं कि जिससे यह ब्रह्मत्त्व नित्य है इससे ज्ञान उसका अवबोधक (जनानेवाला) है जनक नहीं है क्योंकि ज्ञापकके अभावमात्रसे सत्यताका नाश नहीं होता है अर्थात् जो ज्ञानसे पैदा होता तो ज्ञानके नाश होनेपर ब्रह्मत्व भी लयको प्राप्त हो जाता इससे ज्ञानसे जन्य ब्रह्मत्व नहीं है ॥ १८ ॥

अस्त्येवोपासकस्यापि वास्तवी ब्रह्मतेति चेत् ॥
पामराणां तिरश्चां च वास्तवी ब्रह्मता न किम् ॥ १९ ॥

अब ज्ञानीके समान उपासकके ब्रह्मत्वकी भी सत्यतामें शंका करते हैं कि यदि उपासककी भी ब्रह्मता वास्तवी (सच्ची) है तो क्या पामर (मूर्ख) और तिरछे (सर्प आदि) इनकी ब्रह्मता सत्य नहीं है ॥ १९ ॥

अज्ञानादपुमर्थत्वमुभयत्रापि तत्समम् ॥
उपवासाद्यथा भिक्षा वरं ध्यानं तथान्यतः ॥ १२० ॥

कदाचित् कहो कि विद्यमान भी वह ब्रह्मत्व अज्ञानसे पामरोंके पुरुषार्थका उपयोगी नहीं होता इस पर कहते हैं कि यह दोषतो दोनों पक्षोंमें तुल्य है अर्थात् उपा-

सकके भी पुरुषार्थका उपयोगी अज्ञात ब्रह्मत्व नहीं है। कदाचित् कहो कि उपासनाका क्या फल है इसपर कहते हैं कि उपवाससे जैसे भिक्षा श्रेष्ठ है वैसे ही अन्य कर्मोंसे ध्यान भी श्रेष्ठ है ॥ १२० ॥

पामराणां व्यवहृतेर्वरं कर्माद्यनुष्ठितिः ॥
ततोऽपि सगुणोपास्तिर्निर्गुणोपासना ततः ॥ २१ ॥

अन्य कर्मोंसे श्रेष्ठताको ही दिखाते हैं कि पामरोंके व्यवहारसे जैसे कर्मोंका करना श्रेष्ठ है और कर्मोंसे सगुणब्रह्मकी उपासना और उससे भी निर्गुणोपासना उसी प्रकार श्रेष्ठ है ॥ २१ ॥

यावद्विज्ञानसामीप्यं तावच्छ्रैष्ठ्यं विवर्द्धते ॥
ब्रह्मज्ञानायते साक्षान्निर्गुणोपासनं शनैः ॥ २२ ॥

अब उत्तरोत्तर श्रेष्ठतामें कारण कहते हैं कि जितनी ज्ञानकी समीपता है उतनी ही श्रेष्ठताकी वृद्धि होती है। अब निर्गुणोपासनाकी सर्व श्रेष्ठतामें कारण कहते हैं कि शनैः २ निर्गुणकी जो उपासना है वह साक्षात् ब्रह्मज्ञानरूप है ॥ २२ ॥

यथा संवादिविभ्रांतिः फलकाले प्रमायते ॥
विद्यायते तथोपास्तिर्मुक्तिकालेऽतिपाकतः ॥ २३ ॥

अब पूर्वोक्त अर्थको दृष्टांत देकर दृढ करते हैं कि जैसे संवादी भ्रम फलके होनेपर प्रमा(यथार्थज्ञान) रूप हो जाता है उसी प्रकार उपासना भी मुक्तिके समयमें अत्यन्त पाकसे विद्या (ज्ञान) रूप होजाती है अर्थात् उपासना ही ज्ञानरूप हो जाती॥२३॥

संवादिभ्रमतः पुंसः प्रवृत्तस्यान्यमानतः ॥
प्रमेति चेत्तथोपास्तिर्मान्तरे कारणायताम् ॥ २४ ॥

कदाचित् कहो कि संवादी भ्रम स्वयं प्रमारूप नहीं होता किन्तु भ्रमसे प्रवृत्त हुए मनुष्यको इंद्रिय और विषयके संबन्धसे प्रमा हो जाती है इसपर कहते है कि संवादिभ्रमसे प्रवृत्त हुए मनुष्यको अन्य प्रमाणसे यदि प्रमा होती हैं तो उपासना भी निदिध्यासनरूप होकर महावाक्योंसे पैदा हुए अपरोक्षज्ञानमें कारण हो जायगी ॥ २४ ॥

मूर्तिध्यानस्य मंत्रादेरपि कारणता यदि ॥
अस्तु नाम तथाप्यत्र प्रत्यासत्तिर्विशिष्यते ॥ २५ ॥

कदाचित् कहो कि इस प्रकार मूर्तिके ध्यान आदि भी चित्तकी एकाग्रताके संपादद्वारा अपरोक्षज्ञानके कारण हो जायँगे इस पर कहते हैं कि यदि मूर्तिका

ध्यान और मंत्र आदि भी ज्ञानके कारण हो जायंगे तो हों तथापि उपासनामें ज्ञानकी समीपताका विशेष है अर्थात् उपासनाके अनंतर ही ब्रह्मज्ञान होता है[1] और मूर्ति-आदिके ध्यान आदिसे विलंबसे होता है ॥ २९ ॥

निर्गुणोपासनं पक्वं समाधिः स्याच्छनैस्ततः ॥
यः समाधिर्निरोधाख्यः सोऽनायासेन लभ्यते ॥ २६ ॥

अब समीपताके प्रकारको ही दिखाते हैं कि जब निर्गुण उपासना पक्व जाती है तब सविकल्पक समाधि हो जाती है फिर शनैः २ निरोध नामकी समाधि हो जाती है और उस निरोध नामकी समाधिके भी निरोध होनेपर निर्बीज समाधि जो सबका निरोधरूप इस सूत्रमें कही है उसका अनायाससे लाभ होता है ॥ २६ ॥

निरोधलाभे पुंसोऽन्तरसंगं वस्तु शिष्यते ॥
पुनःपुनर्वासितेऽस्मिन्वाक्याज्जायेत तत्त्वधीः ॥ २७ ॥

अब निर्विकल्पक समाधिके फलको कहते हैं कि निरोधसमाधिका लाभ होनेपर मनुष्यके अंतर्गत असंग वस्तु (ब्रह्म) का शेष रह जाता है और पुनः २ (बारंबार) इस असंग वस्तुकी भावना करनेपर 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योंसे तत्त्वज्ञान हो जाता है अर्थात् 'मैं ब्रह्म हूं' यह ज्ञान होता है ॥ २७ ॥

निर्विकारासंगनित्यस्वप्रकाशैकपूर्णतः ॥
बुद्धौ झटिति शास्त्रोक्ता आरोहंत्यविवादतः ॥ २८ ॥

अब तत्त्वज्ञानके स्वरूपको स्पष्ट करते हैं कि निर्विकार, असंग, नित्य, स्वप्रकाश, एक, पूर्ण ये जो ब्रह्मके रूप शास्त्रोंमें कहे हैं वे शीघ्र ही विना विवादके बुद्धिमें जम जाते हैं अर्थात् निर्विकार आदि स्वरूप ब्रह्मका ज्ञान हो जाता है ॥ २८ ॥

योगाभ्यासस्त्वेतदर्थोऽमृतबिंद्वादिषु श्रुतः ॥
एवं च दृष्टद्वारापि हेतुत्वादन्यतो वरम् ॥ २९ ॥

कदाचित् कहो कि निर्विकल्पक समाधिसे अपरोक्षज्ञान होता है इसमें क्या प्रमाण है सो ठीक नहीं क्योंकि योगाभ्यासका फल ज्ञान है यह अमृतबिंदु आदि श्रुतियोंमें कहा है इससे दृष्टके द्वारा अर्थात् निर्विकल्पक समाधिके लाभसे और निर्गुण उपासना, अपरोक्षज्ञानके समीप होनेसे सगुण उपासनासे श्रेष्ठ है ॥ २९ ॥

उपेक्ष्य तत्तीर्थयात्राजपादीनेव कुर्वताम् ॥
पिंडं समुत्सृज्य करं लेढीति न्याय आपतेत् ॥ १३० ॥

---

१ 'सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः ।'

इस प्रकार जब अपरोक्षज्ञानका साधन है तो उसको त्याग कर जो अन्य कर्मोंमें प्रवृत्त हैं उनके श्रमको वृथा दिखाते हैं कि निर्गुण उपासनाको छोड़ कर जो तीर्थयात्रा और जप आदिको करते हैं उनमें यह न्याय घटेगा कि जैसे कोई मनुष्य पिंड (ग्रास) को त्याग कर अपने हाथको चाटने लगे ऐसे ही वे हैं ॥ १३० ॥

उपासकानामप्येवं विचारत्यागतो यदि ॥
बाढं तस्माद्विचारस्यासंभवे योग ईरितः ॥ ३१ ॥

कदाचित् कहो कि जो आत्मतत्त्वविचारको त्यागकर निर्गुणोपासना करते हैं उनको भी यह न्याय समान है सो ठीक है क्योंकि यदि विचारके त्यागसे उपासकोंको भी ऐसा ही मानोगे तो सत्य आपका कथन है कि जिससे उपासकोंमें भी उक्त न्याय घटता है इसीसे विचारके असंभवमें योग कहा है अर्थात् उपासनाका विधान है ॥ ३१ ॥

बहुव्याकुलचित्तानां विचारात्तत्त्वधीर्नहि ॥
योगो मुख्यस्ततस्तेषां धीदर्पस्तेन नश्यति ॥ ३२ ॥

अब विचारके असंभवमें कारण कहते हैं बहुत व्याकुल जिनका चित्त है उनके विचारसे तत्त्वज्ञान नहीं होता है इससे योग ही मुख्य होनेसे कर्तव्य है क्योंकि उस योगसे बुद्धिका दर्प (अभिमान) नष्ट हो जाता है ॥ ३२ ॥

अव्याकुलधियां मोहमात्रेणच्छादितात्मनाम् ॥
सांख्यनामा विचारः स्यान्मुख्यो झटिति सिद्धिदः॥३३॥

इस प्रकार व्याकुल चित्तोंको योगकी मुख्यताको कहकर समाहित चित्तोंको विचारकी ही मुख्यताको कहते हैं कि जिनकी बुद्धि तो व्याकुल नहीं है और केवल मोहसे मन आच्छादित है उनको सांख्य नामका विचार करने योग्य है क्योंकि वही मुख्य और शीघ्र सिद्धिका दाता है ॥ ३३ ॥

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ॥
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ ३४ ॥

अब सांख्य योग दोनों मुक्तिके कारण हैं इसमें गीताका वचन प्रमाण देते हैं कि जिस स्थानको सांख्य प्राप्त होते हैं उसी स्थानमें योगीजन जाते हैं इस प्रकार फलके द्वारा सांख्य और योगको जो एक देखता है वही शास्त्रके अर्थको भले प्रकार देखता है ॥ ३४ ॥

तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यमिति हि श्रुतिः ॥
यस्तु श्रुतेर्विरुद्धः स आभासः सांख्ययोगयोः ॥ ३५ ॥

केवल गीताका वाक्य ही नहीं है किंतु उस वाक्यकी मूल श्रुतिको भी दिखाते हैं कि मुक्तिके कारण सांख्य योग है क्योंकि श्रुतिमें यह लिखा है कि सांख्ययोगसे आत्मा प्राप्त होने योग्य है, कदाचित् कहो कि सांख्य योग दोनोंको तत्त्वज्ञानके द्वारा मुक्तिका कारण मानोगे तो सांख्यशास्त्रमें कहे तत्त्व भी कारण हो जाँयगे सो ठीक नहीं क्योंकि सांख्य और योगमें जो श्रुतिसे विरुद्ध है वह आभास है अर्थात् प्रतीतिमात्र है और जो आभास होता है उसका बाध हो जाता है ॥ ३५ ॥

उपासनं नापि पक्वमिह यस्य परत्र सः ॥
मरणे ब्रह्मलोके वा तत्त्वं विज्ञाय मुच्यते ॥ ३६ ॥

कदाचित् कहो यदि उपासक तत्त्वज्ञानसे पहले मर जाय तो उसका मोक्ष न होगा सो ठीक नहीं क्योंकि जिसकी उपासना अत्यंत पक्की न हो वह इस जन्ममें वा परलोकमें मरणके समय वा ब्रह्मलोकमें तत्त्वको जानकर मुक्त हो जाता है ॥ ३६ ॥

यं यं वाऽपि स्मरन् भावं त्यजत्यंते कलेवरम् ॥
तं तमेवैति यच्चित्तस्तेन यातीति शास्त्रतः ॥ ३७ ॥

अब मरणसमयमें ज्ञानसे मुक्तिके लाभमें प्रमाण कहते हैं कि जिस २ भावका स्मरण करता हुआ मनुष्य अंतसमयमें देहको त्यागता है उसी २ भावको प्राप्त होता है क्योंकि शास्त्रमें यह लिखा है जिसमें चित्त हो उसी मार्गसे जाता है ॥ ३७ ॥

अंत्यप्रत्ययतो नूनं भावि जन्म तथा सति ॥
निर्गुणप्रत्ययोऽपि स्यात्सगुणोपासने यथा ॥ ३८ ॥

कदाचित् कहो कि पूर्वोक्त श्रुति और स्मृतिके वाक्योंसे अंतसमयकी प्रतीतिसे भावी जन्म कहा है ज्ञानसे मुक्ति नहीं कही सो ठीक है किन्तु अन्तके निश्चयसे भावी जन्म अवश्य होता है। कदाचित् कहो कि मरणकालमें ज्ञानसे मोक्ष होता है इसमें ये दोनों वाक्य प्रमाण क्यों दिये सो ठीक नहीं क्योंकि जब अंतकी प्रतीतिसे भावी जन्मका निश्चय है तो जैसे सगुण उपासनामें मरणके समय पूर्व अभ्यासके वश सगुण ब्रह्माकार प्रतीति होती है वैसे ही निर्गुण उपासकके भी निर्गुण ब्रह्मविषयक प्रतीति भी हो जायगी ॥ ३८ ॥

नित्यनिर्गुणरूपं तन्नाममात्रेण गीयताम् ॥
अर्थतो मोक्ष एवैष संवादिभ्रमवन्मतः ॥ ३९ ॥

कदाचित् कहो कि निर्गुणप्रतीतिके अभ्याससे निर्गुणब्रह्मकी प्राप्ति ही होगी मुक्ति न होगी सो ठीक नहीं क्योंकि वह ब्रह्म नित्यनिर्गुणरूप है ऐसे नाममात्रसे

कहो अर्थात् शब्दका ही भेद है अर्थसे तो यही मोक्ष है क्योंकि स्वरूपसे स्थितिको मोक्ष कहते हैं जैसे संवादिभ्रम नामममात्रसे भ्रम है वस्तुतः तत्त्वज्ञानरूप है ऐसे ही यह मोक्ष है ॥ ३९ ॥

तत्सामर्थ्याज्जायते धीर्मूलाविद्यानिवर्तिका ॥
अविमुक्तोपासनेन तारकब्रह्मबुद्धिवत् ॥ १४० ॥

कदाचित् कहो कि मनकी क्रियारूप निर्गुण उपासना भी मुक्तिका साधन नहीं हो सकती सो ठीक नही क्योंकि निर्गुण उपासनाके सामर्थ्य (बल) से मूल अविद्याका निवर्तक ब्रह्मज्ञान होता है जैसे अविमुक्त सगुण ब्रह्मकी उपासनासे तारक ब्रह्मविद्या होती है इसी प्रकार निर्गुण उपासनासे निर्गुण ब्रह्मज्ञान होता है ॥ १४० ॥

सोऽकामो निष्काम इति ह्यशरीरो निरिंद्रियः ॥
अभयं हीति मुक्तत्वं तापनीये फलं श्रुतम् ॥ ४१ ॥

कदाचित् कहो कि निर्गुण उपासनाका मोक्ष फल है इसमें क्या प्रमाण है सो ठीक नहीं क्योंकि वह अकाम है,निष्काम है आत्मकाम है,उस मुक्तके प्राण नहीं निकलते किंतु वहां ही लीन होजाते हैं ब्रह्मरूप हुआ वह ब्रह्मको प्राप्त होता है वह शरीर, इंद्रिय, प्राण, मन इनसे रहित है सच्चिदानंदरूप स्वराट् (स्वयं प्रकाश) होता है और 'जो इस प्रकार जानता है वह चिन्मय ओंकाररूप है और यह सब जगत् चिन्मय है इससे वह परमेश्वर एक ही होता है यही अमृत अभय है यह ब्रह्म अभय है इससे जो ऐसे जानता है वह ब्रह्मरूप ही होता है यही रहस्य (गुप्त) है' इत्यादिवाक्योंसे तापनीय उपनिषद्में निर्गुण उपासनाका मोक्ष फल सुना है भावार्थ यह है कि वह कामनाओंसे रहित है, अशरीर, निरिंद्रिय है,अभयरूप है ऐसा मुक्तस्वरूपफल तापनीय उपनिषद्में निर्गुण उपासनाका सुना है ॥ ४१ ॥

उपासनस्य सामर्थ्याद्विद्योत्पत्तिर्भवेत्ततः ॥
नान्यः पंथा इति ह्येतच्छास्त्रं नैव विरुध्यते ॥ ४२ ॥

---

१ सोऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामंत्यत्रैव समलीयंते ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति अशरीरो निरिंद्रियोऽप्राणो ह्यमनाः सच्चिदानंदमात्रः स्वस्वराट् भवति य एवं वेद चिन्मयो ह्ययमोंकारश्चिन्मयमिदं सर्वं तस्मात्परमेश्वर एवैकमेव तद्भवत्येतदमृतमभयमेतद्ब्रह्माभयं वै ब्रह्म भवति य एवं वेदेति रहस्यम् ।

कदाचित् कहो कि उपासनाके सामर्थ्यसे मुक्ति हो जायगी तो 'ज्ञानसे अन्य-मार्ग मोक्षका नहीं है' इस श्रुतिका विरोध होगा सो ठीक नहीं क्योंकि उपासनाके बलसे ज्ञान होता है और ज्ञानसे मोक्ष होता है अर्थात् उपासना ज्ञानके द्वारा मोक्षका कारण है साक्षात् नहीं इससे 'ज्ञानसे अन्य कोईभी मोक्षका पंथा (मार्ग) नहीं है, इस शास्त्रका भी विरोध नहीं है ॥ ४२ ॥

निष्कामोपासनान्मुक्तिस्तापनीये समीरिता ॥
ब्रह्मलोकः सकामस्य शैब्यप्रश्ने समीरितः ॥ ४३ ॥

मरणके समय वा ब्रह्मलोकमें तत्त्वको जानकर मुक्त होता है इस पूर्वोक्त अर्थमें श्रुतिका प्रमाण देते हैं कि तापनीय उपनिषद्में निष्काम उपासनासे मुक्ति कही है और सकाम मनुष्यको ब्रह्मलोककी प्राप्ति शैब्यप्रश्नमें भले प्रकारसे कही है ॥ ४३ ॥

य उपास्ते त्रिमात्रेण ब्रह्मलोके स नीयते ॥
स एतस्माज्जीवघनात्परं पुरुषमीक्षते ॥ ४४ ॥

अब शैब्यप्रश्नोपनिषद्के अर्थको पढते हैं कि 'जो त्रिमात्र ॐ इस अक्षरसे पर पुरुषका ध्यान करता है वह सूर्यरूप तेजमें संपन्न हुआ इस प्रकार पापसे रहित होता है जैसें त्वचासे सर्प फिर वह सामवेदोंकी महिमासे ब्रह्मलोकमें जाता है' इन मंत्रोंसे सकामको ब्रह्मलोककी प्राप्ति सुनी है । कदाचित् कहो कि शैब्य-प्रश्नमें सकामको ब्रह्मलोकमें गमन ही कहा है सो ठीक नहीं क्योंकि वहां तत्त्वका साक्षात्कार भी सुना है कि ब्रह्मलोकमें गया वह उपासक यह जो जीवघन है अर्थात् जीव समष्टिरूप हिरण्यगर्भ है उससे श्रेष्ठ जो पुरुष है अर्थात् निरुपाधि चैतन्यरूप परमात्मा है उसको साक्षात् देखता है. भावार्थ यह है कि जो ओंकारसे उपासना करता है वह ब्रह्मलोकमें जाता है और वह हिरण्यगर्भसे परम (श्रेष्ठ) परमात्माको देखता है ॥ ४४ ॥

अप्रतीकाधिकरणे तत्क्रतुन्याय ईरितः ॥
ब्रह्मलोकफलं तस्मात्सकामस्येति वर्णितम् ॥ ४५ ॥

---

१ नान्यः पंथा विद्यतेऽयनाय । २ यः पुनरेतत्रिमात्रेणोमित्यनेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये संपन्नो यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यते एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माजीवघनात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते ।

और बादरायण (व्यास) ने कहा है कि अप्रतीक (निर्गुण) आलंबनसे ब्रह्मलोकमें जाता है और दोनों पक्षोंमें दोष है इससे तत्क्रतुन्याय भी अप्रतीक अधिकरणमें कहा है अर्थात् जिस कामनासे क्रतु (यज्ञ) करोगे उसी फलकी प्राप्ति होती है इससे सकाम पुरुषको भी ब्रह्मलोकरूप फल होता है यह वर्णन किया है४५॥

निर्गुणोपास्तिसमार्थ्यात्तत्र तत्त्वमवेक्षेत ॥
पुनरावर्तते नायं कल्पांते च विमुच्यते ॥ ४६ ॥

अब सकामको तत्त्वज्ञानमें कारणको कहते हैं कि निर्गुण उपासनाके सामर्थ्यसे उस ब्रह्मलोकमें तत्त्वको देखता है और इस जगत्‌रूप आवर्त (भँवर) में यह फिर नहीं आता है किन्तु कल्पके अंतमें ब्रह्माके संग मुक्त हो जाता है इत्यादि श्रुतिस्मृतियोंसे उसका फिर जन्म नहीं होता ॥ ४६ ॥

प्रणवोपास्तयः प्रायो निर्गुणा एव वेदगाः ॥
क्वचित्सगुणताप्युक्ता प्रणवोपासनस्य हि ॥ ४७ ॥

अब प्रणव (ओं) की उपासनाके प्रसंगसे ओंकारकी उपासनाके जो दो भेद बुद्धिमें स्थित हैं उनको कहते हैं कि प्रायः वेदमें प्रणवकी उपासना निर्गुण ही है और कहीं २ प्रणवकी उपासना सगुण भी कही है ॥ ४७ ॥

परापरब्रह्मरूप ओंकार उपवर्णितः ॥
पिप्पलादेन मुनिना सत्यकामाय पृच्छते ॥ ४८ ॥

अब दोनों भेदोंमें प्रमाण कहते हैं कि पिप्पलादमुनिने प्रश्न करते हुए सत्य कामके प्रति परब्रह्म अपरब्रह्मरूप ओंकारका वर्णन किया है कि 'हे सत्यकाम ! यह ओंकार पर और अपर ब्रह्मरूप है' इससे विद्वान् इसी मार्गसे एकतर (कोईसे) को प्राप्त होता है ॥ ४८ ॥

एतदालंबनं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥
इति प्रोक्तं यमेनापि पृच्छते नचिकेतसे ॥ ४९ ॥

कठवल्लीमें यमने भी 'इस आलंबन (आश्रय) को जानकर' इत्यादि मंत्रोंसे 'जो जिसकी इच्छा करता है उसको वही होता है' यह पूछते हुए नचिकेताके प्रति कहा है ॥ ४९ ॥

---

१ अप्रतीकालंबनान्नयतीति बादरायणः । २ उभयथा दोषात्तत्क्रतुश्च । ३ इमं मानवमावर्तं नावर्तते न स पुनरावर्तते न स पुनरावर्तते । ब्रह्मणा सह ते सर्वे० । ४ एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारस्तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेन एकतरमन्वेति । ५ एतदालम्बनं ज्ञात्वा० ।

इह वा मरणे वाऽस्य ब्रह्मलोकेऽथवा भवेत् ॥
ब्रह्मसाक्षात्कृतिः सम्यगुपासीनस्य निर्गुणम् ॥ १५० ॥

अब पूर्वोक्त अर्थका उपसंहार करते हैं कि इसी लोकमें मरणके समय वा ब्रह्मलोकमें ब्रह्मका साक्षात्कार भले प्रकारसे निर्गुणके उपासकको होता है ॥ १५०॥

अर्थोऽयमात्मगीतायामपि स्पष्टमुदीरितः ॥
विचाराक्षम आत्मानमुपासीतेति संततम् ॥ ५१ ॥

और जो विचारसे तत्त्वज्ञानमें असमर्थ है उसका निर्गुण ब्रह्मके ध्यानमें अधिकार है यह अर्थ आत्मगीतामें भी स्पष्ट कहा है अर्थात् विचार न होसके तो निरंतर आत्माकी उपासना करे ॥ ५१ ॥

साक्षात्कर्तुमशक्तोऽपि चिंतयेन्मामशंकितः ॥
कालेनानुभवारूढो भवेयं फलितो ध्रुवम् ॥ ५२ ॥

अब आत्मगीताके वाक्योंको ही कहते हैं कि जो मुमुक्षु साक्षात्करनेको असमर्थ है वह शंकाको छोड कर मेरी चिंता करे तो समयपर अनुभव (ज्ञान) में आरूढ हुआ मैं निश्चयसे फलित होता हूं अर्थात् कालांतरमें मेरा ज्ञान हो जाता है ॥ ५२ ॥

यथाऽगाधनिधेर्लब्धौ नोपायः खननं विना ॥
मल्लाभेऽपि तथा स्वात्मचिंतां मुक्त्वा न चापरः ॥ ५३ ॥

अब ध्यान सम्यक्ज्ञानका उपाय है इसमें दृष्टांत कहते हैं कि जैसे अगाध निधिके लाभमें खनन (खोदने) से अन्य कोई उपाय नहीं है इसी प्रकार मेरे लाभमें भी अपने आत्माकी चिंतासे अन्य उपाय नहीं है ॥ ५३ ॥

देहोपलमपाकृत्य बुद्धिकुद्दालकात्पुनः ॥
खात्वा मनोभुवं भूयो गृह्णीयान्मां निधिं पुमान् ॥ ५४ ॥

बुद्धिरूप कुद्दालकसे देहरूप पत्थरको दूर करके और फिर खोदकर मनमें विद्यमान जो निधिरूप मैं हूं उसे ग्रहण करे अर्थात् जाने ॥ ५४ ॥

अनुभूतेरभावेऽपि ब्रह्मास्मीत्येव चिन्त्यताम् ॥
अप्यसत्प्राप्यते ध्यानान्नित्याप्तं ब्रह्म किं पुनः ॥ ५५ ॥

ज्ञानमें असमर्थका ध्यानमें अधिकार है इसमें अन्य वचनको पढते हैं कि अनुभवके अभावमें भी 'मैं ब्रह्म हूं' इसी प्रकार चिंता करे क्योंकि ध्यान करनेसे असत् अर्थात् प्रथम अविद्यमान भी देवत्व आदिकी प्राप्ति जब होती है तो स्वरूपसे नित्य प्राप्त सर्वरूप ब्रह्मकी प्राप्ति होनेमें कौन आश्चर्य है ॥ ५५ ॥

अनात्मबुद्धिशैथिल्यं फलं ध्यानाद्दिनेदिने ॥
पश्यन्नपि न चेद्ध्यायेत्कोऽपरोऽस्मात्पशुर्वद ॥ ५६ ॥

अब ब्रह्म ध्यानके प्रत्यक्षसिद्ध फलको कहते हैं कि ध्यानसे दिन दिन अनात्मबुद्धिकी शिथिलता होती है और इस शिथिलतारूप फलको देखता हुआ जो ध्यान न करे उससे परे पशु कौन है यह तुम कहो ॥ ५६ ॥

देहाभिमानं विध्वस्य ध्यानादात्मानमद्वयम् ॥
पश्यन्मर्त्योऽमृतो भूत्वा ह्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥ ५७ ॥

अब पूर्वोक्त अर्थको संक्षेपसे दिखाते हैं कि देहमें जो अहं (मैं हूं) यह अभिमान है इसका विध्वंस करके अर्थात् त्यागकर और ध्यानसे अद्वयआत्माको देखता हुआ मर्त्य अमृत होकर इसी शरीरमें अपना निजरूप जो सच्चिदानंद ब्रह्म है उसको प्राप्त होता है ॥ ५७ ॥

ध्यानदीपमिमं सम्यक्परामृशति यो नरः ॥
मुक्तसंशय एवायं ध्यायति ब्रह्म संततम् ॥ १५८ ॥
इति श्रीपरमहंसपरिव्राजकाचार्यविद्यारण्यप्रणीत-
पंचदश्यां ध्यानदीपप्रकरणम् ॥ ९ ॥

अब ध्यानदीपके अनुसंधानका फल कहते हैं कि इस ध्यानदीपका जो मनुष्य भले प्रकारसे परामर्श (स्मरण) करता है वह मुक्तसंशय होकर ही निरंतर ब्रह्मका ध्यान करता है ॥ १५८ ॥

इति श्रीविद्यारण्यकृतपंचदश्यां पं० मिहिरचंद्रकृतभाषा-
विवृतौ ध्यानदीपप्रकरणम् ॥ ९ ॥

इति ध्यानदीपप्रकरणम् ॥ ९ ॥

अथ नाटकदीपप्रकरणम् १०.

श्रीगणेशाय नमः ।

परमात्माऽद्वयानंदपूर्णः पूर्वं स्वमायया ॥
स्वयमेव जगद्भूत्वा प्राविशज्जीवरूपतः ॥ १ ॥

करनेको इष्ट ग्रंथकी निर्विघ्न समाप्तिके लिये अपनेको अभिमत जो देवता उसके तत्त्वका स्मरणरूप मंगलको करते हुए ग्रंथकार, मंदबुद्धि जो अधिकारी हैं उनको भी अनायाससे प्रपंचरहित ब्रह्मात्मतत्त्वकी प्रतिपत्ति (ज्ञान) की सिद्धिके लिये अध्यारोप और अपवादसे निष्प्रपंचका विस्तार करते हैं क्योंकि शिष्योंके बोधार्थ तत्त्वके ज्ञाताओंने यही क्रम कल्पित किया है इस न्यायके अनुसार आत्मामें अध्यारोपका वर्णन प्रथम करते हैं कि सृष्टिसे पूर्व अद्वय आनंदपूर्ण जो इन श्रुतियोंमें प्रसिद्ध है कि,हे सौम्य ! यह जगत् सृष्टिसे पूर्व सत्‌रूप ही हुआ एक,अद्वितीय,विज्ञान, आनंदब्रह्म, पूर्ण है और जो स्वगत आदि भेदसे शून्य है परमानंद परिपूर्ण है वह महेश्वर माया (प्रकृति) से अर्थात् अपनेमें वर्तमान अपनी मायारूप शक्तिसे स्वयं जगत्‌रूप होकर जीवरूपसे उस जगत्‌में प्रविष्ट हुआ अर्थात् जीवभावको प्राप्त हुआ । भावार्थ यह है कि अद्वय आनंद पूर्णरूप परमात्मा अपनी मायासे जगत्‌रूप होकर जीवरूपसे प्रविष्ट हुआ ॥ १ ॥

विष्ण्वाद्युत्तमदेहेषु प्रविष्टो देवता भवेत् ॥
मर्त्याद्यधमदेहेषु स्थितो भजति मर्त्यताम् ॥ २ ॥

कदाचित् कहो कि यदि परमात्मा ही एक सब शरीरोंमें प्रविष्ट है तो पूज्य, पूजक आदि भेदसे उत्तम, अधमभाव न होगा सो ठीक नहीं क्योंकि विष्णु आदि उत्तम देहोंमें प्रविष्ट हुआ परमात्मा देवता हो जाता है और मनुष्य आदिके अधम देहोंमें स्थित हुआ मर्त्यभावको प्राप्त होता है, अर्थात् यह उत्तम अधमभाव स्वाभाविक नहीं है किंतु शरीररूप उपाधिके भेदसे है इससे कुछ विरोध नहीं है ॥ २ ॥

---

१ अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपंचं प्रपंच्यते । शिष्याणां बोधसिद्ध्यर्थं तत्त्वज्ञैः कल्पितः क्रमः ।
२ सदेव सोम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयं विज्ञानमानंदं ब्रह्म पूर्णमदः पूर्णम् । मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् । स्वयमेव जगद्भूत्वा तदात्मानं स्वयमकुरुत सच्च त्यच्चाभवत् तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य ।

अनेकजन्मभजनात् स्वविचारं चिकीर्षति ॥
विचारेण विनष्टायां मायायां शिष्यते स्वयम् ॥ ३ ॥

इस प्रकार आत्मामें संक्षेपसे अध्यारोपको दिखाकर अब कारणोंसहित उसके अपवाद (निषेध) को संक्षेपसे दिखाते हैं कि अनेक जन्मोंमें किये जो कर्म हैं उनके ब्रह्ममें समर्पणरूप भजनसे जब अपने आत्मारूप ब्रह्मको ज्ञानका साधन जो श्रवण मनन आदि विचार है उसको करना चाहता है तब अपने विचारसे पैदा हुए ज्ञानसे अपने आनंद आदिरूपकी आच्छादक मायाके नष्ट होनेपर आप ही शेष रह जाता है भावार्थ यह है कि अनेक जन्मोंके भजनसे अपने विचारको जब चाहता है तो विचारसे मायाके नष्ट होनेपर स्वयम् आत्मा ही शेष रह जाता है ॥ ३ ॥

अद्वयानंदरूपस्य सद्वयत्वं च दुःखिता ॥
बंधः प्रोक्तः स्वरूपेण स्थितिर्मुक्तिरितीर्यते ॥ ४ ॥

कदाचित् कहो कि सो ब्रह्म मैं हूं ऐसे जानकर संपूर्ण बंधनोंसे छूटता है इत्यादि श्रुतियोंने बंधकी निवृत्तिरूप मोक्ष ज्ञानका फल कहा है तुम परमात्माके शेषको ज्ञानका फल कैसे कहते हो सो ठीक नहीं क्योंकि अद्वितीय ब्रह्ममें वास्तव तो न बंध है और न मोक्ष है किंतु अद्वयानंदरूपमें द्वैत और दुःख आदि मानना जो भ्रम है वही बंध कहा है और स्वरूपसे स्थिति अर्थात् पूर्वोक्त भ्रमकी जो निवृत्ति है उसको ही मुक्ति कहते हैं इससे पूर्वोक्त श्रुतिका विरोध नहीं है ॥ ४ ॥

अविचारकृतो बंधो विचारेण निवर्तते ॥
तस्माज्जीवपरात्मानौ सर्वदैव विचारयेत् ॥ ५ ॥

कदाचित् कहो कि जनक आदि कर्मसे ही संसिद्धिको प्राप्त हुए इस स्मृतिसे मोक्षका साधन कर्म कहा है । विचारसे पैदा हुए ज्ञानका क्या फल है इसपर कहते हैं कि अविचारसे अर्थात् अज्ञानसे किया जो बंधन है उसकी निवृत्ति विचारसे पैदा हुए ज्ञानसे होती है और पूर्वोक्त स्मृतिमें संसिद्धिपदसे चित्तकी शुद्धि लेते हैं इससे जीव और परमात्माके स्वरूपका सदैव विचार करे ॥ ५ ॥

अहमित्यभिमंता यः कर्ताऽसौ तस्य साधनम् ॥
मनस्तस्य क्रिये अंतर्बहिर्वृत्ती क्रमोत्थिते ॥ ६ ॥

---

१ तद्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा सर्वबंधैः प्रमुच्यते । २ कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जानकादयः ।

अब प्रथम जीवरूपका वर्णन करते हैं कि जो चिदाभासविशिष्ट अहंकार व्यवहारदशामें देह आदिमें अहं (मैं हूं) यह अभिमान करता है वह कर्ता है अर्थात् जीव है। उसका साधन (करण) मन है और उस मनकी अर्थात् काम आदि वृत्तिवाले अंतःकरणकी अंतः और बाहिः (भीतर बाहरकी) दो वृत्तियां क्रमसे उठती हैं ॥ ६ ॥

अंतर्मुखाऽहमित्येषा वृत्तिः कर्तारमुल्लिखेत् ॥
बहिर्मुखेदमित्येषा बाह्यं वस्त्विदमुल्लिखेत् ॥ ७ ॥

अब उन दोनों वृत्तियोंके स्वरूप और विषयको पृथक् २ दिखाते हैं कि उस मनकी जो अंतर्मुख (अहं) (मैं) यह वृत्ति है वह कर्ताका उल्लेख (विषय) करती है और बहिर्मुख जो इदं (यह है) वृत्ति है वह बाह्य घट आदि विषयोंका उल्लेख करती है ॥ ७ ॥

इदमो ये विशेषाः स्युर्गंधरूपरसादयः॥
असांकर्येण तान् भिंद्याद् घ्राणादींद्रियपंचकम् ॥ ८ ॥

कदाचित् कहो कि मनसे ही संपूर्ण व्यवहार सिद्ध हो जायगा नेत्र आदि इंद्रिय व्यर्थ हो जायगी सो ठीक नहीं क्योंकि इदंके जो विशेष रूप गंध, रूप, रस आदि हैं उनको असांकर्यसे (पृथक् २) घ्राण आदि पांचों इंद्रिय भेदन करती (जानती) हैं अर्थात् मन सामान्यमात्रका ग्राहक है, विशेषका नहीं ॥ ८॥

कर्तारं च क्रियां तद्व्यावृत्तविषयानपि॥
स्फोरयेदेकयत्नेन योऽसौ साक्ष्यत्र चिद्वपुः ॥ ९ ॥

इस प्रकार जीवके स्वरूपका निरूपण करके परमात्माका निरूपण करते हैं जो पूर्वोक्त अहंकाररूप कर्ताको और अहम् इदम् आदि मनकी वृत्तिरूप क्रियाको और परस्पर विलक्षण गन्धादि इंद्रियोंके विषयको, एक यत्नसे (एक बार) प्रकाश करे वह इस वेदान्तशास्त्रमें चिद्रूप साक्षी कहलाता है ॥ ९ ॥

ईक्षे शृणोमि जिघ्रामि स्वादयामि स्पृशाम्यहम् ॥
इति भासयते सर्वं नृत्यशालास्थदीपवत् ॥ १० ॥

अब साक्षीकी एक यत्नसे सबकी प्रकाशकताको दिखाते हैं 'मैं रूपको देखता हूं, शब्दको सुनता हूं, गन्धको सूंघता हूं, रसका स्वाद लेता हूं और स्पृश्य स्पर्श करता हूं' इत्यादि ज्ञानोंमें ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयरूप त्रिपुटीका एक यत्नसे जो नृत्यशालामें स्थित दीपकके समान प्रकाश करता है वह साक्षी है ॥ १० ॥

नृत्यशालास्थितो दीपः प्रभुं सभ्यांश्च नर्तकीम् ॥
दीपयेदविशेषेण तदभावेऽपि दीप्यते ॥ ११ ॥

अब दृष्टांतको स्पष्ट करते हैं जैसे नृत्यशालामें स्थित दीपक राजा, सभासद् और नार्तकी (वेश्या) इन सबको अविशेषसे प्रकाश करता है और उनके न होनेपर भी स्वयं ही प्रकाशित रहता है इसी प्रकार सबका प्रकाशक साक्षी स्वप्रकाशरूप है ॥ ११ ॥

अहंकारं धियं साक्षी विषयानपि भासयेत् ॥
अहंकाराद्यभावेऽपि स्वयं भात्येव पूर्ववत् ॥ १२ ॥

अब दृष्टांतको दार्ष्टांतिकमें घटाते हैं कि पूर्वोक्त दीपकके समान साक्षी भी अहंकार, बुद्धि और विषय इनको प्रकाशित करता है और सुषुप्ति आदिके समय अहंकार आदिके अभावमें स्वयं भी पूर्वके समान भासता है ॥ १२ ॥

निरंतरं भासमाने कूटस्थे ज्ञप्तिरूपतः ॥
तद्भासा भास्यमानेयं बुद्धिर्नृत्यत्यनेकधा ॥ १३ ॥

कदाचित् कहो कि प्रकाशरूप बुद्धिको ही अहंकार आदि संपूर्ण वस्तुओंका प्रकाशक माननेसे निर्वाह हो जायगा उससे भिन्न साक्षीके माननेका क्या प्रयोजन है।सो ठीक नहीं है क्योंकि निर्विकार,कूटस्थ,स्वप्रकाश,चैतन्यरूपसे निरंतर प्रकाशमान होता है,यह बुद्धि उस प्रकाशमान चैतन्यकी प्रकाश की हुई 'यह घट है,यह पट है'ऐसे अनेक प्रकारसे नृत्य करती है अर्थात् अनेक प्रकारके विचार बुद्धिमें होते हैं विकाररूप बुद्धि जड होनेसे स्वयं प्रकाशरूप नहीं हो सकती इससे बुद्धिसे भिन्न सबका प्रकाशक साक्षी स्वीकार करने योग्य है ॥ १३ ॥

अहंकारः प्रभुः सभ्या विषया नर्तकी मतिः ॥
तालादिधारीण्यक्षाणि दीपः साक्ष्यवभासकः ॥ १४ ॥

अब पूर्वोक्त अर्थको श्रोताओंकी बुद्धिमें सुखसे आनेके लिये नाटकरूपसे वर्णन करते हैं अहंकार प्रभु (राजा) के तुल्य है अर्थात् उस अहंकारमें सम्पूर्ण विषयोंका भोग और अल्प विषयोंके भोगके अभिमानसे आनंदके और शोक दोनों नृत्यसे अभिमानी पुरुषके समान होते हैं इससे अहंकार प्रभुके तुल्य है और विषय सभासद हैं और बुद्धि अनेक प्रकारके विकारवाली होनेसे नर्तकी है और बुद्धिके जो विकार उनके अनुकूल व्यापार करनेसे ताल आदिके धारी जो पुरुष उनके समान

इंद्रिय हैं और इन सबका प्रकाशक होनेसे साक्षी दीपकके समान है । भावार्थ यह है कि अहंकार प्रभु है और विषय सभासद, बुद्धि नर्तकी, इंद्रिय ताल आदिधारी पुरुष और साक्षी दीपकके समान सबका प्रकाशक है ॥ १४ ॥

स्वस्थानसंस्थितो दीपः सर्वतो भासयेद्यथा ॥
स्थिरस्थायी तथा साक्षी बहिरंतः प्रकाशयेत् ॥ १५ ॥

कदाचित् कहो कि साक्षीको भी अहंकार आदिका प्रकाशक मानोगे तो उस २ विषयके संग सम्बन्ध होने और न होनेसे साक्षी भी विकारी हो जायगा सो ठीक नहीं है क्योंकि जैसे दीपक गमन आदिको न करता हुआ अपने देशमें स्थित ही अपने समीपके सम्पूर्ण पदार्थोंको प्रकाशित करता है इसी प्रकार स्थिर हैं स्थिति जिसकी ऐसा साक्षी भी बाहर और भीतरके सम्पूर्ण विषयोंको प्रकाशित करता है ॥ १५ ॥

बहिरंतर्विभागोऽयं देहापेक्षो न साक्षिणि ॥
विषया बाह्यदेशस्था देहस्यांतरहंकृतिः ॥ १६ ॥

कदाचित् कहो कि साक्षी बाहर और भीतरका प्रकाशक नहीं हो सकता है क्योंकि 'साक्षी पूर्व, अपर[1] अंतर बाह्य इनसे रहित है' इस श्रुतिसे साक्षीको बाह्य और भीतरके विभागका अभाव कहा है सो ठीक नहीं किंतु बाहर भीतरका जो यह विभाग है वह देहकी अपेक्षासे है साक्षीमें नहीं क्योंकि रूप आदि विषय बाह्य देशमें स्थित हैं और अहंकार देहके मध्यमें स्थित है ॥ १६ ॥

अंतःस्था धीः सहैवाक्षैर्बहिर्याति पुनः पुनः ॥
भास्यबुद्धिस्थचांचल्यं साक्षिण्यारोप्यते वृथा ॥ १७ ॥

कदाचित् कहो कि स्थिर साक्षी बाहर भीतर प्रकाश करता है यह बात अविकारी साक्षीको अयुक्त है क्योंकि मैं घटको देखता हूं यहां प्रथम अहम् (मैं) इस अहंकारका साक्षी होकर भासे हुएको फिर घटको देखता हूं इसप्रकार घटाकारवृत्तिकी स्फुरतिसे साक्षीका बाहर गमन प्रतीत होता है सो ठीक नहीं क्योंकि देहके भीतर स्थित हुई बुद्धिरूप आदिके ग्रहणके लिये नेत्र आदिके द्वारा बारंवार बाहर जाती है उससे साक्षीके द्वारा प्रकाशमान बुद्धिकी जो चंचलता है उसका वृथा आरोप साक्षीमें मूर्ख मनुष्य करते हैं इससे साक्षीमें वास्तविक चंचलता नहीं है ॥ १७ ॥

---

१ अपूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम् ।

गृहांतरगतः स्वल्पो गवाक्षादातपोऽचलः ॥
तत्र हस्ते नर्त्यमाने नृत्यतीवातपो यथा ॥ १८ ॥

अब प्रकाशकमें प्रकाश किये जाने वालेकी चंचलताका आरोप दिखाते हैं कि गवाक्ष (झरोखा) में से घरके भीतर आया जो निश्चल और स्वल्प आतप(धूप)है उसमें मनुष्य अपने हस्तको नचावे तो उसके संग आतप भी नृत्य (चलना) करनेके समान जैसे प्रतीत होता है ॥ १८ ॥

निजस्थानस्थितः साक्षी बहिरंतर्गमागमौ ॥
अकुर्वन् बुद्धिचांचल्यात् करोतीव तथातथा ॥ १९ ॥

अब दार्ष्टांतिकको कहते हैं कि इसी प्रकार अपने स्थानमें स्थित साक्षी बाहर और भीतर गमन और आगमनको न करता भी बुद्धिकी चंचलतासे करते हुए के समान प्रतीत होता है ॥ १९ ॥

न बाह्यो नांतरः साक्षी बुद्धेर्देशौ हि तावुभौ ॥
बुद्ध्याद्यशेषसंशांतौ यत्र भात्यस्ति तत्र सः ॥ २० ॥

कदाचित् कहो कि अपने स्थानमें स्थित साक्षी इस कहनेसे क्या बाह्य देशमें स्थित साक्षीको मानते हो, सो ठीक नहीं किंतु साक्षी न बाह्य है और न भीतर है क्योंकि वे दोनों देश बुद्धिके हैं । जब बुद्धि, इंद्रिय आदि सम्पूर्ण शांत हो जाते हैं ऐसी सुषुप्ति आदि अवस्थामें जो भासता है उस अवस्थामें वह साक्षी है ॥ २० ॥

देशः कोऽपि न भासेत यदि तर्ह्यस्त्वदेशभाक् ॥
सर्वदेशप्रक्लृप्त्यैव सर्वगत्वं न तु स्वतः ॥ २१ ॥

कदाचित् कहो कि संपूर्ण व्यवहारोंके शांत होनेपर कोई देश ही न मिलेगा तो साक्षीकी स्थिति कहां होगी सो ठीक नहीं किंतु यदि कोई भी देश न भासेगा तो न भासे, साक्षीका अदेशभास ही मानेंगे कदाचित् कहो कि देश आदिके अभावमें सर्वगत सर्वसाक्षी कहना विरुद्ध होगा सो ठीक नहीं क्योंकि सब देशोंकी कल्पनासे ही सर्वगत है स्वतः नहीं अर्थात् अद्वितीय और असंग होनेसे उसका यह स्वाभाविक धर्म नहीं ॥ २१ ॥

अंतर्बहिर्वा सर्वं वा यं देशं परिकल्पयेत् ॥
बुद्धिस्तद्देशगः साक्षी तथा वस्तुषु योजयेत् ॥ २२ ॥

सर्वगतके समान सर्वसाक्षी भी वास्तविक नहीं इसका वर्णन करते हैं कि अंतः, वा बाहर वा संपूर्ण जिस देशकी कल्पना बुद्धि करती है उसी देशमें गामी (गया हुआ) साक्षी उसी प्रकार वस्तुओंमें युक्त होता है अर्थात् बुद्धिके द्वारा ही देशका संबंध है स्वभावसे नहीं ॥ २२ ॥

यद्यद्रूपादि कल्प्येत बुद्ध्या तत्तत्प्रकाशयन् ॥
तस्य तस्य भवेत्साक्षी स्वतो वाग्बुद्ध्यगोचरः ॥ २३ ॥

अब वस्तुओंके योगको ही विस्तारसे दिखाते हैं कि बुद्धि जिस २ रूप आदिकी कल्पना करती है उस २ को प्रकाशित करता हुआ साक्षी, उस २ का साक्षी होता है और स्वतः (स्वयं) तो बुद्धि, वाणीका अगोचर (अविषय) है अर्थात् वाणी आदिका अविषय उसका निजरूप है ॥ २३ ॥

कथं तादृङ् मया ग्राह्य इति चेन्मैव गृह्यताम् ॥
सर्वग्रहोपसंशांतौ स्वयमेवावशिष्यते ॥ २४ ॥

कदाचित् कहो कि वाणी मनके अगोचरको मुमुक्षु कैसे ग्रहण करेगा सो ठीक नहीं क्योंकि उसका न ग्रहण करना ही हमको इष्ट है यह कहते हैं कि पूर्वोक्त साक्षीको हम कैसे ग्रहण कर सकते हैं यदि ऐसा है तो मत ग्रहण करो, कदाचित् कहो कि आत्माको अग्राह्य मानोगे तो विचारसे मायाके नष्ट होनेपर स्वयं परमात्माका जो शेष कहा है वह न घटेगा सो ठीक नहीं क्योंकि संपूर्णके ग्रह (जानने) की शांति होनेपर अर्थात् द्वैतके मिथ्यात्वनिश्चयसे उसकी प्रतीतिके न होनेपर स्वयं परमात्मा ही शेष रहता है उसके शेष रखनेमें कोई यत्न नहीं करना पडता है। भावार्थ यह है कि तादृश (वैसे) साक्षीको हम कैसे ग्रहण करें (जानें), तो मत ग्रहण करो क्योंकि संपूर्ण ग्रहों (ज्ञान) की शांति होनेपर वह स्वयं ही शेष रह जाता है ॥ २४ ॥

न तत्र मानापेक्षाऽस्ति स्वप्रकाशस्वरूपतः ॥
तादृग्व्युत्पत्त्यपेक्षा चेच्छ्रुतिं पठ गुरोर्मुखात् ॥ २५ ॥

यद्यपि पूर्वोक्त न्यायसे स्वात्मा शेष रहता है तथापि उसके अपरोक्षज्ञानार्थ कोई प्रमाण तो चाहिये सो भी नहीं कह सकते क्योंकि उस परमात्माको स्वप्रकाशरूप होनेसे उसमें किसी प्रमाणकी अपेक्षा नहीं है और स्वप्रकाशकी स्वयं स्फूर्ति (भान) में प्रमाणकी अपेक्षा नहीं है इस व्युत्पत्तिकी अपेक्षा है तो गुरुके मुखसे श्रुतिको पढ अर्थात् श्रुतिसे प्रतीति हो जायगा कि स्वप्रकाशके भासनेके लिये

किसी भी प्रमाणकी आवश्यकता नहीं है। भावार्थ यह कि स्वप्रकाशरूप आत्मामें प्रमाणकी अपेक्षा नहीं है, यदि इस व्युत्पत्तिकी अपेक्षा है तो गुरुके मुखसे श्रुतिको पढ ॥ २९ ॥

यदि सर्वग्रहत्यागोऽशक्यस्तर्हि धियं व्रज ॥
शरणं तदधीनोऽन्तर्बहिर्वैषोऽनुभूयताम् ॥ २६ ॥

इस प्रकार उत्तम अधिकारीको आत्माके ज्ञानका उपाय कहकर मंद अधिकारीको भी वह उपाय दिखाते हैं कि यदि संपूर्ण ग्रहका त्याग करनेको अशक्य है तो बुद्धिकी शरण जाओ क्योंकि वह बुद्धि जिस २ बाह्य वा आंतर विषयकी कल्पना करती है उस २ का साक्षीरूप होनेसे उसके अधीन यह परमात्मा अनुभव करने योग्य है। भावार्थ यह है कि सबका ज्ञान नहीं त्याग सकते हो तो बुद्धिकी शरण जाओ, उस बुद्धिसे कल्पित बाहर वा भीतरके विषयोंका साक्षी यह परमात्मा जानने योग्य है ॥ २६ ॥

इति श्री विद्यारण्यकृतपंचदश्याः पं० मिहिरचंद्रकृतभाषाविवृतौ नाटकदीपः॥ १० ॥

इति नाटकदीपप्रकरणं दशमम् ॥ १० ॥



अथ ब्रह्मानन्दे योगानन्दप्रकरणम् ११.

श्रीगणेशाय नमः ।

ब्रह्मानंदं प्रवक्ष्यामि ज्ञाते तस्मिन्नशेषतः ॥
ऐहिकामुष्मिकानर्थव्रातं हित्वा सुखायते ॥ १ ॥

करनेको इष्ट ग्रंथकी निर्विघ्न समाप्ति और समाप्तिके विरोधी पापकी निवृत्तिके लिये अपनेको अभिमत जो देवता उसके तत्त्वका स्मरणरूप मंगल करते हुए और श्रोताओंकी प्रवृत्तिके लिये प्रयोजन और अभिधेयको प्रगट करते हुए आचार्य ग्रंथारंभकी प्रतिज्ञा करते हैं कि निर्विशेष परब्रह्मको साक्षात् करनेको जो असमर्थ मंदबुद्धि हैं उनपर भी सविशेष ब्रह्मके निरूपणसे दया की जाती है अर्थात् उनके लिये सविशेष ब्रह्मका निरूपण है,इस वचनसे सविशेष ब्रह्मरूप देवताओंके तत्त्वको निर्विशेषब्रह्मरूप कहा है और 'ब्रह्मानंदको कहता हूं' यहां आनंदरूप ब्रह्मके वाचकशब्दके प्रयोगसे और 'जो मनसे ध्यान करता है उसको ही वाणीसे कहता है' इस श्रुतिमें कहे न्यायसे ब्रह्मका स्मरणरूप मंगल सिद्ध हुआ और ब्रह्म संपूर्ण वेदांतोंसे प्रतिपादन किया जाता है और वेदांतके प्रकरणरूप इस ग्रंथका भी ब्रह्म ही विषय है इससे ब्रह्मशब्दके प्रयोगसे विषय भी सूचित किया और उत्तरके (पिछले) आधे श्लोकसे अनिष्टकी निवृत्ति और इष्टकी प्राप्तिरूप दो प्रयोजन भी मुखसे सूचित किये कि ब्रह्म जो आनंद उसको कहता हूं। यहां वाच्य (अर्थ) वाचक (शब्द) इनके अभेदसे ग्रंथ भी ब्रह्मानंद है जिस ब्रह्मानंदके अर्थात् प्रतिपाद्यप्रतिपादकरूपके ज्ञान होनेपर इस लोकके और परलोकके जो अनर्थोंका समूह है अर्थात् देह पुत्र आदिमें अहं ममके अभिमानसे जो आध्यात्मिक दुःख हैं और परलोकमें होनेवाले जो अनर्थ हैं उनका समूह अशेषरूपसे जो है उसको त्याग कर सुखरूप ब्रह्म ही होता है। भावार्थ यह है कि ब्रह्मानंदको कहता हूं क्योंकि उसका ज्ञान होनेपर संपूर्ण इस लोक और परलोकके अनर्थोंका जो समूह है उसको त्यागकर सुखरूप ब्रह्म ही होता है अर्थात् ब्रह्मज्ञान हो जाता है ॥ १ ॥

ब्रह्मवित्परमाप्नोति शोकं तरति चात्मवित् ॥
रसो ब्रह्म रसं लब्ध्वाऽऽनंदीभवति नान्यथा ॥ २ ॥

---

१ निर्विशेषं परं ब्रह्म साक्षात्कर्तुमनीश्वराः । ये मंदास्तेनुकंप्यंते सविशेषनिरूपणैः । आनंदो ब्रह्म ।
२ यद्धि मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति ।

ब्रह्मज्ञान अनिष्टनिवृत्ति और इष्टप्राप्तिका हेतु है इसमें बहुतसे श्रुतिस्मृतियोंके वचन प्रमाण हैं यह दिखानेका अभिलाषी ग्रंथकार प्रथम 'ब्रह्मका ज्ञाता परं ब्रह्मको प्राप्त होता है, ऐसे ही भगवान्के ज्ञाताओंसे सुना है कि आत्मज्ञानी शोकको तरता है हे भगवन् सो मैं शोचता हूं इससे मुझे आप शोकसे पार करो' इन दो वचनोंके अर्थको पढते हैं कि ब्रह्मको वेत्ता (ज्ञाता) परम उत्कृष्टरूप आनंद ब्रह्मको प्राप्त होता है और आत्मवित् जो है अर्थात् भूमा शब्दके वाच्य देश, काल, वस्तु-के परिच्छेदसे शून्य आत्माको जो जानता है वह शोकको तरता है अर्थात् अपने संसर्गी पुरुषको शोच जो दे उस शोकरूप संसारको तरता है अर्थात् लांघता है कदाचित् कहो कि पूर्वोक्त तैत्तिरीय श्रुतिके वाक्यमें ब्रह्मज्ञानको परप्राप्तिकी हेतुता प्रतीत होती है आनंद प्राप्तिकी हेतुता नहीं, यह शंका करके आनंदप्राप्तिकी हेतुताके प्रतिपादनपूर्वक 'वह ब्रह्म रस है, यह मनुष्य रसको ही पाकर आनंद होता है' इस तैत्तिरीय वाक्यको अर्थसे पढते हैं कि 'सत्य ज्ञान अनंत ब्रह्म है उस इस आत्मासे आकाश हुआ' इस श्रुतिमें प्रकरणके आदिमें ब्रह्म और आत्मा शब्दोंसे कहा जो आत्मा वह रस (सार) है अर्थात् आनंदरूप है आनंदरूप रसको प्राप्त होकर अर्थात् ब्रह्म मैं हूं ऐसे जानकर आनंदवाला होता है, अर्थात् अपरिच्छिन्न सबसे उत्तम सुखको प्राप्त होता है और अन्यथा अर्थात् ब्रह्म आत्माकी एकताके ज्ञान विना अन्य साधनोंके करनेसे आनंदका भागी नहीं होता है । भावार्थ यह है कि ब्रह्मज्ञानी परब्रह्मको प्राप्त होता है और आत्मज्ञानी शोकको तरता है और ब्रह्म रस है और रसको प्राप्त होकर आनंद होता है अन्यथा नहीं ॥ २ ॥

प्रतिष्ठां विंदते स्वस्मिन् यदा स्यादथ सोऽभयः ॥
कुरुतेऽस्मिन्नंतरं चेदथ तस्य भयं भवेत् ॥ ३ ॥

इस प्रकार अन्वयके मुख (रीति) से इष्टप्राप्ति और अनिष्टनिवृ-त्तिके बोधक वाक्योंको दिखाकर अन्वय और व्यतिरेकसे अनर्थनिवृत्तिके बोधक इन दो वाक्योंके अर्थको पढते हैं कि जिस कालमें यह मुमुक्षु विद्वानोंके अनुभवसे जानने योग्य इस इंद्रियोंके अविषय और अनात्मीय अर्थात् स्वरूपसे

---

१ तावद्ब्रह्मविदाप्नोति परं श्रुतं ह्येवमेव भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मवित् सोहं भगवः शोचामि तं मा भगवान् शोकस्य पारं तारयतु । २ रसो वै सः रस ह्येवायं लब्ध्वानंदीभवति, सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म, तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः । ३ यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विंदतेऽथ सो भयं गतो भवति यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमंतरं कुरुतेऽथ तस्य भयं भवति ।

जो अपना नहीं है और शब्दसे कहनेके अयोग्य और अनिलयन अर्थात् निराधार (अपनी महिमामें स्थित) ब्रह्ममें अभय (अद्वितीय) को जानता है क्योंकि श्रुतिमें लिखा है कि 'द्वितीयसे भय होता है' यहां भयशब्दसे भयका हेतु भेद लिखा जाता है अर्थात् जिसमें भय (भेद) न हो ऐसी प्रतिष्ठा अर्थात् संशय विपर्यय रहित ब्रह्म मैं हूं इस स्थितिको गुरुके समीप वास आदिसे श्रवण आदिके द्वारा प्राप्त होता है उसी समय वह विद्वान् भयरहित मोक्षरूप अद्वितीय ब्रह्मको प्राप्त होता है क्योंकि इस श्रुतिमें लिखा है कि 'जो ब्रह्मको जानता है वह ब्रह्म ही होता है' और जिस कालमें यह पूर्वोक्त मुमुक्षु इस अदृश्य प्रत्यग्से अभिन्न ब्रह्ममें अल्प भी अंतर (भेद) को करता है अर्थात् अपनेको उपासक और ब्रह्मको उपास्य समझता है उसी समयमें उसको संसारसंबंधी दुःखरूप भय होता है। भावार्थ यह है कि जब यह मुमुक्षु अपने आत्मामें स्थितिको प्राप्त होता है तब तो यह अभय होता है और जब इस ब्रह्ममें किंचित् भी भेद करता है तो उस मुमुक्षुको भय होता है ॥ ३ ॥

वायुः सूर्यो वह्निरिंद्रो मृत्युजन्मांतरेंतरम् ॥
कृत्वा धर्मं विजानंतोऽप्यस्माद्भीत्या चरंति हि ॥ ४ ॥

भेदके द्रष्टाओंको भय होता है इसको दृढ करनेके लिये ब्रह्म आत्माकी एकताके ज्ञानसे जो रहित हैं उन वायु आदिकोंको भयके दिखानेवाले इत्यादि मंत्रके अर्थको पढते हैं कि 'इस ब्रह्मके भयसे पवन चलता है वायु सूर्य अग्नि इंद्र मृत्यु ये जगत्के नियामक पांचो भी देवता अतीत (बीते) जन्ममें इष्ट पूर्त आदि धर्मको जानते हुए भी अर्थात् जानकर करते भी अंतरको अर्थात् प्रत्येकब्रह्मके भेदको करके इस ब्रह्मकी भीतिसे वायु आदिके जन्ममें चरते हैं अर्थात् अपने २ व्यापारोंमें प्रवृत्त होते हैं यहां हि शब्दके पढनेसे इस कठ श्रुतिमें जो यमने प्रसिद्धि कही है उसको दिखाया है कि इस ब्रह्मके भयसे अग्नि तपती है, सूर्य तपता है और भयसे इंद्र, वायु और पांचवां मृत्यु धावता है। भावार्थ यह है कि वायु, सूर्य, अग्नि, इंद्र मृत्यु ये सब पूर्वजन्ममें भेदको करके और धर्मको भले प्रकारसे जानते हुए भी इस ब्रह्मकी भीतिसे अपने २ कार्योंको करते हुए विचरते हैं ॥ ४ ॥

आनंदं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चन ॥
एवमेव तपेन्नैषा चिंताकर्माग्निसंभृता ॥ ५ ॥

---

१ द्वितीयाद्वै भयं भवति। २ ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति। ३ भीषास्माद्वातः पवते। ४ भयाद्स्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः। भयादिंद्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पंचमः।

कदाचित् कहो कि आत्मज्ञानी शोकको तरता है इत्यादि पूर्वोक्त वाक्योंमें यह स्पष्ट नहीं भासता है कि ब्रह्मानंदका ज्ञान अनर्थ निवृत्तिका हेतु है यही शंका करके उस वाक्यको कहते हैं जिसमें ब्रह्मानंदका ज्ञान अनर्थनिवृत्तिका हेतु प्रतीत हो कि ब्रह्मके आनंदको जो जानता है अर्थात् अपरोक्षरूप ब्रह्मानंदका ज्ञाता पुरुष किसीसे भी भयको प्राप्त नहीं होता अर्थात् इस लोकके व्याघ्र आदिसे और परलोकके भयहेतु पाप आदिसे भयभीत नहीं होता । कदाचित् कहो कि तत्त्वज्ञानीको पाप आदिसे भय नहीं यह किससे जानते हो सो ठीक नहीं क्योंकि इस ज्ञानीको यह तांप नहीं होता कि मैंने क्या साधु नहीं किया, क्या मैंने पाप किया इस वाक्यके अर्थको पढते हैं कि कर्माग्निसे संभृत (की) जो यह चिंता अर्थात् कर्मरूप जो यह चिंता अर्थात् कर्मरूप जो न करने और करनेसे अग्निके समान संतापका हेतु अग्नि जिसकी जो यह चिंता कि मैंने पुण्य नहीं किया, पाप क्यों किया वह चिंता इस तत्त्ववेत्ता (ज्ञानी) को ही नहीं तपाती और अज्ञानी तो उस चिंतासे सदैव तपता है । भावार्थ यह है कि आनंदरूप ब्रह्मको जानता हुआ किसीसे भय नहीं मानता है और कर्मरूप अग्निसे पैदा हुई चिंता भी इसी ज्ञानीको तपायमान नहीं करती ॥ ५ ॥

एवं विद्वान्कर्मणी द्वे हित्वाऽऽत्मानं स्मरेत्सदा ॥
कृते च कर्मणी स्वात्मरूपेणैवैष पश्यति ॥ ६ ॥

पुण्यपापको दुःखके न देनेमें हेतुके दिखानेवाले इन दो वाक्योंके अर्थको पढते हैं कि जो इस (जो पुरुष आदित्यमें ब्रह्म है यह एक है) पूर्वोक्त प्रकारसे जानता है और इन दो पुण्यपापोंको छोड़ता है वही इस आत्माको प्रसन्न करता है अर्थात् आत्माका स्मरण करता है क्योंकि इसने मिथ्या समझ कर पुण्यपापको त्याग दिया इससे कर्मकी चिन्ता ही इसको नहीं होती उसका ताप तो कहांसे होगा और यही विद्वान किये हुए इन्हीं पुण्य पापोंको अपने आत्मस्वरूपसे ही देखता है कि जो कुछ यह है वह सब आत्मा है इससे आत्मरूप होनेसे भी सुख दुःख संताप नहीं दे सकते । भावार्थ यह है कि इस पूर्वोक्त प्रकारसे जो विद्वान् है वह पुण्य पापरूप कर्मोंको त्यागकर सदैव आत्माका स्मरण करता है और इन पुण्यपापरूप किये हुए कर्मोंको भी आत्मरूपसे ही देखता है ॥ ६ ॥

भिद्यते हृदयग्रंथिश्छिद्यंते सर्वसंशयाः ॥
क्षीयंते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥ ७ ॥

---

१ एत ँ ह वाव न तपति किमह ँ साधुना करवं किमहं पापमकरवम् । २ स य एवं विद्वानेते आत्मान ँ स्पृणुत उभे ह्येवैष एते आत्मान ँ स्पृणुते ।

कदाचित् कहो कि विना भोगे कोटियों कल्पोंमें भी कर्म क्षीण नहीं होता है इस शास्त्रसे अनादि संसारमें बहुत जन्मोंमें किये जो पुण्यपापरूप कर्म हैं वे अनगिनत अप्रसिद्ध आत्मरूप जाननेके अयोग्य जब हैं तो उनकी चिंता क्यों न होगी सो ठीक नहीं क्योंकि कारणसे युक्त वे कर्म ज्ञानसे नष्ट हो चुके इससे चिंताके जनक नहीं इस लिये हृदयग्रंथियोंकी निवृत्तिके बोधक मुंडक आदि श्रुतिके वाक्यको पढ़ते हैं कि हिरण्यगर्भ आदिकोंका पर (श्रेष्ठ) पद भी उससे अवर (निकृष्ट) है उस परमात्माके साक्षात् करनेपर उसके हृदय (बुद्धि) की अर्थात् चिदात्माकी ग्रंथि दृढ संश्लेष (संबंध) रूप अन्योन्य अध्यासका भेदन होता है अर्थात् नष्ट हो जाता है और संपूर्ण ये संशय नष्ट होते हैं कि आत्मा देहसे भिन्न है वा नहीं भिन्न है तो कर्ता है वा नहीं, अकर्ता भी है तो वह ब्रह्मसे भिन्न है वा नहीं और अभिन्न है तो वह कर्म आदि सहित मुक्तिका साधन है वा केवल ? ये सब संदेह दूर हो जाते हैं, क्योंकि तत्त्वसे साक्षात् की वस्तुको संशय विपर्यय ज्ञानकी विषयता नहीं देखी है और पुण्यपापरूप संचित कर्म क्षीण हो जाते हैं अर्थात् अपने कारण अज्ञानके नाशसे नष्ट हो जाते हैं। भावार्थ यह है कि ब्रह्माके पदसे भी श्रेष्ठ उस परमात्माके ज्ञान होनेपर इसके हृदयकी वासनाओंका भेदन हो जाता है और संपूर्ण संशय छेदन हो जाते हैं और संपूर्ण कर्म क्षीण हो जाते हैं ॥ ७ ॥

तमेव विद्वानत्येति मृत्युं पंथा न चेतरः ॥
ज्ञात्वा देवं पाशहानिः क्षीणैः क्लेशैर्न जन्मभाक् ॥ ८ ॥

कदाचित् कहो कि इस जगत्में कर्मोंको करता हुआ ही सौ वर्षतक जीनेकी इच्छा करे इससे अन्यथा तुझको कर्तव्य नहीं है और कोई कर्म तुझमें लिपायमान नहीं है जो विद्या और अविद्या दोनोंको संग जानता है वह अविद्यासे मृत्युको तरकर विद्यासे अमृतको भोगता है इस श्रुतिसे और कर्मसे ही जनक आदि संसिद्धिको प्राप्त हुए और जैसे मधुसे युक्त अन्न और अन्नसे युक्त मधु औषधरूप हैं इसी प्रकार तप और विद्या दोनों महान् औषध हैं इस स्मृतिसे केवल वा ज्ञानसे युक्त कर्म मुक्तिका हेतु होगा यह शंका करके पूर्वोक्त वाक्यमें तप शब्द पापकी निवृत्तिका वाचक इससे है कि आङ् शब्द जो (आस्थिताः) पदमें पढा है वह पापनिवृत्तिका वाचक है और संसिद्धिशब्दसे ज्ञानका साधन चित्तकी शुद्धि लेते हैं विद्या

---

१ नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि । २ कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत ँ समाः । एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभय ँ सह अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते। ३ कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः। यथान्नं मधुसंयुक्तं मधु चान्नेन संयुतम्। एवं तपश्च विद्या च संयुक्तं भेषजं महत्।

शब्दसे उपासना लेते हैं इससे कर्म मुक्तिके साधन नहीं इस अभिप्रायसे अन्य साधनके निषेधबोधके इस श्वेताश्वतर वाक्यके अर्थको पढते हैं कि उस ब्रह्मको ही विद्वान् मनुष्य जानकर मृत्युका अवलंघन करता है और इतर मार्ग अर्थात् दोनों वा केवल कर्मरूप मोक्षका उपाय नहीं है। कदाचित् कहो कि पूर्वोक्त वाक्योंमें अन्वयव्यतिरेकोंसे इस लोकके अनर्थकी निवृत्ति ही प्रधानतासे भासती है परलोकके अनर्थकी निवृत्ति नहीं भासती यह शंका करके अनिष्टता भी हो सकती है जब भावी जन्मको मानो इससे कारण सहित भावीजन्मके निषेधबोधक इस श्वेताश्वतरके वाक्यके अर्थको पढ़ते हैं कि स्वप्रकाश प्रत्यगभिन्न ब्रह्मको प्रत्यक्ष जानकर जो स्थित है उसके कामक्रोध आदि सब पाशोंकी हानि(नाश)होती है और जब पाशनामके राग आदि क्लेश क्षीण हो जाते हैं तभी भावी जन्मके हेतु कर्मके अभावसे भावी जन्मको प्राप्त नहीं होता है। भावार्थ यह है कि उसको जानकर विद्वान् मृत्युको लाँघता है अन्य कोई मार्ग नहीं है और ब्रह्मको जानकर पाशकी हानि होती है और क्लेशोंके क्षीण होनेसे जन्मको प्राप्त नहीं होता ॥ ८ ॥

देवं मत्वा हर्षशोकौ जहात्यत्रैव धैर्यवान् ॥
नैनं कृताकृते पुण्यपापे तापयतः क्वचित् ॥ ९ ॥

कदाचित् कहो कि शोकको तरना आदि जो फल है वह सुना जाता है उसको कोई जानता नहीं है क्योंकि ज्ञानियोंकी इष्टप्राप्ति अनिष्टकी निवृत्तिके लिये प्रवृत्तिको देखते हैं यह शंका करके दृढ जिनको अपरोक्ष ज्ञान है उनको अप्रवृत्तिकी बाधक इस कठश्रुतिके अर्थको पढते हैं कि धैर्यवान् अर्थात् ब्रह्मचर्य आदि साधनोंसे युक्त पुरुष चिदानन्दरूप देवको जानकर इसी जन्ममें हर्ष और शोकको त्याग देता है और कर्माग्निसे पैदा हुई चिंता इसको दुःख नहीं देती इस पूर्वोक्त अर्थमें विशेषताके बोधक इस याज्ञवल्क्यके वाक्यका जो अर्थ उसको पढते हैं कि और इसको पूर्व जन्ममें न किया पुण्य और किया हुआ पाप कदाचित् भी दुःख नहीं देते और इस जन्मके तो किये और न किये भी पुण्य पाप ताप दुःख नहीं देते। यहां तापशब्दसे चित्तविकारविशेष लेते हैं और किया हुआ पुण्य सद्धर्मरूप विकारको पैदा करता है और न किया विषादको और पाप,पुण्यसे विपरीत फल देता है कि न किया पाप, हर्षको पैदा करता है और किया पाप विषादको और

---

१ तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पंथा विद्यतेऽयनाय । २ ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणि । ३ अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा देवं हर्षशोकौ जहाति ।
४ कृताकृतेन तपतः ॥

तत्त्वज्ञानीको तो दोनों भी दोनों प्रकारके विकारके हेतु कदाचित् नहीं होते क्योंकि उसको विकाररहित ब्रह्मरूपका ज्ञान है भावार्थ यह है धीर पुरुष इसी जन्ममें देवको जानकर हर्षशोकको त्यागता है और किये और न किये पुण्य पाप इसको कभी भी तपायमान नहीं करते ॥ ९ ॥

इत्यादिश्रुतयो बह्व्यः पुराणैः स्मृतिभिः सह ॥
ब्रह्मज्ञानेऽनर्थहानिमानंदं चाप्यघोषयन् ॥ १० ॥

इतने ही वाक्य प्रमाण नहीं हैं अन्य भी हैं इसका वर्णन करते हैं कि पुराण और स्मृतियों सहित इत्यादि बहुतसी श्रुति और स्मृति ब्रह्मज्ञान होनेपर अनर्थकी हानि और आनंदकी प्राप्तिका घोषण (ढंडोरा) करती है। यहां आदि शब्दसे इनका ग्रहण है कि 'इसी जगत्में ब्रह्मको जानलिया तो सत्यरूप है,और यहां न जाना तो महान् नाश है,जो पुरुष इस ब्रह्मको जानते हैं वे अमृत होते हैं और उनसे अन्य दुःखको ही भोगते हैं, जो २ देवताओंमें [illegible]ता हुआ वही २ ब्रह्म हुआ और उस ब्रह्मका निश्चय करके मृत्युके मुखसे छूटता है और संपूर्ण भूतोंमें स्थित आत्माको और आत्मामें संपूर्ण भूतोंको भले प्रकार देखता हुआ आत्मयाजी (ज्ञानी) स्वराज (मोक्ष) को प्राप्त होता है' ये श्रुति और स्मृति, पुराणोक्त वचन भी पूर्वोक्त अर्थमें प्रमाण हैं ॥ १० ॥

आनंदस्त्रिविधो ब्रह्मानंदो विद्यासुखं तथा ॥
विषयानंद इत्यादौ ब्रह्मानंदो विविच्यते ॥ ११ ॥

कदाचित् कहो कि ब्रह्मानंद इस आनंदपदका ब्रह्म विशेषण है इससे अन्य भी कोई आनंद है यह प्रतीत होता है और वह कै· प्रकारका और कैसा है इस आकांक्षाकी निवृत्तिके लिये उसके भेदोंको दिखाकर ब्रह्मानंदपदकी विवेचना करते हैं कि ब्रह्मानंद और विद्यानंद और विषयानंद इन भेदोंसे आनंद तीन प्रकारका है उनमें दो जो आनंद हैं उनका मूल ब्रह्मानंद है इससे प्रथम तीन अध्यायोंसे ब्रह्मानंदको विभाग करके दिखाते हैं ॥ ११ ॥

---

१ इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति नचेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।य एतद्विदुरमृतास्ते भवंति।अथेतरे दुःखमेवापियंति । तद्यो यो देवानां प्रत्यबुद्ध्यत स एव तदभवत्।निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते । सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि । संपश्यन्नात्मयाजी वै स्वाराज्यमधिगच्छति । क्षेत्रज्ञस्यात्मविज्ञानाद्विशुद्धिः परमा मता ।

भृगुः पुत्रः पितुः श्रुत्वा वरुणाद्ब्रह्मलक्षणम् ॥
अन्नप्राणमनोबुद्धीस्त्यक्त्वाऽनंदं विजज्ञिवान् ॥ १२ ॥

उसमें प्रथम तैत्तिरीयश्रुतिके देखनेसे आनंदरूप ही ब्रह्म जाना जाता है इस अभिप्रायसे भृगुवल्लीके अर्थको संक्षेपसे दिखाते हैं कि भृगुनामका पुत्र अपने वरुण पितासे ब्रह्मके लक्षणोंको सुनकर कि "जिससे य भूत पैदा होते हैं और जिससे जीते हैं और प्रलय होते हुए ये जिसमें प्रवेश करते हैं उसको तू ब्रह्म जान" ऐसे सुनकर अन्नमय आदि कोशोंमें ब्रह्मके लक्षणके असंभवसे उनको ब्रह्मभिन्न होनेका निश्चय करके आनंदमय कोशमें जो पांचवां आनंद सुना है कि सबसे पिछलेको ब्रह्म जान उस बिंबरूपमें ब्रह्मके लक्षणोंके योगसे उसको ही ब्रह्म जानता हुआ। भावार्थ यह है कि भृगु नाम पुत्र, वरुण अपने पितासे ब्रह्मके लक्षणोंको सुनकर और अन्न, प्राण, मन, बुद्धि इनको त्यागकर आनंदमयकोशको ब्रह्म समझता हुआ ॥ १२ ॥

आनंदादेव भूतानि जायंते तेन जीवनम् ॥
तेषां लयश्च तत्रातो ब्रह्मानंदो न संशयः ॥ १३ ॥

इस प्रकार आनंदमें ब्रह्मका लक्षण युक्त किया यह शंका करके युक्त करनेके प्रकारको कहते हैं कि 'आनंदसे ही निश्चयसे ये भूत पैदा होते हैं और पैदा होकर आनंदसे ही जीते हैं और लय होते हुए आनंदमें ही प्रवेश करते हैं' इस श्रुतिमें भी यही लिखा है कि विषयोंके आनंदसे ही ये भूत पैदा होते हैं और उनमे ही उनका जीवन होता है और उसमें ही उनका लय होता है अर्थात् सुषुप्तिके समय अपने स्वरूपभूत आनंदके विना अन्य किसीका भी अनुभव नहीं है इससे आनंद ब्रह्म ही है इससे सबके अनुभव सिद्ध यही आनंद है इसमें संशय नहीं है। भावार्थ यह है कि आनंदसे भूत पैदा होते हैं, आनंदसे जीवते हैं और आनंदमें ही लय होते हैं इससे वह ब्रह्मानंद है इसमें संशय नहीं करना ॥ १३ ॥

भूतोत्पत्तेः पुरा भूमा त्रिपुटीद्वैतवर्जनात् ॥
ज्ञातृज्ञानज्ञेयरूपा त्रिपुटी प्रलये हि नो ॥ १४ ॥

इस प्रकार तैत्तिरीयश्रुतिके अनुसार ब्रह्मको आनंदरूप दिखाकर छांदोग्य श्रुतिके अनुसार भी आनंदरूप दिखानेका अभिलाषी आचार्य सनत्कुमार

---

१ यतो वा इमानि भूतानि जायंते येन जातानि जीवंति यत्प्रयंत्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मेति ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा। २ आनंदाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायंते आनंदेन जातानि जीवंति आनन्दं प्रयंत्यभिसंविशन्ति।

नारदका है संवाद जिसमें ऐसे सातवें अध्यायमें जिस वाक्यमें ब्रह्मको भूमा कहा है उसके संक्षपसे अर्थको कहते हैं कि जहां न अन्यको देखता है, न सुनता है, न जानता है वह भूमा है अर्थात् आकाश आदि भूतोंकी उत्पत्तिसे पूर्व और उन भूतोंके कार्य जरायुज अंडज आदिसे पूर्व त्रिपुटी द्वैतके वर्जनसे अर्थात् ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय इन तीनों पुटों (आकारों) के द्वैतका जो अभाव उससे भूमा है अर्थात् देश, काल, वस्तुके परिच्छेदसे शून्य परमात्मा है; अब उसी द्वैतके वर्जनको कहते हैं कि ज्ञाता ज्ञान ज्ञेयरूप जो त्रिपुटी है वह प्रलयकालमें नहीं होती यह संपूर्ण वेदांतोंका संमत (निश्चय) है। भावार्थ यह है कि भूतोंकी उत्पत्तिसे पहले त्रिपुटीरूप द्वैतके अभावसें केवल भूमा (ब्रह्म) ही हुआ क्योंकि प्रलयकालमें ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय. रूप त्रिपुटी नहीं होती यह सब वेदांतोंका सिद्धांत है ॥ १४ ॥

विज्ञानमय उत्पन्नो ज्ञाता ज्ञानं मनोमयः ॥
ज्ञेयाः शब्दादयो नैतत्त्रयमुत्पत्तितः पुरा ॥ १५ ॥

अब ज्ञाता आदिके स्वरूपको दिखाते हैं कि परमात्मासे उत्पन्न जो बुद्धि, वह है उपाधि जिसकी ऐसा जीव वह विज्ञानमय, ज्ञाता है और मनमें प्रतिबिंबित मनोमय चैतन्य वह ज्ञान है और शब्द स्पर्श आदि ज्ञेय प्रसिद्ध ही हैं ये ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय, तीनों कार्य होनेसे उत्पत्तिसे पहले कारणसे भिन्नरूपसे नहीं हैं ॥ १५ ॥

त्रयाभावे तु निर्द्वैतः पूर्ण एवानुभूयते ॥
समाधिसुप्तिमूर्च्छासु पूर्णः सृष्टेः पुरा तथा ॥ १६ ॥

अब फलितको कहते हैं कि ज्ञाता आदि तीनोंके अभावमें द्वैतसे रहित पूर्ण ही जैसे समाधि, सुषुप्ति, मूर्छाओंमें प्रतीत होता है वैसे ही सृष्टिसे पहले भी ज्ञाता आदि त्रिपुटीके अभावसे पूर्ण ही प्रतीत होता है अर्थात् सुषुप्ति, मूर्च्छासे उठे मनुष्यको जो द्वैतका स्मरण होता है वह द्वैतरहित अनुभवकर्ता (ज्ञाता) के विना नहीं हो सकता इससे ज्ञाताकी सिद्धि है वही पूर्णरूप भूमा है ॥ १६ ॥

यो भूमा स सुखं नाल्पे सुखं त्रेधा विभेदिनि ॥
सनत्कुमारः प्राहैव नारदायातिशोकिने ॥ १७ ॥

ब्रह्म पूर्णरूप रहे आनंदरूप क्यों मानते हो यह शंका करके

---

१ यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा ।

अन्वयव्यतिरेकोंसे भूमाको जिससे सुखरूपता प्रतीत हो इस वाक्यके अर्थको पढते हैं कि 'जो भूमा (बडा) है वह सुखरूप है और देश काल वस्तु तीन प्रकारका जिसमें भेद है उस अल्पमें सुख नहीं है' क्योंकि अद्वैतमें ही दुःखके हेतुओंका अभाव है इस प्रकार अत्यन्तशोकसे युक्त नारदमुनिके प्रति सनत्कुमारने कहा है ॥ १७ ॥

सपुराणान् पंच वेदाञ्शास्त्राणि विविधानि च ॥
ज्ञात्वाऽप्यनात्मवित्त्वेन नारदोऽतिशुशोच ह ॥ १८ ॥

अब उस नारदके अत्यन्त शोक होनेमें हेतु कहते हैं कि उन नारदमुनिनें पुराणोंसहित पांचों वेद और अनेकप्रकारके शास्त्रोंको जानकर भी आत्मज्ञानी न होनेसे अत्यन्त शोच किया ॥ १८ ॥

वेदाभ्यासात्पुरा तापत्रयमात्रेण शोकिता ॥
पश्चात्त्वभ्यासविस्मारभंगगर्वैश्च शोकिता ॥ १९ ॥

कदाचित् कहो कि वेदशास्त्रका ज्ञान तो शोकका निवर्तक प्रसिद्ध है वह अत्यन्त शोकका हेतु कैसे हो सकता है सो ठीक नहीं क्योंकि वेदके अभ्याससे पहले तो आध्यात्मिक आदि तीनों तापोंका ही दुःख था और वेदाभ्यासके अनंतर तो पठित वेदका अभ्यास करना और विस्मरण (भूलना) और अपनेसे अधिकसे भंग (तिरस्कार) गर्व अर्थात् अपनेसे न्यूनको देखकर अपनेको अधिक समझना इन कारणोंसे नारदको शोक हुआ ॥ १९ ॥

सोऽहं विद्वन्प्रशोचामि शोकपारं नयात्र माम् ॥
इत्युक्तः सुखमेवास्य पारमित्यभ्यधादृषिः ॥ २० ॥

कदाचित् कहो कि इस प्रकार सर्वज्ञ भी नारदको क्यों शोक हुआ सो ठीक नहीं क्योंकि हे 'भगवन् सो मैं शोच करता हूं उस मुझे शोकसे पार करो' इस नारदके वचनसे ही नारदका शोक प्रतीत होता है । इस प्रकार जब शोकनिवृत्तिका उपाय नारद मुनिने पूछा तब सनत्कुमार ऋषिने भूमाशब्दका अर्थ जो सुखरूप ब्रह्म वही शोकका पार कहा अर्थात् सुखको ही जानने योग्य वर्णन किया । भावार्थ यह है कि 'हे भगवन् सो मैं शोच करता हूं इस संसारमें मुझे शोकसे पार करो' इस प्रकार पूछा है जिनको ऐसे सनत्कुमार ऋषि नारदमुनिके प्रति सुखको ही शोकका पार कहते हुए ॥ २० ॥

---

१ यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति । २ सोहं भगवः शोचामि तंमा भगवाञ्शोकस्य पारं तारयतु ।

सुखं वैषयिकं शोकसहस्रेणावृतत्वतः ॥
दुःखमेवेति मत्वाऽऽह नाल्पेऽस्ति सुखमित्यसौ ॥ २१ ॥

कदाचित् कहो कि स्रक् (माला) आदिसे पैदा हुआ सुख बहुत होनेपर अल्पमें सुख नहीं यह नहीं बन सकता है सो ठीक नहीं है क्योंकि विषयोंका जो सुख है वह सहस्रों शोकोंसे युक्त है इससे विष मिले अन्नके समान अनेकदुःखरूप है यह मानकर सनत्कुमारने 'अल्पमें सुख नहीं' ऐसे कहा है ॥ २१ ॥

ननु द्वैते सुखं माभूदद्वैतेऽप्यस्ति नो सुखम् ॥
अस्ति चेदुपलभ्येत तथा च त्रिपुटी भवेत् ॥ २२ ॥

अब द्वैतके विषे सुखके अभावको मानकर अद्वैतमें भी सुख नहीं यह शंका करते हैं कि द्वैतमें तो सुख न हो परंतु अद्वैतमें भी सुख नहीं है क्योंकि यदि सुख होता तो विषयोंके सुखतुल्य प्रतीत होता जिससे प्रतीत नहीं होता इससे नहीं है कदाचित् सुखकी उपलब्धि मानेंगे तो ठीक नहीं क्योंकि अद्वैतमें सुख मानोगे तो त्रिपुटी हो जायगी अर्थात् ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेयके विना सुख नहीं हुआ करता है और तीनोंको मानोगे तो अद्वैतकी हानि हो जायगी। भावार्थ यह है कि द्वैतमें सुख नहीं है तो मत हो अद्वैतमें भी सुख नहीं है यदि होता तो प्रतीत होता और मानोगे तो त्रिपुटी हो जायगी ॥ २२ ॥

मास्त्वद्वैते सुखं किं तु सुखमद्वैतमेव हि ॥
किं मानमिति चेन्नास्ति मानाकांक्षा स्वयंप्रभे ॥ २३ ॥

अब सिद्धांती अद्वैतमें सुखके अभावको अंगीकार करते हैं कि अद्वैतमें सुख मत हो किंतु अद्वैत सुखरूप ही है कदाचित् कहो कि 'अद्वैत सुखरूप' है इसमें क्या प्रमाण है इस पर कहते हैं कि ऐसा मत कहो क्योंकि स्वप्रकाशरूप होनेसे उसमें प्रमाणकी अपेक्षा नहीं है ॥ २३ ॥

स्वप्रभत्वे भवद्वाक्यं मानं यस्माद्भवानिदम् ॥
अद्वैतमभ्युपेत्यास्मिन्सुखं नास्मीति भाषते ॥ २४ ॥

स्वप्रकाशमें क्या प्रमाण है यह शंका करोगे तो आपके ही वचनको प्रमाण कहते हैं कि अद्वैतके स्वप्रकाश होनेमें आपका वचन ही प्रमाण इससे है जिससे आप इस अद्वैतको स्वीकार करके भी इसमें सुख नहीं है इसको कहते हो

अर्थात् अद्वैतको मानकर सुखके अभावकी ही शंका करते हो इससे वह स्वप्रकाश-रूप है ॥ २४ ॥

नाभ्युपैम्यहमद्वैतं तद्वचोऽनूद्य दूषणम् ॥
वच्मीति चेत्तदा ब्रूहि किमासीद्वैततः पुरा ॥ २५ ॥

कदाचित् कहो कि मैं अद्वैतको नहीं मानता किंतु आपके माने अद्वैतका अनुवाद करके दूषण देता हूं इससे स्वप्रकाशकी सिद्धि न होगी सो ठीक नहीं क्योंकि यदि तू ऐसा कहता है तो कह द्वैतसे पूर्व क्या था ॥ २५ ॥

किमद्वैतमुत द्वैतमन्यो वा कोटिरंतिमः ॥
अप्रसिद्धो न द्वितीयोऽनुत्पत्तेः शिष्यतेऽग्रिमः ॥ २६ ॥

किम् शब्दसे सूचित किये विकल्पको दिखाते हैं कि द्वैतसे पूर्व अद्वैत था वा द्वैत था वा अन्य कोई तीसरा था? इन तीनोंमें तीसरा तो अप्रसिद्ध है अर्थात् द्वैत और अद्वैतसे विलक्षणरूप तीसरा लोकमें नहीं देखते हैं और द्वैतसे पूर्व द्वैत पैदा ही नहीं हो सकता इससे दूसरे पक्षको भी नहीं कह सकते इससे प्रथम पक्ष (अद्वैत) ही शेष रहता है इससे आपको स्वीकार करना पड़ेगा कि द्वैतसे पूर्व अद्वैत था ॥२६॥

अद्वैतसिद्धिर्युक्त्यैव नानुभूत्येति चेद्वद ॥
निर्दृष्टांता सदृष्टांता वा कोटयंतरमत्र नो ॥ २७ ॥

कदाचित् कहो कि पूर्वोक्त रीतिसे युक्तिके द्वारा अद्वैत सिद्ध होता है अनुभव (ज्ञान) से नहीं हो सकता सो ठीक नहीं क्योंकि अद्वैतकी सिद्धि युक्तिसे है अनुभवसे नहीं ऐसा कहोगे तो जिसयुक्तिसे अद्वैतकी सिद्धि है वह युक्ति दृष्टांतरहित है वा दृष्टांतसहित है और तीसरी कोटि इसमें हो नहीं सकती अर्थात् ये दो विकल्प ही हो सकते हैं ॥ २७ ॥

नानुभूतिर्न दृष्टांत इति युक्तिस्तु शोभते ॥
सदृष्टांतत्वपक्षे तु दृष्टांतं वद मे मतम् ॥ २८ ॥

पूर्वोक्त विकल्पमें प्रथम पक्षका हँसीसे निराकरण करते हैं कि यह युक्ति तुम्हारी शोभाको प्राप्त होती है कि न अनुभव है, न दृष्टांत है अर्थात् अद्वैतकी सिद्धि युक्तिसे ही की, यह कहते हुए आपने अनुभवको तो माना नहीं और दृष्टांतके विना युक्ति कुछ भी सिद्ध न कर सकेगी इससे दृष्टांत नहीं है यह कहना आपका

अयोग्य है और दृष्टांतको मानता है तो दोनों वादियोंको जो समत हो उस दृष्टांतको कहो ॥ २८ ॥

अद्वैतः प्रलयो द्वैतानुपलंभेन सुप्तिवत् ॥
इति चेत्सुप्तिरद्वैतेत्यत्र दृष्टांतमीरय ॥ २९ ॥

अब पूर्ववादी यह शंका करता है कि दृष्टांतसे ही अद्वैतको सिद्ध करें कि प्रलय अद्वैत होने योग्य है द्वैतकी अनुपलब्धिसे जो जो द्वैतकी अनुपलब्धिमान् है वह द्वैतरहित होता है जैसे स्वाप (सोना) ऐसा कहते हो तो सुप्ति अद्वैत है इसमें दृष्टांत कहो अपनी सुप्ति है वा अन्यकी, अपनी तो इससे नहीं कह सकते कि वह अन्यको प्रतीत नहीं हो सकती उसके लिये अन्य दृष्टांत देना पड़ेगा ॥ २९ ॥

दृष्टांतः परसुप्तिश्चेदहो ते कौशलं महत् ॥
यः स्वसुप्तिं न वेत्त्यस्य परसुप्तौ तु का कथा ॥ ३० ॥

अब दूसरे पक्षमें शंका करते हैं कि यदि तू परकी सुषुप्तिको दृष्टांत कहता है तो तेरी बडी कुशलता है अर्थात् अप्रसिद्ध परसुप्तिको तू दृष्टांत नहीं कह सकता क्योंकि जो आप सुप्तिको अनुभवसे जानने योग्य न मानकर अपनी ही सुषुप्तिको नहीं मानते उन आपको परसुप्तिमें क्या कथा है अर्थात् परसुप्तिका ज्ञान होता है इसमें क्या कहना है अर्थात् नहीं होता है ॥ ३० ॥

निश्चेष्टत्वात्परः सुप्तो यथाऽहमिति चेत्तदा ॥
उदाहर्तुः सुषुप्तेस्ते स्वप्रभत्वं बलाद्भवेत् ॥ ३१ ॥

अनुमानसे परसुप्तिकी सिद्धिके लिये शंका करते हैं कि जैसे चेष्टारहित होनेसे अन्य मनुष्य सुप्त हैं ऐसे ही मैं भी सुप्त हूं, यहां यह अनुमान है कि विवादका आश्रय अन्य सुप्त है प्राणोंसे युक्त होकर चेष्टारहित होनेसे मेरे समान ऐसे पूर्वोक्त अनुमानसे सुप्तिको सिद्ध करोगे तो मेरे प्रति सुषुप्तिको उदाहरण (दृष्टांत) माननेवाले आपके मतमें बलसे अर्थात् सुषुप्तिके उदाहरण देनेसे स्वप्रभत्व (स्वप्रकाशरूप) सुषुप्ति सिद्ध हो जायगी ॥३ १ ॥

नेंद्रियाणि न दृष्टांतस्तथाऽप्यंगीकरोषि ताम् ॥
इदमेव स्वप्रभत्वं यद्भानं साधनैर्विना ॥ ३२ ॥

अब बलसे स्वप्रकाशसिद्धिको ही दिखाते हैं कि न तो उस समय सुषुप्तिकी ग्राहक इंद्रिय हैं क्योंकि वे अपने कारणमें लीन हो चुकीं और परसुप्तिके अप्रसिद्ध होनेसे कोई संप्रतिपन्न (उत्तम) दृष्टांत भी नहीं है तो भी उस सुषुप्तिको आप

मानते हो तो यही ज्ञानके साधनों विना जो भान है वही सुषुप्तिको स्वप्रकाशरूप सिद्ध करता है। यहां यह अनुमान है कि विवादका आश्रय सुषुप्ति स्वप्रकाश है ज्ञानसाधनोंके विना भी प्रकाशमान होनेसे जैसे सांख्यका माना आत्मा और प्राभाकरोंका माना संवेदन (ज्ञान) और शाक्योंका माना आत्मा स्वप्रकाशरूप है। भावार्थ यह है कि इंद्रिय और दृष्टांतोंके न होनेपर भी उक्त सुषुप्तिको तू अंगीकार करता है इससे यही उसकी स्वयंप्रकाश मानता है कि साधनोंके विना पदार्थका भान होना ॥ ३२ ॥

स्तामद्वैतस्वप्रभत्वे वद सुप्तौ सुखं कथम् ॥
शृणु दुःखं तदा नास्ति ततस्ते शिष्यते सुखम् ॥ ३३ ॥

इस प्रकार प्रलयके दृष्टांतरूपसे कही हुई सुषुप्तिको अद्वैत और स्वयंप्रकाशरूप सिद्ध करके सुषुप्तिमें सुखकी सिद्धिके लिये पूर्वपक्षीकी आकांक्षाको कहते हैं कि सुषुप्ति अद्वैत स्वयंप्रकाश रहे परंतु यह कहो कि सुषुप्तिमें सुख कैसे है ? तो इसका उत्तर सुनो कि सुषुप्तिमें सुखका विरोधी दुःख नहीं है इससे तेरे मतमें ही सुख शेष रह जायगा अर्थात् प्रकाश और अंधकारके समान परस्पर विरोध होनेसे दुःखके अभावमें सुख ही मानना पड़ेगा ॥ ३३ ॥

अंधः सन्नप्यनंधः स्याद्विद्धोऽविद्धोऽथ रोग्यपि ॥
अरोगीति श्रुतिः प्राह तच्च सर्वे जना विदुः ॥ ३४ ॥

अब सुषुप्तिमें दुःखके अभावमें श्रुति और अनुभव प्रमाण देते हैं कि जिससे इस जगत्रूप सेतुको तरकर अंध भी अंध नहीं रहता, बाणोंसे विंधा भी विंधा नहीं रहता, रोगी भी रोगरहित हो जाता है इससे हे भगवन् ! यद्यपि यह शरीर अंध है तो भी अनंध हो जाता है यह श्रुति देहके अभिमानसे पैदा हुए अंध आदि दोषोंका सुषुप्तिमें निषेध करती है और व्याधि आदिसे पीडित मनुष्यको भी सुषुप्तिमें व्याधिके दुःखका अनुभव नहीं होता है यह सब जनोंमें प्रसिद्ध है। भावार्थ यह है कि अंध अनंध, विद्ध अविद्ध और रोगी अरोगी हो जाते हैं यह श्रुति कहती है और यह सब जन जानते हैं ॥ ३४ ॥

न दुःखाभावमात्रेण सुखं लोष्टशिलादिषु ॥
द्वयाभावस्य दृष्टत्वादिति चेद्विषमं वचः ॥ ३५ ॥

---

१ तस्माद्वा एतं सेतुं तीर्त्वांधःसन्ननंधो भवति, विद्धः सन्नविद्धो भवति, उपतापी सन्ननुपतापी भवति, यद्यपीदं भगवः शरीरमंधं भवत्यनंधः स भवति ।

कदाचित् कहो कि जहां दुःखका अभाव हो वहां सुख कहोगे तो लोष्ट शिला आदिमें भी सुख हो जायगा इससे केवल दुःखके अभावसे सुखकी कल्पना नहीं कर सकते क्योंकि लोष्ट शिला आदिमें तो सुख दुःख दोनोंका अभाव देखते हैं इससे आपका वचन विषम है अर्थात् दृष्टांत दार्ष्टांतिकका अनुसारी नहीं है ॥ ३५ ॥

मुखदैन्यविकासाभ्यां परदुःखसुखोहनम् ॥
दैन्याद्यभावतो लोष्टे दुःखाद्यूहो न संभवेत् ॥ ३६ ॥

अब दृष्टांतकी अनुकूलताके अभावका ही प्रतिपादन करते हैं कि अन्य मनुष्यके सुख और दुःखका ऊहन (ज्ञान) मुखकी कांति और दीनतासे कर लेते हैं अर्थात् यह सुखी है प्रसन्न मन होनेसे संप्रतिपन्नके समान यह दुःखी है उदासीन मुख होनेसे संप्रतिपन्नके समान इस प्रकार अनुमानसे अन्यके सुख दुःख जाने जाते हैं और लोष्ट, शिला आदिमें दीनता आदिके अभावसे सुख और दुःखका ऊहन नहीं कर सकते हैं इससे वहां दुःखके अभावका भी निश्चय नहीं कर सकते ॥ ३६ ॥

स्वकीये सुखदुःखे तु नोहनीये ततस्तयोः ॥
भावो वेद्योऽनुभूत्यैव तदभावोऽपि नान्यतः ॥ ३७ ॥

अब पराये सुखदुःखोंसे अपने सुखदुःखोंकी विषमता दिखाते हैं कि अपने सुखदुःखोंके तो अनुमान करनेको आवश्यकता नहीं है क्योंकि वे अनुभवसे जाने जाते हैं और जैसे जिस प्रकार उन सुखदुःखोंका भाव (होना) अनुभवसे ही जाना जाता है वैसे ही उन सुख दुःखोंका अभाव भी अन्य जो अनुमान आदि हैं उनसे नहीं जाना जाता किंतु प्रत्यक्षसे ही जाना जाता है ॥ ३७ ॥

तथा सति स्वसुप्तौ च दुःखाभावोनुऽभूतितः ॥
विरोधिदुःखराहित्यात्सुखं निर्विघ्नमिष्यताम् ॥ ३८ ॥

अब फलितका वर्णन करते हैं कि वैसा होनेपर अर्थात् अपने सुख आदिका ज्ञान अनुभवसे होनेपर अपनी सुषुप्तिमें विद्यमान जो दुःखका अभाव है वह भी अनुभवसे ही सिद्ध है इससे अपने विरोधी दुःखसे रहित होनेसे निर्विघ्न सुखको सुषुप्तिमें मानो ॥ ३८ ॥

महत्तरप्रयासेन मृदुशय्यादिसाधनम् ॥
कुतः संपाद्यते सुप्तौ सुखं चेत्तत्र नो भवेत् ॥ ३९ ॥

शय्या आदि साधनोंकी अन्यथा अनुपपत्तिसे भी सुषुप्तिमें सुखको दिखाते हैं कि यदि सुषुप्तिमें सुख न होता तो बडे प्रयाससे अर्थात् द्रव्यका व्यय, शरीर-पीडा, आदिसे कोमलशय्या, मंच आदिका संपादन (संचय) जो सुखका साधन है उसको क्यों करते हैं इससे प्रतीत होता है कि सुषुप्तिमें सुख है ॥ ३९ ॥

दुःखनाशार्थमेवैतदिति चेद्रोगिणस्तथा ॥
भवत्वरोगिणस्त्वेतत्सुखायैवेति निश्चिनु ॥ ४० ॥

अब, अर्थापत्तिकी अन्यथा उपपत्तिकी शंका करते हैं कि कदाचित् कहो कि दुःखके नाशके लिये ही कोमलशय्या आदिका संपादन है सो ठीक नहीं क्योंकि रोग आदि दुःखकी निवृत्तिके लिये जो रोगी मनुष्यके अर्थ शय्या आदिका संपादन है वह दुःखनिवृत्तिके लिये हो तो हो परन्तु जो रोगी नहीं है उसका शय्या आदिका जो संपादन है वह तो केवल सुखके लिये ही है यह प्रतीत होता है इससे सुषुप्तिमें सुखका निश्चय है ॥ ४० ॥

तर्हि साधनजन्यत्वात्सुखं वैषयिकं भवेत् ॥
भवत्वेवात्र निद्रायाः पूर्वं शय्यासनादिजम् ॥ ४१ ॥

कदाचित् कहो कि सुषुप्तिके सुखकी साधनोंसे उत्पत्ति मानोगे तो आत्मारूप वह सुख न होगा सो ठीक नहीं क्योंकि साधनोंसे जन्य (उत्पन्न) होनेसे विषयोंका सुख हो जायगा यह जो तुम कहते हो सो निद्रासे पहले सुखकी कहते हो वा निद्राके अनंतरकालके सुखको कहते हो यह विकल्प करके प्रथमको स्वीकार करते हैं कि निद्रासे पूर्वतो शय्या आसन आदि सुख होता ही है ॥ ४१ ॥

निद्रायां तु सुखं यत्तज्जन्यते केन हेतुना ॥
सुखाभिमुखधीरादौ पश्चान्मज्जेत्परे सुखे ॥ ४२ ॥

अब दूसरेका खंडन करते हैं कि सुषुप्तिमें तो शय्या आदिका अनुसंधान ही नहीं रहता इससे शय्या आदिसे उत्पन्न वह सुख नहीं हो सकता अर्थात् उसके पैदा करनेवाला कोई हेतु ही नहीं है। कदाचित् कहो कि यदि निद्रामें जो सुख है वह किसीसे उत्पन्न नहीं है तो वह विषयसुखके समान प्रतीत क्यों नहीं होता सो ठीक नहीं क्योंकि उस समय उसका ज्ञाता सुखमें निमग्न (डूबा) है इससे विषयसुखके समान उसका ज्ञान नहीं होता कि प्रथम निद्रासे पूर्वकालमें जीवकी बुद्धि शय्या आसन आदिका जो सुख उसके अभिमुख रहती है और पीछे निद्राके समयमें परम जो आत्मारूप सुख है उसमें जीव लीन हो जाता है अर्थात् उसको

शय्या आदिका अनुसंधान नहीं रहता है भावार्थ यह है कि निद्रामें सुख किस हेतुसे पैदा हो सकता है अर्थात् कारणके अभावसे नहीं है किंतु निद्रासे पूर्वसुखके अभिमुख जीव निद्रामें परमसुखमें लीन हो जाता है ॥ ४२ ॥

जाग्रद्व्यावृत्तिभिः श्रांतो विश्रम्याथ विरोधिनि ॥
अपनीते स्वस्थचित्तोऽनुभवेद्विषये सुखम् ॥ ४३ ॥

अब संक्षेपसे पूर्वोक्त अर्थका तीन श्लोकोंसे विवरण करते हैं कि जाग्रत् अवस्थामें किये व्यापारोंसे श्रांत (थका) जीव कोमल शय्या आदिके विषे विश्राम (शयन) को करके फिर व्यापारोंसे उत्पन्न हुआ जो विरोधी दुःख है उसकी निवृत्ति होनेपर स्वस्थचित्त होकर शय्या आदिके विषय पैदा हुए विषयसुखका अनुभव करता है अर्थात् जानता है ॥ ४३ ॥

आत्माभिमुखधीवृत्तौ स्वानंदः प्रतिबिंबति ॥
अनुभूयैनमत्रापि त्रिपुट्या श्रांतिमाप्नुयात् ॥ ४४ ॥

अब विषय सुखके स्वरूपको दिखाते हुए परमसुखमें डूबनेका निमित्त होनेसे उसके ज्ञानमें भी श्रमको दिखाते हैं कि आत्माके अभिमुख जो बुद्धिकी वृत्ति है उसमें आत्मरूप आनंदका प्रतिबिंब पडता है अर्थात् नहीं प्राप्त हुए विषयके संपादन आदिसे दुःखको मानकर उसकी निवृत्तिके लिये मृदु शय्या आदिपर सोते हुए मनुष्यकी बुद्धि अंतर्मुख हो जाती है, उस बुद्धिकी वृत्तिमें अपना स्वरूप जो आनंद उसका प्रतिबिंब इस प्रकार पड़ता है जैसे अपने संमुख दर्पणमें अपना पड़ता है यही विषयानंद कहाता है और उस समयमें भी इस विषयानंदका अनुभव करके त्रिपुटीसे जीव श्रांति (श्रम) को प्राप्त होता है अर्थात् ज्ञाता–ज्ञान–ज्ञेय–इन तीनोंके परिश्रमको प्राप्त होता है भावार्थ यह है कि आत्माके अभिमुख जो बुद्धिकी वृत्ति उसमें अपने आनंदका प्रतिबिंब पडता है और वहां भी विषयसुखको जानकर जीव त्रिपुटीके परिश्रमको मानता है ॥ ४४ ॥

तच्छ्रमस्यापनुत्त्यर्थं जीवो धावेत्परात्मनि ॥
तेनैक्यं प्राप्य तत्रत्यो ब्रह्मानंदः स्वयं भवेत् ॥ ४५ ॥

फिर उसी परिश्रमके दूर करनेके लिये अर्थात् त्रिपुटीसे पैदा हुए दुःखकी शांतिके लिये जीव परमात्माकी तरफ दौडता है अर्थात् आनंदरूप ब्रह्मके अभिमुख होता है फिर उस ब्रह्मके संग एकरूपको प्राप्त होकर आप भी वहां (सुषुप्तिमें)

स्थित होकर ब्रह्मानंदरूप हो जाता है क्योंकि श्रुतिमें लिखा है कि ' हे सौम्य ! उस समय सत् (ब्रह्म) के संग संपन्न हो जाता है अर्थात् सत्में मिल जाता है' ॥ ४५ ॥

दृष्टांताः शकुनिः श्येनः कुमारश्च महानृपः ॥
महाब्राह्मण इत्येते सुप्त्यानंदे श्रुतीरिताः ॥ ४६ ॥

इस सुषुप्तिके आनंदमें श्रुतियोंमें कहे हुए शकुनि, श्येन, कुमार, महानृप और महाब्राह्मण ये दृष्टांत हैं अर्थात् शकुनि आदिकोंने सुषुप्तिके आनंदको देखा है इससे सुषुप्तिमें सुख नहीं है यह मत ठीक नहीं है ॥ ४६ ॥

शकुनिः सूत्रबद्धः सन् दिक्षु व्यापृत्य विश्रमम् ॥
अलब्ध्वा बंधनस्थानं हस्तस्तंभाद्युपाश्रयेत् ॥४७॥

उन दृष्टांतोंमें प्रथम उस शकुनि (पक्षी) को दो श्लोकोंसे दिखाते हैं जो इस छांदोग्य श्रुतिमें कहा है कि 'जैसे हाथ आदिके मध्यमें सूतसे बंधा हुआ पक्षी उस २ दिशामें उडकर और वहां आश्रयको प्राप्त न होकर अपने बंधनका स्थान जो हाथ और स्तंभ आदि हैं उसका ही आश्रको लेता है इसी प्रकार हे सौम्य ! यह मन दिशा २ में जाकर और वहां आश्रयको न पाकर अपने बंधन प्राणका ही आश्रय लेता है क्योंकि हे सौम्य ! इस मनका बंधन प्राण है अर्थात् हाथ आदिके विषयका ही आधारसूत्रसे बंधा हुआ पक्षी भोजनके ग्रहणार्थ पूर्व आदि दिशाओंमें उडकर और वहां आधारको प्राप्त न होकर अपने बंधनके स्थानको ही जिस प्रकार प्राप्त होता है ॥ ४७ ॥

जीवोपाधिमनस्तद्वद्धर्माधर्मफलाप्तये ॥
स्वप्ने जाग्रति च भ्रांत्वा क्षीणे कर्मणि लीयते ॥ ४८ ॥

उसी प्रकार जीवका उपाधिरूप मन भी पुण्य पापके फलरूप जो सुख दुःख हैं उनके अनुभवके लिये स्वप्न और जाग्रत् अवस्थाओंके विषे वहां २ भ्रम कर और भोगके दाता कर्मके नाश होनेपर अपना उपादानकारण जो अज्ञान है उसमें लीन हो जाता है और मनके लय होनेसे मन है उपाधि जिसकी ऐसा जीव परमात्मा ही हो जाता है ॥ ४८ ॥

---

१ सता सौम्य तदा संपन्नो भवति । २ तत्र तावत्स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं तित्वाऽन्यत्रायतनमलब्ध्वा बंधनमेवोपाश्रयते एवमेव खलु सौम्य तन्मनो दिशं दिशं पतित्वाऽन्यत्रायतनमलब्ध्वा प्राणमेवोपश्रायते प्राणबंधनं हि सौम्य मनः ।

श्येनो वेगेन नीडैकलंपटः शयितुं व्रजेत ॥
जीवः सुप्त्यै तथा धावेद्ब्रह्मानंदैकलंपटः ॥ ४९ ॥

अब श्येनके दृष्टांतका जिसमें विस्तारसे वर्णन है उस बृहदारण्यके वाक्यका संक्षेपसे अर्थ कहते हैं कि जैसे इस आकाशमें श्येन वा सुवर्ण (गरुड) पक्षी जहां तहां भ्रमकर और थकनेके अनंतर अपने पक्षोंको सिकोडकर अपने आलय (घोंसला) के विषे ही आजाता है इसी प्रकार यह पुरुष भी उस आनंदके लिये दौडता है जहां शयन करके किसी भी कामनाको नहीं करता और न किसी स्वप्नको देखता है। भावार्थ यह है कि जैसे आकाशमें सर्वत्र विचरता हुआ श्येन (बाज) नामका पक्षी आकाशके गमनमें जो श्रम उसके दूर करनेके लिये शयन करनेके लिये अपने एक नीड (घोंसले) का ही अभिलाषी शीघ्र अपने नीडमें ही गमन करता है वैसे ही मन है उपाधि जिसकी ऐसा जीव, एक ब्रह्मानंदका अभिलाषी ही होकर शयनके लिये शीघ्र हृदयआकाशमें गमन करता है ॥ ४९ ॥

अतिबालः स्तनं पीत्वा मृदुशय्यागतो हसन् ॥
रागद्वेषाद्यनुत्पत्तेरानंदैकस्वभावभाक् ॥ ५० ॥

अब कुमार, महाराज, महाब्राह्मण ये तीनों जैसे आनंदकी सीमा (अवधि) को प्राप्त होकर शयन करते हैं ऐसे ही यह जीव भी सुषुप्तिमें शयन करता है यह बात बालाकि ब्राह्मणका जो वाक्य है उसके तात्पर्यको कहकर तीन श्लोकोंसे कहते हैं कि जैसे अत्यंत छोटा बालक अपने कंठतक स्तनपान करानेके अनंतर कोमल शय्या पर सुलाया वह अपने पराये आदिके ज्ञानसे रहित हुआ सुखकी मूर्ति होकर-टिकता है ॥ ५० ॥

महाराजः सार्वभौमः संतृप्तः सर्वभोगतः ॥
मानुषानंदसीमानं प्राप्यानंदैकमूर्तिभाक् ॥ ५१ ॥

और जैसे महाराज चक्रवर्ती राजा निर्मल बुद्धिके न होनेपर भी संपूर्ण जो मनुष्योंके आनंद हैं उनसे युक्त होनेसे किसी पदार्थकी भी प्रार्थनाके अभावसे अर्थात् लौकिक आनंदकी अवधिको प्राप्त होकर केवल आनंद मूर्ति होकर टिकता है ॥ ५१ ॥

---

१ तद्यथास्मिन्नाकाशे श्येनो वा सुपर्णो वा विपरिपत्य श्रांतः संहत्य पक्षौ स्वालयायैव ध्रियते एवमेवायं पुरुष एतस्मा आनंदाय धावति यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति । २ स यथा कुमारो वा महाराजो वा महाब्राह्मणो वाऽतिघ्नीमानंदस्य गत्वा शयीतैवमेवैष एतच्छेते ।

महाविप्रो ब्रह्मवेदी कृतकृत्यत्वलक्षणाम् ॥
विद्यानंदस्य परमां काष्ठां प्राप्यावतिष्ठते ॥ ९२ ॥

और जैसे ब्रह्मज्ञानी महाब्राह्मण अर्थात् प्रत्यक् (जीव) से अभिन्न ब्रह्मका साक्षात् ज्ञाता श्रेष्ठ ब्राह्मण मैं कृतार्थ हूं इस विद्याके आनंदकी परम सीमाको अर्थात् जीवन्मुक्तिको प्राप्त होकर परमानंदरूप ही टिकता है वैसे ही सुप्त (सोया) मनुष्य भी आनंदरूप ही टिकता है ॥ ९२ ॥

मुग्धबुद्धातिबुद्धानां लोके सिद्धा सुखात्मता ॥
उदाहृतानामन्ये तु दुःखिनो न सुखात्मकाः ॥ ९३ ॥

कदाचित् कहो कि ये कुमार आदि तीनों ही दृष्टांत क्यों दिये अन्य भी क्यों न दिये इस शंकाके दूर करनेके लिये तीनों दृष्टांतोंके उदाहरणके तात्पर्यको कहते हैं कि विवेकसे शून्य मुग्ध (बालक) जो है वह मुग्धोंमें और विवेकियोंमें सार्वभौम और अत्यंत विवेकियोंमें आनंदरूप ब्रह्मका ज्ञाता सुखी है और इनसे जो अन्य हैं वे सब कालमें राग द्वेष आदिसे युक्त होनेसे दुःखी हैं इससे येही दृष्टांत दिये हैं ॥ ९३ ॥

कुमारादिवदेवायं ब्रह्मानंदैकतत्परः ॥
स्त्रीपरिष्वक्तवन्नेद न बाह्यं नापि चांतरम् ॥ ९४ ॥

कदाचित् कहो कि ये पूर्वोक्त तीनों सुखी रहें प्रकरणमें क्या आया यह शंका करके दृष्टांतके बोधक श्रुतिके वाक्यका जो तात्पर्य उसको कहते हैं कि जैसे पूर्वोक्त कुमार आदि तीनों आनंदके भागी हैं इसी प्रकार यह सुषुप्तिमें स्थित मनुष्य भी एक ब्रह्मानंदमें तत्पर (आसक्त) हुआ स्त्रीसे आलिंगन है जिसका ऐसा कामी पुरुषके जैसे बाह्य और भीतरके विषयोंके ज्ञानसे शून्य होनेसे सुखमूर्ति होता है वैसे ही सुषुप्तिमें प्राज्ञ परमात्माके संग एक भावको प्राप्त हुआ जीव भी बाह्य भीतरके विषयोंके ज्ञानके अभावसे आनंदरूप ही होता है सोई इस ज्योतिर्ब्राह्मणमें कहा है कि जैसे प्यारी स्त्रीसे संयुक्त मनुष्य बाह्य आभ्यंतर कुछ नहीं जानता इसी प्रकार प्राज्ञ आत्मासे संयुक्त यह पुरुष भी बाह्य आंतर कुछ नहीं जानता ॥ ९४ ॥

बाह्यं रथ्यादिकं वृत्तं गृहकृत्यं यथांतरम् ॥
तथा जागरणं बाह्यं नाडीस्थः स्वप्न आंतरः ॥ ९५ ॥

---

१ तद्यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नांतरमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नांतरम् ।

अब दृष्टांत और दार्ष्टांतिक दोनोंमे बाह्य आभ्यंतर शब्दके अर्थोंको दिखाते हैं कि जैसे रथ्या (गली) आदिका जो वृत्तांत है वह बाह्य और घरका जो कृत्य है वह आंतर है इसी प्रकार जागरण बाह्य है और जाग्रत् अवस्थाकी वासनासे नाडीके मध्यमें प्रतीत हुआ जो स्वप्न है वह आंतर है ॥ ९५ ॥

पितापि सुप्तावपितेत्यादौ जीवत्ववारणात् ॥
सुप्तौ ब्रह्मैव नो जीवः संसारित्वासमीक्षणात् ॥ ९६ ॥

अब जीव सुप्तिमें ब्रह्मानंदरूप टिकता है इसमें युक्तिकी बोधक इस श्रुतिके तात्पर्यको कहते हैं कि इस सुषुप्तिमें पिता भी पिता नहीं रहता अर्थात् अध्यास किये (माने) जो पितृत्व आदि जीवके धर्म हैं उनकी निवृत्ति होनेसे जीवभावकी भी प्रतीतिके न होनेसे और मैं संसारी हूं इसके भी अदर्शनसे जीव ब्रह्म ही है जीव नहीं है ॥ ९६ ॥

पितृत्वाद्यभिमानो यः सुखदुःखाकरः स हि ॥
तस्मिन्नपगते तीर्णः सर्वाञ्छोकान्भवत्ययम् ॥ ९७ ॥

कदाचित् कहो कि पितृत्व आदि अभिमानके अभावमें भी मैं सुखी हूं इत्यादि संसार क्यों न हो जाय सो ठीक नहीं क्यों कि संसारका मूल देहाभिमान है उसके अभावमें संसारका भी अभाव मानते हुए आचार्य पूर्वोक्तसे आग्रम इस वाक्यके तात्पर्यको कहत हैं कि पिता आदिका जो अभिमान है वह सुख दुःखका आकर है, उस अभिमानके नाश होने पर यह जीव हृदयके संपूर्ण शोकोंको तरता है ॥ ९७ ॥

सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमसाऽऽवृतः ॥
सुखरूपमुपैतीति ब्रूते ह्याथर्वणी श्रुतिः ॥ ९८ ॥

कदाचित् कहो कि पूर्वोक्त श्रुतियोंने सुप्तसे सुखकी प्राप्ति नहीं कही यह शंका करके जिसमें सुखकी प्राप्ति कही है ऐस श्रुतिवाक्यके अर्थको पढते हैं कि सुषुप्तिके समयमें जब जाग्रत् आदिरूप प्रपंचका अपनी उपादानरूप तमोगुणी प्रकृतिमें लय हो जाता है तब उस तमोगुणी प्रकृतिसे आच्छादित जीव सुखरूप ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है यह अथर्वण वेदकी श्रुतिका अर्थ है ॥ ९८ ॥

सुखमस्वाप्समत्राहं न वै किंचिदवेदिषम् ॥
इति सुप्ते सुखज्ञाने परामृशति चोत्थितः ॥ ९९ ॥

---

१ अत्र पिताऽभवति । २ तीर्णोहि तदा सर्वाञ्शोकान् हृदयस्य भवति ।

केवल यह बात श्रुतिसिद्ध ही नहीं किंतु सबके अनुभव सिद्ध भी है कि सुषुप्तिसे उठा पुरुष यह स्मरण सुषुप्तिक सुखका जो ज्ञान उसका करता है कि इतने कालतक मैं सुखसे सोया मैंने कुछ नहीं जाना इससे भी प्रतीत है कि सुषुप्तिमें सुख है ॥ ५९ ॥

परामर्शोऽनुभूतेऽस्तीत्यासीदनुभवस्तदा ॥
चिदात्मत्वात्स्वतो भाति सुखमज्ञानधीस्ततः ॥ ६० ॥

कदाचित् कहो कि परामर्श अप्रमाण है तो कैसे उसके बलसे सुखकी सिद्धि होगी सो ठीक नहीं क्योंकि परामर्श अप्रमाण रहे उस परामर्श (स्मरण) का मूल जो अनुभव उसके बलसे सुखकी सिद्धिको दिखाते हैं कि स्मरण उसी विषयका होता है जिस विषयका अनुभव हुआ हो अन्यथा नहीं इससे सुषुप्तिमें अनुभव था यह जाना जाता है कदाचित् कहो कि सुषुप्तिमें मनसहित ज्ञान इंद्रियोंका लय होनेसे कैसे अनुभव सिद्ध होगा इस शंकामें यह विकल्प है कि सुखके अनुभवका साधन नहीं यह कहते हो वह अज्ञानके अनुभवका साधन नहीं यह कहते हो इन दोनोंमें प्रथम तो नहीं कह सकते क्योंकि स्वप्रकाश चित्स्वरूप सुखको इंद्रियोंकी अपेक्षा नहीं है दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं क्योंकि स्वप्रकाशरूप सुखके बलसे ही उसके आवरण (ढकना) करनेवाले अज्ञानका प्रतीति हो जायगा इस अभिप्रायसे कहते हैं कि उस स्वप्रकाशरूप सुखसे अज्ञानका ज्ञान सुषुप्तिमें होता है । भावार्थ यह है कि अनुभव किये पदार्थका स्मरण हुआ करता है इससे सुषुप्तिमें अनुभव है और चित्रूप सुखका भान स्वतः (आप ही) होता है और उस सुखसे अज्ञानका ज्ञान होता है ॥ ६० ॥

ब्रह्म विज्ञानमानंदमिति वाजसनेयिनः ॥
पठंत्यतः स्वप्रकाशं सुखं ब्रह्मैव नेतरत् ॥ ६१ ॥

कदाचित् कहो कि सुषुप्तिका सुख स्वप्रकाश रहे पूर्व जो कहा है कि स्वयं ब्रह्मानंद हो जाता है सो ब्रह्मरूप न होगा सो ठीक नहीं क्योंकि विज्ञान आनंदरूप ब्रह्म है यह वाजसनेयी कहते हैं इससे स्वप्रकाश सुखरूप ब्रह्म है अन्य नहीं है॥६१॥

यदज्ञानं तत्र लीनौ तौ विज्ञानमनोमयौ ॥
तयोर्हि विलयावस्था निद्राऽज्ञानं च सैव हि ॥ ६२ ॥

कदाचित् कहो कि अनुभव और स्मरणका अधिकरण एक ही होता है अर्थात् जिसको अनुभव होता है उसीको स्मरण होता है इस नियमसे, मैं सुखसे सोया, कुछ ज्ञान न रहा यह जो सुषुप्तिके सुख और अज्ञानका विज्ञानमय नामके

जीवको स्मरण हुआ है तो उस जीवको ही सुख आदिका अनुभव भी कहना चाहिये सो ठीक नहीं क्योंकि अज्ञानका कार्य जो विज्ञान है वह अज्ञानमें लीन होगया इस अभिप्रायसे कहते हैं कि मैंने कुछ नहीं जाना यह जो प्रातःकाल उठे पुरुषको अज्ञानका स्मरण होता है उससे अनुमान किया जो सुषुप्तिकालका अज्ञान है उसी अज्ञानमें प्रमाता प्रमाणरूपसे प्रसिद्ध जो विज्ञान और मनोमय है वे दोनों लीन हो जाते हैं अर्थात् विज्ञान आदि आकारको छोड़कर अपने कारणरूप (अज्ञान) से स्थित हो जाते हैं इससे विज्ञानोपाधि जो जीव है उसको अनुभव नहीं हो सकता है क्योंकि उन विज्ञान और मनोमयोंकी जो विलय अवस्था है उसको ही निद्रा कहते हैं, वही कहा है कि विज्ञानकी जो विरति (अभाव) उसको ही सुषुप्ति कहते हैं कदाचित् कहो कि निद्रामें लीन हो जाते हैं ऐसा ही क्यों नहीं कहते हो सो ठीक नहीं क्योंकि उसी निद्राको बुद्धिमान् मनुष्य अज्ञान कहते हैं। भावार्थ यह है कि जो अज्ञान है उसमें विज्ञान और मनोमय दोनों लीन हो जाते हैं और उन दोनोंकी विलय अवस्थाको निद्रा कहते हैं और वही निद्रा अज्ञान कहाती है ॥ ६२ ॥

विलीनघृतवत्पश्चात्स्याद्विज्ञानमयो घनः ॥
विलीनावस्थ आनंदमयशब्देन कथ्यते ॥ ६३ ॥

कदाचित् कहो कि जो विज्ञानमय सुषुप्तिकालके सुखके अनुभवके समयमें न था वह प्रातःकाल जाग्रत्के समयमें उसके स्मरणका कर्ता कैसे होगा सो ठीक नहीं कि विलय अवस्थामें भी उसके स्वरूपका नाश नहीं होता इससे विलय अवस्थारूप उपाधिवाला जो आनंदमय है उसको तो उक्त सुखका अनुभव होता है और विज्ञानमय नामकी जो सघन (दृढ) उपाधि है उस वालेको स्मरण होता है इससे अनुभव और स्मरण एकमें घटते हैं इस अभिप्रायसे कहते हैं कि जैसे अग्निके संयोग आदिसे विलीन (द्रव वा तपा) घृत पीछे वायु आदिके संबंधसे घन होजाता है इसी प्रकार जाग्रत् आदि अवस्थाओंमें भोगके दाता कर्मोंके नाश होनेसे निद्रारूपसे लयको प्राप्त हुआ अंतःकरण भी फिर प्रातःकाल जागरणके समय भोगके दाता कर्मके वश होकर विज्ञानके आकारसे घन हो जाता है इससे विज्ञान है उपाधि जिसकी ऐसा विज्ञानमय आत्मा भी घन होता है और उसकी ही जब विलय अवस्था उपाधि होती है तब वही आनंदमय कहलाता है। भावार्थ यह है कि विलीन घृतके समान पीछेसे विज्ञानमय घन हो जाता है और विलीन जिसकी अवस्था है उसको आनंदमय कहते हैं ॥ ६३ ॥

१ विज्ञानविरतिः सुप्तिः।

सुप्तिपूर्वक्षणे बुद्धिवृत्तिर्या सुखबिंबिता ॥
सैव तद्बिंबसहिता लीनानंदमयस्ततः ॥ ६४ ॥

अब विलीन अवस्थावालेको ही आनंदमय कहते हैं इसको ही स्पष्ट करते हैं कि सुषुप्तिके पूर्वले क्षणमें सुखका है प्रतिबिंब जिसमें ऐसी जो बुद्धिकी वृत्ति है फिर वही स्वरूपभूत सुखके प्रतिबिंबसे सहित हुई निद्रारूपसे विलीन आनंदमय कहाती है ॥ ६४ ॥

अंतर्मुखो य आनंदमयो ब्रह्मसुखं तदा ॥
भुंक्त चिद्बिंबयुक्ताभिरज्ञानोत्पन्नवृत्तिभिः ॥ ६५ ॥

इस प्रकार आनंदमयके स्वरूपको दिखाकर उसको ही जागरणके समयमें विज्ञानरूप होकर स्मरण होनेके लिये उस समय सुखके अनुभवको कहते हैं कि सुखके प्रतिबिंब सहित जो अंतर्मुख, बुद्धिकी वृत्ति उससे पैदा हुए संस्कारोंसे युक्त जो अज्ञानोपाधि आनंदमय है वह सुषुप्तिके समयमें अपने स्वरूपभूत ब्रह्मसुखको चिदाभाससे युक्त जो अज्ञानसे पैदा हुई सुख आदि हैं विषय जिनके ऐसी वृत्ति हैं उन वृत्तियोंसे अर्थात् सत्त्वगुणके परिणामविशेषोंसे भोगता है । भावार्थ-यह है कि अंतर्मुख जो आनंदमय है वह सुषुप्तिमें चिदाभासके प्रतिबिंबसे युक्त और अज्ञानसे उत्पन्न वृत्तियोंसे ब्रह्मसुखको भोगता है ॥ ६५ ॥

अज्ञानवृत्तयः सूक्ष्मा विस्पष्टा बुद्धिवृत्तयः ॥
इति वेदांतसिद्धांतपारगाः प्रवदंति हि ॥ ६६ ॥

कदाचित् कहो कि जाग्रत् अवस्थाके समान सुषुप्तिमें भी मैं सुखको जानता हूं यह अभिमान क्यों नहीं होता सो ठीक नहीं क्योंकि अज्ञानकी जो वृत्ति हैं वे सूक्ष्म होनेसे स्पष्ट नहीं हैं और बुद्धिकी जो वृत्ति हैं वे स्पष्ट हैं यह वेदांतके पारगामी आचार्य कहते हैं ॥ ६६ ॥

मांडूक्यतापनीयादिश्रुतिष्वेतदतिस्फुटम् ॥
आनंदमयभोक्तृत्वं ब्रह्मानंदे च भोग्यता ॥ ६७ ॥

अब आनंदमय सूक्ष्म अविद्याकी वृत्तियोंसे ब्रह्मानंदको भोगता है इसमें प्रमाणको कहते हैं कि मांडूक्य और तापनीय आदिकी श्रुतियोंमें यह अत्यंत स्फुट है कि आनंदमय भोक्ता है और ब्रह्मानंद भोग्य है ॥ ६७ ॥

एकीभूतः सुषुप्तिस्थः प्रज्ञानघनतां गतः ॥
आनंदमय आनंदभुक्चेतोमयवृत्तिभिः ॥ ६८ ॥

अब सुषुप्तिमें टिका अर्थात् सुषुप्तिका अभिमानी प्रज्ञानघनके भावको प्राप्त हुआ आनंदमय(अत्यंत आनंदरूप) चेतनमुख और एकरूप होकर आनंदको भोगता है इस मांडूक्य आदिकी श्रुतिके वाक्यका अर्थ पढते हैं कि एकरूपको प्राप्त हुआ सुषुप्तिमें स्थित प्रज्ञानघनताको प्राप्त हुआ आनंदमय चेतनके प्रतिबिंबसे युक्त वृत्तियोंसे आनंदका भोक्ता है ॥ ६८ ॥

विज्ञानमयमुख्यैर्यो रूपैर्युक्तः पुराधुना ॥
स लयेनैकतां प्राप्तो बहुतंदुलपिष्टवत् ॥ ६९ ॥

अब पूर्वोक्तश्रुतिमें जो एकीभूत पद है उसके अर्थको कहते हैं कि जो आत्मा पहले अर्थात् जाग्रत् अवस्थामें विज्ञानमय है मुख्य जिनमें ऐसे रूपोंसे युक्त रहा वही अब विज्ञान मन आदि उपाधियोंके लय (नाश) से एकताको प्राप्त इस प्रकार हो जाता है जैसे अनेक तंडुलोंका चूर्ण और इस श्रुतिमें भी लिखा है कि वह यह आत्मा ब्रह्म है जो विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय, चक्षुर्मय, श्रोत्रमय, पृथिवीमय, जलमय, वायुमय, आकाशमय, तेजोमय, अतेजोमय, काममय, अकाममय, क्रोधमय, अक्रोधमय है ॥ ६९ ॥

प्रज्ञानानि पुरा बुद्धिवृत्तयोऽथ घनोऽभवत् ॥
घनत्वं हिमबिंदूनामुदग्देशे यथा तथा ॥ ७० ॥

अब प्रज्ञानघन शब्दके अर्थको कहते हैं कि सुषुप्तिसे पूर्व जाग्रत् आदि अवस्थाओंमें जो प्रज्ञाननामकी बुद्धिकी वृत्तियां रहीं वे ही सुषुप्तिके समयमें घट आदि विषयोंके अभाव होनेसे घन होता भया अर्थात् चित्रूपके संग ऐसे एकरूप हो गया जैसे उत्तर दिशा (हिमालय) में हिमकी बिंदु घन (कठिन) हो जाती हैं ॥ ७० ॥

तद्घनत्वं साक्षिभावं दुःखाभावं प्रचक्षते ॥
लौकिकास्तार्किका यावद्दुःखवृत्तिविलोपनात् ॥ ७१ ॥

---

१ सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानंदमयो ह्यानंदभुक् चेतोमुखः । २ स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः पृथिवीमय आपोमयो वायुमय आकाशमयस्तेजोमयोऽतेजोमयः काममयोऽकाममयः क्रोधमयोऽक्रोधमयः ।

अब अज्ञानशब्दका जो अर्थ उसके निरूपणके प्रसंगसे कुछ कहते हैं कि जो यह वेदांतोंमें साक्षीरूप कहा अज्ञानघन है उसको ही शास्त्रके संस्कारसे रहित लौकिक मनुष्य और तार्किक आदि शास्त्रीय मनुष्य दुःखाभाव कहते हैं क्योंकि जितनी दुःखकी वृत्ति हैं उन सबका उससे लय हो जाता है ॥ ७१ ॥

अज्ञानबिंबिता चित्स्यान्मुखमानंदभोजने ॥
भुक्तं ब्रह्मसुखं त्यक्त्वा बहिर्यात्यथ कर्मणा ॥ ७२ ॥

अब पूर्वोक्त श्रुतिवाक्यके चेतोमुख शब्दका अर्थ कहते हैं कि आनंदके भोगमें अर्थात् सुषुप्तिकालका जो आनंद उसके स्वाद लेनेमें अज्ञानमें है प्रतिबिंब जिसका ऐसा चैतन्य हेतु है। कदाचित् कहो कि सुषुप्तिमें आनन्दमयरूप होकर जीव ब्रह्मसुखको भोगता है तो ब्रह्मसुखको त्यागकर बाहर दुःखके स्थानरूप जागरणमें क्यों आता है सो ठीक नहीं क्योंकि पुण्य और पापकी पाशमें बंधा हुआ जीव उसी कर्मकी प्रेरणासे साक्षात् किये भी ब्रह्मसुखको त्यागकर बाहर ही आता है अर्थात् जाग्रत् आदि अवस्थाओंको प्राप्त होता है। भावार्थ यह है कि अज्ञानमें प्रतिबिंबित चित् आनन्दके भोगमें हेतु है और कर्मके अनुसार भोगे हुए ब्रह्मसुखको त्यागकर फिर बाहर आ जाता है ॥ ७२ ॥

कर्म जन्मांतरेऽभूद्यत्तद्योगाद्बुध्यते पुनः ॥
इति कैवल्यशाखायां कर्मजो बोध ईरितः ॥ ७३ ॥

यह किससे प्रतीत होता है यह शंका करके इस कैवल्यश्रुतिके वाक्यके अर्थको पढते हैं कि फिर जन्मांतरमें जो कर्म किया था उसके योगसे फिर बोध (ज्ञान) को प्राप्त होकर सोता है इस प्रकार कैवल्यशाखामें कर्मसे उत्पन्न बोध कहा है ॥ ७३ ॥

कंचित्कालं प्रबुद्धस्य ब्रह्मानंदस्य वासना ॥
अनुगच्छेद्यतस्तूष्णीमास्ते निर्विषयः सुखी ॥ ७४ ॥

अब इसमें प्रमाण कहते हैं कि सुषुप्तिमें ब्रह्मानंदका अनुभव हुआ था क्योंकि प्रबुद्ध (जगे) मनुष्यकी अल्पकालपर्यंत सुषुप्तिमें अनुभूत (भोगे) ब्रह्मानंदकी वासना (संस्कार) अनुगमन करती है अर्थात् चली जाती है क्योंकि जिस कारण प्रबोध होनेपर विषयके अनुभव रहित भी सुखी हुआ चुपचाप बैठा रहता है इससे प्रतीत होता है कि सुषुप्तिमें ब्रह्मानंदका अनुभव हुआ था ७४ ॥

पुनश्च जन्मांतरकर्मयोगात्स एव जीवः स्वपिति प्रबुद्धः ।

कर्मभिः प्रेरितः पश्चान्नानादुःखानि भावयन् ॥
शनैर्विस्मरति ब्रह्मानंदमेषोऽखिलो जनः ॥ ७५ ॥

कदाचित् कहो कि सब काल तूष्णीं क्यों नहीं रहता सो ठीक नहीं क्योंकि पूर्वोक्त कर्मोंके प्रेरे हुए संपूर्ण जन फिर दुःखोंकी भावना करते हुए शनैः २ ब्रह्मानंदको भूल जाते हैं अर्थात् उनको सब काल ब्रह्मानंदका स्मरण नहीं रहता है ॥ ७५ ॥

प्रागूर्ध्वमपि निद्रायाः पक्षपातो दिने दिने ॥
ब्रह्मानंदे नृणां तेन प्राज्ञोऽस्मिन्विवदेत कः ॥ ७६ ॥

इससे भी सुषुप्तिके ब्रह्मानंदमें विवाद न करना चाहिये कि संपूर्ण मनुष्योंका निद्राके पूर्व भाग और पश्चात्भागमें ब्रह्मानंदमें प्रतिदिन पक्षपात (स्नेह) है क्योंकि निद्रासे पूर्व तो कोमल शय्या आदिका संपादन करते हैं और निद्राके अंतमें ब्रह्मानंदके त्यागमें असमर्थ हुए तूष्णीं बैठे रहते हैं इससे इस ब्रह्मानंदमें कौन विद्वान् विवाद करेगा अर्थात् कोई भी न करेगा ॥ ७६ ॥

ननु तूष्णीं स्थितौ ब्रह्मानंदश्चेद्भाति लौकिकाः ॥
अलसाश्चरितार्थाः स्युः शास्त्रेण गुरुणात्र किम् ॥ ७७ ॥

कदाचित् कहो कि तूष्णीम् (चुप चाप) बैठे रहनेसे यदि वह ब्रह्मानंद मिले जो गुरु सेवा आदिसे मिलता है तो संपूर्ण लौकिक मनुष्य आलस्यसे ही चरितार्थ हो जायंगे शास्त्र और गुरुसेवाका क्या प्रयोजन है अर्थात् वे वृथा हो जायँगे ॥ ७७ ॥

बाढं ब्रह्मेति विद्युश्चेत्कृतार्थास्तावतैव ते ॥
गुरुशास्त्रे विनाऽत्यंतं गंभीरं ब्रह्म वेत्ति कः ॥ ७८ ॥

यह बात सत्य है कि यदि वे लौकिक मनुष्य यह जानते हैं कि यह ब्रह्मानंद है तो उतनेसे ही वे कृतार्थ हैं परन्तु ऐसा कौन पुरुष-है जो गुरु और शास्त्रके विना उस ब्रह्मको जानता है अत्यंत गंभीर, अवगाहनकरनेके अयोग्य वाणी और मनसे अगम्य, सर्वज्ञ, सबके अंतर सबका आत्मा है अर्थात् ऐसे ब्रह्मके ज्ञानमें गुरु शास्त्र ही हेतु है अन्य नहीं है ॥ ७८ ॥

जानाम्यहं त्वदुक्त्याद्य कुतो मे न कृतार्थता ॥
शृण्वत्र त्वादृशो वृत्तं प्राज्ञंमन्यस्य कस्यचित् ॥ ७९ ॥

कदाचित् कहो कि आपके कहे ब्रह्मानंद इस वचनसे ब्रह्मानंदके ज्ञाता मुझे कृतार्थता क्यों नहीं होती सो ठीक नहीं क्योंकि इसमें आपके सदृश (तुल्य) जो

कोई अपनेको पंडित होनेका अभिमानी है उसके वृत्तांतको सुन, उससे ही तू समझ जायगा कि ॥ ७९ ॥

चतुर्वेदविदे देयमिति शृण्वन्नवोचत ॥
वेदाश्चत्वार इत्येवं वेद्मि मे दीयतां धनम् ॥ ८० ॥

अब उसी वृत्तांतको कहते हैं कि चारों वेदके ज्ञाता मनुष्यको गौ आदि दे इस वचनको सुनता हुआ कोई मनुष्य बोला कि वेद चार हैं यह मैं जानता हूं इससे मुझे धन देना चाहिये ऐसे जो कहे उसके समान ही आप भी हैं ॥ ८० ॥

संख्यामेवैष जानाति न तु वेदानशेषतः ॥
यदि तर्हि त्वमप्येवं नाशेषं ब्रह्म वेत्सि हि ॥ ८१ ॥

कदाचित् कहो कि जो वेद चार हैं यह जानता है वह वेदोंकी संख्याको ही जानता है संपूर्ण वेदोंके स्वरूपको नहीं जानता है तो आप भी उस चारों वेदोंके ज्ञानीके समान संपूर्ण ब्रह्मको नहीं जानते हैं किंतु शब्दमात्रको ही जानते हो ॥ ८१ ॥

अखंडैकरसानन्दे मायातत्कार्यवर्जिते ॥
अशेषत्वसशेषत्ववार्तावसर एव कः ॥ ८२ ॥

संख्यासे अन्य जैसे वेदका स्वरूप है ऐसा स्वगत आदि भेदसे रहित आनंदरूपब्रह्ममें कोई ऐसा अंश नहीं है जिसे न जाननेसे आप संपूर्णको अज्ञानी बताते हो इस अभिप्रायसे वादी शंका करता है कि अखंड एकरस आनंदरूप और माया और मायाके कार्योंसे वर्जित ब्रह्ममें अशेष (सब) और सशेष (न्यून) बातका क्या अवसर है सो ठीक नहीं ॥ ८२ ॥

शब्दानेव पठस्याहो तेषामर्थं च पश्यसि ॥
शब्दपाठेऽर्थबोधस्ते संपाद्यत्वेन शिष्यते ॥ ८३ ॥

ब्रह्मज्ञानमें भी अशेषता आदिको दिखानेके लिये जो यह कहता है कि मैं ब्रह्मको जानता हूं उसके प्रति विकल्प करके पूछते हैं कि क्या आप अखंड एकरस अद्वितीय सच्चिदानंद आदि शब्दोंको ही पढते हो अथवा उनके अर्थोंको भी जानते हो अर्थात् स्वगत आदि भेदशून्य क्या है इसको भी जानते हो यदि शब्दोंको ही पढते हो तो आपको अर्थोंका ज्ञान संपादन करनेको शेष रहता है ॥ ८३ ॥

अर्थे व्याकाणाद् बुद्धे साक्षात्कारोऽवशिष्यते ॥
स्यात्कृतार्थस्त्वधीयावत्तावद्गुरुपमास्व भोः ॥ ८४ ॥

दूसरे पक्षमें भी शेष रहनेको दिखाते हैं कि यदि व्याकरण और निरुक्त आदिसे आपने पूर्वोक्त शब्दोंके अर्थको भी जान लिया है अर्थात् परोक्षज्ञान हो भी गया है तो संशय और विपर्यय आदिके निरासार्थ साक्षात्कार (अपरोक्षज्ञान) करना शेष रहता है कदाचित् कहो कि तो कब संपूर्ण ज्ञान होगा तो उसकी अवधिको दिखाते हैं कि जब तक आपकी यह बुद्धि हो कि मैं कृतार्थ हूं तब तक गुरुकी उपासना करो अर्थात् कृतार्थबुद्धि ही ब्रह्मज्ञानकी संपूर्णता है ॥ ८४ ॥

आस्तामेतद्यत्र यत्र सुखं स्याद्विषयैर्विना ॥
तत्र सर्वत्र विद्ध्येतां ब्रह्मानंदस्य वासनाम् ॥ ८५ ॥

अब प्रासंगिकको समाप्त करके प्रकरणमें आते हैं कि यह शंका समाधान रहो परन्तु जिस २ कालमें अर्थात् तूष्णीम् आदिके समयमें विषयोंके ज्ञान विना सुखकी प्रतीति हो वहां २ विषयोंसे उत्पन्न न होने और सामान्य अहंकारसे आवृत (ढका) होनेसे ब्रह्मानंदकी ही वह वासना जाननी-अर्थात् वही २ ब्रह्मानंद मानना योग्य है ॥ ८५ ॥

विषयेष्वपि लब्धेषु तदिच्छोपरमे सति ॥
अंतर्मुखमनोवृत्तावानंदः प्रतिबिंबति ॥ ८६ ॥

इस प्रकार ब्रह्मानंद और वासनानंदको दिखाकर तीन प्रकारके आनंदकी समाप्तिके लिये आत्माके अभिमुख बुद्धिकी वृत्तिमें आनंदका प्रतिबिंब पडता है यह जो पहिले विषयानंद कह आये हैं उसका ही फिर अनुवाद करते हैं कि स्रक् चंदन आदि विषयोंका लाभ होनेपर भी जब २ विषयोंकी इच्छाका उपराम होता है अर्थात् विषयोंमें मन नहीं रहता तब २ अन्तर्मुख जो मन उसकी वृत्तिमें जो अपने आत्मानंदका प्रतिबिंब पडता है उसको विषयानंद कहते हैं ॥ ८६ ॥

ब्रह्मानंदो वासना च प्रतिबिंब इति त्रयम् ॥
अंतरेण जगत्यस्मिन्नानंदो नास्ति कश्चन ॥ ८७ ॥

अब फलितार्थका वर्णन करते हैं कि पूर्वोक्त प्रकारसे स्वप्रकाशरूपसे सुषुप्तिमें भासता हुआ जो ब्रह्मानंद है और तूष्णीं बैठे हुएको घट आदि विषयोंके ज्ञान विना प्रतीत हुआ जो वासनानन्द है और जो वांछित विषयोंके लाभसे अंतर्मुख मनमें प्रतिबिंबित विषयानंद है इन तीनों आनंदोंसे अन्य इस जगतमें कोई आनन्द नहीं है कदाचित् कहो कि पहले इस वचनसे ब्रह्मानंद, विद्यासुख और विषया-

नन्द यह तीन प्रकारका आनंद कहा और अब ब्रह्मानंद, वासनानन्द और प्रतिबिंब यह तीन प्रकारका पूर्वोक्तस विलक्षण आनंद कहते हो इससे पूर्व और उत्तर ग्रंथका विरोध है और अभ्यासके योगसे जितना २ अहंकारका विस्मरण होता है सूक्ष्मदृष्टिसे उतने २ ही निजानंदका अनुमान होता है और ब्रह्ममें तत्पर मनुष्य उदासीन कालमें भी आनंदवासनाकी उपेक्षा करके मुख्यानंदकी भावना करता है इन दो वचनोंसे पूर्वोक्त दोनों प्रकारोंसे भिन्न निजानंद और मुख्यानंद दो आनंद कहे हैं वैसे ही दूसरे अध्यायमें मन्दबुद्धि जिज्ञासुको आत्मानंदसे बोध करावे इस वचनसे आत्मानंद भी पूर्वोक्तोंसे अन्य कहा है और जो पहिले योगानंद कहा है इसँ वचनमें योगानंद भी प्रतीत होता है और ब्रह्मानंद नामके ग्रंथमें तीसरे अध्यायमें जो कहा वह अद्वैतानंद है इस वचनमें अद्वैतानंदको भी देखते हैं इससे यह तुम्हारा कथन विरुद्ध है कि इन तीनोंसे अन्य जगत्में कोई आनंद नहीं सो यह शंका तुम्हारी ठीक नहीं क्योंकि विद्यानंदका विषयानंदके विषय अंतर्भाव इससे कहेंगे कि वह विषयानंदके समान अंतःकरणकी वृत्तिरूप है और निजानंद, मुख्यानंद, आत्मानंद, योगानंद, अद्वैतानंद ये पांचों ब्रह्मानंदसे भिन्न नहीं हैं यही दिखाते हैं कि जैसे २ अहंकारका विस्मरण होता है इस पूर्वोक्त श्लोकमें योगलक्षणरूप उपायसे योगानंदरूपसे विवक्षित जो अर्थात् कहा जो निजानंद है वही इसँ उत्तरके श्लोकमें ब्रह्मानंद कहा है कि जब द्वैतका भान न हो और न निद्रा हो वहां जो सुख है वही ब्रह्मानन्द है यह भगवान्ने अर्जुनके प्रति कहा है इससे निजानंद ब्रह्मानंदसे भिन्न नहीं है इसी प्रकार मुख्यानंद भी ब्रह्मानंदरूप ही है क्योंकि विषयानंद और वासनानंद इन दोनोंका जनक स्वप्रकाशरूप ब्रह्मानन्द है इस वचनमें गौण जो विषयानंद वासनानंद हैं उनका जनक जो ब्रह्मानंद कहा है वही (तादृक्पुमान्०) इस पूर्वोक्त श्लोकमें मुख्यानंद कहा है आत्मानंद और अद्वैतानंदको तो ब्रह्मानंदरूप इससे समझना कि जो पहले योगानंद कहा है उसको आत्मानंद मानो यह जो तीसरे और पहले अध्यायमें योगानंदरूप कहनेको इष्ट ब्रह्मानंद

---

१ आनंदस्त्रिविधो ब्रह्मानंदो विद्यासुखं तथा । विषयानंदः । २ यावद्यावदहंकारो विस्मृतोऽभ्यासयोगतः । तावत्तावत्सूक्ष्मदृष्टेर्निजानंदोऽनुमीयते । तादृक्पुमानुदासीनकालेऽप्यानंदवासनाम् । उपेक्ष्यमुख्यमानंदं भावयत्येव तत्परः । ३ मंदप्रज्ञं तु जिज्ञासुमात्मानंदेन बोधयेत् । ४ योगानंदः पुरोक्तो यः । ५ ब्रह्मानंदाभिधे ग्रंथे तृतीयाध्याय ईरितः । अद्वैतानंद एव स्यात् । ६ विषयानंदवद्विद्यानंदो धीवृत्तिरूपकः । ७ न द्वैतं भासते नापि निद्रा तत्रास्ति यत्सुखम् । स ब्रह्मानन्द इत्याह भगवानर्जुनं प्रति । ८ तथाच विषयानंदो वासनानद इत्यमू । आनन्दौ जनयन्नास्ते ब्रह्मानन्दः स्वयंप्रभः ।

है उसको ही योगानंदशब्दसे अनुवाद पूर्वक आत्मानंद कहकर फिर द्वैतसहित यह ब्रह्म कैसे हो सकता है यह प्रश्न करके और आकाशसे शरीरपर्यंतको ब्रह्म कहा है इससे आत्मानंद और अद्वैतानंद ये दोनों ब्रह्मानंदरूप हैं यह पूर्वोक्त ठीक है इससे ब्रह्मानंद वासनानंद विषयानंद ये तीन ही आनंद जो कहे हैं वे ठीक हैं कदाचित् कहो कि ब्रह्मानंद और वासनानंदसे भी अन्य निजानंदको योगी जनों इस वचनमें ब्रह्मानंद वासनानन्दसे भिन्न निजानंदका दिखाना ठीक न होगा सो ठीक नहीं कि एक ब्रह्मानंद ही जगत्कारणरूप उपाधिसे सहित और रहित होनेसे वही भिन्न हो सकता है सोई दिखाते हैं कि ब्रह्मानंदके निरूपणसमयमें आनंदसे ही ये भूत पैदा होते हैं यह कह कर ब्रह्मानंदको जो जगत्का कारण कहा है इससे ब्रह्मानंद माया सहित है क्योंकि मायासे रहित जगत्का कारण नहीं हो सकता और निजानंदरूपके समयमें भी जितना २ अहंकार अभ्यासके योगसे नष्ट होता है उतना २ ही सूक्ष्मदृष्टिको निजानंदका अनुमान होता है इत्यादि ग्रंथसे कारण-सहित अहंकारका लय कहा है इससे निजानंद मायारहित है इससे सब निर्दोष है भावार्थ यह है कि ब्रह्मानंद और वासनानंद और विषयानंद इन तीनों आनंदोंके विना इस जगत्में अन्य कोई आनंद नहीं है ॥ ८७ ॥

तथा च विषयानंदो वासनानंद इत्यमू ॥
आनंदौ जनयन्नास्ते ब्रह्मानंदः स्वयंप्रभः ॥ ८८ ॥

कदाचित् कहो कि इस अध्यायमें ब्रह्मानंदके विवेकका प्रकरण है अन्य आनंदोंका जो वर्णन है वह प्रकरणविरुद्ध है सो ठीक नहीं क्योंकि विषयानंद और वासनानंद ये दोनों ब्रह्मानंदसे पैदा होते हैं इससे ब्रह्मानंद ज्ञानके उपयोगी होनेसे प्रकरणकी असंगति नहीं है इस अभिप्रायसे कहते हैं कि इस प्रकार आनंदके तीन भेद होनेसे जो स्वप्रकाशरूप आनंद है वह विषयानंद और वासनानंदको पैदा करता है और वही ब्रह्मानंद जानना ॥ ८८ ॥

श्रुतियुक्त्यनुभूतिभ्यः स्वप्रकाशचिदात्मके ॥
ब्रह्मानंदे सुप्तिकाले सिद्धे सत्यन्यदा शृणु ॥ ८९ ॥

अब वृत्तांतके कथनपूर्वक अगले ग्रंथके वर्णनके तात्पर्यको कहते हैं कि सुषुप्तिके समय संपूर्ण जगत्का लय होनेपर अज्ञानसे आवृत्त जीव सुखरू-

---

१ नन्वेवं वासनानंदात् ब्रह्मानंदादपीतरम् । वेत्तु योगी निजानंदम् । २ आनंदाद्ध्येवेमानि भूतानि जायंते ।

पको प्राप्त होता है'इस पूर्वोक्त[1] श्रुतिसे और ' मैं सुखसे सोया'इस[2] स्मरणकी अन्यथा असिद्धिसे[2] जो मानी युक्ति उससे और पूर्वोक्त इस अर्थापत्तिरूप युक्तिसे कल्पना किये अनुभवसे अर्थात् श्रुति युक्ति और ज्ञानसे सुषुप्तिके समयमें स्वप्रकाश चेतन-रूप ब्रह्मानंदकी सिद्धि होनेपर अब इसके अनंतर जाग्रत् आदि अन्य कालोंमें भी जो ब्रह्मानंदके[1] ज्ञानका उपाय है उसको तुम सुनो ॥ ८९ ॥

य आनंदमयः सुप्तौ सविज्ञानमयात्मताम् ॥
गत्वा स्वप्नं प्रबोधं वा प्राप्नोति स्थानभेदतः ॥ ९० ॥

अब प्रतिज्ञा किये ब्रह्मानंदज्ञानका उपाय दिखानेके लिये उसकी सिद्धिकी साधक जीवकी दोनों अवस्थाओंकी प्राप्ति और उसके कारणको दिखाते हैं कि सुषुप्तिके समय विलीन है अवस्था जिसकी ऐसा आनंदमय शब्दका जो अर्थ है इस वचनसे[3] जो आनंदमय कहा है वह विज्ञान (बुद्धि) रूप उपाधिवाला होनेसे विज्ञान-मय रूपको प्राप्त होकर आगे वर्णनके योग्य स्थानोंके योगसे अपने कर्मानु-सार स्वप्न और जागरणको प्राप्त होता है ॥ ९० ॥

नेत्रे जागरणं कंठे स्वप्नः सुप्तिर्हृदंबुजे ॥
आपादमस्तकं देहं व्याप्य जागर्ति चेतनः ॥ ९१ ॥

अब जाग्रत् आदि अवस्थाके उपयोगी स्थानोंको दिखाते हैं कि नेत्रोंमें जागरण और कण्ठमें स्वप्न और हृदयरूप कमलमें सुषुप्ति होती है और चरणसे मस्तक-पर्यंत देहमें व्यापक होकर चेतन (जीव) जागता है इस श्लोकमें नेत्र शब्द संपूर्ण देहका उपलक्षण है ॥ ९१ ॥

देहतादात्म्यमापन्नस्तप्तायः पिंडवत्ततः ॥
अहं मनुष्य इत्येवं निश्चित्यैवावतिष्ठते ॥ ९२ ॥

अब दृष्टांतको दिखाकर देहकी व्यापकता स्पष्ट करते हैं कि देहके संग तपाये हुए लोहेके पिंडके तुल्य तादात्म्य (एकरूप) को प्राप्त हुआ जीव जिससे मनुष्यत्व आदि जातिवाले देहके संग तादात्म्यको प्राप्त हुआ है इससे मैं मनुष्य हूं यह निस्सन्देह जानकर टिकता है अर्थात् अपनेको मनुष्य मान-लेता है ॥ ९२ ॥

उदासीनः सुखी दुःखीत्यवस्थात्रयमेत्यसौ ॥
सुखदुःखे कर्मकार्ये त्वौदासीन्यं स्वभावतः ॥ ९३ ॥

---

१ सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोऽभिभूतः सुखरूपमेति । २ सुखमहमस्वाप्सम् । ३ विलीनावस्थ आनंदमयशब्देन कथ्यते ।

अब देहमें तादात्म्यके अभिमानसे ही अन्य अवस्थाओंको दिखाते हैं कि फिर यह जीव मैं उदासीन हूं, सुखी और दुःखी हूं इन तीन अवस्थाओंको प्राप्त होता है । उन तीनोंमें सुख और दुःख अपने किये कर्मके कार्य हैं अर्थात् अपने कर्मसे सुखी और दुःखी होता है और उदासीनता स्वभावसे होती है अर्थात् कर्मसे जन्य नहीं है ॥ ९३ ॥

बाह्यभोगान्मनोराज्यात्सुखदुःखे द्विधा मते ॥
सुखदुःखांतरालेषु भवेत्तूष्णीमवस्थितिः ॥ ९४ ॥

अब निमित्तके भेदसे सुख दुःखके दो भेद कहते हैं कि बाह्य (विषय) भोगसे और मनोराज्यसे सुख दुःख दो प्रकारके माने हैं और सुखदुःखके मध्य २ में तूष्णीं स्थिति (उदासीनता) होती है ॥ ९४ ॥

न कापि चिंता मेऽस्त्यद्य सुखमास इति ब्रुवन् ॥
औदासीन्ये निजानंदभानं वक्त्यखिलो जनः ॥ ९५ ॥

जिस लिये जाग्रत् आदि अवस्थाओंका वर्णन किया उसको अब दिखाते हैं कि संपूर्ण मनुष्य उदासीनताम यह कहते हैं कि 'अब हमें घर आदिकी कुछ चिंता नहीं है हम सुखसे स्थित हैं ' यही निजानन्द है अर्थात् उदासीनताके समयमें जो निजानंदका कथन है अर्थात् स्वरूपानंदकी स्फूर्ति है उससे प्रतीत है कि जागरण अवस्थामें भी निजानंदका भान मानना योग्य है ॥ ९५ ॥

अहमस्मीत्यहंकारसामान्याच्छादितत्त्वतः ॥
निजानंदो न मुख्योऽयं किंत्वसौ तस्य वासना ॥ ९६ ॥

कदाचित् कहो कि उदासीनताके समय प्रकाशमानको निजानंद मानोगे तो वह ब्रह्मानंद ही हुआ तो पहले जो वही वासनानंद कहा है वह ठीक न होगा यह शंका करके समाधान देते हैं कि सामान्य अहंकारसे आच्छादित होनेसे वह ब्रह्मानंद नहीं हो सकता क्योंकि मैं हूं इस सामान्य अहंकारसे आच्छादित है इससे वह निजानंद मुख्य (ब्रह्मानंद) नहीं है किंतु यह ब्रह्मानंदकी वासना (संस्कार) है क्योंकि मैं हूं इस ज्ञानमें मैं देवदत्त हूं इसके समान देवदत्त आदि विशेषरूपसे अहंकार नहीं भासता ॥ ९६ ॥

नीरपूरितभांडस्य बाह्ये शैत्यं न तज्जलम् ॥
किंतु नीरगुणस्तेन नीरसत्तानुमीयते ॥ ९७ ॥

अब मुख्यानंदसे अन्य वासनानंदमें दृष्टांत देते हैं कि जलसे पूर्ण घटके बाह्यभागके स्पर्शसे जो शीतता प्रतीत होती है वह जल नहीं है क्योंकि वह द्रव नहीं है किंतु जलका गुण है इससे जलकी सत्ताका अनुमान होता है कि विवादका स्थान जो घटमें प्रतीत शीत है वह जलसे उत्पन्न होने योग्य है शीत होनेसे जलमें प्रतीत शीतके समान ॥ ९७ ॥

यावद्यावदहंकारो विस्मृतोऽभ्यासयोगतः ॥
तावत्तावत्सूक्ष्मदृष्टेर्निजानंदोऽनुमीयते ॥ ९८ ॥

कदाचित् कहो कि शीतसे नीरका अनुमान रहे प्रकरणमें क्या आया ? यह आशंका करके इसी प्रकार वासनानंदसे भी मुख्यानंदका अनुमान दिखाते हैं कि अभ्यासके योगसे महान् आत्मामें ज्ञानको रोके और उसको शांत आत्मामें रोके इस श्रुतिमें कहे निरोध समाधिके करनेके अनंतर जितनी २ अहंकार आदि जो चित्तकी वृत्ति हैं उनके लयके वश चित्तकी सूक्ष्मता होती है उतनी २ ही निजानंदकी प्रकटता होती है यहां अनुमान है कि अहंकारके संकोचसे युक्त जो द्वितीय आदि क्षण हैं वे पहले २ क्षणोंसे अधिक आनंदवाले हैं, अहंकारके संकोच-विशेषसे युक्त कालरूप होनेसे, अहंकारके संकोचसे युक्त प्रथम क्षणके समान । भावार्थ यह है कि अभ्यासके योगसे जितना २ अहंकारका विस्मरण होता है उतना२ ही सूक्ष्मदृष्टिसे निजानंदका अनुमान होता है ॥ ९८ ॥

सर्वात्मना विस्मृतः सन्सूक्ष्मतां परमां व्रजेत् ॥
अलीनत्वान्न निद्रैषा ततो देहोऽपि नो पतेत् ॥ ९९ ॥

अब बुद्धिकी सूक्ष्मताका अवधि जो साक्षात्कार उसको दिखाते हैं कि सर्वात्मासे (पूरा) हुआ है विस्मरण जिसका ऐसा अहंकार परम (अत्यंत) सूक्ष्म-भावको प्राप्त हो जाता है कदाचित् कहो कि वह निद्रा ही है सो ठीक नहीं किंतु संपूर्ण वृत्तियोंका विलय होनेपर भी अंतःकरणके लय न होनेसे यह निद्रा नहीं है क्योंकि 'कारण रूपसे बुद्धिकी जो स्थिति उसको सुषुप्ति कहते हैं' यह आचार्योंने कहा है । अब अंतःकरणस्वरूपके लयके अभावमें प्रमाण कहते हैं कि जहां सुषुप्ति आदिमें अहंकारका लय होता है वहां देहका पात देखा है और यहां तो अहंकारका लय इससे नहीं है कि देहका पात नहीं होता है। भावार्थ यह है कि सर्वथा विस्मरण किया अहं-कार परम सूक्ष्म हो जाता है और अहंकारके लीन न होनेसे यह निद्रा नहीं है और इससे देह भी नहीं गिरता है ॥ ९९ ॥

१ अभ्यासयोगतो ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छांत आत्मनि । २ बुद्धेः कारणात्मना-वस्थानं सुषुप्तिः ।

न द्वैतं भासते नापि निद्रा तत्रास्ति यत्सुखम् ॥
स ब्रह्मानंद इत्याह भगवानर्जुनं प्रति ॥ १०० ॥

अब फलितको कहते हैं कि जिस कालमें न द्वैत भासे और न निद्रा आती हो उस कालमें प्रतीत होता जो सुख है वह ब्रह्मानंद है यह भगवान्ने गीताके छठे अध्यायमें अर्जुनके प्रति कहा है अर्थात् भगवान्के कथनसे ही उसको ब्रह्मानंद जानना ॥ १०० ॥

शनैःशनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ॥
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिंतयेत् ॥ १ ॥

अब जिन श्लोकोंसे भगवान्ने वर्णन किया है उन श्लोकोंके अर्थको ही क्रमसे पढते हैं कि धीरतासे युक्त जो बुद्धिरूप कारण उससे शनैः २ मनका उपराम करे अब मनके उपरामकी अवधिको कहते हैं कि मनको आत्मामें भले प्रकारसे स्थित करके अर्थात् 'यह संपूर्ण आत्मा ही है उससे अन्य कुछ नहीं है' इस प्रकार मनकी आत्मामें स्थितिको करके किसीकी भी चिंता न करे यही योगकी परम अवधि है। भावार्थ यह है कि धैर्यसे युक्त जो बुद्धि उससे शनैः २ उपरामको प्राप्त हो फिर मनको आत्मामें भले प्रकारसे स्थित करके किसीका भी चिंतन न करे ॥ १ ॥

यतो यतो निश्चरति मनश्चंचलमस्थिरम् ॥
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥ २ ॥

पूर्वोक्त योगके संपादनमें प्रवृत्त (लगा) जो योगी उसके कर्तव्यको कहते हैं कि स्वभावके दोषसे चंचल और इसीसे अस्थिर जो मन है अर्थात् एक विषयमें नियमसे स्थित नहीं जो मन वह जिस २ शब्द आदि विषयरूप निमित्तसे चलायमान हो उस २ विषयके सकाशसे उस मनका नियमन (रोकना) करके अर्थात् शब्द आदि विषयोंमें मिथ्या आदि दोषके देखनेसे आभासमात्र मानकर और वैराग्यकी भावनासे इस मनको रोककर आत्माके ही वशमें करे इस प्रकार अभ्यास करते योगीका मन अभ्यासके बल आत्मामें ही शांतिको प्राप्त होता है। भावार्थ यह है कि चंचल और अस्थिर मन जिस २ विषयसे चलायमान हो उस २ विषयसे रोककर इस मनको आत्माके ही वशमें करे ॥ २ ॥

प्रशांतमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ॥
उपैति शांतरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥ ३ ॥

---

१ आत्मैवेदं सर्वं न ततोऽन्यत्किंचिदस्ति।

मनको शांतिके फलको कहते हैं कि शांत है रजोगुण जिसका अर्थात् क्षीण हुआ है मोह आदि रजोगुण जिसका और इसीसे अत्यंत शांत (विक्षेपरहित) है मन जिसका ऐसा जो ब्रह्मरूप अर्थात् यह सब ब्रह्म ही है इस निश्चयसे जो जीवन्मुक्त है और जो अधर्म आदिसे रहित है उस योगीको उत्तम सुख प्राप्त होता है अर्थात् नाश और न्यून आधिक भावरूप दोषोंसे रहित सुख मिलता है ॥ ३ ॥

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ॥
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥ ४ ॥

अब संग्रह किये अर्थका जिनमें विस्तार है उन गीताके श्लोकोंको पढते हैं कि जिस कालमें योगकी सेवासे संपूर्ण विषयोंसे निवारण किया (रोका) चित्त उपरामको प्राप्त हो और जिस कालमें समाधिसे अंतःकरणसे शुद्ध चैतन्य परमात्माको देखता हुआ आत्मामें ही संतोषको प्राप्त होता है अर्थात् विषयोंसे संतुष्ट नहीं होता ॥ ४ ॥

सुखमात्यंतिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतींद्रियम् ॥
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥ ५ ॥

और जिस कालमें आत्मामें स्थित यह योगी आत्यंतिक (अनंत) और बुद्धिग्राह्य अर्थात् जिसके जाननेके लिये इंद्रियोंकी अपेक्षा बुद्धिको न हो और जो अतींद्रिय हो अर्थात् इंद्रियोंसे पैदा न हो और न विषयोंसे उत्पन्न हो ऐसे सुखको जानता है और आत्मामें स्थित यह योगी जिस कालमें तत्त्वसे चलायमान न हो अर्थात् आत्मस्वरूपको न भूले ॥ ५ ॥

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ॥
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥ ६ ॥

और जिस आत्माके लाभको प्राप्त होकर उससे अधिक अन्य लाभको न माने सोई इस स्मृतिमें लिखा है और जिस आत्माके तत्त्वमें स्थित हुआ यह गुरु (भारी वा महान्) दुःखसे भी चलायमान नहीं होता अर्थात् प्रह्लादके समान शस्त्र आदिके प्रहारसे भयभीत नहीं होता ॥ ६ ॥

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ॥
स निश्चयेन योक्तव्यो योगो निर्विण्णचेतसा ॥ ७ ॥

---

१ ब्रह्मैवेदं सर्वम् । २ आत्मलाभान्न परं विद्यते ।

अब वर्णन किये योगकी घटना करते हैं कि दुःखके संयोगोंका है वियोग (अभाव) जिसमें ऐसे उसको योग जाने ऐसे योगके अनुष्ठानमें रीतिको कहते हैं कि निर्वेदसे रहित चित्तसे उस योगको निश्चयसे करे अर्थात् एक रस मनसे योगाभ्यासको करे ॥ ७ ॥

युंजन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ॥
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यंतं सुखमश्नुते ॥ ८ ॥

अब पूर्वोक्त अर्थको समाप्त करते हैं कि विगत (नष्ट) है पाप (विघ्न) जिसका ऐसा योगी इस पूर्वोक्त प्रकारसे सदैव आत्माका योग (स्मरण) करता हुआ सुखसे (विना श्रम) ऐसे अत्यंत (नाशहीन) सुखको प्राप्त होता है जिसमें ब्रह्मका स्पर्श भले प्रकारसे हो अर्थात् ब्रह्मरूप हो जाता है ॥ ८ ॥

उत्सेक उदधर्यद्वत्कुशाग्रेणैकबिंदुना ॥
मनसो निग्रहस्तद्वद्भवेदपरिखेदतः ॥ ९ ॥

अनिर्वेदसे किया योगाभ्यास फलपर्यंत होता है इसका दृष्टांतसहित वर्णन करते हैं कि जैसे कुशाके अग्रभागसे उठाई एक बिंदुसे समुद्रका उत्सेक (बाहरसे सींचना) खेदके विना होता है अर्थात् कालांतरमें सिद्धि होता है इसी प्रकार मनका निग्रह जो विना श्रम किया जाता है तो कालांतरमें सिद्ध होता है अर्थात् कभी न कभी उद्योगकी सफलता होती है ॥ ९ ॥

बृहद्रथस्य राजर्षेः शाकायन्यो मुनिः सुखम् ॥
प्राह मैत्राख्यशाखायां समाध्युक्तिपुरःसरम् ॥ ११० ॥

यह बात केवल गीताहीमें नहीं कही किंतु मैत्रायणीय शाखामें भी कही है कि यजुर्वेदकी मैत्रायणीय शाखामें शाकायन्य नाम मुनि अपने शरण आये बृहद्रथ राजर्षिको समाधिके प्रथम वर्णनके अनुसार ब्रह्मसुखको कहते भये ॥ ११० ॥

यथा निरिंधनो वह्निः स्वयोनावुपशाम्यति ॥
तथा वृत्तिक्षयाच्चित्तं स्वयोनावुपशाम्यति ॥ ११ ॥

जिस प्रकारसे शाकायन्यने बृहद्रथराजाके प्रति योगका वर्णन किया उस प्रकारको कहते हैं कि जैसे इंधनसे रहित अग्नि अपने कारण तेजमें शांत होती है अर्थात् ज्वाला आदि विशेषरूपको त्यागकर तेजरूपसे टिकती है उसी प्रकार अंतः-

करण भी वृत्तियोंके क्षयसे अर्थात् समाधिके अभ्यास द्वारा रजोगुणी संपूर्ण वृत्तियोंके नाशसे अपने कारण सत्तामात्रम शांत होता है अर्थात् सद्रूप ब्रह्म होजाता है ॥ ११ ॥

स्वयोनावुपशांतस्य मनसः सत्यकामिनः ॥
इंद्रियार्थविमूढस्यानृताः कर्मवशानुगाः ॥ १२ ॥

अब चित्तशांतिके फलको कहते हैं कि अपने कारणमें शांत और इंद्रिय और शब्द आदि विषयोंसे विमुख जो सत्यरूप आत्माका अभिलाषी मन उसके कर्मोंके अधीन जो सुख आदि हैं वे सब मिथ्या हो जाते हैं अर्थात् ब्रह्मसे अतिरिक्त संपूर्ण जगत्के पदार्थ उसको मिथ्या प्रतीत होने लगते हैं ॥ १२ ॥

चित्तमेव हि संसारस्तत्प्रयत्नेन शोधयेत् ॥
यच्चित्तस्तन्मयो मर्त्यो गुह्यमेतत्सनातनम् ॥ १३ ॥

कदाचित् कहो कि चित्तकी शांतिसे जगत् मिथ्या होता है यह नहीं बन सकता क्योंकि जगत्का उपादान चित्त नहीं है सो ठीक नहीं कि यद्यपि स्वरूपसे जगत्का चित्त उपादान कारण नहीं तथापि जगत्के भोग भोगनेमें चित्त ही कारण है यहां हि शब्दसे सबके अनुभव प्रमाण समझना कि सुषुप्ति आदि अवस्थाओंमें चित्तका लय होनेसे भोगको नहीं देखते-जिससे संसार चित्तरूप है इससे चित्तकी ही अभ्यास वैराग्य आदि यतनसे शुद्धि करे अर्थात् रजोगुण तमोगुणसे रहित चित्तको एकाग्र करे कदाचित् कहो कि आत्माके मुक्तिके लिये आत्मा ही शोधनके योग्य है चित्त नहीं सो ठीक नहीं क्योंकि मर्त्य (देहधारी) का जिस पुत्र आदिक विषे चित्त होता है वह तन्मय हो जाता है क्योंकि पुत्र आदिकी पूर्णता और न्यूनताका आत्मामें ही आरोपण है यह बात अनादिसिद्ध है अर्थात् 'स्वभावसे शुद्ध आत्माको चित्तके संबंधसे ही संसार है' इस श्रुतिमें भी लिखा है कि आत्मा मानो ध्यान करता है, मानो विलास करता है इससे चित्तकी शुद्धिसे आत्माकी संसारसे निवृत्ति होती है यह सिद्ध हुआ, भावार्थ यह है कि जिससे चित्त-ही संसार है इससे धर्मसे चित्तको ही शुद्ध करे और मनुष्यका जिसमें चित्त होता है उस रूपको ही प्राप्त होजाता है यह सदाकी गुप्त बात है ॥ १३ ॥

चित्तस्य हि प्रसादेन हंति कर्म शुभाशुभम् ॥
प्रसन्नात्मात्मनि स्थित्वा सुखमक्षय्यमश्नुते ॥ १४ ॥

कदाचित् कहो कि अनादि जन्मोंकी परम्परामें संचित किये सुख और दुःखके दाता पुण्यपापरूप कर्मोंके रहते चित्तकी शुद्धिसे आत्माकी संसारसे निवृत्ति

१ ध्यायतीव लेलायतीव ।

कैसे होगी सो ठीक नहीं कि यह बात निश्चय है कि चित्तकी प्रसन्नतासे अर्थात् प्रसन्न चित्तसे ब्रह्मके स्मरणसे संपूर्ण शुभ अशुभ कर्मको नष्ट करता है यही इनै श्रुति और स्मृतियोंमें लिखा है कि जिस प्रकार इषीकाका तूल (मूंजका अग्रभाग) अग्निमें रखनेसे नष्ट होते हैं उसीप्रकार ज्ञानीके सब पाप नष्ट होते हैं और संपूर्ण उपपातक और पातकोंकी निवृत्तिके लिये रात्रिके प्रथम भागमें ब्रह्मका ध्यान करे । अब शुभ अशुभ कर्मके नाशका फल कहते हैं कि प्रसन्न है चित्त जिसका ऐसा मनुष्य अपने स्वरूप अद्वितीय आनन्दरूप ब्रह्ममें स्थित होकर अर्थात् वह ब्रह्म ही मैं हूं इस निश्चयसे सब जगत्को मिथ्या बुद्धिसे त्यागकर और चिन्मात्ररूपसे टिककर अविनाशी जो अपनी आत्मारूप सुख है उसको भोगता है । भावार्थ यह है कि चित्तको प्रसन्नतासे शुभ अशुभ कर्म नष्ट होते हैं और प्रसन्नचित्त मनुष्य अविनाशी सुखको भोगता है ॥ १४ ॥

समासक्तं यथा चित्तं जंतोर्विषयगोचरे ॥
यद्येवं ब्रह्मणि स्यात्तत्को न मुच्येत बंधनात् ॥ १५ ॥

अब पूर्वश्लोकमें कही बातको दृष्टांतसे दृढ करते हैं कि जैसा प्राणीका चित्त इंद्रियोंके जानेकी भूमि (विषय) में स्वभावसे भले प्रकार आसक्त होता है यदि वह चित्त उसी प्रकार ब्रह्ममें आसक्त हो जाय तो कौन मनुष्य संसारसे मुक्त न हो अर्थात् सभी मुक्त हो जाँय ॥ १५ ॥

मनो हि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धं चाशुद्धमेव च ॥
अशुद्धं कामसंपर्काच्छुद्धं कामविवर्जितम् ॥ १६ ॥

अब पूर्वोक्तकी दृढताके लिये मनके अवांतर भेदोंको कहते हैं कि शुद्ध और अशुद्ध भेदसे मन दो प्रकारका कहा है जिसमें काम क्रोधका संबंध हो वह अशुद्ध और इनसे रहित हो वह शुद्ध है ॥ १६ ॥

मन एव मनुष्याणां कारणं बोधमोक्षयोः ॥
बंधाय विषयासक्तं मुक्तयै निर्विषयं स्मृतम् ॥ १७ ॥

अब दो प्रकारके मनका ही संसार और मोक्षका हेतु दिखाते हैं कि मनुष्योंके बंध और मोक्षका कारण मन ही है विषयोंमें लगा मन बंधनका और विषयोंसे रहित मन मोक्षका हेतु कहा है ॥ १७ ॥

---

१ तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हाऽस्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयंते । उपपातकेषु सर्वेषु पातकेषु महत्सु च । प्रविश्य रजनीपादं ब्रह्मध्यानं समाचरेत् ।

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो
निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत् ॥
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा
स्वयं तदंतःकरणन गृह्यते ॥ ११८ ॥

अब प्रसन्न आत्मामें टिककर अक्षय सुखको भोगता है इसका श्रुतिके अनुसार विस्तारसे वर्णन करते हैं कि समाधिसे धोये हैं संपूर्ण रजोगुण, तमोगुण, रूप मल जिसके उसको और प्रत्यगात्मामें प्रवेश किये चित्तको समाधिमें जो सुख होता है उस अलौकिक सुखको वाणीसे वर्णन नहीं कर सकते क्योंकि उस अपने स्वरूपभूत सुखको अंतःकरण स्वयं ग्रहण करता है अर्थात् उसका साक्षी दूसरा कोई नहीं ॥ ११८ ॥

यद्यप्यसौ चिरं कालं समाधिर्दुर्लभो नृणाम् ॥
तथापि क्षणिको ब्रह्मानंदं निश्चाययत्यसौ ॥ ११९ ॥

कदाचित् कहो कि इस दुर्लभ समाधिसे ब्रह्मानंदका निश्चय कैसे होगा सो ठीक नहीं क्योंकि यद्यपि यह समाधि मनुष्योंको चिरकालतक दुर्लभ है अर्थात् निरंतर नहीं रहती तथापि क्षणमात्रकी भी यह समाधि ब्रह्मानंदका निश्चय करा देती है ॥ ११९ ॥

श्रद्धालुर्व्यसनी योऽत्र निश्चिनोत्येव सर्वथा ॥
निश्चिते तु सकृत्तस्मिन् विश्वसित्यन्यदाप्ययम् ॥ १२० ॥

कदाचित् कहो कि आत्मज्ञानके लिये श्रवण, निदिध्यासन आदिमें लगे हुए भी कोई मनुष्य आनंदके निश्चयसे बहिर्मुख दीखते हैं यह शंका करके श्रद्धाहीन मनुष्य बहिर्मुख रहे तो रहे श्रद्धालु पुरुषोंको आनंदका निश्चय दिखाते हैं कि जो मनुष्य श्रद्धालु है और जिसको वह व्यसन (आग्रह) है कि मैं अवश्य समाधिका संपादन करूंगा वह मनुष्य समाधिमें अवश्य आनंदका निश्चय कर लेता है और जब एकवार क्षणमात्रकी भी समाधिमें ब्रह्मानंदका निश्चय हो जाता है तो यह मनुष्य अन्यय कालमें भी विश्वास करता है कि ब्रह्मानंद है। भावार्थ यह है कि श्रद्धालु और व्यसनी मनुष्य समाधिमें ब्रह्मानंदके निश्चयको अवश्य लेता है और एक बार निश्चय होनेपर अन्य कालमें भी यह मनुष्य ब्रह्मानंदका विश्वास कर लेता है ॥ १२० ॥

ताहक् पुमानुदासीनकालेप्यानंदवासनाम् ॥
उपेक्ष्य मुख्यमानंदं भावयत्येव तत्परः ॥ २१ ॥

श्रद्धा आदिसे एकबार निश्चयवाला पुरुष उदासीनकालमें भी आनंद-वासनाकी उपेक्षाको करके मुख्यानंदमें तत्पर हुआ मुख्यानंदकी ही भावना करता है ॥ २१ ॥

परव्यसनिनी नारी व्यग्रापि गृहकर्मणि ॥
तदेवास्वादयत्यंतः परसंगरसायनम् ॥ २२ ॥

अब व्यवहार कालमें भी निजानंदकी भावना करता है इसमें दृष्टांत दिखाते हैं कि जैसे परपुरुषमें है व्यसन जिसका ऐसी नारी घरके कर्म (काम) में व्यग्र (लगी) हुई भी उसी परपुरुषके संगरूप रसायनका अपने अंतःकरणमें स्वाद लेती है अर्थात् उसके चित्तमें वही रहता है ॥ २२ ॥

एवं तत्त्वे परे शुद्धे धीरो विश्रांतिमागतः ॥
तदेवास्वादयत्यंतर्बहिर्व्यवहरन्नपि ॥ २३ ॥

अब दृष्टांतको दार्ष्टांतिकमें घटाते हैं कि इसी प्रकार श्रेष्ठ और शुद्ध तत्त्वमें विश्रामको प्राप्त हुआ धीर मनुष्य बाह्य व्यवहारोंको करता हुआ भी अंतःकरणमें उसी शुद्ध तत्त्वका स्वाद लेता है ॥ २३ ॥

धीरत्वमक्षप्राबल्येऽप्यानंदास्वादवांछया ॥
तिरस्कृत्याखिलाक्षाणि तच्चिंतायां प्रवर्तनम् ॥ २४ ॥

अब धीर शब्दके अर्थको कहते हैं इन्द्रियोंकी प्रबलता होने पर भी अर्थात् इंद्रियोंका विषयोंमें ले जानेका सामर्थ्य होने पर भी आनंदरूप अपने स्वरूप सुखके स्मरणकी वांछासें संपूर्ण इंद्रियोंका तिरस्कार करके जो आनंदके ही स्मरणमें प्रवृत्त हो उसे धीर कहते हैं ॥ २४ ॥

भारवाही शिरोभारं मुक्त्वास्ते विश्रमं गतः ॥
संसारव्यापृतित्यागे ताहग्बुद्धिस्तु विश्रमः ॥ २५ ॥

अब विश्रांति शब्दके अर्थको कहते हैं कि जैसे भार लेजानेवाला पुरुष अपने शिरके भारको त्यागकर श्रमसे रहित हो जाता है उसी प्रकार संसारके व्यापार त्यागनेपर मैं श्रमसे रहित हुआ यह जिसकी बुद्धि हो जाय उस बुद्धिको विश्राम कहते हैं ॥ २५ ॥

विश्रांतिं परमां प्राप्तस्त्वौदासीन्ये यथा तथा ॥
सुखदुःखदशायां च तदानंदैकतत्परः ॥ २६ ॥

अब फलितार्थको कहते हैं कि परम विश्रांतिको प्राप्त हुआ पुरुष जैसे अपनी उदासीन अवस्थामें आनंदके स्वादमें तत्पर होता है इसी प्रकार सुख दुःखकी प्राप्तिके समयमें सुख दुःखके स्मरणको त्यागकर अपनें आनंदके स्वादमें ही तत्पर रहे ॥ २६ ॥

अग्निप्रवेशहेतौ धीः शृंगारे यादृशी तथा ॥
धीरस्योदेति विषयेऽनुसंधानविरोधिनि ॥ २७ ॥

कदाचित् कहो कि दुःखके प्रतिकूल होनेपर उसके स्मरणकी इच्छाका अभाव रहे परंतु विषयोंका सुख तो अनुकूल है इसीसे मनुष्य उसको चाहते हैं उसके स्मरणकी इच्छा क्यों नहीं होती यह शंका करके उसकी इच्छा भी विवेकी को नहीं होती क्योंकि विषयोंका सुख भी विषयोंके संपादन द्वारा अत्यन्त बहिर्मुख है इससे निजानंदके स्मरणका विरोधी है इस बातको दृष्टांत देकर वणन करते हैं कि जिस मनुष्यको शीघ्र देहके त्यागकी इच्छा दृढ होती है उसका विलंबके कारण अलंकार आदिमें जैसी विरस बुद्धि पैदा होती है अर्थात् शृंगार आदिको त्यागकर अग्निमें प्रविष्ट हो जाता है इसी प्रकार वैराग्य आदि साधनोंसे युक्त विवेकीकी ब्रह्म स्मरणके विरोधी विषयसुखमें विरस बुद्धि हो जाती है । भावार्थ यह है कि जैसे अग्निके प्रवेशको चाहते हुए मनुष्यकी बुद्धि शृंगार आदिमें विरस होती है ऐसे ही धीर मनुष्यकी बुद्धि ब्रह्मस्मरणके विरोधी विषयसुखमें विरस हो जाती है २७॥

अविरोधिसुखे बुद्धिः स्वानंदे च गमागमौ ॥
कुर्वत्यास्ते क्रमादेषा काकाक्षिवदितस्ततः ॥ २८ ॥

अब विरोधी जो विषय सुख उसमें इच्छा मत हो; परंतु विना यत्न सुलभ और जो बहिर्मुखताका हेतु न हो ऐसे विषयमें इच्छा क्यों नहीं होती इसका वर्णन करते हैं कि अविरोधी सुखमें और अपने आनंदमें गमन आगमन (आना जाना) क्रमसे करती हुई यह बुद्धि काकाक्षिके समान इतः ततः (इधर उधर) रहती है ॥ २८ ॥

एकैव दृष्टिः काकस्य वामदक्षिणनेत्रयोः ॥
यात्यायात्येवमानंदद्वये तत्त्वविदो मतिः ॥ २९ ॥

अब दृष्टांतका विवरण करते हैं कि जैसे काककी दृष्टि अर्थात् दर्शनका हेतु एक ही नेत्र इंद्रिय, वाम और दक्षिण नेत्रके दोनों गोलकोंमें क्रमसे गमन आगमन करती है इसी प्रकार विवेकीकी बुद्धि भी दोनों आनंदोंमें गमन आगमन करती है ॥ २९ ॥

भुंजानो विषयानंदं ब्रह्मानंदं च तत्त्ववित् ॥
द्विभाषाभिज्ञवद्विद्यादुभौ लौकिकवैदिकौ ॥ १३० ॥

अब दार्ष्टांतिकका विस्तारसे वर्णन करते हैं कि तत्त्वज्ञानी विषयानंद और ब्रह्मानन्दको भोगता हुआ अर्थात् विषयसुखको और वेदांतोंसे पैदा हुए ब्रह्मानन्दको भोगकर लौकिक और वैदिक (विषयानंद ब्रह्मानन्द) दोनों आनंदोंको इस प्रकार जानता है जैसे दो भाषाओंका ज्ञाता मनुष्य दोनों भाषाओंको जानता है ॥ १३० ॥

दुःखप्राप्तौ न चोद्वेगो यथापूर्वं यतो द्विदृक् ॥
गंगामग्नार्द्धकायस्य पुंसः शीतोष्णधीर्यथा ॥ ३१ ॥

कदाचित् कहो कि दुःखको अनुभवके समय उद्वेग होनेपर निजानंदका अनुभव कैसे होगा यह शंका करके कहते हैं कि जिससे विवेकी मनुष्य लौकिक और वैदिक दोनों व्यवहारोंको जानता है उससे उसको दुःखकी प्राप्तिमें पूर्वके समान उद्वेग नहीं होता क्योंकि उस२ समय विवेकका बोध हो जाता है जब २ उद्वेग होता है इससे दुःखज्ञानके समयमें भी निजानन्दका स्मरण इस प्रकार रहता है जैसे उस मनुष्यकी शीत और उष्ण दोनोंका ज्ञान रहता है जिसकी काया आधी गंगामें मग्न (डूबी) है ॥ ३१ ॥

इत्थं जागरणे तत्त्वविदो ब्रह्मसुखं सदा ॥
भाति तद्वासनाजन्ये स्वप्ने तद्भासते तथा ॥ ३२ ॥

अब फलितका वर्णन करते हैं कि इस प्रकार तत्त्वज्ञानीको जागरण अवस्थामें सदैव सुख है अर्थात् सुख और दुःखके अनुभवकी दशा और तूष्णीं स्थितिमें सुखकी ही प्रतीति होती रहती है और केवल जागरणमें ही सुखका भान नहीं किंतु स्वप्न अवस्थामें भी सुखका भान होता है कि जागरणकी वासनासे जन्य स्वप्न अवस्थामें भी वह सुख उसी प्रकार भासता है जैसे जागरणमें भासता था ॥ ३२ ॥

अविद्यावासनाप्यस्तीत्यतस्तद्वासनोत्थिते ॥
स्वप्ने मूर्खवदेवैष सुखं दुःखं च वीक्षते ॥ ३३ ॥

कदाचित् कहो कि स्वप्न आनन्दकी वासनासे होता है इससे स्वप्नमें आनन्द ही भासता है दुःख नहीं सो ठीक नहीं क्योंकि स्वप्नमें आनन्दकी वासनाके समान अविद्याकी भी वासना है इससे अविद्याकी वासनासे पैदा हुए स्वप्नमें यह तत्त्वज्ञानी मनुष्य मूर्खके समान सुख और दुःखको देखता है अर्थात् कुछ आनंदकी वासनासे ही स्वप्न नहीं होता किन्तु अविद्याकी वासनासे भी स्वप्न होता है ॥ १३३ ॥

ब्रह्मानंदाभिधे ग्रंथे ब्रह्मानंदप्रकाकम् ॥
योगिप्रत्यक्षमध्याय प्रथमेऽस्मिन्नुदीरितम् ॥ १३४ ॥

पूर्वोक्त ग्रंथके समूहसे जो कहा उसको दिखाते हैं कि पांच अध्यायरूप ब्रह्मानन्द नामके इस ग्रन्थमें पहले अध्यायमें सुषुप्ति अवस्थामें और उदासीन कालमें और समाधि, सुख दुःखकी दशामें स्वप्रकाश चित्रूप ब्रह्मानंदका प्रकाशक यह योगीका अनुभवरूप प्रत्यक्ष कहा-यह आगम (वेद) आदिका भी उपलक्षण है क्योंकि वे भी इस ग्रंथमें दिखाये हैं ॥ १३४ ॥

इति श्रीविद्यारण्यमुनिविरचितपंचदश्यां पं० मिहिरचंद्रकृतभाषाविवृति-सहितायां ब्रह्मानंदे योगानन्दो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

इति ब्रह्मानन्दे योगानन्दप्रकरणम् ॥ ११ ॥



ब्रह्मानन्दे आत्मानन्दप्रकरणम् १२.

श्रीगणेशाय नमः ।

नन्वेवं वासनानंदाद्ब्रह्मानंदादपीतरम् ॥
वेत्तु योगी निजानंदं मूढस्यात्रास्ति का गतिः ॥ १ ॥

अब आत्मानंदका प्रारंभ करते हैं कि इससे इस प्रकार पहले अध्यायमें विवेकीको निजानंदके अनुभवका प्रकार दिखाकर-मूढ जिज्ञासुको भी आत्मानंद पदका अर्थ जो त्वंपदार्थ उसके विवेचन द्वारा ब्रह्मानंदके अनुभवका प्रकार दिखानेके लिये शिष्यके प्रश्नको कहते हैं कि इस प्रकार वासनानंद और ब्रह्मानंदसे भी अन्य जो निजानंद है उसको योगी जाने तो जाने परन्तु मूढकी इसमें क्या गति होगी अर्थात् मूढको निजानंदका ज्ञान कैसे हो ? ॥ १ ॥

धर्माधर्मवशादेष जायतां म्रियतामपि ॥
पुनःपुनर्देहलक्षैः किन्नो दाक्षिण्यतो वद ॥ २ ॥

इस प्रकार शिष्यने पूछा है जिसको ऐसा गुरु यह उत्तर देता है कि मूढको विद्याका अधिकार ही नहीं कि यह अतिमूढ पुरुष अनादि संसारमें पूर्व जन्मोंमें किये धर्म और अधर्मके अधीन वारंवार लक्षों देहोंसे जन्मको धारण करे वा मरे इसमें हमारी चतुरतासे क्या सिद्ध होगा यह तुम कहो ॥ २ ॥

अस्ति वोऽनुजिघृक्षुत्वाद्दाक्षिण्येन प्रयोजनम् ॥
तर्हि ब्रूहि स मूढः किं जिज्ञासुर्वा पराङ्मुखः ॥ ३ ॥

फिर शिष्य यह कहता है कि आचार्य सबपर अनुग्राहक होते हैं इससे उसकी भी कोई गति कहनी चाहिये. आपको अनुग्रहकर्त्ता होनेसे चतुराईसे प्रयोजन है अर्थात् शास्त्रकी चतुराईसे मूढपर भी अनुग्रह करना उचित है । तात्पर्य यह है कि आप शिष्यके उद्धारके अभिलाषी हैं इससे शिष्यके उद्धारका प्रयोजन है इस प्रकार शिष्यके वचनको सुनकर विकल्पसे शिष्यको पूछते है कि जो मूढकी कोई गति कहने योग्य है तो बताओ वह मूढ जिज्ञासु है वा पराङ्मुख है अर्थात् रागी है वा विरक्त है ॥ ३ ॥

उपास्तिं कर्म वा ब्रूयाद्विमुखाय यथोचितम् ॥
मंदप्रज्ञं तु जिज्ञासुमात्मानंदेन बोधयेत् ॥ ४ ॥

जो वह रागी है तो रागके अनुसार कर्म कहना चाहिये वा उपासना इन दोनोंमें पहलेका परिहार कहते हैं कि तत्त्वज्ञानसे जो विमुख है उसकी यथा योग्य ब्रह्मलोक आदिकी कामना हो तो उपासनाको और स्वर्ग आदिकी कामना हो तो कर्मको कहे और जिज्ञासु है तो उसको अतिविवेकी हो तो पूर्व अध्यायमें कहे हुए प्रकारसे जो योग उससे बोध करावे और वह मंदबुद्धि है तो उस जिज्ञासुको आत्मानंदसे विवेचनापूर्वक बोध करावे. भावार्थ--यह है कि विमुखके प्रति तो यथायोग्य उपासना वा कर्मका उपदेश करे और मंदबुद्धि जिज्ञासुको तो आत्मानंदका उपदेश करे ॥ ४ ॥

बोधयामास मैत्रेयीं याज्ञवल्क्यो निजप्रियाम् ॥
न वा अरे पत्युरर्थे पतिः प्रिय इतीरयन् ॥ ५ ॥

इस प्रकार जिसने बोध कराया उसको कहते हैं कि यजुर्वेदकी शाखाके प्रवर्त्तक याज्ञवल्क्यऋषि मैत्रेयी नामकी अपनी प्यारी भार्याको यह कहते हुए बोध कराते भये कि अरे मैत्रेयि पतिके लिये पति प्यारा नहीं होता अर्थात् अपने लिये ही पति प्यारा होता है ॥ ५ ॥

पतिर्जाया पुत्रवित्ते पशुब्राह्मणबाहुजाः ॥
लोका देवा वेदभूते सर्वं चात्मार्थतः प्रियम् ॥ ६ ॥

अगले ग्रंथमें इस वचनसे परमप्रेमके स्थान रूप हेतुसे आत्माको परमानंद रूप साधनेका अभिलाषी आचार्य प्रथम परमप्रेमके आस्पदरूप हेतुकी सिद्धिके लिये पहले 'न वा अरे०' इस पूर्वोक्त वाक्यको उपलक्षण (अन्यका भी बोधक) मानकर उस प्रकरणके जितने पर्यायवाक्य हैं उन सबका तात्पर्य कहते हैं कि पति, जाया, पुत्र, धन, पशु, ब्राह्मण, क्षत्रिय, लोक, देवता, वेद, पांचों भूत ये सब जो भोगके पदार्थ हैं संपूर्ण अपने लिये ही प्यारे होते हैं अन्यके लिये नहीं ॥ ६ ॥

पत्याविच्छा यदा पत्न्यास्तदा प्रीतिं करोति सा ॥
क्षुदनुष्ठानरोगाद्यैस्तदा नेच्छति तत्पतिः ॥ ७ ॥

अब 'नवा अरे०' इस पूर्वोक्त वाक्यके अर्थको विभाग करके दिखाते हैं कि जिसकालमें पत्नी (स्त्री) की अपने पतिमें इच्छा होती है तब वह पत्नी पतिमें प्रीतिको करती है और जब उसका पति क्षुधा अनुष्ठान (कार्य) रोग आदिसे युक्त होता है तब पत्नी इच्छा नहीं करती अर्थात् अपने पतिका संग नहीं चाहती ॥ ७ ॥

---

१ न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति । २ परप्रेमास्पदत्वेन परमानंद इष्यताम् ।

न पत्युरर्थे सा प्रीतिः स्वार्थएव करोति ताम् ॥
पतिश्चात्मन एवार्थे न जायार्थे कदाचन ॥ ८ ॥

अब पूर्वोक्तके फलितको कहते हैं कि जायाकी जो वह प्रीति है वह पतिके लिये नहीं है किन्तु अपने लिये ही पतिमें उस प्रीतिको जाया करती है यही इस वाक्यमें लिखा है। अब 'न वा अरे जायायै०' इत्यादि और 'नवा अरे सर्वस्य०' इस वाक्यतक जो वचन हैं उनके तात्पर्यको विभाग करके (पृथक् २) दिखाते हैं कि पति भी अपने प्रयोजनके लिये ही जायाकी इच्छा करता है जायाके लिये कदाचित् भी नहीं करता ॥ ८ ॥

अन्योन्यप्रेरणेऽप्येवं स्वेच्छयैव प्रवर्तनम् ॥ ९ ॥

कदाचित् कहो एककी इच्छासे जहां प्रीति है वहां जो प्रीति है वह अपने लिये रहो एकबार दोनोंकी इच्छासे जो प्रीति है वह तो दोनोंके अर्थ होगी, इस शंकाकी निवृत्तिके लिये कहते हैं कि परस्परकी प्रेरणामें भी अपनी कामना पूरण करनेकी इच्छासे ही दोनोंकी प्रवृत्ति होती है, अन्यकी इच्छासे अन्यकी प्रवृत्ति नहीं होती ॥ ९ ॥

श्मश्रुकंटकवेधेन बाले रुदति तत्पिता ॥
चुंबत्येव न सा प्रीतिर्बालार्थे स्वार्थ एव सा ॥ १० ॥

अब अपनी इच्छासे प्रवृत्तिको दिखाते हैं कि श्मश्रुके कांटों (डाढीके बाल) के विंधनेसे बालकके रोदन करने परभी बालकका पिता बालकके मुखको जो चूमता है वह प्रीति बालकके लिये नहीं है किंतु अपने लिये ही है बालक तो कांटोंके लगनेसे उलटा रोता है इससे वह प्रीति अपने लिये ही समझनी ॥ १० ॥

निरिच्छमपि रत्नादिवित्तं यत्नेन पालयन् ॥
प्रीतिं करोति स स्वार्थे वित्तार्थत्वं न शंकितम् ॥ ११ ॥

चेतन जो पति जाया पुत्र आदि हैं उनमें जो प्रीति की जाती है उसमें यह संदेह हो सकता है कि अपने लिये है वा अन्यके लिये-इच्छासे रहित जो अचेतन धन है उसमें वह शंका ही नहीं हो सकती इस अभिप्रायसे इस वाक्यके

---

१ न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति। २ न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। ३ नवा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति ।

तात्पर्यको कहते हैं कि इच्छासे हीन भी रत्न आदि धनकी यत्नसे पालना करता हुआ मनुष्य जिस प्रीतिको करता है वह अपने लिये है इसमें वित्तके अर्थ है यह शंका ही नहीं हो सकती क्योंकि धन इच्छारहित है ॥ ११ ॥

अनिच्छति बलीवर्दे विवाहयिषते बलात् ॥
प्रीतिः सा वणिगर्थैव बलीवर्दार्थता कुतः ॥ १२ ॥

अब चेतन होने पर भी वहनेकी इच्छासे रहित पशुके विषय जो यह वचन है उसके तात्पर्यको कहते हैं कि बैल इच्छा भी नहीं करता तो भी किसान मनुष्य बलसे वाहते हैं, वहां वहन करानेमें जो प्रीति है वह वैश्य आदि किसानों के लिये ही है बैलके अर्थ हो ही नहीं सकती क्योंकि वह भार ले जानेकी इच्छा नहीं करता ॥ १२ ॥

ब्राह्मण्यं मेऽस्ति पूज्योऽहमिति तुष्यति पूजया ॥
अचेतनाया जातेर्नो संतुष्टिः पुंस एव सा ॥ १३ ॥

अब 'न वा अरे ब्रह्मणः कामाय०' इस वाक्यके तात्पर्यको कहते हैं कि मुझमें ब्राह्मणत्व जाति है, मैं पूज्य हूं इस प्रकार ब्राह्मण जातिकी की हुई जो पूजा है उससे वही संतोषको प्राप्त होता है कि जो मैं ब्राह्मण हूं ऐसा अभिमानी है और जड रूप जातिका पूजासे संतोष नहीं हो सकता ॥ १३ ॥

क्षत्रियोऽहं तेन राज्यं करोमीत्यत्र राजता ॥
न जातेर्वैश्यजात्यादौ योजनायेदमीरितम् ॥ १४ ॥

अब 'न वा अरे क्षत्रस्य०' इस वाक्यके तात्पर्यको कहते हैं मैं क्षत्रिय हूं इससे राज्य करता हूं यहां राजा क्षत्रियत्व जाति नहीं किंतु जातिवाले पुरुष हैं अर्थात् राज्यके भोगका सुख पुरुषको ही होता है। यहां क्षत्रियका ग्रहण वैश्य आदिमें घटानेके लिये कहा है अर्थात् क्षत्रिय पद वैश्य आदिका भी उपलक्षण है ॥ १४ ॥

स्वर्गलोकब्रह्मलोकौ स्तां ममेत्यभिवांछनम् ॥
लोकयोर्नोपकाराय स्वभोगायैव केवलम् ॥ १५ ॥

अब 'न वा अरे लोकानां०' इस वाक्यके अर्थको कहते हैं मुझे स्वर्ग लोक और ब्रह्मलोक मिले यह वांछा लोकोंके उपकारके लिये नहीं किंतु केवल अपने ही भोगके लिये है यहां भी दो लोकोंका ग्रहण सब लोकोंका उपलक्षण है ॥ १५ ॥

---

१ न वा अरे पशूनाम्।

ईशविष्ण्वादयो देवाः पूज्यंते पापनष्टये ॥
न तन्निष्पापदेवार्थं तत्तु स्वार्थ प्रयुज्यते ॥ १६ ॥

और पापनाशके लिये ईश, विष्णु आदि देवताओंकी पूजा की जाती है वह स्वतः पापरहित देवताओंके प्रयोजनार्थ नहीं किंतु अपने प्रयोजनके लिये ही पूजा की जाती है अर्थात् पूजासे पूजाके कर्ताका ही पाप नष्ट होता ॥ १६ ॥

ऋगादयो ह्यधीयंते दुर्ब्राह्मण्यानवाप्तये ॥
न तत्प्रसक्तं वेदेषु मनुष्येषु प्रसज्जते ॥ १७ ॥

और दुर्ब्राह्मण्य (व्रात्य होना) इनकी निवृत्तिके लिये गायत्री आदि-ऋचा जो पढी जाती हैं वहां मनुष्योंमें ही व्रात्य जाति हो सकती है। वेदोंमें उसका प्रसंग भी नहीं हो सकता अर्थात् वेदका पठन भी अपने लिये है वेदके लिये नहीं ॥ १७ ॥

भूम्यादिपंचभूतानि स्थानतृट्पाकशोषणः
हेतुभिश्चावकाशेन वांछंत्येषां न हेतवः ॥ १८ ॥

और संपूर्ण प्राणी स्थान देने, तृषाकी निवृत्ति, पाक, शुष्क करने और अवकाश देनेके लिये पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, इन पांच भूतोंकी जो वांछा करते हैं इन पृथ्वी आदि पांचों भूतोंके हेतु स्थान वांछा आदि निमित्त नहीं है किंतु प्राणियोंकी वांछा ही हेतु है क्योंकि स्थान आदिमें वांछाका असंभव है ॥ १८ ॥

स्वामिभृत्यादिकं सर्वं स्वोपकाराय वांछति ॥
तत्तत्कृतोपकारस्तु तस्य तस्य न विद्यते ॥ १९ ॥

अब 'न वा अरे सर्वस्य कामाय०' इस वाक्यके तात्पर्यको कहते हैं कि स्वामी भृत्य आदिकी जो संपूर्ण जन वांछा करते हैं वह अपने उपकारके लिये ही करते हैं और उस २ का किया उपकार उस २ को नहीं होता अर्थात् भृत्य स्वामीकी वांछा अपने लिये करता है वह उपकार भृत्यको फलका दाता है स्वामीको नहीं इसी प्रकार स्वामीकी भृत्यकी वांछामें भी समझना ॥ १९ ॥

सर्वव्यवहृतिष्वेवमनुसंधातुमीदृशम् ॥
उदाहरणबाहुल्यं तेन स्वां वासयेन्मतिम् ॥ २० ॥

कदाचित् कहो कि पूर्वोक्त श्रुतियोंमें बहुत उदाहरण क्यों दिये सो ठीक नहीं क्योंकि इच्छापूर्वक भोजन आदि व्यवहारोंमें इस प्रकार समझनेके लिये कि अपनी

ही कामनाके लिये संपूर्ण प्रिय होता है यह दिखानेके लिये पति जाया आदि बहुतसे उदाहरण दिये हैं इससे अपनी बुद्धिमें यह निश्चय करे कि आत्माकी प्रीतिके लिये ही संपूर्ण प्रिय होते हैं अन्यके लिये नहीं ॥ २० ॥

अथ केयं भवेत्प्रीतिः श्रूयते या निजात्मनि ॥
रागो वध्वादिविषये श्रद्धा यागादिकर्मणि ॥
भक्तिः स्याद्गुरुदेवादाविच्छा त्वप्राप्तवस्तुनि ॥ २१ ॥

आत्माके लिये सबको जो प्रिय कहा उससे आत्माको अत्यंत प्रिय कहा सो नहीं बन सकता क्योंकि प्रीति क्या वस्तु है यह निरूपण नहीं कर सकते इस अभिप्रायसे शिष्य प्रश्न करता है कि जो यह अपने आत्मामें प्रीति सुनी जाती है वह क्या रागरूप है वा श्रद्धारूप है अथवा भक्तिरूप है किंवा इच्छारूप है इन चारों पक्षोंमें भी प्रीति सब विषयक नहीं हो सकती क्योंकि राग वधू आदिकमें ही हो सकता है यज्ञ आदिमें नहीं और श्रद्धा याग आदिमें ही हो सकती है वधू आदिमें नहीं और भक्ति गुरु देवता आदिमें ही हो सकती है अन्यमें नहीं और इच्छा अप्राप्त वस्तुकी ही हो सकती है अन्यकी नहीं इससे प्रीतिके विषय संपूर्ण नहीं हो सकते ॥ २१ ॥

तर्ह्यस्तु सात्त्विकी वृत्तिः सुखमात्रानुवर्तिनी ॥
प्राप्ते नष्टेऽपि सद्भावादिच्छातो व्यतिरिच्यते ॥ २२ ॥

अब पूर्वोक्त चारों पक्षोंसे अन्यपक्षको मानकर उत्तर देते हैं कि यदि प्रीति राग आदि रूप नहीं है तो केवल सुख ही है विषय जिसका ऐसी जो सत्त्वगुण का परिणामरूप अंतःकरणकी वृत्ति वही प्रीति रहे । कदाचित् कहो कि वह प्रीति इच्छारूप ही है सो ठीक नहीं क्योंकि इच्छा अप्राप्त सुखकी ही होती है और प्रीति तो सबमें होती है क्योंकि प्राप्त हुए सुखके नष्ट होनेपर भी प्रीति विद्यमान रहती है इससे प्रीति इच्छासे भिन्न है ॥ २२ ॥

सुखसाधनतोपाधेरन्नपानादयः प्रियाः ॥ २३ ॥

अब सुखके हेतु अन्न आदिके समान आत्मामें भी प्रीतिके दर्शनसे यह शंका करते हैं कि आत्मा भी सुखका हेतु हो जायगा जैसे अन्न पान आदि सुखके हेतुभूत उपाधिसे प्यारे देखे हैं इसीप्रकार आत्मा भी अनुकूल और प्रिय होनेसे अन्न आदिके समान सुखका हेतु हो जायगा ॥ २३ ॥

आत्मानुकूल्यादन्नादिसमश्चेत्सुदनात्र कः ॥
अनुकूलयितव्यः स्यान्नैकस्मिन्कर्मकर्तृता ॥ २४ ॥

यहां यह अनुमान समझना कि विवादका स्थान आत्मा सुखका हेतु होने योग्य है उक्त शंकाका इस अभिप्रायसे परिहार करते हैं कि अन्न पान आदिमें भोग्यत्वरूप उपाधि है अर्थात् जहां २ सुखका साधन वहां २ भोग्यत्व है और जहां २ प्रियत्व है वहां २ भोग्यत्व है यह नियम नहीं क्योंकि आत्मामें प्रियत्व है भोग्यत्व नहीं क्योंकि जो धर्म साध्यका व्यापक और हेतु (साधन) का अव्यापक होता है उसको ही उपाधि कहते हैं अर्थात् अन्न आदिके समान आत्माको भी सुखका हेतु मानोगे तो इस सुखसाधनरूप अनुकूलसे अनुकूल करने योग्य जगत्में कौन होगा क्योंकि आत्मासे अन्य कोई भोक्ता नहीं है। कदाचित् कहो कि अपने आचरणसे आत्मा आप ही अनुकूल करने योग्य हो जायगा सो ठीक नहीं क्योंकि एक ही आत्मा कर्म और कर्त्ता नहीं हो सकता अर्थात् एक आत्मा एक कालमें उपकारके योग्य और उपकारका कर्त्ता नहीं हो सकता। भावार्थ यह है कि अन्न आदिके समान आत्माको अनुकूलतासे युक्त मानोगे तो जगत्में सुखके हेतुसे अनुकूल करने योग्य कौन होगा अर्थात् कोई न होगा और एक आत्मा कर्म और कर्त्ता रूप नहीं हो सकता ॥ २४ ॥

सुखे वैषयिके प्रीतिमात्रमात्मा त्वतिप्रियः ॥
सुखे व्यभिचरत्येषा नात्मनि व्यभिचारिणी ॥ २५ ॥

कदाचित् कहो कि अन्न आदिके समान सुखका हेतु न होनेपर भी सुखके समान भोक्ताका शेष आत्मा हो जायगा इस आशंकाका परिहार आत्माको सर्वोत्तम प्रेमका आस्पद (स्थान) होनेसे करते हैं कि विषयोंके सुखमें केवल प्रीति है और आत्मामें अत्यंत प्रीति है इससे विषयोंके सुखके तुल्य नहीं, क्योंकि विषयोंके सुखमें पैदा हुई यह प्रीति कदाचित् व्यभिचारको प्राप्त होती है अर्थात् अन्य सुखमेंभी चली जाती है और आत्मामें विद्यामान जो प्रीति है वह व्यभिचारिणी नहीं अर्थात् अन्य विषयमें नहीं जाती है ॥ २५ ॥

एकं त्यक्त्वाऽन्यदादत्ते सुखं वैषयिकं सदा ॥
नात्मा त्याज्यो न चादेयस्तस्मिन्व्यभिचरेत्कथम् ॥२६॥

अब सुखकी प्रीतिके व्यभिचार और आत्माकी प्रीतिके अव्यभिचारको दिखाते हैं कि मनुष्य सदैव एक सुखको त्याग कर अन्य विषयसुखको ग्रहण करता है और आत्मा न त्यागने योग्य है और न ग्रहण करने योग्य है इससे उसमें जो प्रीति है वह किस प्रकार व्यभिचारको प्राप्त होती है ?॥ २६ ॥

हानादानविहीनेऽस्मिन्नुपेक्षा चेत्तृणादिवत् ॥
उपेक्षितुः स्वरूपत्वान्नोपेक्ष्यत्वं निजात्मनः ॥ २७ ॥

अब यह शंका करते हैं कि त्याग आदिके अविषय आत्मामें तृण आदिके समान उपेक्षा हो जायगी कि परित्याग और स्वीकारसे रहित आत्मामें तृण आदिके समान उपेक्षा (उदासीनता) होजायगी ऐसा मत कहो—क्योंकि उपेक्षा करनेवालेका जो अविनाशी स्वरूप आत्मा है वही है रूप जिसका ऐसा आत्मा उपेक्षाके योग्य नहीं हो सकता ॥ २७ ॥

रोगक्रोधाभिभूतानां मुमूर्षा वीक्ष्यते क्वचित् ॥
ततो द्वेषाद्भवेत्त्याज्य आत्मेति यदि तन्न हि ॥ २८ ॥

अब द्वेषसे आत्माके त्यागकी शंका करते हैं कि रोग और क्रोधसे अभिभूत (पूर्ण) मनुष्योंको कहीं २ मरनेकी इच्छा देखनेसे आत्मा त्यागने योग्य हो जायगा ऐसा यदि कहोगे तो सो ठीक नहीं ॥ २८ ॥

त्यक्तुं योग्यस्य देहस्य नात्मता त्यक्तुरेव सा ॥
न त्यक्तर्यस्ति स द्वेषस्त्याज्ये द्वेषे तु का क्षतिः ॥ २९ ॥

त्यागनेके योग्य देहको आत्मत्व नहीं किंतु त्यागनेवाला जवि ही आत्मा है और त्यागनेवाले जीवमें वह द्वेष नहीं है कदाचित् कहो कि आत्मामें द्वेष मत हो देहमें तो है सो ठीक नहीं क्योंकि त्यागने योग्य देहमें द्वेष होनेपर भी आत्माकी क्या क्षति (हानि) है ॥ २९ ॥

आत्मार्थत्वेन सर्वस्य प्रीतेश्चात्मा ह्यतिप्रियः ॥
सिद्धो यथा पुत्रमित्रात्पुत्रः प्रियतरस्तथा ॥ ३० ॥

इस प्रकार 'न वा अरे०' इत्यादि श्रुतियोंसे आत्मामें अत्यंत प्रीतिको दिखाकर युक्तिसे भी आत्मामें अत्यंत प्रीतिको दिखाते हैं कि संपूर्ण सुखसहित जो सुखके हेतु पति, जाया आदि हैं वे आत्माके ही उपकारी हैं और प्रीतिसेभी आत्माही उपकारके योग्य है इससे स्वयम् आत्मा इस प्रकार अत्यंत प्रिय सिद्ध हुआ जैसे जगत्में पुत्रके मित्रसे अर्थात् पुत्रके द्वारा जिसमें प्रीति है ऐसे देवदत्त आदिसे यज्ञदत्त आदि साक्षात् प्रीतिका विषय होनेसे विष्णुमित्र आदि पुत्र पिताको अत्यंत प्रिय होता है वैसे ही अपनी ही साक्षात् प्रीतिका विषय आत्मा सबसे अत्यंत प्रीतिका विषय (अत्यंत प्यारा) होता है ॥ ३० ॥

मा न भूवमहं किं तु भूयासं सर्वदेत्यसौ ॥
आशीः सर्वस्य दृष्टेति प्रत्यक्षा प्रीतिरात्मनि ॥ ३१ ॥

इस प्रकार श्रुति और युक्तिसे आत्मामें अत्यंत प्रीतिको दिखाकर अपने अनुभवसे भी अत्यंत प्रीतिको दिखाते हैं कि मैं मत होऊँ अर्थात् मेरे आत्माकी सत्ता न हो किंतु मैं सर्वदा होऊँ अर्थात् सदा मेरे आत्माकी सत्ता रहे इस आशीः(प्रार्थना) को संपूर्ण प्राणियोंके विषे देखते हैं अर्थात् सब इस प्रकार चाहते हैं इससे ही आत्मामें अत्यंत प्रीति प्रत्यक्ष है ॥ ३१ ॥

इत्यादिभिस्त्रिभिः प्रीतौ सिद्धायामेवमात्मनि ॥
पुत्रभार्यादिशेषत्वमात्मनः कैश्चिदीरितम् ॥ ३२ ॥

अब वृत्तांतको कहकर मतांतरके दूषण देनेके अर्थ प्रारंभ करते हैं कि इस प्रकार अनुभव और श्रुति और युक्ति रूप पूर्वोक्त तीन हेतु (प्रमाण) ओंसे आत्मामें प्रीतिके सिद्ध होनेपर भी कोई २ श्रुतिके तात्पर्यके अज्ञानी मनुष्य आत्माको पुत्र, भार्या आदिका शेष कहते हैं अर्थात् पुत्र, भार्या आदिको प्रधान और आत्माको गौण कहते हैं ॥ ३२ ॥

एतद्विवक्षया पुत्रे मुख्यात्मत्वं श्रुतीरितम् ॥
आत्मा वै पुत्रनामेति तच्चोपनिषदि स्फुटम् ॥ ३३ ॥

और पुत्रको ही मुख्य आत्मा कहनेकी इच्छासे पुत्रमें ही इस श्रुतिसे मुख्य आत्मत्व कहा है कि पुत्रनामका आत्मा निश्चयसे है अर्थात् श्रुतिमें पुत्रको मुख्य आत्मा कहा है और पुत्र मुख्य आत्मा है यह ऐतरेय उपनिषद्में स्फुट है ॥ ३३ ॥

सोऽस्यायमात्मा पुण्येभ्यः कर्मभ्यः प्रतिधीयते ॥
अथास्येतर आत्मायं कृतकृत्यः प्रमीयते ॥ ३४ ॥

जिस वाक्यसे पुत्रको आत्मा कहा उस वाक्यके अर्थको पढ़ते हैं कि इस पिताको पालन करने योग्य जो पुत्ररूप आत्मा इस श्रुतिमें कहा है कि जो यह गर्भमें पुत्ररूप आत्मा होता है वह जन्मसे पहले ही पिताके देहमें कारणरूपसे बसता है उस पुत्ररूप आत्माको पुण्योंका प्रतिनिधि बनाकर अर्थात् यह मेरा उपकारी आत्मा हो गया यह समझकर पिताका जो प्रत्यक्षसे दीखता निज आत्मा (अपना देह) है वह वृद्ध अवस्थासे ग्रसा हुआ कृतकृत्य (कृतार्थ) होकर मर जाता है. भावार्थ यह है कि पिता अपने पुत्ररूप आत्माको पुण्यकर्मोंका प्रतिनिधि समझकर अन्य देहरूप अपने आत्माको कृतार्थ समझकर मरता है ॥ ३४ ॥

---

१ आत्मा वै पुत्रनामासि । २ स पुरुषे ह वा अयमादितो गर्भो भवति ।

सत्यप्यात्मनि लोकोऽस्ति नापुत्रस्यात एव हि ॥
अनुशिष्टं पुत्रमेव लोक्यमाहुर्मनीषिणः ॥ ३५ ॥

अब पूर्वोक्तके दृढ करनेके लिये पुत्रहीनको परलोक नहीं है इस वाक्यके अर्थको कहते हैं कि जिससे पुत्र मुख्य आत्मा है इसीसे अपने विद्यमान रहते भी पुराण आदिकोंमें यह बात प्रसिद्ध है कि पुत्रहीन मनुष्यको परलोक नहीं मिलता है. इस प्रकार निषेधमुखसे कहे पूर्वोक्तका इस वाक्यसे अन्वयमुखसे वर्णन करते हैं कि शास्त्रके ज्ञाता बुद्धिमान् पुरुष उसी पुत्रको परलोकका साधन (हितकारी) कहते हैं जिसको तू ब्रह्म है इत्यादि मंत्रोंसे शिक्षा दी हो अर्थात् ब्रह्मज्ञानी पुत्रसे परलोकमें पिता पहुँचता है ॥ ३५ ॥

मनुष्यलोको जय्यः स्यात्पुत्रेणैवेतरेण नो ॥
मुमूर्षुमन्त्रयेत्पुत्रं त्वं ब्रह्मेत्यादिमंत्रकैः ॥ ३६ ॥

अब इस वाक्यके अर्थको कहते हैं कि जिससे लौकिक सुखमें भी पुत्र ही हेतु कहा है कि मनुष्यलोकका सुख पुत्रसे ही होता है कर्म आदि अन्य साधनोंसे नहीं अर्थात् पुत्रहीन मनुष्यको धन आदिसे कुछ नहीं मिलता. पहले शिक्षा दिये पुत्रको जो परलोकका हितकारी कह आये अब शिक्षाके समय और मंत्रोंको दिखाते हैं कि मरणके समयमें पिता इन मंत्रोंसे पुत्रको शिक्षा दे कि तू ब्रह्म है, तू यज्ञ है और तू ही परलोक है ॥ ३६ ॥

इत्यादिश्रुतयः प्राहुः पुत्रभार्यादिशेषताम् ॥
लौकिका अपि पुत्रस्य प्राधान्यमनुमन्वते ॥ ३७ ॥

अब पूर्वोक्त अर्थको समाप्त करते हैं कि इत्यादि पूर्वोक्त श्रुति आत्माको पुत्र और भार्या आदिका शेष कहती हैंऔर यह बात केवल श्रुतियोंसेही सिद्ध नहीं किंतु लोकमें भी प्रसिद्ध है क्योंकि लौकिक मनुष्य भी पुत्रको प्रधान मानते हैं ॥ ३७ ॥

स्वस्मिन्मृतेऽपि पुत्रादिर्जीवेद्वित्तादिना यथा ॥
तथैव यत्नं कुरुते मुख्याः पुत्रादयस्ततः ॥ ३८ ॥

वही दिखाते हैं कि मनुष्य उसीप्रकारके यत्नको करता है कि जिससे अपने मरनेपर भी पुत्र, भार्या आदि धन और क्षेत्र आदिके व्ययसे जीवें जिससे अपने परिश्रमको सहकर भी पुत्र आदिके जीवनका उपाय करता है इससे पुत्र आदि प्रधान हैं और अपना आत्मा गौण है ॥ ३८ ॥

---

१ नापुत्रस्य लोकोऽस्ति । २ अनुशिष्टं पुत्रं लोक्यमाहुः । ३ सोऽयं मनुष्यलोकः पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्मणा । ४ त्वं यज्ञस्त्वं लोकः—त्वं ब्रह्म ।

बाढमेतावता नात्मा शेषो भवति कस्यचित् ॥
गौणमिथ्यामुख्यभेदैरात्मायं भवति त्रिधा ॥ ३९ ॥

इस प्रकार लोकप्रसिद्धसे दिखाई पुत्रआदिकी प्रधानताको अंगीकार करते हैं कि यह बात सत्य है कि पुत्र आदि प्रधान हैं परंतु कहीं पुत्र आदिकी प्रधानतासे आत्मा किसीका शेष (अप्रधान) नहीं होता. कदाचित् कहो कि प्रतिज्ञा मात्रसे अर्थकी सिद्धि नहीं होती यह शंका करके और जिस २ व्यवहारमें जिस २ को आत्मा कहना है उस २ व्यवहारमें उस २ आत्माको प्रधान दिखानेके लिये प्रथम आत्माके तीन भेद दिखाते हैं कि गौण, मिथ्या और मुख्य भेदसे आत्मा तीन प्रकारका होता है ॥ ३९ ॥

देवदत्तस्तु सिंहोऽयमित्यैक्यं गौणमेतयोः ॥
भेदस्य भासमानत्वात्पुत्रादेरात्मता तथा ॥ ४० ॥

उन तीनोंमें पुत्र आदिमें गौण आत्मा दिखानेके लिये जगत्में गौण प्रयोगका उदाहरण देते हैं कि यह देवदत्त सिंह है, यहां जो देवदत्तसिंहकी एकता है वह गौण है क्योंकि इन दोनोंका भेद देखते हैं इसीप्रकार पुत्र आदिकी आत्मता भी भेदकी प्रतीतिसे गाण है ॥ ४० ॥

भेदोऽस्ति पंचकोशेषु साक्षिणो न तु भात्यसौ ॥
मिथ्यात्मताऽतः कोशानां स्थाणोश्चौरात्मता यथा ॥४१॥

अब मिथ्या आात्माको दिखाते हैं कि आनन्दमय आदि अन्नमय पर्यंत पांचों कोशोंमें विद्यमान भी साक्षीका भेद प्रतीत नहीं होता इससे पांचो कोश उस प्रकार मिथ्या आत्मा स्वरूप हैं जैसे चोरसे भिन्न (न्यारा) स्थाणु मिथ्या चोर-रूप होता है ॥ ४१ ॥

न भाति भेदो नाप्यस्ति साक्षिणोऽप्रतियोगिनः ॥
सर्वांतरत्वात्तस्यैव मुख्यमात्मत्वमिष्यते ॥ ४२ ॥

इस प्रकार गौण और मिथ्या आत्माओंको दिखाकर साक्षीको ही मुख्य आत्मा वर्णन करते हैं कि साक्षीका गौण आत्मारूप पुत्र आदिके समान भेद प्रतीत नहीं होता और न मिथ्या आत्मारूप देह आदिके समान साक्षीका भेद है क्योंकि साक्षीका कोई उस प्रकार प्रतियोगी नहीं कि जैसे पुत्र आदिका देह आदि प्रति-योगी है अर्थात् पुत्र आदिकी अपेक्षा पिता आदि स्वयं भेदका निरूपक है इसी प्रकार अपने साक्षीरूप आत्माका कोई वस्तुरूप (सच्चा) प्रतियोगी नहीं है जि-

सकी अपेक्षासे भेद हो उसको ही प्रतियोगी कहते हैं और देह आदिसे आत्माका भेद इससे नहीं कह सकते कि ये आरोपित हैं। कदाचित् कहो कि भेदके अभावसे साक्षी गौण और मिथ्या आत्मामत हो परंतु साक्षीकि मुख्य आत्मा होनेमें क्या कारण है सो ठीक नहीं क्योंकि देह,पुत्र आदि सबका अंतर(साक्षी)होनेसे अर्थात् प्रत्यक्रूप आत्माको सबके मध्यमें प्रतीयमान होनेसे वह साक्षी ही मुख्य आत्मा है गौण नहीं यह बुद्धिमान् मनुष्योंको इष्ट है. यहां ग्रंथकारने यह अनुमान सूचित किया है कि विवादका स्थान साक्षी मुख्य आत्मा होने योग्य है सबका आन्तर होनेसे, जो मुख्य आत्मा नहीं होता वह सबका आन्तरभी नहीं होता जैसे अहंकार आदि. भावार्थ यह है कि प्रतियोगी रहित साक्षीका भेद न भासता है और न है इससे सबका आंतर होनेसे साक्षी ही मुख्य आत्मा इष्ट है ॥ ४२ ॥

सत्येवं व्यवहारेषु येषु यस्यात्मतोचिता ॥
तेषु तस्यैव शेषित्वं सर्वस्यान्यस्य शेषता ॥ ४३ ॥

इस प्रकार आत्मा तीन प्रकारका रहे फिर पुत्र आदिको शेषी (प्रधान) कहनेसे क्या सिद्ध हुवा इस लिये कहते हैं कि ऐसे आत्माके तीन भेद होनेपर भी जिन लौकिक,वैदिक व्यवहारोंमें अर्थात् पालन पोषणमें ब्रह्मको आत्मा समझनेमें जिस पुत्र, देह वा साक्षीकी आत्मता उचित है उन व्यवहारोंमें पुत्र, देह वा साक्षी शेषी है उससे अन्य सब शेष (गौण) होते हैं ॥ ४३ ॥

मुमूर्षोर्गृहरक्षादौ गौणात्मैवोपयुज्यते ॥
न मुख्यात्मा न मिथ्यात्मा पुत्रः शेषी भवत्यतः ॥४४ ॥

इस शेष शेषी भावको ही पांच श्लोकोंसे विस्तारसे कहते हैं कि जो मनुष्य मुमूर्षु है (मरणे योग्य) उसके घरकी रक्षा आदिमें पुत्र, भार्या आदिरूप गौण आत्मा ही उपयोगी होता है क्योंकि कुछ कालतक जीवेगा और साक्षी रूप मुख्य आत्मा अविकारी होनेसे और मिथ्यारूप आत्मा (देह) मरणके उन्मुख (योग्य) होनेसे उपयोगी नहीं होते हैं इससे पुत्ररूप आत्मा ही प्रधान होता है ॥ ४४ ॥

अध्येता वह्निरित्यत्र सन्नप्यग्निर्न गृह्यते ॥
अयोग्यत्वेन योग्यत्वाद्वटुरेवात्र गृह्यते ॥ ४५ ॥

पूर्वोक्त गृहरक्षा आदि व्यवहारमें अपनी विद्यमानतामें भी पुत्र आदिके स्वीकार करनेमें दृष्टांत कहते हैं कि यह अध्येता (पाठक) वह्नि है इस प्रयोगमें जैसे स्वरूपसे विद्यमान अग्निको वह्नि शब्दसे नहीं लेते क्योंकि अग्नि पढ नहीं सकती किंतु

पढनेके योग्य होनेसे वहां बटुककोही लेते हैं इसी प्रकार पूर्वोक्त गृहरक्षा आदि व्यवहारमें पुत्ररूप गौण आत्माको ही लेते हैं ॥ ४५ ॥

कृशोऽहं पुष्टिमान्स्यामीत्यादौ देहात्मतोचिता ॥
न पुत्रं विनियुंक्तेऽत्र पुष्टिहेत्वन्नभक्षणे ॥ ४६ ॥

इस प्रकार गौण आत्माके स्थलको कहकर मिथ्या आत्माके स्थलको कहते हैं कि मैं कृश होगया हूं इससे अन्न भक्षण आदिसे पुष्टिका संपादन करूंगा इत्यादि व्यवहारोंमें मिथ्याभूत देहको ही आत्मा मानना उचित है क्योंकि पुष्टिके हेतु अन्नभक्षणरूप व्यवहारमें पुत्रको जगत्में कोई भी नियुक्त नहीं करता ॥ ४६ ॥

तपसा स्वर्गमेष्यामीत्यादौ कर्त्रात्मतोचिता ॥
अनपेक्ष्य वपुर्भोगं चरेत्कृच्छ्रादिकं ततः ॥ ४७ ॥

और जब यह मनुष्य यह व्यवहार करता है कि मैं तप करके स्वर्गका संपादन करूं तब कर्त्ता (विज्ञानमय) को ही आत्मा मानना उचित है देह आदिको नहीं क्योंकि देहके भोगोंकी अपेक्षाको त्यागकर परलोकमें कर्त्ताके उपकारक कृच्छ्र-चांद्रायण आदिको करता है ॥ ४७ ॥

मोक्ष्येऽहमित्यत्र युक्तं चिदात्मत्वं तदा पुमान् ॥
तद्वेत्ति गुरुशास्त्राभ्यां न तु किंचिच्चिकीर्षति ॥ ४८ ॥

और जब मनुष्य इस बुद्धिको करता है कि मैं शम दम आदिका संपादन करके मुक्तिको प्राप्तहोऊं तब गुरु और शास्त्रके द्वारा 'तत्त्वमसि०' इत्यादि वाक्यके विचारसे पैदा हुए अपरोक्ष ज्ञानसे मैं कर्त्तारूप नहीं किंतु सच्चिदानंद ब्रह्मरूप हूं इस प्रकार चिदात्माको जानता है वहां चेतन ही आत्मा उचित है कर्त्ता नहीं क्योंकि इस श्रुतिमें लिखा है कि सत्य ज्ञान अनंत विज्ञान आनंद ब्रह्म है अनंतर (भेदरहित) अबाह्य सर्वरूप प्रज्ञानमय ब्रह्म है ॥ ४८ ॥

विप्रक्षत्रादयो यद्वद्बृहस्पतिसवादिषु ॥
व्यवस्थितास्तथा गौणमिथ्यामुख्या यथोचितम् ॥ ४९ ॥

पूर्वोक्त तीन प्रकारके आत्माओंको उस २ व्यवहारमें व्यवस्थासे प्रधानता माननेमें दृष्टांत देते हैं कि जैसे बृहस्पतिसव आदि नामके यज्ञोंमें व्यवस्थासे ब्राह्मण क्षत्रिय आदिका ही अधिकार इन श्रुतियोंके अनुसार है कि ब्राह्मण बृहस्पतिसव

१ सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म, विज्ञानमानन्दं ब्रह्म, अनन्तरो बाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव ।

२ ब्राह्मणो बृहस्पतिसवेन यजेत—राजा राजसूयेन यजेत—वैश्यो वैश्यस्तोमेन यजेत ।

यज्ञ करे क्षत्रिय वैश्य नहीं। राजा राजसूय यज्ञ करे, ब्राह्मण वैश्य नहीं। वैश्य वैश्यस्तोम यज्ञ करे ब्राह्मण क्षत्रिय नहीं । इसी प्रकार गौण मिथ्या मुख्य आत्माओंको भी अपने २ उचित व्यवहारोंमें प्रधानता है ॥ ४९ ॥

तत्रतत्रोचिते प्रीतिरात्मन्येवातिशायिनि ॥
अनात्मनि तु तच्छेषे प्रीतिरन्यत्र नोभयम् ॥ ५० ॥

अब फलितार्थको कहते हैं कि जिस २ व्यवहारमें जो २ आत्मा योग्य होता है उस २ व्यवहारमें उपयोगी होनेसे प्रधानभूत आत्माके विषय ही अधिक प्रीति होती है और उसके शेषभूत आत्मासे भिन्नमें केवल प्रीति होती है अत्यंत नहीं और आत्मा और शेषसे भिन्न जो जगत्की वस्तु हैं उनमें दोनों प्रकारकी प्रीति नहीं होती ॥ ५० ॥

उपेक्ष्यं द्वेष्यमित्यन्यद् द्वेधा मार्गतृणादिकम् ॥
उपेक्ष्यं व्याघ्रसर्पादि द्वेष्यमेवं चतुर्विधम् ॥ ५१ ॥

आत्मा और शेषसे जो अन्य है उसमें दोनों प्रकारकी प्रीति नहीं होती इस श्लोकमें कहे अन्य शब्दके भेदोंको कहते हैं कि अन्य पदसे कही जो वस्तु है वह उपेक्षाके योग्य और द्वेषके योग्यरूप भेदसे दो प्रकारकी होती है उन दोनोंमें मार्गतृण आदि उपेक्ष्य और व्याघ्र, सर्प आदि द्वेष्य होते हैं इस प्रकार चार प्रकारकी वस्तु होती हैं ॥ ५१ ॥

आत्मा शेष उपेक्ष्यं च द्वेष्यं चेति चतुर्ष्वपि ॥
न व्यक्तिनियमः किंतु तत्तत्कार्यात्तथा तथा ॥ ५२ ॥

चारों भेदोंको दिखाते हैं कि आत्मा, शेष, उपेक्ष्य, द्वेष्य इन चारोंमें भी व्यक्तिका नियम नहीं है अर्थात् यही प्रिय, उपेक्ष्य वा द्वेष्य है अन्य नहीं यह नियम नहीं है किंतु उपकार आदि उस २ कार्यके अनुसार वैसे २ प्रतीति होती है अर्थात् कार्यसे प्रिय आदि होते हैं ॥ ५२ ॥

स्याद्व्याघ्रः समुखो द्वेष्यो ह्युपेक्ष्यस्तु पराङ्मुखः ॥
लालनादनुकूलश्चेद्विनोदायेति शेषताम् ॥ ५३ ॥

सबमें अनियम समझनेके लिये प्रसिद्ध द्वेष्यरूप व्याघ्रमें नियमका अभाव दिखाते हैं कि जब व्याघ्र (सिंह) अपने संमुख भक्षण करनेके लिये आता है तब तो द्वेष्य (वैरी) होता है और जब वह पराङ्मुख हुआ जाता है तब उपेक्ष्य होता है और जब लाड़ करनेसे अपने अनुकूल होता है तब विनोदके लिये होनेसे अपना उपकारक (शेष) है इससे प्रिय होता है ॥ ५३ ॥

व्यक्तीनां नियमो मा भूल्लक्षणात्तु व्यवस्थितिः ॥
आनुकूल्यं प्रातिकूल्यं द्वयाभावश्च लक्षणम् ॥ ५४ ॥

कदाचित् कहो कि एक वस्तुको प्रिय आदि तीनरूप मानोगे तो व्यवहारकी व्यवस्था न होगी सो ठीक नहीं क्योंकि व्यक्तियोंका नियम मत हो तथापि लक्षणसे व्यवस्था हो जायगी। लक्षणोंको ही कहते हैं कि अनुकूलता प्रियका और प्रतिकूलता द्वेष्यका और अनुकूलता और प्रतिकूलता दोनोंका अभाव उपेक्ष्यका लक्षण होता है ॥ ५४ ॥

आत्मा प्रेयान् प्रियः शेषो द्वेषोपेक्षे तदन्ययोः ॥
इति व्यवस्थितो लोके याज्ञवल्क्यमतं च तत् ॥ ५५ ॥

इतने पूर्वोक्त ग्रंथके समूहसे कहे अर्थको बुद्धिमें आनेके लिये संक्षेपसे दिखाते हैं कि प्रत्यक् आनंदरूप आत्मा अत्यंत प्रिय है और अपना गौण जो शेष पदार्थ है वह प्रिय है और इन दोनोंसे अन्य जो मार्गतृण और व्याघ्र आदि हैं वे उपेक्ष्य और द्वेष्य क्रमसे होते हैं इस रीतिसे चार प्रकारकी जगत्की व्यवस्था है। इन चार प्रकारोंसे अन्य नहीं होता और यह बात याज्ञवल्क्य ऋषिको भी संमत है॥५५॥

अन्यत्रापि श्रुतिः प्राह पुत्राद्वित्तात्तथान्यतः ॥
सर्वस्मादंतरं तत्त्वं तदेतत्प्रेय इष्यताम् ॥ ५६ ॥

केवल मैत्रेयी ब्राह्मणमें ही आत्माको अत्यन्त प्रिय नहीं कहा है किन्तु पुरुषविधब्राह्मणमें भी कहा है इस अभिप्रायसे उसके इस बचनके अर्थको पढ़ते हैं कि अन्यत्र भी श्रुतिने कहा है कि पुत्र, धन और अन्यसे यह आत्मा इससे अत्यंत प्रिय इष्ट है कि यह सबका अंतरात्मारूप तत्त्व है ॥ ५६ ॥

श्रौत्या विचारदृष्ट्यायं साक्ष्येवात्मा न चेतरः ॥
कोशान्पंच विविच्यांतर्वस्तुदृष्टिर्विचारणा ॥ ५७ ॥

इस प्रकारका कथन श्रुतिमें रहे प्रकरणमें क्या आया इस लिये कहते हैं कि श्रुतिके अर्थकी विचारदृष्टिसे साक्षी ही मुख्य आत्मा है अन्य (पुत्र आदि) नहीं अब विचारदृष्टिको ही कहते हैं कि अन्नमय आदि पांच कोशोंको तैत्तिरीय श्रुतिमें कहे हुए प्रकारसे आत्मासे पृथक् जानकर अंतःकरणमें स्थित आत्माका जो ज्ञान उसको विचार कहते हैं ॥ ५७ ॥

---

१ तदेतत्प्रेयः पुत्रात्प्रेयो वित्तात्प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मादंतरंतरं यदयमात्मा ।

जागरस्वप्नसुप्तीनामागमापायभासनम् ॥
यतो भवत्यसावात्मा स्वप्रकाशचिदात्मकः ॥ ५८ ॥

अब अंतःस्थित वस्तुके दर्शनका प्रकार कहते हैं कि जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओंके मध्यमें उत्तर २ अवस्थाका आगमन और पूर्व २ अवस्थाकी निवृत्तिका भासन जिस चैतन्यरूप साक्षीसे होता है वह स्वप्रकाश चैतन्यरूप आत्मा है अन्य नहीं ॥ ५८ ॥

शेषाः प्राणादिवित्तांता आसन्नास्तारतम्यतः ॥
प्रीतिस्तथा तारतम्यात्तेषु सर्वेषु वीक्ष्यते ॥ ५९ ॥

संक्षेपसे कहे पूर्वोक्त अर्थका विस्तारसे वर्णन करते हैं कि शेष जो प्राण आदि वित्त (धन) पर्यंत साक्षीसे भिन्न हैं (जो आगे कहे जायंगे) वे पदार्थ जैसे तारतम्य (क्रम) से आत्माके आसन्न है अर्थात् समीपवर्ती है उसी प्रकार उन प्राण आदिकोंमें तारतम्यसे संपूर्ण जन प्रीतिको देखते हैं ॥ ५९ ॥

वित्तात्पुत्रः प्रियः पुत्रार्त्पिडः पिंडात्तथेन्द्रियम् ॥
इन्द्रियाच्च प्रियः प्राणः प्राणादात्मा प्रियः परः ॥ ६० ॥

प्रीतिके तारतम्यसे अनुभवको स्पष्ट करते हैं कि संपूर्ण प्राणी पुत्र आदिकी विपत्ति दूर करनेके लिये धनका व्यय करते हैं इससे वित्तसे पुत्र प्रिय है और अपने देहकी रक्षाके लिये कदाचित पुत्रको भी दे देते हैं इससे पुत्रकी अपेक्षा अपना पिंड (देह) प्रिय है और इंद्रियोंकी रक्षाके लिये ताडन आदिसे देहकी पीडाको भी सहते हैं इससे देहकी अपेक्षा इंद्रिय प्रिय हैं और मरणके प्रसंगमें मरणनिवृत्तिके लिये इंद्रियोंकी विकलताको भी स्वीकार करते हैं जैसे कि गलते पैरको काट देते हैं इससे इंद्रियोंकी अपेक्षा प्राण प्रिय हैं इस प्रकार उत्तर २ को अत्यन्त प्रेमका विषय सब जानते हैं और आत्मा तो परम प्रेमका आस्पद है यह तत्त्वज्ञानी जानते हैं । भावार्थ यह है कि धनसे पुत्र, पुत्रसे देह, देहसे इंद्रिय, इंद्रियसे प्राण, प्रिय होता है और आत्मा प्राणसे भी परम प्रिय होता है ॥ ६० ॥

एवं स्थिते विवादोऽत्र प्रतिबुद्धविमूढयोः ॥
श्रुत्योदाहारि तत्रात्मा प्रेयानित्येव निर्णयः ॥ ६१ ॥

इस पूर्वोक्त प्रकारसे आत्माको प्रमाणोंसे अत्यंत प्रिय सिद्ध होनेपर भी यहां तत्त्वज्ञानी और मूढ इनके विवादको दूर करनेके लिये श्रुतिने उनका विप्रतिपत्ति (विवाद) दिखाया है उस विवादमें यही निर्णय है कि आत्मा ही अत्यंत प्रिय है ॥ ६१ ॥

साक्ष्येव दृश्यादन्यस्मात्प्रेयानित्याह तत्त्ववित् ॥
प्रेयान्पुत्रादिरेवेमं भोक्तुं साक्षीति मूढधीः ॥ ६२ ॥

उस विवादको ही कहते हैं कि तत्त्वज्ञानी तो यह कहता है कि साक्षी आत्मासे भिन्न जो दृश्य (जगत्) उससे आत्मा ही अत्यंत प्रिय है और मूढबुद्धि यह कहता है कि पुत्र आदि ही अत्यंत प्रिय हैं साक्षी तो इनका भोक्ता है ॥ ६२ ॥

आत्मनोऽन्यं प्रियं ब्रूते शिष्यश्च प्रतिवाद्यपि ॥
तस्योत्तरं वचो बोधशापौ कुर्यात्तयोः क्रमात् ॥ ६३ ॥

आत्मासे भिन्नको जो प्रिय कहता है उस वादीके उत्तरको कहनेके लिये पृथक् २ उन वादियोंको ही दिखाते हैं शिष्य और प्रतिवादी ये दोनों आत्मासे अन्यको प्रिय कहें तो उन दोनोंको बोध और शाप ही प्रत्युत्तर क्रमसे करे ॥ ६३ ॥

प्रियं त्वां रोत्स्यतीत्येवमुत्तरं वक्ति तत्त्ववित् ॥
स्वोक्तप्रियस्य दुष्टत्वं शिष्यो वेत्ति विवेकतः ॥ ६४ ॥

उत्तररूप इस श्रुतिके अर्थको पढते हैं कि तत्त्वज्ञानी शिष्य और प्रतिवादी जो पूर्वोक्त दोनों हैं उनके प्रति इस एक ही उत्तरको कहे कि हे शिष्य ! और हे प्रतिवादिन् ! जिस पुत्र आदिको तू प्रिय मानता है वह अपने मरणसे तुझे रोदन करावेगा। कदाचित् कहो कि यह एक ही तत्त्वज्ञानीका वचन शिष्य और प्रतिवादी दोनोंका उत्तर कैसे हुआ यह शंका करके प्रथम शिष्यके प्रत्युत्तरको साढेचार ४॥ श्लोकोंसे कहते हैं कि उन दोनोंके मध्यमें शिष्य तो विवेकसे अपने कहे प्रियको दुष्ट जान लेता है कि ॥ ६४ ॥

अलभ्यमानस्तनयः पितरौ क्लेशयेच्चिरम् ॥
लब्धोऽपि गर्भपातेन प्रसवेन च बाधते ॥ ६५ ॥
जातस्य ग्रहरोगादिः कुमारस्य च मूर्खता ॥
उपनीतेऽप्यविद्यत्वमनुद्वाहश्च पंडिते ॥ ६६ ॥
यूनश्च परदारादि दारिद्र्यं च कुटुंबिनः ॥
पित्रोर्दुःखस्य नास्त्यंतो धनी चेन्म्रियते तदा ॥ ६७ ॥

दोषके विचारको ही दिखाते हैं कि अलभ्यमान (अप्राप्त) पुत्र माता-पिताको चिरकाल तक क्लेश देता है और प्राप्त (मिला) हुआ भी गर्भपात और प्रस-

१ स योऽन्यमात्मनः प्रियं ब्रुवाणं ब्रूयात् प्रियं रोत्स्यतीति ।

वसे बाधा करता है और पैदा हुए पुत्रको ग्रहोंकी पीडा और कुमारकी मूर्खता और यज्ञोपवीत होनेपर विद्याका न होना और पंडित भी होगया तो विवाहका न होना और यौवन अवस्थामें परस्त्रीका संग और पुत्रके कुटुंबी होनेपर दारिद्रता और धनी पुत्र हो जाय तो मरणके होनेपर दुःखदायी होता है इस प्रकार मातापिताके दुःखका अंत कभी भी नहीं होता ॥ ६५ ॥ ६६ ॥ ६७ ॥

एवं विविच्य पुत्रादौ प्रीतिं त्यक्त्वा निजात्मनि ॥
निश्चित्य परमां प्रीतिं वीक्षते तमहर्निशम् ॥६८ ॥

इस प्रकार यहां पुत्रपद दारा आदिका भी उपलक्षण है। पुत्र आदि विषयोंमें प्रीतिको त्याग कर अर्थात् दोषोंको देखकर अपने साक्षीरूप प्रत्यक् आत्मामें परम प्रीतिको निश्चय करक उस प्रत्यक् आत्माको ही शिष्य सदैव देखता है ॥६८॥

आग्रहाद्ब्रह्मविद्वेषादपि पक्षममुंचतः ॥
वादिनो नरकः प्रोक्तो दोषश्च बहुयोनिषु ॥ ६९ ॥

अब प्रतिवादीके प्रति जो प्रिय तुझे रोदन करावेगा यह उत्तर है उसकी शापरूपता प्रकट करते हैं कि आग्रहसे अर्थात् मैंने जो पुत्र आदिको प्रिय कहा है उसको सर्वथा न त्यागूँगा इस हठसे और इसके कहेका खंडन करूंगा इस ब्राह्मणके द्वेषसे अपने पक्षको नहीं छोडते हुए वादीको नरककी प्राप्ति और तिर्यक् आदि बहुत योनियोंमें पुत्र भार्या आदि इष्टका वियोग और अनिष्टकी प्राप्तिरूप दोष प्रिय तुझे रोदन करावेगा इस उत्तरके दाता ज्ञानीने कहा है। भावार्थ यह है कि आग्रह और ब्राह्मणके द्वेषसे पक्षको न छोड़ते वादीको नरक और बहुत योनियोंमें दुःख कहा है ॥ ६९ ॥

ब्रह्मविद्ब्रह्मरूपत्वादीश्वरस्तेन वर्णितम् ॥
यद्यत्तत्तथैव स्यात्तच्छिष्यप्रतिवादिनोः ॥ ७० ॥

कदाचित् कहो कि ज्ञानीका कहा पूर्वोक्त वचन शिष्यके प्रति उपदेशरूप और वादीके प्रति शापरूप कैसे होगा क्योंकि एकमें विरुद्ध दो रूप नहीं घट सकते यह शंका करके इस वचनके तात्पर्यको कहते हैं कि जिससे ब्रह्मज्ञानी अपनेको ब्रह्मका अनुभव होनेसे ईश्वररूप है इससे उसने जिस शिष्य आदिके प्रति जो २ इष्ट वा अनिष्ट कह दिया है वह २ शिष्य और प्रतिवादीको इष्ट अनिष्टरूपफल ज्ञानीके अभिप्रायक अनुसार अवश्य होता है ॥ ७० ॥

---

१ इश्वरो ह तथैव स्यात् ।

यस्तु साक्षिणमात्मानं सेवते प्रियमुत्तमम् ॥
तस्य प्रेयानसावात्मा न नश्यति कदाचन ॥ ७१ ॥

निषेध मुखसे कहे पूर्वोक्त अर्थके अन्वयमुखसे प्रतिपादक (बोधक) इस वाक्यके अर्थको पढते हैं कि अनात्म (देह आदि) को प्रिय कहनेवालेसे अन्य जो शिष्य हैं वह अपने प्रिय अर्थात् अत्यंत प्रेमके विषय साक्षीरूप आत्माकी ही सेवा करता है अर्थात् स्मरण करता है उस शिष्य आदिका अत्यन्त प्रिय माना यह आत्मा प्रतिवादीके माने हुए प्रियके समान कदाचित् नष्ट नहीं होता अर्थात् जैसे उत्तरके दाता तत्त्वज्ञानीको प्रिय ब्रह्मका सदा भान रहता है इसी प्रकार शिष्यको भी सदानंदरूप प्रिय ब्रह्मका सदैव भान रहता है भावार्थ यह है कि जो अत्यंत प्यारे साक्षीरूप आत्माका स्मरण करता है उसका अत्यंत प्यारा यह आत्मा कदाचित् भी नष्ट नहीं होता ॥ ७१ ॥

परप्रेमास्पदत्वेन परमानंदरूपता ॥
सुखवृद्धिः प्रीतिवृद्धौ सार्वभौमादिषु श्रुता ॥ ७२ ॥

इस प्रकार आत्माको परम प्रेमके आस्पदका हेतु सिद्ध करके फलितका वर्णन करते हैं कि परम प्रेमका आस्पद होनेसे आत्मा परमानंदरूप है । यहां यह अनुमान है कि आत्मा परमानंदरूप है, अत्यंत प्रेमका आस्पद होनेसे, जो परमानंदरूप नहीं होता वह अत्यंत प्रेमका आस्पद भी नहीं होता, जैसे घट आदि । यह केवल व्यतिरेकी अनुमान है । अब परम प्रेमके आस्पदरूप हेतुकी आत्माके परमानंदरूप साधनेमें सामर्थ्य दिखानेके लिये प्रीतिकी वृद्धिमें सुखकी वृद्धिको कहते हैं कि सम्पूर्ण भूमिके राज्य आदि ब्रह्मलोक पर्यंत जितनी पदवी हैं उनमें जहां २ प्रीति बढती है वहां २ सुखकी वृद्धि है यह तैत्तिरीय और बृहदारण्यक श्रुतियोंमें कहा है इससे उत्तम प्रीतिके होनेसे आनंदकी भी उत्तमता जाननेको शक्य है । भावार्थ यह है कि जिससे चक्रवर्ती राज्य आदि पदवियोंमें प्रीतिकी वृद्धिसे सुखकी वृद्धि सुनी है इससे परम प्रेमका आस्पद होनेसे आत्मा परमानंदरूप है ॥ ७२ ॥

चैतन्यवत्सुखं चास्य स्वभावश्चेच्चिदात्मनः ॥
धीवृत्तिष्वनुवर्तेत सर्वास्वपि चितियथा ॥ ७३ ॥

वादी शंका करता है कि चिदात्माका चैतन्यके समान सुख भी यदि स्वभाव (रूप) है तो चैतन्यके समान उस आत्माके स्वरूपभूत आनंद (सुख) का भी

१ आत्मानमेव प्रियमुपासीत स य आत्मानमेव प्रियमुपास्ते नेहास्य प्रियं प्रमायुकं भवति

संपूर्ण बुद्धिकी वृत्तियोंमें अनुवर्तन (जाना) हो जायगा इससे आत्मा परमानंद-रूप नहीं हो सकता ॥ ७३ ॥

मैवमुष्णप्रकाशात्मा दीपस्तस्य प्रभागृहे ॥
व्याप्नोति नोष्णता तद्वच्चितेरेवानुवर्तनम् ॥ ७४ ॥

चित् आनंद इन दोनोंका आत्मस्वरूप होनेपर भी वृत्तियोंमें चैतन्यकी ही अनुवृत्ति होती है आनंदकी नहीं यह बात दृष्टांतके बलसे कहते हैं यह पूर्वोक्त शंकाका समाधान करते हैं कि ऐसा मत कहो क्योंकि जैसे दीपक उष्ण और प्रकाशरूप है पर उसकी प्रभा ही गृह आदिमें जाती है उष्णता नहीं जाती इसी प्रकार बुद्धियोंकी वृत्तियोंमें चैतन्य (चिति) का ही अनुवर्तन होता है आनंदका नहीं होता ॥ ७४ ॥

गंधरूपरसस्पर्शेष्वपि सत्सु यथा पृथक् ॥
एकाक्षेणैक एवार्थो गृह्यते नेतरस्तथा ॥ ७५ ॥

कदाचित् कहो कि चित् और आनंद ये दोनों एक हैं इससे चैतन्यकी व्यंजक (बोधक) जो बुद्धिकी वृत्ति हैं उनमें ही आनंदकी भी प्रकटता हो जायगी इस शंकाका पूर्वोक्त नियमके अभावसे परिहार करते हैं कि जैसे एक द्रव्यमें वर्तमान गंध रूप रस स्पर्श आदिके मध्यमें घ्राण आदि एक इंद्रियसे गंध आदि एक ही गुण जाना जाता है अन्य रूप आदि नहीं जाना जाता इसी प्रकार चैतन्यका ही भान होता है, आनंदका नहीं ॥ ७५ ॥

चिदानंदौ नैव भिन्नौ गंधाद्यास्तु विलक्षणाः ॥
इति चेत्तदभेदोऽपि साक्षिण्यन्यत्र वा वद ॥ ७६ ॥

अब दृष्टांत और दार्ष्टांतिकके वैषम्यकी शंका करते हैं कि चित् और आनंद ये दोनों भिन्न नहीं है और गंध आदि तो विलक्षण (भिन्न २) है ऐसा कहोगे तो इसमें यह विकल्प है चित् आनंदका और अभेद स्वाभाविक है वा औपाधिक है अर्थात् चित् आनंदकी एकता आत्मस्वरूप साक्षीमें है वा साक्षीकी उपाधिभूत उपाधियोंमें है यह तुम कहो ॥ ७६ ॥

आद्ये गंधादयोऽप्येवमभिन्नाः पुष्पवर्तिनः ॥
अक्षभेदेन तद्भेदे वृत्तिभेदात्तयोर्भिदा ॥ ७७ ॥

पहले पक्षमें दृष्टांत और दार्ष्टांतिकके साम्यको कहते हैं प्रथम पक्षमें साक्षीके विषे चित् व आनंदका अभेद मानते हो तो पुष्पमें वर्तमान गंध आदि भी इसी प्रकार परस्पर चित् आनंदके तुल्य अभिन्न हैं क्योंकि अन्यको छोडकर एकको

नहीं लासकते अब दूसरे पक्षमें भी साम्यताको कहते हैं कि गंध आदिकी ग्राहक इंद्रियोंके भेदसे गंध आदिका भेद मानोगे तो उसी प्रकार चित् आनंदकी व्यंजक वृत्तियोंके भेदसे अर्थात् वृत्तियोंके रजोगुणी सत्त्वगुणी भेदसे चित् आनंदका भी भेद हो जायगा तो कुछ हानि नहीं है ॥ ७७ ॥

सत्त्ववृत्तौ चित्सुखैक्यं तद्वृत्तेर्निर्मलत्वतः ॥
रजोवृत्तेस्तु मालिन्यात्सुखांशोऽत्र तिरस्कृतः ॥ ७८ ॥

अब चित् और आनंद इन दोनोंका भान कहां होता है इस शंकाका उत्तर देते हैं कि शुभकर्मसे प्राप्त हुई सत्त्वगुणका परिणामरूप जो बुद्धिकी वृत्ति है उसमें चित् और सुखकी एकता भासती है क्योंकि वह वृत्ति निर्मलरूप है और रजोगुणका परिणामरूप जो वृत्ति है उसको मलिन होनेसे उसमें सुखरूप अंशका तिरस्कार होता है अर्थात् सुख नहीं भासता ॥ ७८ ॥

तिंतिणीफलमत्यम्लं लवणेन युतं यदा ॥
तदाम्लस्य तिरस्कारादीषदम्लं यथा तथा ॥ ७९ ॥

अब विद्यमान भी सुख अंशके तिरस्कारमें दृष्टांत देते हैं कि जैसे अत्यंत अम्ल तिंतिणी (इमली) के फलमें लवणके योगसे अत्यंत अम्लता (खटाई) का तिरस्कार होता है इसी प्रकार रजोगुणी वृत्तिमें आनंदका तिरस्कार (छिपाव) होता है ॥ ७९ ॥

ननु प्रियतमत्वेन परमानंदतात्मनि ॥
विवेक्तुं शक्यतामेवं विना योगेन किं भवेत् ॥ ८० ॥

अब गूढ अभिप्रायसे शंका करते हैं कि पूर्वोक्त प्रकारसे आत्माका परमानंद रूप परमप्रेमके आस्पदरूप हेतुसे गौण, मिथ्या, आत्मारूप जो प्रिय, उपेक्ष्य, द्वेष्य हैं उनसे पृथक् जाननेको शक्य है तो उस आत्माके परमानंदरूपको जानो तथापि यह विवेक मुक्तिका हेतु नहीं है क्योंकि अपरोक्षज्ञानके द्वारा मुक्तिका हेतु योगको ही कहा है ॥ ८० ॥

यद्योगेन तदेवेति वदामो ज्ञानसिद्धये ॥
योगः प्रोक्तो विवेकेन ज्ञानं किं नोपजायते ॥ ८१ ॥

गूढ अभिप्रायसे ही उत्तर देते हैं कि जैसे योग अपरोक्षज्ञानका हेतु है ऐसे ही विवेक भी अपरोक्ष ज्ञानका हेतु है यह गूढ अभिप्राय है अब गूढ अभिप्राय जो शंका

समाधानमें कहा उसको प्रगट करते हैं कि जैसे पूर्व अध्यायमें अपरोक्ष ज्ञानका साधन योगको कहा है इसी प्रकार इस अध्यायमें कहा जो गौण आदि आत्माके विवेकद्वारा पंचकोशोंका विवेक उससे भी अपरोक्षज्ञान पैदा होता है भावार्थ यह है कि जो योगसे होता है वह विवेकसे भी यह हम कहते हैं क्योंकि जैसे ज्ञानकी सिद्धिके लिये योगको कहा है वैसे ही क्या विवेकसे ज्ञान नहीं होता अर्थात् अवश्य होता है॥८१॥

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ॥
इति स्मृतं फलैकत्वं योगिनां च विवेकिनाम् ॥ ८२ ॥

अब पूर्वोक्तमें प्रमाण कहते हैं कि आत्मा और अनात्माके विवेकी सांख्य शास्त्रके ज्ञाता जिस मोक्षरूप स्थानको प्राप्त होते हैं योगीजन भी उसी स्थानको प्राप्त होते हैं इस श्रीकृष्णचन्द्रके कहे वाक्यसे योगी और विवेकियोंको एक ज्ञानके द्वारा मोक्षरूप फल कहा है ॥ ८२ ॥

असाध्यः कस्यचिद्योगः कस्यचिज्ज्ञाननिश्चयः ॥
इत्थं विचार्य मार्गौ द्वौ जगाद परमेश्वरः ॥ ८३ ॥

कदाचित् कहो कि विवेक और योगका एक ही फल है तो इन दोनोंमें एकका ही वर्णन शास्त्रोंमें क्यों न कहा यह शंका करके अधिकारीके भेदसे दोनोंका प्रतिपादन युक्त है इस अभिप्रायसे कहते हैं कि किसीको तो योग असाध्य है और किसीको ज्ञानका निश्चय (विवेक) आसाध्य है यह विचारकर परमेश्वरने दो मार्ग कहे हैं ॥ ८३ ॥

योगे कोऽतिशयस्तेऽत्र ज्ञानमुक्तं समं द्वयोः ॥
रागद्वेषाद्यभावश्च तुल्यो योगिविवेकिनोः ॥ ८४ ॥

अत्यंत परिश्रमसे साध्य जो योग उससे विना परिश्रम सुलभ जो विवेक उसे अधिकता कहनी योग्य है यह शंका करके उस अधिकताको अपरोक्षज्ञानका जनक होनेसे कहते हो वा राग द्वेष आदिका निवर्तक होनेसे अथवा द्वैतकी अप्राप्तिका कारण होनेसे कहते हो ये तीन विकल्प करके प्रथमपक्षमें फलकी साम्यताको कहते हैं कि जब विवेक और योगका ज्ञानरूप फल समान कह आये हैं तो योगमें क्या उत्तमता है अर्थात् कुछ भी नहीं अब दूसरे पक्षमें भी तुल्यताको कहते हैं कि योगी और विवेकीको राग द्वेष आदिका अभाव भी तुल्य है इससे योग विवेकसे अधिक नहीं ॥ ८४ ॥

न प्रीतिर्विषयेष्वस्ति प्रेयानात्मेति जानतः ॥
कुतो रागः कुतो द्वेषः प्रातिकूल्यमपश्यतः ॥ ८५ ॥

अब विवेकीको राग आदिका अभाव कहते हैं कि आत्मा अत्यंत प्रिय है यह जानते हुए पुरुषकी विषयोंमें प्रीति नहीं होती क्योंकि विषयोंमें प्रीतिकी हेतु अनुकूलताका ज्ञान नहीं है और विषयोंको प्रतिकूल नहीं देखता जो विवेकी है उसको विषयोंमें द्वेष भी नहीं होता ॥ ८५ ॥

देहादेः प्रतिकूलेषु द्वेषस्तुल्यो द्वयोरपि ॥
द्वेषं कुर्वन्न योगी चेदविवेक्यपि तादृशः ॥ ८६ ॥

कदाचित् कहो कि व्यवहारदशामें विवेकीको भी देह आदिके उपद्रवकर्ताओंमें द्वेष देखते हैं यह शंका करके उसका भी योगी और विवेकीकी तुल्यतासे परिहार करते हैं कि देह आदिके प्रतिकूल वृश्चिक आदिके विषे जो द्वेष विवेकीको है वह द्वेष तो दोनोंको तुल्य है अर्थात् योगीको भी व्यवहारदशामें प्रतिकूल पदार्थोंमें द्वेष है यदि प्रातिकूल वृश्चिक आदिमें द्वेषके कर्ताको आप योगी नहीं मानते तो उक्त द्वेषका कर्ता विवेकी भी विवेकवान् नहीं होता इससे दोनों तुल्य हैं ॥ ८६ ॥

द्वैतस्य प्रतिभानं तु व्यवहारे द्वयोः समम् ॥
समाधौ नेति चेत्तद्वन्नद्वैतत्वविवेकिनः ॥ ८७ ॥

कदाचित् कहो विवेकीको द्वैतका ज्ञान है योगीको नहीं इस पूर्वोक्त तीसरे विकल्पमें योगीकी अधिकता होजायगी यह शंका करके-विवेकीको द्वैतका ज्ञान व्यवहारदशामें कहते हो वा अन्य कालमें ये दो विकल्प करके पहलेमें दोनोंकी समानता कहते हैं कि व्यवहादशामें द्वैतका भान योगी और विवेकी दोनोंको समान है यदि यह कहो कि योगीको समाधिकालमें द्वैतका दर्शन नहीं है तो विवकीको भी अद्वैत ही तत्त्व है इस प्रकारसे विवेककी दशामें द्वैतके दर्शनका अभाव है इससे दोनोंकी तुल्यता है । भावार्थ यह है कि योगी और विवेकीको व्यवहारदशामें द्वैतका भान समान है। कदाचित् कहो कि योगीको समाधिमें द्वैतका भान नहीं है तो अद्वैतकी विवेकदशामें विवेकीको भी द्वैतका भान नहीं है इससे दोनों तुल्य हैं ॥८७॥

विवक्ष्यते तदस्माभिरद्वैतानंदनामके ॥
अध्याय हि तृतीयेऽतः सर्वमप्यतिमंगलम् ॥ ८८ ॥

कदाचित् कहो कि विवेकीको द्वैतज्ञानका अभाव कैसे है यह शंका करके कहते हैं कि वह विवेकीको द्वैतदर्शनका अभाव अद्वैतानंद नामके इससे अगले तीसरे

अध्यायमें कहेंगे अब पूर्वोक्त अर्थको पूर्ण करते हैं कि इससे संपूर्ण अत्यंत मंगल है अर्थात् कहीं भी दोष नहीं है ॥ ८८ ॥

सदा पश्यन्निजानंदमपश्यन्निखिलं जगत् ॥
अर्थाद्योगीति चेत्तर्हि संतुष्टो वर्द्धतां भवान् ॥ ८९ ॥

कदाचित् कहो कि द्वैतके अज्ञानसहित आत्मज्ञानी योगी हो जायगा यह शंका करके कहते हैं कि सदैव निजानंदको जो देखे और संपूर्ण जगत्को न देखे वह अर्थात् योगी होता है यह यदि आप कहोगे तो परमेश्वर आपकी संतोषसे वृद्धि करे अर्थात् यह हमको भी इष्ट है ॥ ८९ ॥

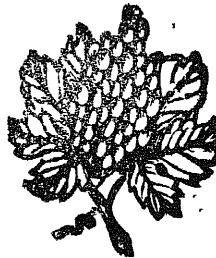
ब्रह्मानंदाभिधे ग्रंथे मंदानुग्रहसिद्धये ॥
द्वितीयाध्याय एतस्मिन्नात्मानंदो विवेचितः ॥ ९० ॥

अब अध्यायके तात्पर्यको संक्षेपसे दिखाते हैं कि मंदबुद्धि जिज्ञासुओंपर अनुग्रहके लिये ब्रह्मानन्दनामके ग्रंथमें जो यह दूसरा अध्याय है उसमें आत्मानंदका विवेचन किया ॥ ९० ॥

इति श्रीमत्परमहंस० पं० विद्यारण्यविरचितायां पंचदश्यां
ब्रह्मानंदे आत्मानंदो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

इति विद्यारण्यमुनिवर्यकृतपंचदश्यां पं० मिहिरचंद्रकृतभाषाविवृति-
सहितायां ब्रह्मानन्दे आत्मानंदो नाम द्वि० ॥ २ ॥

इति ब्रह्मानन्दे आत्मानन्दप्रकरणम् ॥ १२ ॥



ब्रह्मानन्दे अद्वैतानदप्रकरणम् १३.

योगानंदः पुरोक्तो यः स आत्मानंद इष्यताम् ॥
कथं ब्रह्मत्वमेतस्य सद्वयस्येति चेच्छृणु ॥ १ ॥

कदाचित् कहो कि ब्रह्मानंद, विद्यानंद, विषयानंद भेदसे तीन प्रकारके ही आनंदकी प्रतिज्ञा पहले अध्यायमें करके द्वितीय अध्यायमें आत्मानन्दके निरूपणसे उसका विरोध होगा यह शंका करके कहते हैं कि जो पहले योगानंद कहा है वही आत्मानंद इष्ट है अर्थात् जैसे प्रतिज्ञा किया ब्रह्मानंद योगसे उत्पन्न हुए साक्षात्कारका विषय होनेसे योगानंदरूप है और निरुपाधिक (उपाधिरहित) होनेसे निजानंदरूप है वैसे ही उसी ब्रह्मानंदको गौण, मिथ्या, मुख्य, आत्माके विवेकसे जाननेकी इच्छासे आत्मानंदता कही है। कदाचित् कहो कि सजातीय,पुत्र, भार्या आदिरूप गौण आत्मासे और मिथ्या आत्मरूप देह आदिसे और विजातीय आकाश आदिसे भिन्न जो द्वैतसहित आत्मानंद है वह प्रथम अध्यायमें कहे अद्वितीययोगानंदरूप नहीं हो सकता यह शंका करते हैं कि यह सद्वितीय आत्मानंद ब्रह्मानंद कैसे हो सकता है इस शंकाका उत्तर देते हैं कि सजातीय माने हुए गौण आत्मारूप पुत्र आदि और मिथ्यारूप देह आदि और तैत्तिरीय श्रुतिम कहे जगत्के अंतर्गत आकाश आदि और जगत् ये सब आत्मानंदके विना असत् (मिथ्या) हैं इससे सद्वितीय आत्मानंद अद्वितीय ब्रह्मरूप हो सकता है इस आशयसे बहुत मानपूर्वक उत्तर देते हैं कि सुनो भावार्थ यह है कि जो पहले अध्यायमें योगानंद कहा है वही आत्मानंद इष्ट है। कदाचित् कहो कि द्वैतसहित उसको ब्रह्मत्व कैसे है इसका उत्तर सुनो कि ॥ १ ॥

आकाशादिस्वदेहांतं तैत्तिरीयश्रुतीरितम् ॥
जगन्नास्त्यन्यदानंदादद्वैतब्रह्मता ततः ॥ २ ॥

उस इस आत्मासे आकाश हुआ इत्यादि तैत्तिरीय श्रुतिसे कहा जो आकाश आदि स्वदेह पर्यंत जगत् है वह आनंदसे भिन्न जिससे नहीं है इससे वह आत्मानंद अद्वितीय ब्रह्मरूप है ॥ २ ॥

आनंदादेव तज्जातं तिष्ठत्यानंद एव तत् ॥
आनद एव लीनं चेत्युक्तानंदात्कथं पृथक् ॥ ३ ॥

---

१ तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः ।

कदाचित् कहो कि पूर्वोक्त श्रुतिवाक्यमें आत्माको कारण कहा है आनंदको नहीं यह शंका करके तैत्तिरीयश्रुतिकेही इस वाक्यके अर्थको पढते हैं कि आनंदसे ही यह जगत् पैदा होता है, आनंदमें ही टिकता है आर आनंदमें ही लीन होता है इससे पूर्वोक्त आनंदसे पृथक् कैसे हो सकता है। यहां यह अनुमान है कि विवादका स्थान जगत् आनंदसे भिन्न नहीं है, आनंदका कार्य होनेसे, जो २ कार्य होता है वह २ अपने कारणसे भिन्न नहीं होता जैसे मिट्टीका कार्य घट मिट्टीसे भिन्न नहीं होता है ॥ ३ ॥

कुलालाद्धट उत्पन्नो भिन्नश्चेति न शंक्यताम् ॥
मृद्वदेष उपादानं निमित्तं न कुलालवत् ॥ ४ ॥

कुलालसे पैदा हुए भी घटको कुलालसे भिन्न देखते हैं इससे पूर्वोक्त अनुमानमें जो हेतु है वह व्यभिचारी है अर्थात् कार्य कारणसे भिन्न नहीं होता यह नियम नहीं है यह शंका न करो क्योंकि यह आनंद पृथिवीके समान उपादान कारण हैं कुलालके समान निमित्त कारण नहीं ॥ ४ ॥

स्थितिर्लयश्च कुंभस्य कुलाले स्तो नहि क्वचित् ॥
दृष्टौ तौ मृदि तद्वत्स्यादुपादानं तयोः श्रुतेः ॥ ५ ॥

कदाचित् कहो कि कुलालको भी उपादानकारण क्यों नहीं मानते सो ठीक नहीं क्योंकि स्थिति और लयके आधारको उपादान कहते हैं यह उपादानका लक्षण उसमें नहीं घटता जिस कारणसे घटकी स्थिति और लयका आधार कुलाल नहीं होता इससे कुलाल घटका उपादान नहीं है और घटकी स्थिति और लय ये दोनों भूमिमें ही देखते हैं इससे भूमि जैसे घटका उपादान है इसी प्रकार आनंद भी जगत्का उपादान है क्योंकि जगत्की स्थिति और लय ये दोनों 'आनंदाद्ध्येव०'[1] इस पूर्वोक्त वचनमें आनंदमें ही सुने हैं ॥ ५ ॥

उपादानं त्रिधा भिन्नं विवर्ति परिणामि च ॥
आरंभकं च तत्रांत्यौ न निरंशेऽवकाशिनौ ॥ ६ ॥

अब आनंदको अपनेको इष्ट जगत्का उपादान कहनेके लिये उपादानके अवांतर भेदोंको कहते हैं कि विवर्ती और परिणामी और आरंभक भेदसे उपादान तीन प्रकारका होता है। उन तीनाम विवर्तको ही शेषके लिये अन्य दो पक्षोंमें दोष देते

---

१ आनंदाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायंते आनंदेन जातानि जीवंति आनंदं प्रयन्त्यभिसंविशंति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म ।

हैं कि उन तीनों पक्षोंमें अंत्यके जो आरंभ और परिणामि पक्ष हैं उन दोनोंका निरवयव वस्तु (ब्रह्म) में अनवकाश है अर्थात् नहीं घट सकत हैं ॥ ६ ॥

आरंभवादिनोऽन्यस्मादन्यस्योत्पत्तिमूचिरे ॥
ततोः पटस्य निष्पत्तेर्भिन्नौ तंतुपटौ खलु ॥ ७ ॥

उन दोनों पक्षोंका अनवकाश दिखानेके लिये प्रथम आरंभकवादीके मतका अनुवाद करते हैं कि वैशेषिक आदि जो आरंभवादी हैं वे अन्यसे अन्यकी ही उत्पत्तिको कहते हैं अर्थात् कारणकी अपेक्षा भिन्न ही कार्य उत्पन्न होता है यह मानते हैं क्योंकि तंतुसे पटकी उत्पत्तिको देखते हैं । कदाचित् कहो कि ऐसे देखनेसे कार्यकारणका भेद कैसे सिद्ध हो सकता है सो ठीक नहीं क्योंकि तंतु और पट ये दोनों निश्चयसे भिन्न हैं क्योंकि दोनोंका परिणामि उपादान भिन्न २ है और भिन्न २ अर्थ और क्रियाको करते हैं भावार्थ यह है कि आरंभवादी अन्यसे अन्यकी उत्पत्तिको कहते हैं क्योंकि तंतुसे पटकी उत्पत्ति होती है इससे निश्चय है कि तंतु और पट भिन्न २ हैं ॥ ७ ॥

अवस्थांतरतापत्तिरेकस्य परिणामिता ॥
स्यात्क्षीरं दधि मृत्कुंभः सुवर्णं कुंडलं यथा ॥ ८ ॥

अब परिणामका स्वरूप कहते हैं कि एक ही वस्तु यदि पूर्व अवस्थाको त्यागकर अन्य अवस्थाको प्राप्त हो जाय उसे परिणाम कहते हैं जैसे दूध दही मिट्टी घट और सुवर्ण कुंडल होजाता है अर्थात् ये दूध आदि 'दूध है' इस आदि व्यवहारयोग्यताको छोडकर दही आदि व्यवहारकी योग्यताको प्राप्त हो जाते हैं ॥ ८ ॥

अवस्थांतरभानं तु विवर्त्तो रज्जुसर्पवत् ॥
निरंशेऽप्यस्त्यसौ व्योम्नि तलमालिन्यकल्पनात् ॥ ९ ॥

अब विवर्तका लक्षण कहते हैं कि पूर्व अवस्थाको न छोडकर जो अन्य अवस्थाका भान (प्रतीति) उसे विवर्त कहते हैं जैसे रज्जुरूपसे स्थित ही द्रव्य सर्प रूपसे प्रतीत होता है । कदाचित् कहो कि विवर्तभावको प्राप्त रज्जु आदि तो सावयव हैं निरवयव ब्रह्ममें विवर्त उपादान भी न घटेगा सो ठीक नहीं क्योंकि निरवयवमें भी यह विवर्त होता है क्योंकि अवयवरहित आकाशमें तल(नीचे मुखके कटाहकी तुल्यता) और मालिन्य (नीलवर्ण) इन दोनोंकी कल्पना वे करते हैं जो आकाशके स्वरूपको नहीं जानते इससे ब्रह्म विवर्त उपादान है अतात्त्विक (झूटी) अन्यथा प्रतीतिको विवर्त और तात्त्विक (सच्ची) अन्यथा प्रतीतिको परिणाम कहते हैं । भावार्थ यह है कि अन्य अवस्थाके भान रज्जुसर्पके समान विवर्त होता है और वह आकाशमें तल और मालिन्यकी कल्पनासे निरवयवमें भी होता है ॥ ९ ॥

ततो निरंश आनंदे विवर्तो जगदिष्यताम् ॥
मायाशक्तिः कल्पिका स्यादैंद्रजालिकशक्तिवत् ॥ १० ॥

अब फलितको कहते हैं कि जिससे निरवयवमें भी विवर्त हो सकता है इससे निरवयव आनंदमें जगत् विवर्त (कल्पित) मानो कदाचित् कहो कि अद्वितीय आनंदमें कल्पनाकर्ताके अभावसे जगत्की कल्पना नहीं बन सकती सो ठीक नहीं क्योंकि मायारूप शक्ति ऐंद्रजालिककी शक्तिके समान कल्पना करनेवाली है अर्थात् जैसे इंद्रजाली मनुष्यमें विद्यमान मणि मंत्र आदिरूप मायारूप शक्ति गंधर्व-नगर आदिकी कल्पना करती है वैसे ब्रह्मकी शक्तिरूप माया जगत्की कल्पना करलेती है ॥ १० ॥

शक्तिः शक्तात्पृथङ्‌ नास्ति तद्वद्दृष्टेर्न चाभिदा ॥
प्रतिबधस्य दृष्टत्वाच्छक्त्यभावे तु कस्य सः ॥ ११ ॥

कदाचित् कहो कि आनंदरूप आत्मासे भिन्न मायाको मानोगे तो द्वैत हो जायगा यह शंका करके अनिर्वचनीयरूप मायाको अनृत (मिथ्या) कहनेके लिये आगे जो लौकिक अग्नि आदिकी शक्ति कहेंगे प्रथम उसको ही भेदरूपसे वा अभेदरूपसे नहीं कह सकते यह दिखाते हैं स्फोट (फफोला) आदिकी उत्पादक जो अग्नि आदिमें वर्तमान शक्ति है वह शक्ति (अग्नि आदिके रूप) से भिन्न नहीं है क्योंकि भिन्न शक्तिको नहीं देखते हैं अर्थात् अग्निके स्वरूपसे पृथक् शक्ति प्रतीत नहीं होती है और अग्निसे अभिन्न (अग्निरूप) भी शक्ति नहीं है, क्योंकि मणिमंत्र आदिसे अग्निका कार्य जो स्फोट आदि है इसका प्रतिबंध देखते हैं, इससे यह मानो कि अग्निके स्वरूपसे भिन्न शक्ति है कदाचित् कहो कि प्रतिबंध भी दीखे और शक्ति भिन्न भी न हो तो क्या दोष है, सो ठीक नहीं क्योंकि शक्तिके अभावमें प्रतिबंध किसका होगा अर्थात् प्रत्यक्ष दीखते हुए अग्नि आदिके स्वरूपका तो प्रतिबंध असंभव है, उस स्वरूपसे भिन्न शक्ति न मानोगे तो प्रतिबंध किसका होगा भावार्थ यह है कि शक्ति शक्तिमान्से पृथक् नहीं है क्योंकि भिन्न दीखती नहीं और प्रतिबंधके देखनेसे अभिन्न भी नहीं क्योंकि शक्तिके अभावमें प्रतिबंध किसका होगा ॥ ११ ॥

शक्तेः कार्यानुमेयत्वादकार्ये प्रतिबंधनम् ॥
ज्वलतोऽग्नेरदाहे स्यान्मंत्रादिप्रतिबंधता ॥ १२ ॥

कदाचित् कहो कि अतींद्रिय शक्तिका प्रतिबंध कैसे होगा सो ठीक नहीं क्योंकि अतीन्द्रिय भी शक्ति जिससे कार्यरूप हेतुसे जानी जाती है इससे कारणके विद्यमान

रहते भी कार्यके न होनेसे प्रतिबंध जाना जाता है इसी अर्थको स्पष्ट करते हैं कि जलती हुई अग्निसे दाह आदि कार्यके न होनेपर मंत्र आदि शक्तिके प्रतिबंधक हो सकते हैं ॥ १२ ॥

देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढा मुनयोऽविदन् ॥
परास्य शक्तिर्विविधा क्रिया ज्ञानफलात्मिका ॥ १३ ॥

इस प्रकार लौकिक शक्तिके स्वरूप और प्रमाणको दिखाकर अब मायाशक्तिके होनेमें इस श्वेताश्वतर उपनिषद्वाक्यके अर्थको पढते हैं कि जगत्के कारणोंके ज्ञानार्थ ध्यानयोगमें भले प्रकार स्थित और काल स्वभाव आदि भी कारण हैं ये जो कारणोंके मत हैं उनमें दोषके द्रष्टा वे मुनीश्वर अपने कार्यरूप जो स्थूल सूक्ष्म शरीर हैं उनसे निरंतर गूढ (छिपी) हुई स्वप्रकाश चिदात्मा (प्रत्यक्से अभिन्न) ब्रह्मकी शक्तिको जानते हुए अब उसी उपनिषद्के इस वाक्यका जो अर्थ उसको पढते हैं कि, इस ब्रह्मकी परम (उत्तम) जगत्का कारण जो शक्ति है वह अनेक प्रकारकी सुनी जाती है अब अनेक प्रकारोंको ही दिखाते हैं कि, ज्ञानक्रिया बलरूप अर्थात् ज्ञानक्रिया ये दोनों प्रसिद्ध हैं और बलसे इच्छाशक्ति लेना और ज्ञान क्रियाशक्तिके साहचर्यसे क्रिया आदि शक्ति जिसका रूप है जिसके ऐसी क्रिया, ज्ञान बलरूप उस ब्रह्मकी शक्ति है। भावार्थ यह है कि अपने गुणोंसे छिपी जो स्वप्रकाशचिदात्मकी शक्ति है उसको मुनियोंने जाना और इस ब्रह्मकी क्रिया ज्ञान बलरूपसे अनेक प्रकारकी श्रेष्ठ है ॥ १३ ॥

इति वेदवचः प्राह वसिष्ठश्च तथाऽब्रवीत् ॥
सर्वशक्तिपरं ब्रह्म नित्यमापूर्णमद्वयम् ॥ १४ ॥

अब पूर्वोक्त दोनों वचनोंका स्थान कहते हैं कि, यह पूर्वोक्त बात वेदके वचनमें कही है और केवल वेदमें ही प्रसिद्ध माया नहीं है किंतु स्मृतिमें भी प्रसिद्ध है कि, जैसे श्रुतिने विचित्र मायाशक्ति कही है इसी प्रकार वसिष्ठने भी योगवासिष्ठ ग्रंथमें कही है अब मायाके बोधक योगवासिष्ठके ही श्लोकोंको पढते हैं कि, परब्रह्म सर्वशक्ति है अर्थात् उस ब्रह्मका सोपाधिक रूप सर्वशक्ति है और वह नित्य आपूर्ण और अद्वय है अर्थात् ये ब्रह्मके पारमार्थिक रूप हैं भावार्थ यह है कि, यह वेदवाक्यने कहा है और वैसे ही वसिष्ठने कहा है कि, वह परब्रह्म सर्वशक्ति है और नित्य पूर्ण अद्वितीय है ॥ १४ ॥

---

१ ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम् । २ परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ।

यथोल्लसति शक्त्यासौ प्रकाशमधिगच्छति ॥
चिच्छक्तिर्ब्रह्मणो राम शरीरेषूपलभ्यते ॥ १५ ॥

वह परब्रह्म जिस कालमें जिस मायाशक्तिसे उल्लास (विवर्त) को प्राप्त होता है तब २ वही २ शक्ति प्रकाशताको प्राप्त होती है अर्थात् प्रकट हो जाती है प्रकटताको ही दिखाते हैं कि, हे राम ! ब्रह्मकी चिद्रूत जो शक्ति है वह देव तिर्यक् मनुष्यरूप शरीरोंमें चेतन व्यवहारका हेतु होनेसे दीखती है अर्थात् मिलती है॥१५॥

स्पंदशक्तिश्च वातेषु दार्ढ्यशक्तिस्तथोपले ॥
द्रवशक्तिस्तथांभःसु दाहशक्तिस्तथानले ॥ १६ ॥

और पवनमें चलनेकी हेतुस्पंदशक्ति और वैसे ही पत्थरमें दृढताशक्ति और जलमें द्रव (बहना) शक्ति और अग्निमें दाहशक्ति प्रकाशको प्राप्त होती है प्रकाश होनेके कहनेसे अप्रकट अवस्थामें भी ब्रह्ममें जगत्‌की सत्ता दिखाई ॥ १६ ॥

शून्यशक्तिस्तथाकाशे नाशशक्तिर्विनाशिनि ॥
यथांडेऽतर्महासर्पो जगदस्ति तथात्मनि ॥ १७ ॥

और वैसे ही आकाशमें शून्यशक्ति और विनाशी पदार्थमें नाशशक्ति प्रकाश होती है अब अप्रकट पदार्थकी भी सत्तामें दृष्टांत देते हैं कि,जैसे अंडेके मध्यमें महान् सर्प है इसी प्रकार आत्मामें जगत् है ॥ १७ ॥

फलपत्रलतापुष्पशाखाविटपमूलवान् ॥
ननु बीजे यथा वृक्षस्तथेदं ब्रह्मणि स्थितम् ॥ १८ ॥

अब विचित्र पदार्थकी भी सत्तामें दृष्टांत देते हैं कि जैसे फल पत्र लता पुष्प शाखा विटप (डाले) मूल ये सब हैं जिसमें ऐसा वृक्ष बीजमें है वैसे ही यह जगत् ब्रह्ममें स्थित है ॥ १८ ॥

क्वचित्काश्चित्कदाचिच्च तस्मादुद्यंति शक्तयः ॥
देशकालविचित्रत्वात्क्ष्मातलादिव शालयः ॥ १९ ॥

कदाचित् कहो कि, संपूर्ण शक्तियोंकी एक बार ही प्रकटता क्यों नहीं होती सो ठीक नहीं क्योंकि, किसी देशविशेषमें और किसी कालविशेषमें कोई शक्ति आदि उदय होती है सब एक ही बार नहीं होती सबकी एकवार अनुत्पत्तिमें दृष्टांत देते हैं कि देशकालकी विचित्रतासे जैसे शाली (सांठी चावल) होते हैं अर्थात् जैसे भूमिमें वर्तमान सब बीजोंके मध्यमें देश और काल विशेषमें किन्हीं २ बीजोंसे ही अंकुरोंकी उत्पत्ति होती है सबसे सबकी नहीं ॥ १९ ॥

उसी वसिष्ठकी कथाको कहते हैं कि, बालकके विनोदके लिये धात्री (माता) शुभ कथाको कहती है कि, हे महाबाहो! कहीं शुभ तीन राजाके पुत्र हैं उन तीनोंमें दो तो पैदा ही नहीं हुए और एक गर्भमें ही स्थित नहीं हुआ और धर्मसे युक्त वे तीनों अत्यंत असत् (झूठे) नगरमें बसते हैं वे कदाचित् अपने शून्य नगरसे निकल कर गमन करते हुए आकाशमें फलवाले वृक्षोंको देखते हुए और उस भविष्यत् नगरमें मृगया खेलते हुए वे तीनों राजाके पुत्र अब सुखसे वर्तमान हैं जब धात्रीने बालकके प्रति यह बालकोंकी शुभ कथा कही तब वह बालक निर्विचार(विचारशून्य) बुद्धिसे निश्चयको प्राप्त होता गया ॥ २२ ॥ २३ ॥ २४ ॥ २५ ॥ २६ ॥

इयं संसाररचना विचारोज्झितचेतसाम् ॥
बालकाख्यायिकेवेत्थमवस्थितिमुपागता ॥ २७ ॥

अब दृष्टांतसे सिद्ध अर्थको दार्ष्टांतिकमें युक्त करते (घटाते) हैं कि, विचारसे रहित मनुष्योंको यह संसारकी रचना बालकोंकी पूर्वोक्त कथाके समान इस प्रकार स्थिति (दृढता) को प्राप्त हो गई है जैसे सच्ची बात हो जाती है ॥ २७ ॥

इत्यादिभिरुपाख्यानैर्मायाशक्तेश्च विस्तरम् ॥
वसिष्ठः कथयामास सैव शक्तिर्निरूप्यते ॥ २८ ॥

अब वसिष्ठके कथनको समाप्त करते हैं कि, इत्यादि अनेक इतिहासोंसे मायाशक्तिका विस्तार वसिष्ठजीने वर्णन किया ऐसे मायाके होनेमें प्रमाणको कहकर मायाको अनिर्वचनीय कहनेकी प्रतिज्ञा करते हैं कि उस मायाको ही शक्ति कहते हैं ॥ २८ ॥

कार्यादाश्रयतश्चैषा भवेच्छक्तिर्विलक्षणा ॥
स्फोटांगारौ दृश्यमानौ शक्तिस्तत्रानुमीयते ॥ २९ ॥

यह मायारूप शक्ति अपने कार्यरूप जगत् और अपने आश्रयरूप ब्रह्मसे विलक्षण अर्थात् विपरीत स्वभाववाली है अब मायाशक्तिकी कार्य और आश्रयसे विलक्षणताको दृष्टांतसे स्पष्ट करते हैं कि अग्निम वर्तमान शक्तिका जो स्फोटरूप कार्य है और आश्रयरूप जो अंगार है वे दोनों प्रत्यक्ष हैं और शक्तिका तो कार्यसे अनुमान होता है इससे काय और आश्रय दोनोंसे शक्ति विलक्षण है ॥ २९ ॥

पृथुबुध्नोदराकारो घटः कार्योऽत्र मृत्तिका ॥
शब्दादिभिः पंचगुणैर्युक्ता शक्तिस्त्वतद्विधा ॥ ३० ॥

पूर्वोक्त न्यायको मिट्टीकी शक्तिमें भी युक्त करते हैं कि, पृथुबुध्न (गोल स्थूल) है उदर जिसका ऐसे आकारवाला घट कार्य होता है और शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध इन पांच गुणोंसे जो युक्त है वह इस घटमें पृथिवी आश्रय (कारण) रूप है और शक्ति, कार्य और आश्रय दोनोंसे विलक्षण है ॥ ३० ॥

न पृथ्वादिर्न शब्दादिः शक्तावस्तु यथा तथा ॥
अत एव ह्यचिंत्यषा न निर्वचनमर्हति ॥ ३१ ॥

विलक्षणताको ही कहते हैं कि शक्तिमें पृथु आदि कार्यका धर्म नहा है और शब्द आदि आश्रयका धर्म भी नहीं है इससे दोनोंसे विलक्षण है इससे यथा तथा (जैसी है वैसी) रहे इससे यह शक्ति अचिंत्य है कदाचित् अचिंत्य ही शक्तिका रूप हो जायगा सो भी नहीं क्योंकि, भेदरूपसे वा अभेदरूपसे वा अचिंत्यरूपसे जिस किसी प्रकारसे निर्वचनके योग्य नहीं अर्थात् कहनेमें नहीं आती ॥ ३१ ॥

कार्योत्पत्तेः पुरा शक्तिर्निगूढा मृद्यवस्थिता ॥
कुलालादिसहायेन विकाराकारतां व्रजेत् ॥ ३२ ॥

कदाचित् कहो कि यदि शक्ति कारणके स्वरूपसे भिन्न है तो कारणके स्वरूपके तुल्य क्यों नहीं भासती सो ठीक नहीं क्योंकि पृथिवीकी शक्ति कार्यकी उत्पत्तिसे पूर्व पृथिवीमें निगूढ (छिपी हुई) रहती है इससे नहीं भासती कदाचित् कहो कि निगूढ मानोंगे तो पीछेसे भी उसकी प्रकटता न होगी सो ठीक नहीं क्योंकि जैसे दूधमें अप्रकट भी नवनीत आदिकी मथने आदिसे प्रकटता होती है ऐसे ही कुलाल, दंड, चक्र आदिकी सहायतासे वह शक्ति भी विकारके आकारको प्राप्त हो जाती है॥ ३२

पृथुत्वादिविकारांतं स्पर्शादिं चापि मृत्तिकाम् ॥
एकीकृत्य घटं प्राहुर्विचारविकला जनाः ॥ ३३ ॥

कदाचित् कहो कि कारणसे भिन्न शक्तिका कार्य मानोगे तो कार्य कारणका भेद क्यों प्रतीत नहीं होता इस शंकाका उत्तर विचारके अभावसे देते हैं कि पृथुत्व आदि विकार पर्यंत और स्पर्श आदि और मृत्तिका इन सबको एक करके विचारशून्यजन घट कहते हैं अर्थात् सबके समुदायको घट मान लेते हैं ॥ ३३ ॥

कुलालव्यापृतेः पूर्वो यावानंशः स नो घटः ॥
पश्चात्तु पृथुबुध्नादिमत्त्वे युक्ता हि कुंभता ॥ ३४ ॥

घटका पूर्वोक्त जो व्यवहार उसके विचारमूलक होनेमें हेतुको कहते हैं कि कुलालके व्यापारसे पूर्वभावी जो मिट्टीका अंश घटसे भिन्न है उसका घटरूपसे व्यवहार नहीं होता इससे घट व्यवहारका मूल अविचार है और कुलालके व्यापारसे पीछे जो पृथुबुध्न आकार है वही घट शब्दका अर्थ है, क्योंकि उस आकारकी उत्पत्तिके अनंतर ही घटव्यवहारको देखते हैं भावार्थ यह है कि कुलालके व्यापारसे पूर्व जो अंश वह घट नहीं है और कुलालके व्यापारके अनंतर जो पृथुबुध्नोदर है वही घटयुक्त है ॥ ३४ ॥

स घटो न मृदो भिन्नो वियोगे सत्यनीक्षणात् ॥
नाप्यभिन्नः पुरा पिंडदशायामनवेक्षणात् ॥ ३५ ॥

कदाचित् कहो कि पारमार्थिक जो घट वह अनिर्वचनीय शक्तिका कार्य मानना युक्त नहीं सो ठीक नहीं क्योंकि घट पारमार्थिक नहीं हो सकता वह घट मिट्टीसे भिन्न नहीं है क्योंकि मिट्टीसे पृथक् दीख नहीं सकता और अभिन्न अर्थात् मिट्टीरूप भी नहीं है क्योंकि पिंडअवस्थामें उपलब्ध (प्राप्त) नहीं हो सकता ॥ ३५ ॥

अतोऽनिर्वचनीयोऽयं शक्तिवत्तेन शक्तिजः ॥
अव्यक्तत्वे शक्तिरुक्ता व्यक्तत्वे घटनामभृत् ॥ ३६ ॥

इसस यह घटशक्तिके समान अनिर्वचनीय है इसीसे शक्तिसे उत्पन्न है कदाचित् कहो कि शक्ति और कार्य दोनों अनिर्वचनीय हैं तो शक्ति और कार्य यह भिन्न भिन्न व्यवहार किससे होता है सो ठीक नहीं क्योंकि अव्यक्त अवस्थामें शक्ति कहते हैं और व्यक्त अवस्थामें घट नाम हो जाता है ॥ ३६ ॥

ऐंद्रजालिकनिष्ठापि माया न व्यज्यते पुरा ॥
पश्चाद्गंधर्वसेनादिरूपेण व्यक्तिमाप्नुयात् ॥ ३७ ॥

कदाचित् कहो कि पूर्व अप्रकट शक्ति पछिसे प्रकट होती है यह मायाका स्वरूप कहीं प्रसिद्ध नहीं है सो ठीक नहीं है क्योंकि इंद्रजालीकी माया भी मणि मंत्र आदिके प्रयोगसे पहले कहीं भी प्रगट नहीं होती और पीछे गंधर्वनगर आदि रूपसे प्रगट हो जाती है ॥ ३७ ॥

एवं मायामयत्वेन विकारस्यानृतात्मताम् ॥
विकाराधारमृद्वस्तु सत्यत्वं चाब्रवीच्छ्रुतिः ॥ ३८ ॥

शक्तिका कार्य घट आदि मिथ्या और शक्तिका आश्रय मिट्टी आदि सत्य हैं यह छांदोग्यश्रुतिमें भी कहा है कि मायाका कार्य होनेसे घट आदि विका-

रका मिथ्यारूप और घट आदि विकारोंका आधाररूप जो मिट्टी है वह सत्यरूप है यह छांदोग्यकी इस श्रुतिमें कहा है कि वाणीसे कहनेमात्र जो नाम वह विकार है अर्थात् मिथ्या है और मृत्तिका ही सत्य है ॥ ३८ ॥

वाङ्निष्पाद्यं नाममात्रं विकारो नास्य सत्यता ॥
स्पर्शादिगुणयुक्ता तु सत्या केवलमृत्तिका ॥ ३९ ॥

अब 'वाचारंभणम्' इस पूर्वोक्त वाक्यके अर्थको पढते हैं कि वाणीरूप इंद्रियसे उच्चारण किया जो नाममात्र है इससे यह घट आदि सत्य नहीं है अर्थात् नामसे भिन्न इनका पारमार्थिक (सत्य) रूप कोई नहीं है और स्पर्श आदि पांच गुणोंसे युक्त जो पृथिवी है आश्रयरूप वही सत्य है और यह सत्यता भी व्यवहारदशामें ही है वस्तुतः वह भी मिथ्या है ॥ ३९ ॥

व्यक्ताव्यक्ते तदाधार इति त्रिष्वाद्ययोर्द्वयोः ॥
पर्यायः कालभेदेन तृतीयस्त्वनुगच्छति ॥ ४० ॥

अब शक्ति और उसके कार्य मिथ्या हैं और उनका आधार सत्य है इसमें हेतुको कहते हैं कि घट आदिरूप व्यक्त कार्य और उसका कारणरूप अव्यक्त शक्ति और इन दोनोंका आधाररूप मिट्टी इन तीनोंके मध्यमें प्रथम कहे हुए दोके संबंधी जो काल है उनका भेद विद्यमान है इससे उन दोनोंका पर्याय (क्रमसे होना) होता है और उन दोनोंका आधार जो मिट्टी है वह दोनोंमें अनुगत है अर्थात् शक्ति और कार्य ये दोनों कदाचित् होनेसे मिथ्या हैं और इनका आधार तीनों कालमें अनुगत होनेसे सत्य है ॥ ४० ॥

निस्तत्त्वं भासमानं च व्यक्तमुत्पत्तिनाशभाक् ॥
तदुत्पत्तौ तस्य नाम वाचा निष्पाद्यते नृभिः ॥ ४१ ॥

अब विकारके ही मिथ्यात्वमें तीन हेतु कहते हैं कि व्यक्त शब्दका अर्थ जो घट आदि कार्य है वह स्वरूपसे असत् ही भासता है और उत्पत्ति, नाशवाला दीखता है और उत्पत्तिके अनंतर ही वाणीसे मनुष्य उसका घट इस नामसे व्यवहार करते हैं इससे घट मिथ्या है ॥ ४१ ॥

व्यक्ते नष्टेऽपि नामैतन्नृवक्त्रेष्वनुवर्तते ॥
तेन नाम्ना निरूप्यत्वाद्व्यक्तं तद्रूपमुच्यते ॥ ४२ ॥

---

१ वाचारंभणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् ।

और व्यक्त (प्रकट) जो कार्य स्वरूप घट है उसके नष्ट होनेपर भी शब्दका प्रयोग करनेवाले जो मनुष्य उनके मुखमें यह घट शब्द वर्त्तता है इससे नामसे हीं व्यवहारके योग्य होनेसे घट आदिरूप जो व्यक्त है वह नाम रूप ही कहा जाता हैं, यहां यह अनुमान है कि विवादका आस्पद जो घट वह घट शब्दरूप होने योग्य है घटशब्दसे व्यवहारके योग्य होनेसे घटशब्दके समान ॥ ४२ ॥

निस्तत्त्वत्वाद्विनाशित्वाद्वाचारंभणनामतः ॥
व्यक्तस्य न तु तद्रूपं सत्यं किंचिन्मृदादिवत् ॥ ४३ ॥

इस प्रकार तीन हेतुओंको सिद्ध करके अनुमानकी रचनाके प्रकारको सूचित करते हैं घट आदिरूप कार्यका जो पृथुबुध्नोदराकार (वर्तुल और स्थूल उदर) है वह किंचित् भी सत्य नहीं क्योंकि उसका कोई वास्तवरूप नहीं और वह मिट्टीके विद्यमान रहते भी नष्ट हो जाता है और वाणीसे पैदा हुआ जो शब्द तद्रूप है यहां यह अनुमान है कि घट आदिरूप कार्य मिथ्या होने योग्य है, निस्तत्त्व होनेसे जैसे घट आदिका उपादान मिट्टी यह केवल व्यतिरेकी है इसी प्रकार अन्य भी दोनों हेतुओंमें समझना ॥ ४३ ॥

व्यक्तकाले ततः पूर्वमूर्ध्वमप्येकरूपभाक् ॥
सतत्त्वमविनाशं च सत्यं मृद्वस्तु कथ्यते ॥ ४४ ॥

इस प्रकार विकारको मिथ्या कहकर अब विकारका आश्रय जो मिट्टी उसको सत्यत्व दिखाते हैं कि व्यक्तकी स्थितिके समय और व्यक्तकी उत्पत्तिसे पूर्व और व्यक्तके नाश होनेके अनंतर भी एकरूप होनेसे वास्तवरूपसे युक्त है और विकारके संग नाशरहित जो मिट्टीरूप वस्तु वह सत्य कहाती है । यहां यह अनुमान है कि विवादका स्थान मृत वस्तु सत्य होने योग्य है तत्त्वसहित होनेसे आत्माके समान ॥ ४४ ॥

व्यक्तं घटो विकारश्चेत्येतैर्नामभिरीरितः ॥
अर्थश्चेदनृतः कस्मान्न मृद्बोधे निवर्तते ॥ ४५ ॥

कदाचित् कहो कि घट आदि कार्यके समूहको असत्य मानोगे तो वह आरोपित रजत आदिके समान अधिष्ठानके ज्ञानसे बाधित हो जायगा यह शंका करते हैं कि व्यक्त (प्रकट) घट और विकार इन तीन नामोंसे कहा जो अर्थ (कार्यरूप) उसकी कारणसे भिन्न सत्ता न मानोगे तो मिट्टीरूप कारणके ज्ञान होनेपर उसकी निवृत्ति क्यों नहीं होती ॥ ४५ ॥

निवृत्त एव यस्मात्ते तत्सत्यत्वमतिर्गता ॥
ईदृङ्निवृत्तिरेवात्र बोधजा न त्वभासनम् ॥ ४६ ॥

इष्टापत्ति मानकर उक्त शंकाका परिहार करते हैं कि जिसकारण घट आदिके विषे तेरी सत्यबुद्धि नष्ट होगयी इससे वह घट निवृत्त ही होगया । कदाचित् कहो कि आरोप किये रजत आदि रूपकी ही अप्रतीति देखते हैं सत्य बुद्धिका नाश नहीं देखते सो ठीक नहीं क्योंकि वह निरुपाधिक भ्रम है इससे वहां प्रतीति रहे । यहां सोपाधिक भ्रममें तो सत्यबुद्धिके अपगम (दूर होना)को ही निवृत्ति कहते हैं, इस अभिप्रायसे कहते हैं कि बाधसे पैदा हुई जो ऐसी निवृत्ति है वही सोपाधिक भ्रममें होती है स्वरूपकी अप्रतीति नहीं होती है अर्थात् अधिष्ठानके यथार्थरूपके ज्ञानसे घट आदि कार्यकी निवृत्ति ही माननी, भानका अभाव नहीं मानना, भावार्थ यह है कि जिससे तेरी सत्यरूप घट है यह बुद्धि गयी इससे घट निवृत्त ही है, क्योंकि बाधसे उत्पन्न ऐसी निवृत्ति ही यहाँ होती है अभान नहीं होता ॥ ४६ ॥

पुमानधोमुखो नीरे भातोऽप्यस्ति न वस्तुतः ॥
तटस्थमर्त्यवत्तस्मिन्नैवास्था कस्यचित्क्वचित् ॥ ४७ ॥

पूर्वोक्त निवृत्तिके स्थलको दिखाते हैं कि जलमें अधोमुख दीखता हुआ भी पुरुष परमार्थसे नहीं है क्योंकि किसी विवेकी वा अविवेकी मनुष्यकी उस अधोमुख पुरुषमें तटपर स्थित पुरुषके समान आस्था अर्थात् सत्य यह अभिमान किसी देश वा कालमें नहीं है ॥ ४७ ॥

ईदृग्बोधे पुमर्थत्वं मतमद्वैतवादिनाम् ॥
मृद्रूपस्यापरित्यागाद्विवर्तत्वं घटे स्थितम् ॥ ४८ ॥

कदाचित् कहो कि घट आदिके केवल असत्यज्ञानसे पुरुषार्थ (मोक्ष) की सिद्धि न होगी सो ठीक नहीं क्योंकि अद्वैतवादियोंने आत्मानंदसे भिन्न सबके मिथ्या निश्चय होनेपर अद्वितीय आनंदकी अभिव्यक्ति (प्रकटता) रूप पुरुषार्थ सिद्ध होता है माना है कदाचित् कहो कि घट मिट्टीका विवर्त सिद्ध हुआ और मिट्टीके ज्ञानसे घटकी सत्यत्वबुद्धि भी निवृत्त हो गयी परंतु यह अबतक सिद्ध नहीं हुआ सो ठीक नहीं क्योंकि मिट्टीके रूपका परित्याग नहीं होता इससे घट विवर्त सिद्ध हुआ ॥४८॥

परिणामे पूर्वरूपं त्यजेत्तत्क्षीररूपवत् ॥
मृत्सुवर्णे निवर्तेते घटकुंडलयोर्नहि ॥ ४९ ॥

कदाचित् कहो कि घटमें मिट्टीके रूपका परित्याग मत हो परंतु घटको मृत् (मिट्टी) का परिणाम क्यों नहीं मानते सो ठीक नहीं क्योंकि जहां दूध आदिमें परिणाम मानते हैं वहां दूध आदि जो पूर्वरूप है उसका त्याग देखते हैं। कदाचित् कहो कि विवर्तमें पूर्वरूपके त्यागका अभाव कहां देखा है सो ठीक नहीं क्योंकि मृत् और सुवर्णके विवर्त जो घट और कुंडल हैं उनकी उत्पत्तिके होनेपर भी उनके कारण-रूप मृत् और सुवर्णरूप निवृत्त नहीं होते । भावार्थ यह है कि परिणाममें कारणका पूर्वरूप दूधके रूपके समान नष्ट हो जाता है और घट और कुंडलमें मृत् और सुवर्णकी निवृत्ति नहीं होती ॥ ४९ ॥

घटे भग्ने न मृद्भावः कपालानामवेक्षणात् ॥
मैवं चूर्णेऽस्ति मृद्रूपं स्वर्णरूपं त्वतिस्फुटम् ॥ ५० ॥

अब घट मृत्का विवर्त नहीं हो सकता क्योंकि घटके नाश होनेपर फिर मृत् रूप नहीं देखते इस शंकाको करते हैं कि कपालोंको ही घटके नाश पीछे देखते हैं इससे घटनाश होनेपर मृत्रूप नहीं रहता कपालोंके नाश होनेपर मृत्रूप दीखता है इस आशयसे उक्त शंकाका परिहार करते हैं कि चूर्ण होनेपर मिट्टीका रूप है इससे ऐसा मत कहो और कुंडलमें सुवर्णका रूप तो अत्यंत स्फुट है ॥ ५० ॥

क्षीरादौ परिणामोऽस्तु पुनस्तद्भाववर्जनात् ॥
एतावता मृदादीनां दृष्टांतत्वं न हीयते ॥ ५१ ॥

कदाचित् कहो कि परिणाममें दृष्टांत कहे जो दूध, मृत्, सुवर्ण आदि हैं उनके मध्यमें यदि मृत् और सुवर्णको विवर्तका दृष्टांत मानो तो वैसे ही दूध भी दृष्टांत हो जायगा इस शंकाको करके कहते हैं कि पुनः (फिर) दही होनेके अनंतर दूधका रूप नहीं हो सकता इससे दूध आदिमें परिणाम रहे। कदाचित् कहो कि दूधके समान अन्य अवस्थाको प्राप्त हुए जो मृत्सुवर्ण हैं वे भी दृष्टांत न होंगे सो ठीक नहीं क्योंकि इतनेसे अर्थात् दूध आदिको परिणामी होनेसे मृत् सुवर्ण आदिको दृष्टांत होनेमें कुछ हानि नहीं है । तात्पर्य यह है दूध अपनी पूर्व अवस्थाको त्यागकर अन्य अवस्थाको प्राप्त होता है इससे परिणामी है और मृत्सुवर्ण अन्य अवस्थाके प्राप्त होनेपर भी पूर्वरूपको नहीं त्यागते हैं । इससे विवर्त है। भावार्थ यह है कि फिर दूधका रूप न होनेसे दूध आदिमें परिणाम रहे ऐसा होनेपर मृत् आदिको दृष्टांत माननेमें कुछ हानि नहीं है ॥ ५१ ॥

आरंभवादिनः कार्ये मृदो द्वैगुण्यमापतेत् ॥
रूपस्पर्शादयः प्रोक्ताः कार्यकारणयोः पृथक् ॥ ५२ ॥

कदाचित् कहो कि मृत् और सुवर्णको परिणाम विवर्तके समान आरंभक भी क्यों अंगीकार नहीं करते सो ठीक नहीं क्योंकि आरंभवादीके मतमें घट आदि रूप कार्यमें मृत्तिका आदि द्रव्यका द्वैगुण्य हो जायगा अर्थात् कार्य और कारण इन दोनोंके आकारसे मृत्तिका भी दूनी हो जायगी और ऐसा माननेपर गुरुत्व आदि भी दूने हो जायँगे क्योंकि कार्य और कारणके रूप और स्पर्श आदि पृथक् २ कहे हैं भावार्थ यह है कि आरंभवादीके मतमें कार्यमें मृत्तिका दूनी हो जायगी क्योंकि कार्य कारणके रूप स्पर्श आदि पृथक् २ होत हैं ॥ ५२ ॥

मृत्सुवर्णमयश्चेति दृष्टांतत्रयमारुणिः ॥
प्राहातो वासयेत्कार्यानृतत्वं सर्ववस्तुषु ॥ ५३ ॥

कदाचित् कहो कि क्या विवर्तमें मृत् और सुवर्ण दो ही दृष्टांत हैं सो ठीक नहीं क्योंकि अरुणके पुत्र उद्दालक ऋषिने हे सौम्य ! जैसे एक मिट्टीके पिंडसे सब मिट्टीके पदार्थ जाने जाते हैं इससे लेकर और कृष्ण लोहेके पिंडसे जैसे सब लोहेके विकार जाने जाते हैं यहांतक वाक्यके समूहसे कार्यके मिथ्या होनेमें मृत्, सुवर्ण और लोहा ये तीन दृष्टांत कहे हैं इससे जैसे बहुतसे मृत् आदिकोंमें कार्यको मिथ्या देखते हैं ऐसे ही भूत भौतिकरूप वस्तुओंमें कार्यको मिथ्या समझे भावार्थ यह है कि आरुणि ऋषिने मृत् सुवर्ण लोहा ये तीन दृष्टांत कहे हैं इससे सब वस्तुओंमें कार्यको मिथ्या समझ ले ॥ ५३ ॥

कारणज्ञानतः कार्यविज्ञानं चापि सोऽवदत् ॥
सत्यज्ञानेऽनृतज्ञानं कथमत्रोपपद्यते ॥ ५४ ॥

कदाचित् कहो कि कार्यको मिथ्या समझना आरुणिने क्यों कहा सो ठीक नहीं क्योंकि कारणके ज्ञानसे कार्यका ज्ञान भी आरुणिने कहा अर्थात् कारणके ज्ञानसे कार्यके ज्ञानार्थ कार्यको मिथ्या वर्णन किया है कि हे सौम्य ! जैसे एक मिट्टीके पिंडसे सब मिट्टीके विकार जाने जाते हैं अब यह शंका करते हैं कि मृत् सुवर्ण आदि रूप पारमार्थिक (सत्य) कारणके जाननेसे उससे विलक्षण (मिथ्यारूप) घट आदि कार्योंका ज्ञान किस प्रकार हो सकता है ? भावार्थ यह है कि कारणके ज्ञानसे कार्यका ज्ञान भी आरुणिने कहा है कदाचित् कहो कि सत्यके ज्ञानसे मिथ्याका ज्ञान कैसे हो सकता है ॥ ५४ ॥

---

१ यथा सोम्यैकेन मृत्पिंडेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्यात ।

समृत्कस्य विकारस्य कायता लोकदृष्टितः ॥
वास्तवोऽत्र मृदंशोऽस्य बोधः कारणबोधतः ॥ ९५ ॥

उक्त शंकाका उत्तर अभिप्रायसे देते हैं कि कार्यके सत्य और मिथ्या दो रूप हैं, उन दोनोंमें कारणके ज्ञानसे कार्यमें वर्तमान जो सत्य अंश उसका ज्ञान होता है मृत्तिकासहित अर्थात् अधिष्ठानरूप मृत्तिकासे युक्त जो आरोपित घट आदिरूप विकार वह कार्य है अर्थात् लोकदृष्टिसे कार्य कहाता है कदाचित् कहो कि ऐसे कहनेसे कारणके ज्ञानसे कार्यका ज्ञान नहीं होता इस पूर्वोक्त शंकाका कौन परिहार हुआ सो ठीक नहीं क्योंकि कार्यके मिथ्यारूप अंशका ज्ञान मत हो परंतु कार्यमें मृत्तिका रूप जो सत्य अंश है उसका ज्ञान कारणके ज्ञानसे होजाता है अर्थात् कार्यमें जो वास्तव मिट्टीरूप अंश है उसका बोध कारणके बोधसे होता है भावार्थ यह है कि मृत्तिकासहित जो विकार उसको जगत्में कार्य कहते हैं उसमें जो वास्तव (सत्य) मिट्टीरूप अंश है उसका ज्ञान कारणके ज्ञानसे होता है ॥ ९५ ॥

अनृतांशो न बोद्धव्यस्तद्बोधानुपयोगतः ॥
तत्त्वज्ञानं पुमर्थ स्यान्नानृतांशावबोधनम् ॥ ९६ ॥

कदाचित् कहो कि कार्यके सत्य अंशके समान मिथ्या अंश भी जानने योग्य है सो ठीक नहीं किंतु मिथ्या अंश जानने योग्य नहीं है क्योंकि उसके ज्ञानका कुछ उपयोग नहीं है प्रयोजनके अभावको ही दिखाते हैं कि बाधके अयोग्य जो तत्त्ववस्तु है उसका ज्ञान पुरुषके प्रयोजनार्थ है और मिथ्या अंशका जो ज्ञान है वह मनुष्यके प्रयोजनार्थ नहीं होता है ॥ ९६ ॥

तर्हि कारणविज्ञानात्कार्यज्ञानमितीरिते ॥
मृद्बोधान्मृत्तिका बुद्धेत्युक्तं स्यात्कोऽत्र विस्मयः ॥ ९७ ॥

कदाचित् कहो कि कारणके ज्ञानसे कार्यका ज्ञान होता है इस कहनेसे श्रोताकी बुद्धिमें कुछ चमत्कार हुआ सो ठीक नहीं इस अभिप्रायसे शंका करते हैं कि मृत आदि कारणके ज्ञानसे कार्यके मृत्तिका आदि सत्य अंशका ज्ञान होता है यह कहनेसे यही कहा गया कि मृत्तिकाके ज्ञानसे मृत्तिकाका ही ज्ञान होता है इस कहनेमें शब्दोंका चमत्कार है अर्थका नहीं ॥ ९७ ॥

सत्य कार्येषु वस्त्वंशः कारणात्मेति जानतः ॥
विस्मयो मास्त्विहाज्ञस्य विस्मयः केन वार्यते ॥ ९८ ॥

उक्त शंकाका इस अभिप्रायसे परिहार करते हैं कि ऐसे विवेकियोंको विस्मय मत हो, विवेकसे शून्योंको तो विस्मय होता ही है कि घट आदि कार्योंमें विद्यमान जो वास्तव अंश है वह कारणरूप है यह जो जानते हैं उनको आश्चर्य मत हो अन्य जो तत्त्वज्ञानसे शून्य हैं उनको पैदा हुआ जो आश्चर्य उसको कौन हटा सकता है ५८।

आरंभी परिणामी च लौकिकश्चैककारणे ॥
ज्ञाते सर्वमतिं श्रुत्वा प्राप्नुवंत्येव विस्मयम् ॥ ५९ ॥

अज्ञानीको विस्मय होता है इस पूर्वोक्त अर्थका विस्तारसे वर्णन करते हैं कि जो समवायी असमवायी निमित्त इन तीनों कारणोंसे भिन्न कार्यकी उत्पत्ति माने वह आरंभी होता है जिसमें समवाय (नित्य) संबंधसे कार्य पैदा हो वह समवायी कारण और जैसे कपाल घटका और समवायी कारणमें जो समवाय संबंधसे रहे वह असमवायी कारण होता है जैसे कपालोंका संयोग घटका इन दोनोंसे जो भिन्न वह निमित्त कारण होता है जैसे घटके चक्र चीवर आदि पूर्वरूपके परित्यागसे अन्यरूपकी प्राप्ति माने वह परिणामी इन दोनों प्रक्रियाओंको जो न जाने और लोकव्यवहारको ही जाने वह लौकिक कहाता है इन तीनों कारणोंके मध्यमें एक कारणके ज्ञानसे अनेक कार्योंका विज्ञान होता है इस वाक्यके श्रवणसे विस्मय अवश्य होता है भावार्थ यह है कि आरंभी, परिणामी, लौकिक ये तीनों मनुष्य एक कारणके ज्ञानसे सबके ज्ञानको सुनकर विस्मयको अवश्य प्राप्त होते हैं ॥ ५९ ॥

अद्वैतेऽभिमुखीकर्तुमेवात्रैकस्य बोधतः ॥
सर्वबोधः श्रुतौ नव नानात्वस्य विवक्षया ॥ ६० ॥

कदाचित् कहो कि यथाश्रुत (सीधे अर्थ)को छोडकर इस प्रकारके अर्थ करनेमें क्या कारण है इस शंकाको करके यह उत्तर देते हैं कि श्रुतिका यथाश्रुत अर्थमें तात्पर्य नहीं है क्योंकि अद्वैतके ज्ञानमें शिष्यको अभिमुख करनेके लिये छांदोग्यकी श्रुतिमें एक कारणके विज्ञानसे सब कार्योंका विज्ञान कहा है, कुछ अनेक कार्योंके विज्ञानके लिये नहीं ॥ ६० ॥

एकमृत्पिंडविज्ञानात्सर्वमृन्मयधीर्यथा ॥
तथैकब्रह्मबोधेन जगद्बुद्धिर्विभाव्यताम् ॥ ६१ ॥

अब एकके ज्ञानसे सबके ज्ञानमें दृष्टांतका बोधक जो-हे सौम्य ! जैसे एक मृत्के पिंडसे सब मृत्तिकाके विकार जाने जाते हैं-यह वाक्य उसके अर्थका निरू-

पण करके दार्ष्टांतिकका बोधक जो यह वाक्य कि क्या तुमने वह पूछा है जिससें विना सुना सुना जाता है, विना माना माना जाता है और विना जाना जाना जाता है? उसके अर्थको दिखाते हुए प्रकरणमें जो फलित हुआ उसका वर्णन करते हैं कि जैसे घट शराव आदिका उपादान जो एक मृत्तिकाका पिंड उसके ज्ञानसे उसकें विकार जो सपूर्ण घट आदि हैं उनका बोध होता है ऐसे ही एक ब्रह्मके बोधसें कार्यरूप संपूर्ण जगत्का बोध जानना ॥ ६१ ॥

सच्चित्सुखात्मकं ब्रह्म नामरूपात्मकं जगत् ॥
तापनीये श्रुतं ब्रह्म सच्चिदानंदलक्षणम् ॥ ६२ ॥

कदाचित् कहो कि जबतक ब्रह्म और जगत्के स्वरूपका ज्ञान न हो ले तबतक यह कैसे कह सकते हैं कि ब्रह्मज्ञानसे जगत्का ज्ञान होता है इस शंकाको करके पूर्वोक्त ज्ञानके लिये ब्रह्म और जगत् इन दोनोंके स्वरूपको कहते हैं कि सत् चित् सुखरूप ब्रह्म है और 'नामरूपात्मक जगत्' है अब ब्रह्मके सत् चित् आनंदरूप होनेमें प्रमाण कहते हैं कि उत्तरतापनीय उपनिषद्में ब्रह्मका सच्चिदानंदलक्षण कहा है अर्थात् यह संपूर्ण जगत् सत् चित् आनंदमात्र है इस वचन आदिसे सच्चित् आनंदरूप ब्रह्म कहा है ॥ ६२ ॥

सद्रूपमारुणिः प्राह प्रज्ञान ब्रह्म बह्वृचः ॥
सनत्कुमार आनदमेवमन्यत्र गम्यताम् ॥ ६३ ॥

अब आदि शब्दसे कहनेको अभीष्ट जो श्रुति उनको दिखाते हैं कि अरुणकें पुत्र उद्दालकने ब्रह्मको सद्रूप और बृहवृचोंने ऐतरेयोपनिषद्में प्रज्ञाको प्रतिष्ठा(आश्रय) कहकर प्रज्ञान ब्रह्म और पूर्वोक्त छांदोग्य श्रुतिमें सनत्कुमारने नारदशिष्यके प्रति-वह ब्रह्म भूमा जानने योग्य है यह आरंभ करके जो भूमा वह सुख है इस प्रकार भूमा शब्दके अर्थ ब्रह्मको आनंदरूप-कहा है अर्थात् इन वचनोंसे सत् आदिरूपका जिस-२ ने वर्णन किया है इसी प्रकार तैत्तिरीय आदि श्रुतिमें आनंद ब्रह्मको जानता हुआ इत्यादि वचनोंसे जो आनंदरूप कहा है वह भी जानना भावार्थ यह है कि आरुणिनें सत्रूप और बृहद्वृचोंने प्रज्ञानरूप और सनत्कुमारने आनंदरूप ब्रह्म कहा है-इसी प्रकार अन्यत्र भी जानो ॥ ६३ ॥

---

१ उत तमादेशमप्राक्षो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम् । २ ब्रह्मैवेदं सर्वं सच्चिदानंदमात्रम् । ३ सदेव सौम्येदमग्र आसीत् प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्यः यो वै भूमा तत्सुखम् । ४ आनंदो ब्रह्मेति व्यजानात् ॥

विचिंत्य सर्वरूपाणि कृत्वा नामानि तिष्ठति ॥
अहं व्याकरवाणीमे नामरूपे इति श्रुतेः ॥ ६४ ॥

अब सत् चित आनंदोंके समान नामरूपोंमें भी श्रुतिको दिखाते हैं कि संपूर्ण रूपोंको करके और धीर (ब्रह्म) नामोंको करके जिससे उच्चारण करता टिकता है इस जीवरूप आत्मासे प्रविष्ट होकर नामरूप मैं करूंगा यह श्रुति है ॥ ६४ ॥

अव्याकृतं पुरा सृष्टेरूर्ध्वं व्याक्रियते द्विधा ॥
अचिंत्यशक्तिर्मायैषा ब्रह्मण्यव्याकृताभिधा ॥ ६५ ॥

उसमें ही अन्य श्रुतिको कहते हैं कि बृहदारण्यक श्रुतिमें इसे श्रुतिसे रचे हुए जगत्को नामरूपात्मक दिखाया है कि सृष्टिसे पूर्व यह जगत् नामरूपात्मक हुआ और पीछेसे अर्थात् सृष्टिके समय वाच्य वाचक (अर्थ शब्द) भाव दो रूपसे प्रकट होता है अब वह जगत् उस समय अव्याकृत हुआ इसमें जो अव्याकृत शब्द उसके अर्थको कहते हैं कि जो यह अचिंत्य शक्ति ब्रह्मकी माया है वहीं अव्याकृत शब्दका अर्थ है। भावार्थ यह है कि सृष्टिसे पूर्व यह जगत् अव्याकृत हुआ और सृष्टिके समय नामरूप भेदसे दो प्रकारका होता है और ब्रह्मकी जो अचिंत्य शक्ति माया है उसको अव्याकृत कहते हैं ॥ ६५ ॥

अविक्रियब्रह्मनिष्ठा विकारं यात्यनेकधा ॥
मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ॥ ६६ ॥

वह माया नामरूपसे विकारको प्राप्त होती है इस पूर्वोक्त वचनके अर्थको कहते हैं कि विकारसे रहित जो ब्रह्म उसमें वर्तमान वह मायारूप शक्ति भूतभौतिक प्रपंचरूपसे अनेकप्रकारके विकार (परिणाम) को प्राप्त होती है ब्रह्ममें मायाके वर्तनेमें प्रमाण कहते हैं कि पूर्वोक्त मायाको प्रकृति अर्थात् उपादान कारण जानें और मायी (मायाका आश्रय) को महेश्वर अर्थात् मायाका नियामक जाने॥६६॥

आद्यो विकार आकाशः सोऽस्ति भात्यपि च प्रियः ॥
अवकाशस्तस्य रूपं तन्मिथ्या न तु तत्त्रयम् ॥ ६७ ॥

---

१ सर्वाणि रूपाणि विचिंत्य धीरो नामानि कृत्वाभिवदन् यदास्ते—अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि। २ तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत् तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियतासौ नामाहमिदंरूपः।

अब मायासे उपहित (युक्त) ब्रह्मके प्रथम कार्यको कहते हैं कि मायाका प्रथम विकार आकाश है वह अस्ति, भाति, प्रिय (सत् चित् आनंद) रूप है और उसका स्वाभाविकरूप अवकाश है परंतु वह मिथ्या है और पहले सत् आदि तीनों रूप सत्य हैं ॥ ६७ ॥

न व्यक्तेः पूर्वमस्त्येव न पश्चाच्चापि नाशतः ॥
आदावंते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा ॥ ६८ ॥

अब चौथे रूपके मिथ्या होनेमें हेतु कहते हैं कि जो व्यक्ति (प्रकट होना) से पूर्व न हो और नाशके अनंतर इससे आदि अंतमें जो न हो वह वस्तु वर्तमानकालमें भी तथा ही है अर्थात् नहीं है इससे यह शंका नहीं करनी कि उत्पत्ति और नाशके मध्यमें वर्तमान अवकाश किस प्रकार मिथ्या हो सकता है ॥ ६८ ॥

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ॥
अव्यक्तनिधनान्येवेत्याह कृष्णोऽर्जुनं प्रति ॥ ६९ ॥

अब पूर्वोक्त अर्थमें श्रीकृष्णका वचन प्रमाण देते हैं कि श्रीकृष्णने अर्जुनके प्रति यह कहा है कि हे भारत ! इन भूतोंकी आदि अव्यक्त (प्रकृति) है और मध्यमें ये भूत व्यक्त (प्रकट) हो जाते हैं और अव्यक्तमें ही इनका निधन (लय) होता है ॥ ६९ ॥

मृद्वत्ते सच्चिदानंदा अनुगच्छंति सर्वदा ॥
निराकाशे सदादीनामनुभूतिर्निजात्मनि ॥ ७० ॥

अब सत् आदि तीनों रूपोंकी अवकाशमें सत्ता होनेमें अनुभव प्रमाण देते हैं कि वे सत् चित् आनंद इस प्रककार सब कालमें अनुगत रहते हैं जैसे घट आदिकोंमें मृत्तिका । कदाचित् कहो कि अवकाशको छोडकर सत् आदि तीन रूप कहां देखे हैं यह शंका करके कहते हैं कि आकाश रहित अपने आत्मामें सत् आदिका अनुभव होता है ॥ ७० ॥

अवकाशे विस्मृतेऽथ तत्र किं भाति ते वद ॥
शून्यमेवेति चेदस्तु नाम तादृग्विभाति हि ॥ ७१ ॥

वही कहते हैं कि अवकाशके विस्मरण होनेपर आपको क्या भासता है ? सो कहा कदाचित् कहो कि अवकाशके विस्मरणमें शून्य ही भासता है । इस शंकाका परिहार अंगीकार करके कहते हैं कि शून्य रहे अर्थात् शब्दसे शून्यको तुम मानो अर्थसे तो अवकाशका अभाव जो विशेषण उसके विशेष्यरूपसे प्रतीयमान कोई वस्तु

है यह मानना पडेगा यही कहते हैं कि जो तादृश भासता है वही सत् आदिरूप ब्रह्म है। यहां 'हि' शब्द जगत्की प्रसिद्धि जतानेके लिये है ॥ ७१ ॥

तादृक्त्वादेव तत्सत्त्वमौदासीन्येन तत्सुखम् ॥
आनुकूल्यप्रातिकूल्यहीनं यत्तन्निजं सुखम् ॥ ७२ ॥

कदाचित् कहो कि ऐसे रहे प्रकरणमें क्या आया ? यह शंका करके उत्तर देते हैं विशेष्य रूपसे जो प्रतीत होता है उसका स्वरूप मानना चाहिये इसका वर्णन करते हैं कि तादृश होनेसे ही वह सत् है जिससे उदासीनतामें वह सुखरूप होगा इससे उदासीनताका विषय होनेसे वह सुखरूप है कदाचित् कहो कि अनुकूलता रहितको सुखस्वरूप कैसे कहोगे सो ठीक नहीं क्योंकि अनुकूलता और प्रतिकूलतासे जो हीन हो वही निजसुख होता है ॥ ७२ ॥

आनुकूल्ये हर्षधीः स्यात्प्रातिकूल्ये तु दुःखधीः ॥
द्वयाभावे निजानंदो निजदुःख न तु क्वचित् ॥ ७३ ॥

वही वर्णन करते हैं कि अनुकूल मानोगे तो हर्ष (आनंद) बुद्धि हो जायगी और प्रतिकूल मानोगे तो दुःखबुद्धि हो जायगी। कदाचित् कहो कि निजानंदके समान निज दुःखको भी क्यों नहीं मानते ? यह शंका करके कहते हैं कि दोनोंके अभावमें निजानंद ही भासता है कदाचित् भी निजदुःख नहीं भासता है अर्थात् दुःख निजरूप ही नहीं हो सकता है ॥ ७३ ॥

निजानंदे स्थिरे हर्षशोकयोर्व्यत्ययः क्षणात् ॥
मनसः क्षणिकत्वेन तयोर्मानसतेष्यताम् ॥ ७४ ॥

कदाचित् कहो कि निजानंदको सदानंद रूप होनेसे सदा हर्ष ही होगा शोक न होगा इस शंकाका समाधान इस आशयसे करते हैं कि वह नित्य रहे परंतु उसका ग्राहक मन क्षणिक है इससे मानस सुख दुःख भी क्षणिक होते हैं अर्थात् स्थिररूप भी निजानंदमें क्षणमात्रमें हर्ष और शोकका व्यत्यय हो जाता है क्योंकि मन क्षणिक है इससे हर्ष शोक भी मानस (क्षणिक) मानने इष्ट हैं ॥ ७४ ॥

आकाशेऽप्येवमानंदः सत्ताभाने तु संमते ॥
वाय्वादिदेहपर्यंतं वस्तुष्वेवं विभाव्यताम् ॥ ७५ ॥

अब दृष्टांतमें सिद्ध अर्थको दार्ष्टांतिकमें युक्त करते हैं कि जैसा आनंद निजात्मामें है वैसा ही आनंद आकाशमें है और सत्ता और भानको तो आप भी मानते

हो इससे उनके कहनेकी आवश्यकता नहीं है इसी प्रकार वायु आदि देहपर्यंत वस्तु-ओंमें विचार करना ॥ ७५ ॥

गतिस्पर्शौ वायुरूपं वह्नेर्दाहप्रकाशने ॥
जलस्य द्रवता भूमेः काठिन्यं चेति निर्णयः ॥ ७६ ॥

अब वायु आदिके असाधारण धर्मोंको दिखाते हैं कि गमन और स्पर्श वायुके और दाह और प्रकाश अग्निके और जलका द्रवत्व और भूमिकी कठिनता रूप असाधारण धर्म होते हैं ॥ ७६ ॥

असाधारण आकार औषध्यन्नवपुष्यपि ॥
एवं विभाव्यं मनसा तत्तद्रूपं यथोचितम् ॥ ७७ ॥

इसी प्रकार औषध, अन्न, देह इनमें भी असाधारण आकार होता है। इसी प्रकार उस २ का यथोचित रूप विचारने योग्य है ॥ ७७ ॥

अनेकधा विभिन्नेषु नामरूपेषु चैकधा ॥
तिष्ठंति सच्चिदानंदा विसंवादो न कस्यचित् ॥ ७८ ॥

अनेक प्रकारसे भिन्न २ नाम रूपोंमें एक प्रकारसे सत् चित् आनंद टिकते हैं इसमें विसंवाद किसीको नहीं है ॥ ७८ ॥

निस्तत्त्वे नामरूपे द्वे जन्मनाशयुते च ते ॥
बुद्ध्या ब्रह्मणि वीक्षस्व समुद्रे बुद्बुदादिवत् ॥ ७९ ॥

कदाचित् कहो कि प्रतीयमान जो नामरूप उनकी क्या गति होगी ? यह शंका करके नाम रूपको कल्पित कहते हैं कि नाम, रूप दोनों कल्पित हैं और वे दोनों जन्म और नाशसे युक्त हैं यह बात ब्रह्ममें इस प्रकार देखो जैसे समुद्रमें बुद्बुद (बुलबुले) प्रतीतिमात्र हैं ॥ ७९ ॥

सच्चिदानंदरूपेऽस्मिन्पूर्णे ब्रह्मणि वीक्षिते ॥
स्वयमेवावजानाति नामरूपे शनैः शनैः ॥ ८० ॥

अब पूर्वोक्त ज्ञानके फलको कहते हैं कि इस सच्चिदानंद पूर्ण ब्रह्मके ज्ञान होनेपर मनुष्य स्वयं ही शनैः २ दोनों नाम रूपोंकी अवज्ञा (तिरस्कार) कर देता है ॥ ८० ॥

यावद्यावदवज्ञा स्यात्तावत्तावत्तदीक्षणम् ॥
यावद्यावद्वीक्ष्यते तत्तावत्तावदुभे त्यजेत् ॥ ८१ ॥

ब्रह्मज्ञानकी दृढताके लिये द्वैतकी अवज्ञा करनी इसका इसलिये वर्णन करते हैं कि वह दृढता द्वैतकी अवज्ञासे होती है। जितनी २ द्वैतकी अवज्ञा होती है उतना २ ही ब्रह्मका ज्ञान होता है और जितना २ ब्रह्मका दर्शन होता है उतने २ ही वे दोनों नाम रूप त्यागे जाते हैं ॥ ८१ ॥

तदभ्यासेन विद्यायां सुस्थितायामयं पुमान् ॥
जीवन्नेव भवेन्मुक्तो वपुरस्तु यथा तथा ॥ ८२ ॥

अब दोनोंके अभ्यासका फल कहते हैं कि उस प्रकारके अभ्याससे विद्या (ज्ञान) के भले प्रकार स्थित होनेपर यह मनुष्य जीवन्मुक्त हो जाता है देह चाहे जैसा रहे ॥ ८२ ॥

तच्चिंतनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनम् ॥
एतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः ॥ ८३ ॥

अब ब्रह्मके अभ्यासका स्वरूप कहते हैं कि ब्रह्मका चिंतन ब्रह्मका कथन और परस्पर ब्रह्मका प्रबोधन (समझाना) और ब्रह्ममें ही एकाग्र मनसे तत्पर रहना इसको बुद्धिमान् मनुष्योंने ब्रह्मका अभ्यास कहा है ॥ ८३ ॥

वासनानेककालीना दीर्घकालं निरंतरम् ॥
सादरं चाभ्यस्यमाने सर्वथैव निवर्तते ॥ ८४ ॥

कदाचित् कहो कि अनादि कालसे भासते हुए द्वैतकी कदाचित् हुए ज्ञानके अभ्याससे कैसे निवृत्ति होगी सो ठीक नहीं क्योंकि अनेक कालकी जो वासना है वह बहुत कालतक और निरंतर आदरसे किये ब्रह्मके अभ्याससे सर्वथा निवृत्त हो जाती है ॥ ८४ ॥

मृच्छक्तिवद्ब्रह्मशक्तिरनेकाननृतान्सृजेत् ॥
यद्वा जीवगता निद्रा स्वप्नश्चात्र निदर्शनम् ॥ ८५ ॥

कदाचित् कहो कि एक ब्रह्म अनेक आकारके जगतका हेतु नहीं हो सकता सो ठीक नहीं क्योंकि मृत्तिकाकी शक्तिके समान ब्रह्मशक्ति (माया) अनेक अनृत (मिथ्या) पदार्थोंको रचेगी कदाचित् कहो कि मृत्तिकाकी शक्ति सत्य है वह अनेकका हेतु रहे असत् रूप माया कैसे रचेगी इससे दृष्टांत विषम है सो ठीक नहीं क्योंकि जीवकी निद्रा और स्वप्न यहां दृष्टांत है अर्थात् जैसे निद्रा स्वप्नको रचती है ऐसे ही माया भी रचेगी ॥ ८५ ॥

निद्राशक्तिर्यथा जीवे दुघटस्वप्नकारिणी ॥
ब्रह्मण्येषा स्थिता माया सृष्टिस्थित्यंतकारिणी ॥ ८६ ॥

अब दृष्टांतको स्पष्ट रीतिसे कहते हैं कि जैसे जीवकी निद्राशक्ति जीवमें दुर्घट स्वप्नको करती है इसी प्रकार ब्रह्ममें स्थित यह माया सृष्टि और स्थिति और अंतको करती है ॥ ८६ ॥

स्वप्ने वियद्गतिं पश्येत्स्वमूर्द्धच्छेदनं यथा ॥
मुहूर्ते वत्सरौघं च मृतपुत्रादिकं पुनः ॥ ८७ ॥

अब दुर्घट करनेको ही दिखाते हैं कि जैसे मनुष्य स्वप्नमें आकाशका गमन और अपने मस्तकका छेदन और मुहूर्तमात्रमें वर्षोंका समूह और मृत पुत्रको भी फिर देखता है ऐसे ही माया दुर्घटको रचती है ॥ ८७ ॥

इदं युक्तमिदं नेति व्यवस्था तत्र दुर्लभा ॥
यथायथेक्ष्यते यद्यत्तत्तद्युक्तं तथा तथा ॥ ८८ ॥

अब स्वप्नमें दुर्घट होनेमें हेतु कहते हैं कि स्वप्नमें यह व्यवस्था दुर्लभ है कि यह युक्त है और युक्त नहीं है कि जो २ पदार्थ जैसे २ देखा जाता है वह २ उसी २ प्रकार युक्त होता है ॥ ८८ ॥

ईदृशो महिमा दृष्टो निद्राशक्तेर्यदा तदा ॥
मायाशक्तेरचिंत्योऽयं महिमेति किमद्भुतम् ॥ ८९ ॥

अब पूर्वोक्त न्यायको कैमुतिकन्यायसे स्पष्ट करते हैं कि जब निद्राशक्तिकी ऐसी महिमा देखी है तो मायाशक्तिकी यह अचिंत्य महिमा है इसमें क्या अद्भुत है अर्थात् कुछ नहीं है मायामें सब बन सकता है ॥ ८९ ॥

शयाने पुरुषे निद्रा स्वप्नं बहुविधं सृजेत् ॥
ब्रह्मण्येवं निर्विकारे विकारान्कल्पयत्यसौ ॥ ९० ॥

अब यत्नसे रहित जो ब्रह्म उसकी माया जगत्का हेतु है इसमें दृष्टांत कहते हैं कि जैसे सोते हुए मनुष्यकी निद्रा अनेक प्रकारके स्वप्नको रचती है इसी प्रकार निर्विकार ब्रह्ममें वर्तमान यह माया भी अनेक प्रकारके विकारोंकी कल्पना करती है ॥ ९० ॥

खानिलाग्निजलोर्व्यंडलोकप्राणिशिलादिकाः ॥
विकाराः प्राणिधीष्वंतश्चिच्छाया प्रतिबिंबिता ॥ ९१ ॥

अब मायाके रचें पदार्थोंको दिखाते हैं कि आकाश, पवन, अग्नि, जल, पृथ्वी, अंड,लोक,प्राणी,शिला आदि विकार हैं कदाचित् कहो कि सब पदार्थ जब पांचभौतिक होनेसे समान हैं तो कोई जड और कोई चेतन यह कैसे हो सकता है सो ठीक नहीं क्योंकि प्राणियोंके अंतःकरणमे चैतन्यके प्रतिबिंब पड़नेसे चेतन और न पड़नेसे जड व्यवहार होता है ॥ ९१ ॥

चेतनाचेतनेष्वेषु सच्चिदानंदलक्षणम् ॥
समानं ब्रह्म भिद्येते नामरूपे पृथक् पृथक् ॥ ९२ ॥

कदाचित् कहो कि चेतन अचेतनका विभाग चित्रूप ब्रह्मका किया ही क्यों नहीं मानते सो ठीक नहीं क्योंकि चेतन अचेतनरूप इन आकाश आदि पदार्थोंमें सत्, चित्, आनंद लक्षण ब्रह्म समान है इसीसे सबका उपादान ब्रह्म सर्वत्र समरूप होनेसे चेतन अचेतनके विभागका कारण नहीं हो सकता और नाम, रूप ये दोनों भिन्न २ हैं ॥ ९२ ॥

ब्रह्मण्येते नामरूपे पटे चित्रमिव स्थिते ॥
उपेक्ष्य नामरूपे द्वे सच्चिदानंदधीर्भवेत् ॥ ९३ ॥

अब ब्रह्म जड पदार्थोंमें भी साधारण है इसमें हेतुको कहते हैं कि ब्रह्ममें ये दोनों नामरूप इस प्रकार स्थित हैं जैसे पटमें चित्ररूप अर्थात् सबका आधार ब्रह्म सर्वगत है वह कैसे जाना जाता है इस शंकाके उत्तरको कहते हैं कि दोनों नामरूपोंकी उपेक्षा करके सत्, चित् आनंदरूप ब्रह्मका ज्ञान हो जाता है अर्थात् कल्पित नामरूपके त्यागसे अधिष्ठानरूप ब्रह्म जाना जाता है ॥ ९३ ॥

जलस्थेऽधोमुखे स्वस्य देहे दृष्टेऽप्युपेक्ष्य तम् ॥
तीरस्थ एव देहे स्वे तात्पर्यं स्याद्यथा तथा ॥ ९४ ॥

पूर्वोक्त अर्थमें दृष्टांत देते हैं कि जलमें वर्तमान और अधोमुख अपने देहको देखकर भी जलके देहकी उपेक्षा करके अर्थात् असत्य समझकर जैसे तीरपर स्थित अपने देहमें ही तात्पर्य (ममता) बुद्धि होती है इसी प्रकार नामरूपोंको त्यागकर ब्रह्ममें सत्यबुद्धि होती है ॥ ९४ ॥

सहस्रशो मनोराज्ये वर्तमाने सदैव तत् ॥
सर्वैरुपेक्ष्यते यद्वदुपेक्षा नामरूपयोः ॥ ९५ ॥

अब संपूर्ण मनुष्योंमें प्रसिद्ध अन्य दृष्टांतका कहते हैं कि जैसे सहस्त्रोंबार किये मनोराज्यके विद्यमान हानपर भी संपूर्ण मनुष्य उपेक्षा करते हैं इसी प्रकार नामरूपकी भी उपेक्षा करने योग्य है ॥ ९५ ॥

क्षणे क्षणे मनोराज्य भवत्येवान्यथान्यथा ॥
गत गतं पुनर्नास्ति व्यवहारो बहिस्तथा ॥ ९६ ॥

अब प्रपंचकी विचित्रतामें दृष्टांत कहते हैं कि जैसे मनका राज्य क्षण २ में भिन्न २ प्रकारका होता है और नष्ट हुआ २ फिर नहीं आता है इसी प्रकार व्यवहार भी क्षण २ में अन्यथा २ होकर फिर नहीं आता है ॥ ९६ ॥

न बाल्य यौवने लभ्यं यौवन स्थाविरे तथा ॥
मृतः पिता पुनर्नास्ति नायात्येव गतं दिनम् ॥ ९७ ॥

पूर्वोक्तका ही विवरण करते हैं कि यौवन अवस्थामें बाल्य और वैसे ही वृद्ध अवस्थाम यौवन नहीं मिल सकता और मृत पिता और गया दिन ये फिर नहीं आते हैं ॥ ९७ ॥

मनोराज्याद्विशेषः कः क्षणध्वंसिनि लौकिके ॥
अतोऽस्मिन् भासमानेऽपि तत्सत्यत्वधियं त्यजेत् ॥९८॥

अब द्वैतकी क्षणिकताको समाप्त करते हैं कि क्षणमात्रमें है विध्वंस जिसका ऐसे लौकिक पदार्थका मनोराज्यसे क्या विशेष (भेद) है इससे लौकिकके भासमान होनेपर भी लौकिक पदार्थमें सत्यबुद्धिको त्याग दे ॥ ९८ ॥

उपेक्षिते लौकिके धीर्निर्विघ्ना ब्रह्मचिंतन ॥
नटवत्कृत्रिमास्थायां निर्वहत्येव लौकिकम् ॥ ९९ ॥

अब लौकिककी उपेक्षासे ब्रह्ममें स्थिर बुद्धिके लाभका वर्णन करते हैं कि लौकिककी उपेक्षा करनेसे ब्रह्मके चिंतनमें बुद्धि निर्विघ्न हो जाती है कदाचित् कहो कि ज्ञानीका व्यवहार लौकिककी उपेक्षा करनेसे कैसे होगा सो ठीक नहीं क्योंकि कृत्रिम अवस्थामें जैसे नट उस २ व्यवहारको करता है इसी प्रकार ज्ञानी भी लौकिक व्यवहारका निर्वाह करता है ॥ ९९ ॥

प्रवहत्यपि नीरेऽधः स्थिरा प्रौढशिला यथा ॥
नामरूपान्यथात्वेऽपि कूटस्थं ब्रह्म नान्यथा ॥ १०० ॥

कदाचित् कहो कि ज्ञानीको व्यवहार मानोगे तो विकारी हो जायगा यह शंका करके बुद्धिके व्यवहार करनेपर भी उसका साक्षी आत्मा निर्विकार है इस बातका दृष्टान्तपूर्वक वर्णन करते हैं कि जलके अपने ऊपर बहते हुए भी नीचे स्थित भारी शिला जैसे चलायमान नहीं होती इसी प्रकार बुद्धिके संसारभावको प्राप्त होनेपर भी कूटस्थ ब्रह्म अन्यथा नहीं होता अर्थात् ज्ञानी संसारको प्राप्त नहीं होता ॥ १०० ॥

निश्छिद्रे दर्पणे भाति वस्तुगर्भं बृहद्वियत् ॥
सच्चिद्घने तथा नानाजगद्गर्भमिदं वियत् ॥ १०१ ॥

कदाचित् कहो कि अखंड ब्रह्ममें उससे विलक्षण जगत् कैसे भासता है सो ठीक नहीं कि जैसे छिद्ररहित दर्पणमें वस्तु है गर्भमें जिसके ऐसा महान् आकाश भान होता है इसी प्रकार सत् चित् घन ब्रह्ममें नाना प्रकारका जगत् है गर्भमें जिसके ऐसा आकाश भासता है ॥ १०१ ॥

अदृष्ट्वा दर्पणं नैव तदंतस्थेक्षणं तथा ॥
अमत्वा सच्चिदानंदं नामरूपमतिः कुतः ॥ १०२ ॥

कदाचित् कहो कि दर्शनके अयोग्य ब्रह्ममें कैसे जगत् प्रतीत होता है सो ठीक नहीं क्योंकि जैसे दर्पणके विना देखे दर्पणमें स्थित वस्तुका देखना नहीं हो सकता इसी प्रकार सच्चिदानंदकी प्रतीतिके विना नामरूपात्मक जगत्की भी प्रतीति कैसे हो सकती है अर्थात् सच्चिदानंदके ज्ञानद्वारा ही प्रतीति होती है ॥ १०२ ॥

प्रथमं सच्चिदानन्दे भासमानेऽथ तावता ॥
बुद्धिं नियम्य नैवोर्ध्वं धारयेन्नामरूपयोः ॥ १०३ ॥

कदाचित् कहो कि नामरूपके भी भासनेसे निर्विषय ब्रह्मकी प्रतीति कैसे होगी यह शंका करके ब्रह्मबुद्धिका उपाय कहते हैं कि प्रथम सच्चिदानंद ब्रह्मके भासमान होनेपर अर्थात् ब्रह्ममें कल्पित नामरूपात्मक प्रपंचमें सच्चिदानंदमात्रके विषे बुद्धिका नियमन (रोकना) करके उसके अनंतर नामरूपमें बुद्धिको न धारण करे ॥ १०३ ॥

एवं च निर्जगद्ब्रह्म सच्चिदानंदलक्षणम् ॥
अद्वैतानंद एतस्मिन्विश्राम्यंतु जनाश्चिरम् ॥ १०४ ॥

अब फलितका वर्णन करते हैं कि ऐसे माननेपर जगत्से भिन्न ब्रह्म सच्चिदानंद रूप है इस पूर्वोक्त अद्वैतानंदमें मनुष्य चिरकालतक विश्राम करें ॥ १०४ ॥

ब्रह्मानंदाभिधे ग्रंथे तृतीयोऽध्याय ईरितः ॥
अद्वैतानंद एव स्याज्जगन्मिथ्यात्वचिंतया ॥ १०५ ॥

अब अध्यायके अर्थको समाप्त करते हैं कि ब्रह्मानंद नामके पांचप्रकरणवाले ग्रंथमें अद्वैतानंद नामका अध्यायं वर्णन किया क्योंकि जगत्की मिथ्यात्वचिंतासे मनुष्य अद्वैतानंद (ब्रह्म) ही हो जाता है ॥ १०५ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्विद्यारण्यमुनिविरचिते ब्रह्मानंदे अद्वैतानंदो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

इति श्रीपरमहंस० श्रीविद्यारण्यमुनिविरचितपंचदश्यां पं० मिहिरचंद्रकृत भाषाविवृतिसहितायां ब्रह्मानंदे अद्वैतानंदो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

इति ब्रह्मानन्देऽद्वैतानंदप्रकरणं समाप्तम् ॥ १३ ॥



ब्रह्मानन्दे विद्यानन्दप्रकरणम् १४.

योगेनात्मविवेकेन द्वैतमिथ्यात्वचिंतया ॥
ब्रह्मानंदं पश्यतोऽथ विद्यानंदो निरूप्यते ॥ १ ॥

अब पूर्वापर ग्रंथोंके संबंधको कहते हैं कि योगसे आत्माके विवेकसे और द्वैतकी मिथ्यात्वचिंतासे ब्रह्मानन्दको जो जानता है उसके लिये विद्यानंदका निरूपण करते हैं ॥ १ ॥

विषयानंदवद्विद्यानंदो धीवृत्तिरूपकः ॥
दुःखाभावादिरूपेण प्रोक्त एष चतुर्विधः ॥ २ ॥

अब विद्यानंदके स्वरूपको कहते हैं कि विषयानंदके समान विद्यानंद भी बुद्धिकी वृत्तिरूप है और यह दुःखाभाव आदिरूपसे चार प्रकारका कहा है ॥ २ ॥

दुःखाभावश्च कामाप्तिः कृतकृत्योऽहमित्यसौ ॥
प्राप्तप्राप्योऽहमित्येव चातुर्विध्यमुदाहृतम् ॥ ३ ॥

चारों प्रकारोंको ही दिखाते हैं कि दुःखाभाव और कामनाकी प्राप्ति और मैं कृतकृत्य हूं यह और मुझे प्राप्त होने योग्य प्राप्त हुआ यह यही चार प्रकारका विद्यानंद कहा है ॥ ३ ॥

ऐहिकं चामुष्मिकं चेत्येवं दुःखं द्विधेरितम् ॥
निवृत्तिमैहिकस्याह बृहदारण्यकं वचः ॥ ४ ॥

अब निवृत्तिके योग्य दुःखका विभाग करते हैं कि ऐहिक (जगत्का) और आमुष्मिक (परलोकका) ऐसे दुःख दो प्रकारका कहा है उन दोनोंमें ऐहिक दुःखकी निवृत्ति बृहदारण्यक उपनिषद्के वाक्यने कही है ॥ ४ ॥

आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः ॥
किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ॥ ५ ॥

उसी श्रुतिके वाक्यको पढते हैं कि यदि मनुष्य इस प्रकार आत्माको जाने कि मैं आत्मारूप हूं तो किसकी इच्छासे किसकी कामनाके लिये शरीरको दुःख दे ॥ ५ ॥

जीवात्मा परमात्मा चेत्यात्मा द्विविध ईरितः ॥
चित्तादात्म्यात्त्रिभिर्देहैर्जीवः सन् भोक्तृतां व्रजेत् ॥ ६ ॥

आत्मामें शोकका संबंध दिखानेके लिये आत्माके भेद कहते हैं कि जीवात्मा और परमात्माके भेदसे आत्मा दो प्रकारका कहा है । उन दोनोंमें चित्,(चैतन्य) स्थूल, सूक्ष्म, कारणरूप तीनों देहोंके संग तादात्म्य (एकता) से भोक्ता होता है और भोक्ताको ही जीव कहते हैं ॥ ६ ॥

परात्मा सच्चिदानंदस्तादात्म्यं नामरूपयोः ॥
गत्वा भोग्यत्वमापन्नस्तद्विवेके तु नोभयम् ॥ ७ ॥

अब परमात्माका स्वरूप कहते हैं कि सच्चिदानंदरूप परमात्मा है वही परमात्मा नामरूपके संग तादात्म्यको प्राप्त होकर भोग्यरूपको प्राप्त होता है और उन शरीरों और जगत्से विवेक (भेदका ज्ञान) होनेपर दोनों नहीं अर्थात् भोक्ता और भोग्य दोनों नहीं रहते किंतु सच्चिदानंद परमात्मा ही शेष रहता है ॥ ७ ॥

भोग्यमिच्छन् भोक्तुरर्थे शरीरमनुसंज्वरेत् ॥
ज्वरास्त्रिषु शरीरेषु स्थिता न त्वात्मनो ज्वराः ॥ ८ ॥

अब पूर्वोक्त अर्थको स्पष्ट करते हैं कि भोक्ताके लिये भोग्यकी इच्छा करता हुआ मनुष्य शरीरको दुःखी करता है और वे ज्वर (दुःख) तीनों शरीरोंमें स्थित हैं आत्मामें ज्वर नहीं है ॥ ८ ॥

व्याधयो धातुवैषम्ये स्थूलदेहे स्थिता ज्वराः ॥
कामक्रोधादयः सूक्ष्मे द्वयोर्बीजं तु कारणे ॥ ९ ॥

अब जिस शरीरमें जो ज्वर है उसको दिखाते हैं कि धातुओंकी है विषमता जिसमें ऐसे स्थूल देहमें व्याधि (रोग) स्थित हैं और सूक्ष्मशरीरमें काम क्रोध आदि स्थित हैं और दोनों प्रकारके दुःखोंका बीज कारणशरीरमें स्थित है ॥ ९ ॥

अद्वैतानंदमार्गेण परात्मनि विवेचिते ॥
अपश्यन्वास्तवं भोग्यं किं नामेच्छत्परात्मवित् ॥ १० ॥

अब पूर्वोक्त श्रुतिका जो अर्थ उसके कथनके व्याज (मिस) से पूर्वोक्त अर्थको स्पष्ट करते हैं कि तीसरे अध्यायमें उक्त प्रकारसे मायाके कार्य जो नाम रूप हैं उनसे सच्चिदानंदरूप परमात्माका विवेक होनेपर संपूर्ण प्रपंच (जगत) मिथ्या है जानता हुआ मनुष्य किस भोगने योग्य वस्तुकी इच्छा करे अर्थात् किसीकी नहीं करता ॥ १० ॥

आत्मानंदोक्तरीत्यास्मिञ्जीवात्मन्यवधारिते ॥
भोक्ता नैवास्ति कोऽप्यत्र शरीरे तु ज्वरः कुतः ॥ ११ ॥

अब पूर्वाध्यायमें उक्त रीतिसे जीवके असंग कूटस्थ चैतन्य रूपके निश्चय होने-पर कामनाकर्ताके अभावसे ज्वर आदिका संबंध नहीं है इसका वर्णन करते हैं कि आत्मानंद अध्यायमें कही रीतिसे इस जीवात्माके चैतन्यरूपका निश्चय होनेपर इन तीनों पूर्वोक्त शरीरोंमें भोक्ता ही कोई नहीं है तो ज्वर (दुःख) किस प्रकार हो सकता है अर्थात् नहीं होता है ॥ ११ ॥

पुण्यपापद्वये चिंता दुःखमामुष्मिकं भवेत् ॥
प्रथमाध्याय एवोक्तं चिंता नैनं तपेदिति ॥ १२ ॥

अब परलोकके दुःखको दिखाते हैं कि पुण्य, पाप इन दोनोंके विषे जो चिंता वह पारलौकिक दुःख होता है और उस दुःखका अभाव पहले अध्यायमें ही कह आये कि पुण्य पापकी चिंता इस ज्ञानीको नहीं तपाती है ॥ १२ ॥

यथा पुष्करपर्णेऽस्मिन्नपामश्लेषणं तथा ॥
वेदनादूर्ध्वमागामिकर्मणोऽश्लेषणं बुधे ॥ १३ ॥

कदाचित् कहो प्रारब्ध कर्मकी चिंता तो मत हो परंतु आगामी कर्मकी चिंता तो हो ही जायगी यह शंका करके इस श्रुतिके अनुसार आगामी कर्मके भी निरा-करणसे आगामी कर्मकी चिंताके अभावका वर्णन करते हैं कि जैसे कमलके पत्ते-पर जलोंका संबंध नहीं होता इसी प्रकार ज्ञान होनेके अनंतर ज्ञानीमें आगामी कर्मका संबंध नहीं होता है ॥ १३ ॥

इषीकातृणतूलस्य वह्निदाहः क्षणाद्यथा ॥
तथा संचितकर्मास्य दग्धं भवति वेदनात् ॥ १४ ॥

अब इस श्रुतिके बलसे ज्ञानीको संचित कर्मकी भी चिंताका अभाव कहते हैं कि जैसे मूंजकी इषीकाका तूल अग्निसे क्षणमात्रमें दग्ध हो जाता है इसी प्रकार इस ज्ञानीका संचित कर्म भी ज्ञानके अनंतर दग्ध (भस्म) हो जाता है ॥ १४ ॥

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ॥
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥ १५ ॥

अब पूर्वोक्त अर्थमें भगवान्के वाक्यका प्रमाण देते हैं कि जैसे भले प्रकार जलती हुई अग्नि काष्ठोंको हे अर्जुन ! भस्म करती है इसी प्रकार ज्ञानरूप अग्नि संपूर्ण कर्मोंको भस्म करती है ॥ १५ ॥

---

१ तद्यथा पुष्करपर्णः । २ तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयंते ।

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ॥
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हंति न निबध्यते ॥ १६ ॥

जिसको अहंकार नहीं है और जिसकी बुद्धि लिपायमान नहीं है वह पुरुष इन सब लोकोंको हबकर भी नहीं हतता है और न बंधनको प्राप्त होता है ॥ १६ ॥

मातापित्रोर्वधस्तेयं भ्रूणहत्यान्यदीदृशम् ॥
न मुक्तिं नाशयेत्पापं मुखकांतिर्न नश्यति ॥ १७ ॥

इसी बातमें इस कौषीतकी श्रुतिके अर्थको पढते हैं कि माता पिताका वध (मारना) चोरी, भ्रूणहत्या और अन्य जो ऐसा ही पाप है वह इस ज्ञानीकी मुक्तिको नष्ट नहीं करता और न इसके मुखकी कांति नष्ट होती है ॥ १७ ॥

दुःखाभाववदेवास्य सर्वकामाप्तिरीरिता ॥
सर्वान् कामानसावाप्त्वा ह्यमृतोऽभवदित्यतः ॥ १८ ॥

पूर्वोक्त चारोंके मध्यमें दूसरे प्रकारको कहते हैं कि दुःखके अभावके समान ही इस ज्ञानीको सर्व कामाप्ति (सब कामनाओंका लाभ) श्रुतिमें कही है इसी अर्थमें तैत्तिरीयश्रुतिवाक्यके अर्थको पढते हैं कि इसीसे यह ज्ञानी सब कामनाओंको प्राप्त होकर अमृत हो जाता है ॥ १८ ॥

जक्षन्क्रीडन्रतिं प्राप्तः स्त्रीभिर्यानैस्तथेतरैः ॥
शरीरं न स्मरेत्प्राणः कर्मणा जीवयेदमुम् ॥ १९ ॥

अब इस छांदोग्यश्रुतिवाक्यके अर्थको पढते हैं कि भक्षण करता हुआ और क्रीडा करता और स्त्री, यान और अन्योंके संग रति (प्रीति) को प्राप्त हुआ यह ज्ञानी शरीरका स्मरण नहीं करता है और कर्मसहित जो प्राण वह इस ज्ञानीको जिवाता है अर्थात् कर्म सहित प्राण ज्ञानीके देहका रक्षक है ॥ १९ ॥

सर्वान्कामान्सहाप्नोति नान्यवज्जन्मकर्मभिः ॥
वर्तंते श्रोत्रिये भोगा युगपत्क्रमवर्जिताः ॥ २० ॥

अब उसीमें तैत्तिरीयश्रुतिवाक्यके अर्थको पढते हैं कि ज्ञानी सब कामनाओंको एक साथ प्राप्त होता है कदाचित् कहो कि ज्ञानीको फलका भोग मानोगे तो जन्म भी हो जायगा सो ठीक नहीं किंतु अन्योंके समान ज्ञानीका कर्मोंसे जन्म नहीं होता

---

१ न मातृवधेन न पितृवधेन न स्तेयेन न भ्रूणहत्यया नास्य पापं च न चक्रुषो मुखान्नीलं वेति । २ जक्षन् क्रीडन् रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वाऽज्ञातिभिर्वा वयस्यैर्वा नोपजन स्मरन्निदं शरीरम् ।

है क्योंकि ज्ञानसे संचित कर्म नष्ट हो जाते हैं और श्रोत्रिय (वेदके ज्ञाता) में क्रमको छोड़ कर एकबार संपूर्ण भोग वर्तते हैं अर्थात् प्राप्त होते हैं ॥ २० ॥

युवा रूपी च विद्यावान्नीरोगो दृढचित्तवान् ॥
सैन्योपेतः सर्वपृथ्वीं वित्तपूर्णां प्रपालयन् ॥ २१ ॥

अब तैत्तिरीय और बृहदारण्यके वाक्यका संक्षेपसे अर्थ पढते हैं कि युवा, रूपवान्, विद्यावान्, नीरोग और दृढचित्त और सेनासे युक्त और धनसे पूर्ण संपूर्ण पृथ्वीकी पालन करता हुआ राजा ॥ २१ ॥

सर्वैर्मानुष्यकैर्भोगैः संपन्नस्तृप्त भूमिपः ॥
यमानंदमवाप्नोति ब्रह्मविच्च तमश्नुते ॥ २२ ॥

कदाचित् कहो कि चक्रवर्तीसे लेकर, हिरण्यगर्भपर्यंत जो जीवके आनंद हैं वे ज्ञानीमें कैसे संभव हैं यह शंका करके इस आशयसे उत्तर देते हैं कि संपूर्ण आनंद ज्ञानीके जाने हुए ब्रह्मके अंश हैं इससे ज्ञानीके पूर्वोक्त सब आनंदोंका संभव होसकता है और मनुष्यके संपूर्ण भोगोंसे संपन्न और तृप्त राजा जिस आनंदको भोगता है उसी आनंदको ब्रह्मज्ञानी भी भोगता है ॥ २२ ॥

मर्त्यभोग द्वयोर्नास्ति कामस्तृप्तिरतः समा ॥
भोगान्निष्कामतैकस्य परस्यापि विवेकतः ॥ २३ ॥

कदाचित् कहो कि चक्रवर्ती और तत्त्वज्ञानी इन दोनोंको विषयोंकी प्राप्ति समान नहीं है इससे आनंदकी तुल्यता कैसे हो सकती है सो ठीक नहीं क्योंकि मृत्युलोकके भोगमें चक्रवर्ती और ज्ञानी दोनोंकी कामना नहीं है इससे दोनोंकी तृप्ति समान है। उन दोनोंमें एक (राजा) भोगोंसे निष्काम है और दूसरा (ज्ञानी) विवेकसे निष्काम है अर्थात् निरपेक्षतासे तृप्तिकी साम्यता है ॥ २३ ॥

श्रोत्रियत्वाद्वेदशास्त्रैर्भोगदोषानवेक्षते ॥
राजा बृहद्रथो दोषांस्तान् गाथाभिरुदाहरत् ॥ २४ ॥

अब विवेकसे निष्कामताका वर्णन करते हैं ज्ञानी, श्रोत्रिय (वेदपाठी) होनेसे वेद और शास्त्रोंसे भोगोंके दोषोंको देखता है। कदाचित् कहो कि भोगोंके दोष किस शाखामें और किसने कहे हैं सो ठीक नहीं क्योंकि बृहद्रथ राजाने मैत्रायणीय शाखामें वे दोष गाथाओंसे कहे हैं कि ॥ २४ ॥

देहदोषांश्चित्तदोषान् भोग्यदोषाननेकशः ॥
शुना वांते पायसे नो कामस्तद्वद्विवेकिनः ॥ २५ ॥

देहके दोष, चित्तके दोष और अनेक भोग्य पदार्थोंके दोष उक्त राजानें वर्णन किये हैं अब विवेकीको कामनाके न होनेमें दृष्टांत कहते हैं कि जैसे श्वानने वमन किये पायसमें किसीकी कामना नहीं होती इसी प्रकार विवेकीकी किसी विषयमें कामना नहीं होती ।। २५ ॥

निष्कामत्वे समेऽप्यत्र राज्ञः साधनसंचये ॥
दुःखमासीद्भाविनाशादतिभीरनुवर्तते ॥ २६ ॥

अब सार्वभौम राजासे तत्त्वज्ञानीकी अधिकताको कहते हैं कि यद्यपि दोनोंकी निष्कामता समान है तथापि राजाको साधनोंके संचय करनेमें दुःख हुआ है और भविष्य नाशसे अत्यंत भीति बनी रहती है ॥ २६ ॥

नोभयं श्रोत्रियस्यातस्तदानंदोऽधिकोऽन्यतः ॥
गंधर्वानंद आशास्ति राज्ञो नास्ति विवेकिनः ॥ २७ ॥

और श्रोत्रियको ये दोनों नहीं होते इससे तत्त्वज्ञानीका आनंद अधिक है अर्थात् चक्रवर्ती अनेक साधनोंसे होता है और पीछे उसके नाशका भय रहता है और ज्ञानीमें इन दोनोंका अभाव रहता है इससे ज्ञानीका आनंद अधिक है और इससे भी श्रोत्रिय अधिक है कि राजाकी गंधर्वानंदमें आशा है और विवेकीकी नहीं ॥ २७ ॥

अस्मिन्कल्प मनुष्यः सन्पुण्यपाकविशेषतः ॥
गंधर्वत्वं समापन्नो मर्त्यगंधर्व उच्यते ॥ २८ ॥

अब गंधर्वानंदके दो प्रकार दिखानेके लिये दो श्लोकोंसे गंधर्वका भेद कहते हैं कि इस लोकमें मनुष्य हुआ जो मनुष्य पुण्यके पाकविशेषसे गंधर्व योनिको प्राप्त होजाय उसे मर्त्यगंधर्व कहते हैं ॥ २८ ॥

पूर्वकल्प कृतात्पुण्यात्कल्पादावेव चेद्भवत् ॥
गंधर्वत्वं तादृशोऽत्र देवगंधर्व उच्यते ॥ २९ ॥

और जो पूर्वकल्पमें किये हुए पुण्यसे कल्पकी आदिमें ही गंधर्वयोनिको प्राप्त हो जाय वह देवगंधर्व कहाता है ॥ २९ ॥

अग्निष्वात्तादयो लोके पितरश्चिरवासिनः ॥
कल्पादावेव देवत्वं गता आजानदेवताः ॥ ३० ॥

अब चिरलोक पित्रानंद दिखानेके लिये चिरलोकके पितरोंको कहते हैं पितृलोकमें जो चिरवासी अग्निष्वात्त आदि हैं वे पितर कहाते हैं । अब देवानंदके

तीन प्रकार जाननेके लिये देवताओंके भेद कहते हैं कि,कल्पकी आदिमें ही जो देव-भावको प्राप्त हुए हैं वे आजान देवता कहाते हैं ॥ ३० ॥

अस्मिन्कल्पेऽश्वमेधादि कर्म कृत्वा महत्पदम् ॥
अवाप्याजानदेवैर्याः पूज्यास्ताः कर्मदेवताः ॥ ३१ ॥

इस कल्पमें अश्वमेध आदि कर्म करनेके अनंतर महान् पदको प्राप्त हुए जिनकी आजान देवता पूजा करते हैं वे कर्मदेवता कहाते हैं ॥ ३१ ॥

यमाग्निमुख्या देवाः स्युर्ज्ञाताविंद्रबृहस्पती ॥
प्रजापतिर्विराट् प्रोक्तो ब्रह्मा सूत्रात्मनामकः ॥ ३२ ॥

यम और अग्नि है मुख्य जिनमें वे देवता होते हैं, इंद्र और बृहस्पतिको ज्ञात और प्रजापतिको विराट् और ब्रह्माको सूत्रात्मा कहते हैं ॥ ३२ ॥

सार्वभौमादिसूत्रांता उत्तरोत्तरकामिनः ॥
अवाङ्मनसगम्योऽयमात्मानंदस्ततः परः ॥ ३३ ॥

अब चक्रवर्तीसे सूत्रात्मा पर्यंतोंको तत्त्वज्ञानीसे न्यूनता दिखाते हैं कि चक्रवर्तीसे सूत्रात्मा पर्यंत जितने हैं वे उत्तरोत्तर पदके अभिलाषी होते हैं और बाणी मनसे अगम्यरूप यह परमात्मा उन सबसे परे है अर्थात् उन सबसे अधिक है ॥ ३३ ॥

तैस्तैः काम्येषु सर्वेषु सुखेषु श्रोत्रियो यतः ॥
निःस्पृहस्तेन सर्वेषामानंदाः संति तस्य ते ॥ ३४ ॥

अब सबके आनंद निःस्पृह श्रोत्रियके विषे दिखाते हैं कि जिससे श्रोत्रिय (ज्ञानी) उस २ कारणसे कामनाके योग्य संपूर्ण सुखोंमें निःस्पृह है इसस सबके वे आनंद श्रोत्रियको होते हैं ॥ ३४ ॥

सर्वकामाप्तिरेषोक्ता यद्वा साक्षिचिदात्मना ॥
स्वदेहवत्सर्वदेहेष्वपि भोगानवेक्षते ॥ ३५ ॥

अब कहे हुए अर्थको समाप्त करते हैं कि यह सर्वकामाप्ति वर्णन की अब दूसरा पक्ष कहते हैं कि अथवा जैसे साक्षीरूप चिदात्मासे अपने देहमें आनंदको मानता है इसी प्रकार आनंदाकार बुद्धिका साक्षी होनेसे संपूर्ण देहोंमें भोग आदिके आनंदोंको देखता है इसीको सर्वकामाप्ति कहते हैं ॥ ३५ ॥

अज्ञस्याप्येतदस्त्येव न तु तृप्तिरबोधतः ॥
यो वेद सोऽश्नुते सर्वान्कामानित्यब्रवीच्छ्रुतिः ॥ ३६ ॥

कदाचित् कहो कि पूर्वोक्त प्रकारसे अज्ञानीको भी सर्वानंदकी प्राप्ति है यह शंका करके उत्तर देते हैं कि अज्ञानीको संपूर्ण देहोंमें यह ज्ञान नहीं कि मैं सबकी बुद्धिका साक्षी हूं अतः यद्यपि अज्ञानीको भी यह सर्वकामाप्ति है तथापि अज्ञानसे उसकी तृप्ति नहीं है और ज्ञानीकी तृप्ति है क्योंकि तैत्तिरीय श्रुतिमें यह लिखा है कि अंतःकरणमें स्थित ब्रह्मको जो जानता है वह सब कामनाओंको भोगता है ॥ ३६ ॥

यद्वा सर्वात्मतां स्वस्य साम्ना गायति सर्वदा ॥
अहमन्नं तथान्नादश्चेति साम ह्यधीयते ॥ ३७ ॥

अब तीसरे प्रकारको कहते हैं कि अथवा सामवेदके अनुसार ज्ञानी इन लोकोंकी कामनाओंमें निष्कामरूपी[1] विचरता है इस श्रुतिसे सब कालमें अपनेको सर्वात्मरूप गाता है और इस सामको पढता है कि मैं ही अन्न हूं और मैं ही अन्नका भोक्ता हूं ॥ ३७ ॥

दुःखाभावश्च कामाप्तिरुभे ह्येवं निरूपिते ॥
कृतकृत्यत्वमन्यच्च प्राप्तप्राप्यत्वमीक्षताम् ॥ ३८

इस प्रकार दुःखाभाव और कामाप्ति इन दोनोंका वर्णन पूर्वोक्त ग्रंथसे किया और अन्य जो कृतकृत्यता और प्राप्यकी प्राप्यता है उनको भी देखो कि ॥ ३८ ॥

उभयं तृप्तिदीपे हि सम्यगस्माभिरीरितम् ॥
त एवात्रानुसंधेयाः श्लोका बुद्धिविशुद्धये ॥ ३९ ॥

उन दोनोंका तृप्तिदीपमें ही हमने भले प्रकारसे वर्णन किया वे ही श्लोक बुद्धिकी शुद्धिके लिये यहां अनुसंधान (स्मरण) करने योग्य हैं ॥ ३९ ॥

ऐहिकामुष्मिकव्रातसिद्ध्यै मुक्तेश्च सिद्धये ॥
बहुकृत्यं पुरास्याभूत्तत्सर्वमधुना कृतम् ॥ ४० ॥

उन श्लोकोंको ही वर्णन करते हैं कि इस लोक और परलोकके अनेक पदार्थोंकी सिद्धि और मुक्तिकी सिद्धिके लिये ज्ञानसे पूर्व इस ज्ञानीको अनेक प्रकारका कृत्य रहा वह सब अब ज्ञानकी अवस्थामें ज्ञानीने कर लिया ॥ ४० ॥

तदेतत्कृतकृत्यत्वं प्रतियोगिपुरःसरम् ॥
अनुसंदधदेवायमेवं तृप्यति नित्यशः ॥ ४१ ॥

---

१ इमान् लोकान् कामान् निष्कामरूपमनुचरन् ।

इससे प्रतियोगीके ज्ञानपूर्वक इस कृतकृत्यताका स्मरण करता हुआ यह ज्ञानी इस प्रकार नित्य तृप्त होता है कि ॥ ४१ ॥

दुःखिनोऽज्ञाः संसरंतु कामं पुत्राद्यपेक्षया ॥
परमानंदपूर्णोऽहं संसरामि किमिच्छया ॥ ४२ ॥

अब तृप्तिका स्पष्टरीतिसे वर्णन करते हैं कि दुःखी अज्ञानी पुरुष, पुत्र आदिकी अपेक्षासे यथेच्छ संसारमें प्राप्त हो अर्थात् जन्मे और मरे परंतु परमानंदसे पूर्ण मैं किसकी इच्छासे संसारमें पडता हूं ॥ ४२ ॥

अनुतिष्ठंतु कर्माणि परलोकयियासवः ॥
सर्वलोकात्मकः कस्मादनुतिष्ठामि किं कथम् ॥ ४३ ॥

परलोकमें जानेके अभिलाषी मनुष्य कर्मको करें तो करें किंतु संपूर्ण लोकरूप मैं किससे किस प्रकार किस कर्मको करूं ॥ ४३ ॥

व्याचक्षतां ते शास्त्राणि वेदानध्यापयंतु वा ॥
येऽत्राधिकारिणो मे तु नाधिकारोऽक्रियत्वतः ॥ ४४ ॥

जो शास्त्र और वेदके अधिकारी हैं वे शास्त्रोंका व्याख्यान करें और वेदोंको पढावें पर मेरा तो इसमें अधिकार नहीं क्योंकि मैं क्रिया रहित हूं ॥ ४४ ॥

निद्राभिक्षे स्नानशौचे नेच्छामि न करोमि च ॥
द्रष्टारश्चेत्कल्पयंति किं मे स्यादन्यकल्पनात् ॥ ४५ ॥

निद्रा, भिक्षा, स्नान, शौच इनकी मैं न इच्छा करता हूं और न मैं इनको करता हूं, यदि द्रष्टा मनुष्य कल्पना करते हैं तो अन्यकी कल्पनासे मुझे क्या ॥ ४५ ॥

गुंजापुंजादि दह्येत नान्यारोपितवह्निना ॥
नान्यारोपितसंसारधर्मानेवमहं भजे ॥ ४६ ॥

जैसे गुंजा (चोहटनी) का पुंज अन्य मनुष्यकी आरोपण की अग्निसे दग्ध नहीं होता इसी प्रकार अन्य पुरुषोंके आरोपण किये संसारके धर्मोंको मैं नहीं भजता ॥ ४६ ॥

शृण्वंत्वज्ञाततत्त्वास्ते जानन् कस्माच्छृणोम्यहम् ॥
मन्यंतां संशयापन्ना न मन्येऽहमसंशयः ॥ ४७ ॥

जिनको तत्त्वज्ञान नहीं वे शास्त्रोंको सुनें जानता हुआ मैं क्यों सुनूं । संशयसे युक्त मनुष्य शास्त्रोंको मानें, पर संदेहसे रहित मैं नहीं मानता ॥ ४७ ॥

विपर्यस्तो निदिध्यासेत्किं ध्यानमविपर्यये ॥
देहात्मत्वविपर्यासं न कदाचिद्भजाम्यहम् ॥ ४८ ॥

विपरीत ज्ञानी निदिध्यासन करे विपरीत ज्ञानसे रहित मुझे ध्यान करनेसे यका प्रयोजन है क्योंकि देह और आत्माके विपरीत ज्ञानको मैं कदापि नहीं भजता ॥ ४८ ॥

अहं मनुष्य इत्यादिव्यवहारो विनाप्यमुम् ॥
विपर्यासं चिराभ्यस्तवासनातोऽवकल्पते ॥ ४९ ॥

और मैं मनुष्य हूं इत्यादि व्यवहार तो इस विपरीत ज्ञानके विना भी चिरकालके अभ्यासकी वासनासे हो जायगा ॥ ४९ ॥

आरब्धकर्मणि क्षीण व्यवहारो निवर्तते ॥
कर्माक्षये त्वसौ नैव शाम्येद्ध्यानसहस्रतः ॥ ५० ॥

क्योंकि प्रारब्ध कर्मके नाश होनेपर व्यवहार निवृत्त होता है और प्रारब्ध कर्मके क्षय विना यह व्यवहार सहस्रों कर्मोंसे भी क्षय नहीं होता ॥ ५० ॥

विरलत्वं व्यवहृतेरिष्टं चेद्ध्यानमस्तु ते ॥
अबाधिकां व्यवहृतिं पश्यन्ध्यायाम्यहं कुतः ॥ ५१ ॥

यदि आपको व्यवहार विरल (विलक्षण) वा भिन्न इष्ट है तो आपको ध्यान रहे परंतु व्यवहारको अबाधक मानता हुआ मैं ध्यानको क्यों करूं ॥ ५१ ॥

विक्षेपो नास्ति यस्मान्मे न समाधिस्ततो मम ॥
विक्षेपो वा समाधिर्वा मनसः स्याद्विकारिणः ॥ ५२ ॥

जिस कारण मुझे विक्षेप नहीं है इसीसे समाधि भी मुझे नहीं क्योंकि विक्षेप और समाधि उसको होते हैं जिसके मनम विकार होता है ॥ ५२ ॥

नित्यानुभवरूपस्य को मेऽत्रानुभवः पृथक् ॥
कृतं कृत्यं प्रापणीयं प्राप्तमित्येव निश्चयः ॥ ५३ ॥

नित्यानुभवरूप मुझसे भिन्न अनुभव कौन है अर्थात् कोई नहीं, क्योंकि मेरा यह निश्चय है कि मैंने कृत्य कर लिया और प्राप्त होने योग्य वस्तु मुझे प्राप्त हो गयी ५३

व्यवहारो लौकिको वा शास्त्रीयो वान्यथापि वा ॥
ममाकर्तुरलेपस्य यथारब्धं प्रवर्तताम् ॥ ५४ ॥

लौकिक वा शास्त्रीय वा अन्यथा जो व्यवहार हैं वह सब कर्तासे भिन्न और निर्लेप मेरा प्रारब्धके अनुसार वर्ते ॥ ५४ ॥

अथवा कृतकृत्योऽपि लोकानुग्रहकाम्यया ॥
शास्त्रीयेणैव मार्गेण वर्तेऽहं का मम क्षतिः ॥ ५५ ॥

अथवा कृतकृत्य भी मैं लोकके अनुग्रहकी कामनासे शास्त्रोक्त मार्गसे वर्तूं (चलूं) तो मेरी क्या क्षति है अर्थात् कुछ नहीं है ॥ ५५ ॥

देवार्चनस्नानशौचभिक्षादौ वर्ततां वपुः ॥
तारं जपतु वाक् तद्वत्पठत्वाम्नायमस्तकम् ॥ ५६ ॥

देवताका पूजन, स्नान, शौच, भिक्षा इनको देह करे वाणी तारक मंत्रको जपे और वैसे ही आम्नायमस्तक (उपनिषद्) को पढे ॥ ५६ ॥

विष्णुं ध्यायतु धीर्यद्वा ब्रह्मानंदे विलीयताम् ॥
साक्ष्यहं किंचिदप्यत्र न कुर्वे नापि कारये ॥ ५७ ॥

बुद्धि विष्णुका ध्यान करे वा ब्रह्मानंदमें लीन हो जाय साक्षीरूप मैं इसमें न कुछ करता हूं न कछु कराता हूं ॥ ५७ ॥

कृतकृत्यतया तृप्तः प्राप्तप्राप्यतया पुनः ॥
तृप्यन्नेवं स्वमनसा मन्यतेऽसौ निरंतरम् ॥ ५८ ॥

कृतकृत्यतासे तृप्त और प्राप्यकी प्राप्यतासे तृप्त हुआ यह ज्ञानी अपने मनसे निरंतर (सदैव) ऐसे मानता है जो वर्णन कर चुके हैं ॥ ५८ ॥

धन्योऽहं धन्योऽहं नित्यं स्वात्मानमञ्जसा वेद्मि ॥
धन्योऽहं धन्योऽहं ब्रह्मानन्दो विभाति मे स्पष्टः ॥५९॥

मुझे धन्य है २ मैं सुखसे नित्य अपने आत्माको जानता हूं मुझे धन्य है २ कि मुझे स्पष्ट रीतिसे ब्रह्मानंदका भान होता है ॥ ५९ ॥

धन्योऽहं धन्योऽहं दुःखं सांसारिकं न वीक्षेऽद्य ॥
धन्योऽहं धन्योऽहं स्वस्याज्ञानं पलायितं क्वापि ॥ ६० ॥

मुझे धन्य है २ क्योंकि मैं अब संसारके दुःखको नहीं देखता हूं मुझे धन्य है २ कि मेरा अज्ञान कहीं भगगया अर्थात् नष्ट हो गया ॥ ६० ॥

धन्योऽहं धन्योऽहं कर्तव्यं मे न विद्यते किंचित् ॥
धन्योऽहं धन्योऽहं प्राप्तव्यं सर्वमद्य संपन्नम् ॥ ६१ ॥

मुझे धन्य है २ क्योंकि मुझे अब किंचित् भी कर्तव्य नहीं है मैं धन्य हूं २ क्योंकि मेरा प्राप्त होन योग्य संपूर्ण संपन्न (सिद्ध) हुआ ॥ ६१ ॥

धन्योऽहं धन्योऽहं तृप्तेर्मम कोपमा भवेल्लोके ॥
धन्योऽहं धन्योऽहं धन्यो धन्यः पुनः पुनर्धन्यः ॥६२॥

मैं धन्य हूं २ कि मेरी तृप्तिकी उपमा जगत्में कोई नहीं मैं धन्य हूं धन्य हूं धन्य हूं फिर धन्य हू २ और फिर धन्य हूं ॥ ६२ ॥

अहो पुण्यमहो पुण्यं फलितं फलितं दृढम् ॥
अस्य पुण्यस्य संपत्तेरहो वयमहो वयम् ॥ ६३ ॥

अहो (बडा भारी) पुण्य है ! अहो पुण्य है ! जिससे दृढफल मुझे हुआ २ इस पुण्यकी सिद्धिसे अहो हम हैं अहो हम हैं ॥ ६३ ॥

अहो शास्त्रमहो शास्त्रमहो गुरुरहो गुरुः ॥
अहो ज्ञानमहो ज्ञानमहो सुखमहो सुखम् ॥ ६४ ॥

अहो शास्त्र है ! अहो शास्त्र है ! अहो गुरु है ! अहो गुरु है ! अहो ज्ञान है ! अहो ज्ञान है ! अहो सुख है! अहो सुख है! इस प्रकार तृप्तिदीपमें वर्णन किये कृतकृत्यता और प्राप्त प्राप्यता इन दोनोंका ३९ वें श्लोकसे यहांतक दुबारा स्पष्ट रीतिसे वर्णन किया ॥ ६४ ॥

ब्रह्मानंदाभिधे ग्रंथे चतुर्थोऽध्याय ईरितः ॥
विद्यानंदस्तदुत्पत्तिपर्यंतोऽभ्यास इष्यताम् ॥ ६५ ॥ ॥

अब अध्यायके अर्थको समाप्त करते हैं कि ब्रह्मानंद नामके ग्रंथमें विद्यानंद नामका यह चौथा अध्याय वर्णन किया । मुमुक्षुको विद्याकी उत्पत्ति पर्यंत इस विद्यानन्दका अभ्यास करना इष्ट है ॥ ६५ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविद्यारण्यस्वामिविरचितायां पञ्चदश्यां ब्रह्मानंदे विद्यानंदो नाम चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः ॥ ४ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीविद्यारण्यस्वामिविरचितायां पंचदश्यां पं० मिहिरचंद्रकृतभाषाविवृतिसहितायां ब्रह्मानन्दे विद्यानंदो नाम चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः ॥ ४ ॥

इति ब्रह्मानन्दे विद्यानन्दप्रकरणम् ॥ १४ ॥

ब्रह्मानन्दे विषयानन्दप्रकरणम् १५.



अथात्र विषयानंदो ब्रह्मानंदांशरूपभाक् ॥
निरूप्यते द्वारभूतस्तदंशत्वं श्रुतिर्जगौ ॥ १ ॥

अब पांचवें अध्यायमें वर्णन किये अर्थको कहते हैं कि ब्रह्मानंदके अंशरूपका भागी जो विषयानंद उसका निरूपण करते हैं कि कदाचित् कहो कि विषयानंद लौकिक है इससे मोक्ष शास्त्रमें उसका निरूपण नहीं हो सकता यह शंका करके लौकिक भी वह ब्रह्मानंदका एकदेश है इससे ब्रह्मज्ञानका उपयोगी होनेसे उसके वर्णनकी योग्यताको कहते हैं कि विषयानन्द ब्रह्मानन्दका द्वाररूप है अब विषयानन्द ब्रह्मानन्दका एकदेश है इसमें प्रमाण कहते हैं कि विषयानंदको ब्रह्मानंदका एकदेश श्रुतिने कहा है ॥ १ ॥

एषोऽस्य परमानंदो योऽखंडैकरसात्मकः ॥
अन्यानि भूतान्येतस्य मात्रामेवोपभुंजते ॥ २ ॥

उसी श्रुतिके अर्थको पढते हैं कि यह इस मुमुक्षुका परमानन्द है जो अखंड एक रसरूप है, अन्य जितने भूत (प्राणी) हैं वे सब इस आनंदकी ही मात्रा (लेश) को भोगते हैं अर्थात सबके आनंदमें ब्रह्मानन्दका अंश है ॥ २ ॥

शांता घोरास्तथा मूढा मनसो वृत्तयस्त्रिधा ॥
वैराग्यं क्षांतिरौदार्यमित्याद्याः शांतवृत्तयः ॥ ३ ॥
तृष्णा स्नेहो रागलोभावित्याद्या घोरवृत्तयः ॥
संमोहो भयमित्याद्याः कथिता मूढवृत्तयः ॥ ४ ॥

अब विषयानंदको ब्रह्मानंदका लेशत्व दिखानेके लिये उसकी उपाधिरूप जो अंतःकरणकी वृत्ति हैं उनका विभाग करते हैं कि शांत (सात्त्विक) घोर (रजोगुणी) और मूढ (तमोगुणी) ये तीन प्रकारकी मनकी वृत्तियां हैं उन शांत आदि वृत्तियोंको ही दिखाते हैं कि वैराग्य, क्षमा और उदारता आदि शांत वृत्तियां

हैं और तृष्णा, स्नेह, राग, लोभ आदि घोर वृत्तियां हैं और संमोह भय आदि मूढ वृत्ति कही हैं ॥ ३ ॥ ४ ॥

वृत्तिष्वेतासु सर्वासु ब्रह्मणश्चित्स्वभावता ॥
प्रतिबिंबति शांतासु सुखं च प्रतिबिंबति ॥ ५ ॥

पूर्वोक्त तीनो ही प्रकारकी वृत्तियोंमें चित्रूप ब्रह्मके भानको वर्णन करते हैं कि इन संपूर्ण वृत्तियोंमें ब्रह्मके चित्स्वभावका प्रतिबिंब पड़ता है और शांत वृत्तियोंमें सुखका भी प्रतिबिंब पड़ता है ॥ ५ ॥

रूपं रूपं बभूवासौ प्रतिरूप इति श्रुतिः ॥
उपमा सूर्यकेत्यादि सूत्रयामास सूत्रकृत् ॥ ६ ॥

अब पूर्वोक्त अर्थमें इस श्रुतिके अर्थको पढते हैं कि रूप २ के प्रति यह ब्रह्म प्रतिरूप (सदृश) हुआ यह श्रुतिमें कहा है । उसमें ही व्याससूत्रके एक-देशको पढते हैं कि सूत्रकार (व्यासजी) ने भी यह सूत्र रचा है कि इसीसे ब्रह्मको सूर्यकी उपमा है ॥ ६ ॥

एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः ॥
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचंद्रवत् ॥ ७ ॥

अब स्वरूपसे एक वस्तुके उपाधिके संबंधसे नाना (अनेक) होनेमें श्रुतिको पढ़ते हैं कि एक ही भूतात्मा भूत २ में व्यवस्थित हुआ एक प्रकारका और बहुत प्रकारका ऐसे दीखता है जैसे जलमें चंद्रमा दीखता है ॥ ७ ॥

जले प्रविष्टश्चंद्रोऽयमस्पष्टः कलुषे जले ॥
विस्पष्टो निर्मले तद्वद्द्वेधा ब्रह्मापि वृत्तिषु ॥ ८ ॥

कदाचित् कहो कि निरवयव ब्रह्मका कहीं चिद्रूपसे भान और अन्य स्थलमें चिदानंदका भान ऐसा विभाग करना अनुचित है यह शंका करके चंद्रमाके दृष्टांतसे परिहार करते हैं कि जैसे जलमें प्रविष्ट यह चंद्रमा मलिन जलमें अप्रकट और निर्मल जलमें भले प्रकारसे स्पष्ट दीखता है वैसे ही वृत्तियोंमें ब्रह्म भी अस्पष्ट और स्पष्ट प्रतीत होता है ॥ ८ ॥

---

१. रूपंरूपं प्रतिरूपो बभूव ।

घोरमूढासु मालिन्यात्सुखांशश्च तिरोहितः ॥
ईषन्नैर्मल्यतस्तत्र चिदंशप्रतिबिंबनम् ॥ ९ ॥

वही कहते हैं कि घोर और मूढ वृत्तियोंमें मलिनतासे सुखरूप अंश तिरोहित (छिपा) रहता है और उनमें किंचित् निर्मलतासे चित्अंशका प्रतिबिंब पड़ता है ॥ ९ ॥

यद्वाऽपि निर्मले नीरे वह्नेरौष्ण्यस्य संक्रमः ॥
न प्रकाशस्य तद्वत्स्याच्चिन्मात्रोद्भूतिरेव च ॥ १० ॥

कदाचित् कहो कि चंद्रमाकी उपाधि जो जल वह दो प्रकारका है इससे दो प्रकारके अंशका भान युक्त है यहां तो अन्तःकरणरूप उपाधिको एक होनेसे एक अंशका भान नहीं हो सकता यह शंका करके अन्य दृष्टांत देते हैं कि अथवा जैसे निर्मल जलमें भी अग्निकी उष्णताका संक्रम (गमन) होता है और प्रकाशका नहीं वैसे ही घोर, मूढ वृत्तियोंमें चिन्मात्र अंशका प्रतिबिंब पडता है सुखका नहीं ॥१०॥

काष्ठे त्वौष्ण्यप्रकाशौ द्वावुद्भवं गच्छतो यथा ॥
शांतासु सुखचैतन्ये तथैवोद्भूतिमाप्नुतः ॥ ११ ॥

अब शांत वृत्तियोंमें चित्, आनंद दोनोंकी प्रतीतिमें अन्य दृष्टांत देते हैं कि जैसे काष्ठमें अग्निकी उष्णता और प्रकाश दोनों प्रकटताको प्राप्त होते हैं इसी प्रकार शांत वृत्तियोंमें सुख और चैतन्य दोनों प्रकटताको प्राप्त होते हैं ॥ ११ ॥

वस्तुस्वभावमाश्रित्य व्यवस्था तूभयोः समा ॥
अनुभूत्यनुसारेण कल्प्यते हि नियामकम् ॥ १२ ॥

कदाचित् कहो कि यह व्यवस्था कैसे होती है सो ठीक नहीं क्योंकि वस्तुका जो स्वभाव उसके आश्रयसे दोनोंकी व्यवस्था समान है क्योंकि अनुभूति (प्रतीति) के अनुसार नियामककी कल्पना होती है ॥ १२ ॥

न घोरासु न मूढासु सुखानुभव ईक्ष्यते ॥
शांतास्वपि क्वचित्कश्चित्सुखातिशय ईक्ष्यताम् ॥ १३ ॥

अनुभूतिको ही दिखाते हैं कि घोर और मूढ वृत्तियोंमें सुखका अनुभव नहीं दीखता है और शांतवृत्तियोंमें भी आनंदका प्रकाश है परंतु वह भी किसी २ शांतवृत्तिमें अत्यंत सुखरूप दीखता है ॥ १३ ॥

गृहक्षेत्रादिविषये यदा कामो भवेत्तदा ॥
राजसस्यास्य कामस्य घोरत्वात्तत्र नो सुखम् ॥ १४ ॥

पूर्वोक्त घोर और मूढ वृत्तियोंमें सुखके अभावको दिखाते हैं कि जब प्राणीको गृह और क्षेत्र आदि रूप विषयकी कामना होती है तब उस रजोगुणी कामनाको घोररूप होनेसे उसमें सुख नहीं होता ॥ १४ ॥

सिध्येन्न वेत्यस्ति दुःखमसिद्धौ तद्विवर्धते ॥
प्रतिबंधे भवेत् क्रोधो द्वेषो वा प्रतिकूलतः ॥ १५ ॥

कार्य सिद्ध होगा वा न होगा यह दुःख है और सुखकी सिद्धि न होनेमें दुःख बढता है और सुखका प्रतिबिंब होनेपर क्रोध होता है वा प्रतिकूल दुःखके होनेसे द्वेष होता है ॥ १५ ॥

अशक्यश्चेत्प्रतीकारो विषादः स्यात्स तामसः ॥
क्रोधादिषु महद्दुःखं सुखशकापि दूरतः ॥ १६ ॥
काम्यलाभे हर्षवृत्तिः शांता तत्र महत्सुखम् ॥
भोगे महत्तरं लाभप्रसक्तावीषदेव हि ॥ १७ ॥
महत्तमं विरक्तौ तु विद्यानंदे तदीरितम् ॥
एवं क्षांतौ तथौदार्ये क्रोधलोभनिवारणात् ॥ १८ ॥

यदि प्रतीकार (दुःखनिवृत्ति) न कर सके तो तमोगुणी विषाद होता है और क्रोध आदिमें महान् दुःख है, सुखकी शंका तो दूर रही और काम्य (इष्ट) विषयके लाभ होने पर हर्षवृत्ति शांतरूप है उसमें महान् सुख होता है और भोगमें महत्तर (कुछ अधिक) सुख है और लाभके प्रसंगमें किंचित् ही सुख होता है और विरक्तिमें तो महत्तम (अत्यंत अधिक) सुख होता है उसका विद्यानंदप्रकरणमें वर्णन कर आये! इसीप्रकार क्रोध और लोभकी निवृत्तिसे क्षांति(क्षमा) और उदारता में भी अत्यधिक सुख होता है ॥ १६ ॥ १७ ॥ १८ ॥

यद्यत्सुखं भवेत्तत्तद्ब्रह्मैव प्रतिबिंबनात् ॥
वृत्तिष्वंतर्मुखास्वस्य निर्विघ्नं प्रतिबिंबनम् ॥ १९ ॥

जो २ सुख होता है वह २ ब्रह्मका प्रतिबिंब होनेसे ब्रह्मरूप ही है क्योंकि अंतर्मुख वृत्तियोंमें ब्रह्मका निर्विघ्न प्रतिबिंब पडता है ॥ १९ ॥

सत्ता चितिः सुखं चेति स्वभावा ब्रह्मणस्त्रयः ॥
मृच्छिलादिषु सत्तैव व्यज्यते नेतरद्वयम् ॥ २० ॥

अब सर्वत्र ब्रह्मस्वरूपका अनुभव दिखानेके लिये ब्रह्मके स्वरूपका स्मरण कराते हैं कि सत्ता, चिति और सुख ये तीन ब्रह्मके स्वभाव हैं। उन तीनोंमें मृत्तिका और शिला आदिमें सत्ता ही प्रतीत होती है अन्य दो प्रतीत नहीं होते ॥ २० ॥

सत्ता चितिर्द्वयं व्यक्तं धीवृत्त्योर्घोरमूढयोः ॥
शांतवृत्तौ त्रयं व्यक्तं मिश्रं ब्रह्मेत्थमीरितम् ॥ २१ ॥

सत्ता और चिति ये दोनों ब्रह्मके स्वरूप बुद्धिकी घोर और मूढ वृत्तियोंमें व्यक्त (प्रकट) हैं और शांतरूप बुद्धिकी वृत्तिमें सत्ता, चिति, आनंद ये तीनों व्यक्त हैं इस प्रकार मिश्ररस प्रपंच ब्रह्मका वर्णन किया ॥ २१ ॥

अमिश्रं ज्ञानयोगाभ्यां तौ च पूर्वमुदीरितौ ॥
आद्येऽध्याये योगचिंता ज्ञानमध्याययोर्द्वयोः ॥ २२ ॥

अमिश्र (प्रपंचरहित) ब्रह्मके ज्ञानका उपाय कहते हैं कि अमिश्र ब्रह्म ज्ञान योगसे जाना जाता है। उन ज्ञान योगोंका वर्णन पहले कर आये, उन दोनोंमें पहले अध्यायमें योगकी चिंता और उससे आगेके दो अध्यायोंमें ज्ञानका वर्णन किया है ॥ २२ ॥

असत्ता जाड्यदुःखे द्वे मायारूपत्रयं त्विदम् ॥
असत्ता नरशृंगादौ जाड्यं काष्ठशिलादिषु ॥ २३ ॥

कदाचित् कहो सत्, चित्, आनंद ये ब्रह्मरूप रहें परंतु मायाका क्या रूप है इस शंकाका उत्तर कहते हैं कि असत्ता और जाड्य, दुःख ये दो ऐसे ये तीन

मायाके रूप हैं उन तीनोंमें नरशृंग आदिमें असत्ता और काष्ठ, शिला आदिमें जाड्य होता है ॥ २३ ॥

घोरमूढधियोर्दुःखमेवं माया विजृंभिता ॥
शांतादिबुद्धिवृत्त्यैक्यान्मिश्रं ब्रह्मेति कीर्तितम् ॥ २४ ॥

अब दुःखका आश्रय कहते हैं कि घोर और मूढ बुद्धियोंमें दुःख होता है इस प्रकार सर्वत्र मायाका विजृंभण (प्रतिभास) है और शांत आदि जो बुद्धिकी वृत्तियां हैं उनकी एकता माननेसे मिश्र ब्रह्म कहा है ॥ २४ ॥

एवं स्थितेऽत्र यो ब्रह्म ध्यातुमिच्छेत्पुमानसौ ॥
नृशृंगादिमुपेक्षेत शिष्टं ध्यायेद्यथायथम् ॥ २५ ॥

इस प्रकारके कथनका प्रयोजन ब्रह्मका ध्यान है इसलिये कहते हैं कि ऐसी स्थिति होनेपर यहां जो मनुष्य ब्रह्मका ध्यान करनेकी इच्छा करे वह मनुष्य नरशृंग आदिकी उपेक्षा (त्याग) करके शिष्ट (बाकी) का यथायोग्य ध्यान करे ॥ २५ ॥

शिलादौ नामरूपे द्वे त्यक्त्वा सन्मात्रचिंतनम् ॥
त्यक्त्वा दुःखं घोरमूढधियोः सच्चिद्विचिंतनम् ॥ २६ ॥

अब अन्यत्र जो ध्यान कहा उसका प्रकार कहते हैं कि शिला आदिके विषे नाम और रूप इन दोनोंको त्याग कर सत्मात्र ब्रह्मका चिंतन करे और घोर, मूढ बुद्धियोंमें दुःखको त्याग कर सत् और चित्का चिंतन करे ॥ २६ ॥

शांतासु सच्चिदानंदांस्त्रीनप्येवं विचिंतयेत् ॥
कनिष्ठमध्यमोत्कृष्टास्तिस्रश्चिंताः क्रमादिमाः ॥ २७ ॥

और शांतरूप जो बुद्धिकी वृत्तियां हैं उनमें इसी प्रकार सत्, चित्, आनंद इन तीनोंकी चिंता करे और ये तीनों चिंता क्रमसे कनिष्ठ, मध्यम और उत्कृष्ट, होती हैं ॥ २७ ॥

मंदस्य व्यवहारेऽपि मिश्रब्रह्मणि चिंतनम् ॥
उत्कृष्टं वक्तुमेवात्र विषयानंद ईरितः ॥ २८ ॥

अब निर्गुण ब्रह्मके ध्यानमें जो अनधिकारी है उसके अनुग्रहके लिये मिश्रब्रह्मके ध्यानमें अधिकारका वर्णन करते हैं कि जो मनुष्य मंदबुद्धि है उसको

व्यवहारमें भी मिश्रब्रह्मकी चिंता करना ही उत्तम है यह कहनेके लिये यहां विषयानंदका वर्णन किया है ॥ २८ ॥

औदासीन्ये तु धीवृत्तेः शैथिल्यादुत्तमोत्तमम् ॥
चिंतनं वासनानंदे ध्यानमुक्तं चतुर्विधम् ॥ २९ ॥

इस प्रकार सत्वृत्तिके तीन ध्यानोंको कहकर अवृत्तिक ध्यानको कहते हैं कि उदासीनतामें तो बुद्धिकी वृत्तिको शिथिल होनेसे उत्तमोत्तम चिंतन वासनानंदमें करना कहा है इस प्रकार चार प्रकारका ध्यान कहा है ॥ २९ ॥

न ध्यानं ज्ञानयोगाभ्यां ब्रह्मविद्यैव सा खलु ॥
ध्यानेनैकाग्र्यमापन्ने चित्ते विद्या स्थिरीभवेत् ॥ ३० ॥

कदाचित् कहो कि यह ध्यानका ही अवांतर (मध्यका) भेद क्यों न हो इसलिये कहते हैं कि ज्ञान और योगसे ध्यान नहीं होता किंतु वह निश्चयसे ब्रह्मविद्या ही है जब ध्यानसे चित्त एकाग्र हो जाता है तब उसमें ब्रह्मविद्या स्थिर होजाती है अर्थात् ध्यानसे चित्त एकाग्र होता है ज्ञान योगसे ध्यान नहीं होता है ॥ ३० ॥

विद्यायां सच्चिदानंदा अखंडैकरसात्मताम् ॥
प्राप्य भांति न भेदेन भेदकोपाधिवर्जनात् ॥ ३१ ॥

अब इसको विद्या होनेमें हेतु कहते हैं कि विद्यामें सत् चित् आनंद ये तीनों अखंड एकरस रूपको प्राप्त होकर भिन्न २ नहीं भासते हैं क्योंकि भेद करनेवाली उपाधिका त्याग हो गया ॥ ३१ ॥

शांता घोराः शिलाद्याश्च भेदकोपाधयो मताः ॥
योगाद्विवेकतो वैषामुपाधीनामपाकृतिः ॥ ३२ ॥

भेदके उपाधियोंको ही कहते हैं कि शांत और घोररूपवृत्ति और शिला आदि ही भेदकी जनक उपाधि मानी है और इन उपाधियोंका अपाकरण (अभाव) योग वा विवेकसे होता है ॥ ३२ ॥

निरुपाधिब्रह्मतत्त्वे भासमाने स्वयंप्रभे ॥
अद्वैते त्रिपुटी नास्ति भूमानंदोऽत उच्यते ॥ ३३ ॥

अब फलितका वर्णन करते हैं कि निरुपाधि (उपाधिरहित) स्वप्रकाशरूप ब्रह्मतत्त्वके प्रकाशमान होनेपर अद्वैतरूपमें त्रिपुटी (ध्याता, ध्यान, ध्येय) नहीं है इसीसे उसको भूमानंद कहते हैं ॥ ३३ ॥

ब्रह्मानंदाभिधे ग्रंथे पंचमोऽध्याय ईरितः ॥
विषयानंद एतेन द्वारेणांतः प्रविश्यताम् ॥ ३४ ॥

अब ग्रंथको समाप्त करते हैं कि ब्रह्मानंद नामके ग्रंथमें पांचवां विषयानंद नामका अध्याय वर्णन किया इसके द्वारा अंतः (ब्रह्ममें) हे मुमुक्षुओ ! तुम प्रवेश करो ॥ ३४ ॥

प्रीयाद्धरिर्हरोऽनेन ब्रह्मानंदेन सर्वदा ॥
पायाच्च प्राणिनः सर्वान्स्वाश्रिताञ्छुद्धमानसान् ॥ ३५ ॥

इस ब्रह्मानंदसे हरि और हर सदैव प्रसन्न हो और अपने आश्रित जो संपूर्ण शुद्धमानस प्राणी हैं उनकी रक्षा करें ॥ ३५ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविद्यारण्यमुनिविरचितायां पंचदश्यां ब्रह्मानंदे विषयानंदः समाप्तः ॥ १५ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविद्यारण्यमुनिविरचितायां पंचदश्यां मुजफ्फरनगरप्रान्तघटकलांखग्रामनिवासिश्रीपंडितहरिसहायात्मजपंडितरामरक्षांगजपंडितमिहिरचंद्रकृत–मुंबयीस्थश्रीमत्क्षेमराजश्रेष्ठिकारित–भाषाविवृतियुजि ब्रह्मानंदे विषयानन्दो नाम पंचमोऽध्यायः समाप्तः ॥ ५ ॥

समाप्ता चेयं पंचदशी ।

पुस्तक मिलनेका ठिकाना–

खेमराज श्रीकृष्णदास, "श्रीवेङ्कटेश्वर" स्टीम्-प्रेस-बंबई.

गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास, "लक्ष्मीवेङ्कटेश्वर" प्रेस, कल्याण-बंबई.